प्रकाशक
विजयकृष्ण लखनपाल
'विद्या-विहार', बलवीर ऐवेन्यू
देहरादून

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
कनाट सर्कस
नई दिल्ली

धारावाही हिन्दी में

एकादशोपनिषद्—मूल-सहित

[ब्रह्म-विद्या]

[लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार]

आर्य-संस्कृतिके प्राण उपनिषद् हैं। उपनिषदोंके अनेक अनुवाद हुए हैं, परन्तु प्रस्तुत अनुवाद सब अनुवादोंसे विशेषता रखता है। इस अनुवादमें हिन्दी को प्रधानता दी गई है। जो व्यक्ति संस्कृतके वखेड़ेमें न पड़कर उपनिषद्का तत्त्व ग्रहण करना चाहे, वह सिर्फ़ हिन्दी भाग पढ़ जाय। उसे कोई स्थल ऐसा नहीं मिलेगा जो सरल न हो, स्पष्ट न हो, जिसमें किसी तरहकी कोई भी उलझन हो। ऊपर मोटे-मोटे अक्षरोंमें हिन्दी-भाग दिया गया है, यह हिन्दी-भाग धारावाही तौरपर दिया गया है, और जो-कोई हिन्दी तथा मल संस्कृतकी तुलना करना चाहे, उसके लिए अंक देकर नीचे संस्कृत-भाग भी दे दिया गया है। फुटनोट में दिये संस्कृत भागको छोड़कर जो सिर्फ़ हिन्दी-भाग पढ़ना चाहे, वह धारावाही हिन्दी-भागको पढ़ता चला जाय—विषय एकदम स्पष्ट होता चला जायगा, कहीं, किसी तरहका अटकाव नहीं आयगा। पुस्तककी सबसे वड़ी विशेषता यही है कि अनुवादमें मक्खी-पर-मक्खी मारने की कोशिश नहीं की गई, विषयको खोलकर रख दिया गया है। साधारण पढ़े-लिखे लोगों तथा संस्कृतके अगाध पंडितों—दोनोंके लिये यह नवीन ढंगका ग्रन्थ है। यही इस अनुवादकी मौलिकता है।

अबतक उपनिषदोंके जो अनुवाद हुए हैं, वे पढ़नेवालेको शब्द-जाल में भरमा देते हैं, मनुष्य शब्द-जालसे आगे निकलकर ऋषियोंके भाव तक नहीं पहुँच पाता। इस अनुवादमें हम शब्द-जालको पार करके उपनिषद्के ऋषियों की भावनाको जा पकड़ते हैं।

मुख्य-मुख्य उपनिषद् ग्यारह मानी गई हैं। इन सभी उपनिषदोंका धारावाही स्वतंत्र-हिन्दी-अनुवाद इस ग्रन्थमें मूल-सहित दे दिया गया है। पुस्तक को रोचक बनाने के लिये जगह-जगह चित्र भी दिये गये हैं। सजिल्द पुस्तकका मूल्य बारह रुपया।

आर्य-संस्कृति के मूल-तत्त्व

लेखक

प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार

[कुछ समालोचनाओं का सारांश]

"दैनिक-हिन्दुस्तान" (१० जनवरी १९५४)—

"हम तो यहां तक कहने का साहस रखते हैं कि भारत से बाहर जाने वाले सांस्कृतिक-मिशन के प्रत्येक सदस्य को इस पुस्तक का अवलोकन अवश्य करना चाहिए। लेखक की विचार-शैली, प्रतिपादन-शक्ति, विषय-प्रवेश की सूक्ष्मता डा० राधाकृष्णन से टक्कर लेती है। आज के देश के अंग्रेज़ीमय वातावरण में यदि इस पुस्तक का अंग्रेज़ी में अनुवाद करा दिया जाय तो पुस्तक विशेष रूप से लोक-प्रिय होगी।"

"नवभारत-टाइम्स" (१० दिसम्बर १९५३)—

"लेखक ने आर्य-संस्कृति के अथाह समुद्र में पैठकर, उसका मन्थन कर के, उसमें छिपे रत्नों को बाहर लाकर रख दिया है। भाषा इतनी परिमार्जित है कि पढ़ते ही बनती है। इस ग्रन्थ को अगर आर्य-संस्कृति का दर्शन-शास्त्र कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। हिन्दी के संस्कृति-सम्बन्धी साहित्य में इस ग्रन्थ का स्थान अमर रहने वाला है।"

"जनसत्ता" (१० जनवरी १९५४)—

"लेखक ने बड़ी परिमार्जित भाषा में भारतीय-संस्कृति के उन मूल-तत्वों का वर्णन किया है जो इसके आधार हैं। उन्होंने एक दार्शनिक और वैज्ञानिक की तरह 'आर्य-संस्कृति' का विश्लेषण कर दिया है, और उसके प्रत्येक तत्त्व को पाठक के सामने निखार कर रख दिया है। 'संस्कृति' के विषय में अनेक पुस्तकें हमने देखी हैं, परन्तु प्रो० सत्यव्रत जी की इस पुस्तक का स्थान अद्वितीय है। पुस्तक हिन्दी-साहित्य के मस्तक को ऊँचा करने वाली है। ऐसी पुस्तकों से ही देश का स्थिर-साहित्य बनता है। प्रत्येक भारतीय को इस ग्रंथ का अध्ययन करना चाहिए—यह हमारी हार्दिक इच्छा है।"

"साप्ताहिक-हिन्दुस्तान" (३ जनवरी १९५४)—

"हमारी सम्मति में आर्य-संस्कृति के सम्बन्ध में आज तक जो पुस्तकें लिखी गई हैं, उनमें प्रो० सत्यव्रत जी की लिखी इस पुस्तक का बहुत ऊँचा स्थान है। समग्र पुस्तक गहन विषयों को सरल भाषा में व्यक्त किये गये विचारों से भरी पड़ी है। आर्य-संस्कृति के सम्बन्ध में इस प्रकार की मार्मिक-विवेचना करने वाली यह पहली पुस्तक हमारे देखने में आयी है। जो लोग आर्य-संस्कृति के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करना चाहें, उनका ज्ञान इस पुस्तक को पढ़े बिना अधूरा रहेगा। प्रत्येक पुस्तकालय के लिए इस पुस्तक का संग्रह करना पुस्तकालय की शोभा बढ़ायेगा। पुस्तक सुन्दर कागज़ पर छपी है, बढ़िया जिल्द है, मोनो टाइप है, यह सब-कुछ देखते हुए मूल्य भी उचित ही है।"

सजिल्द पुस्तक का दाम चार रुपया।

ब्रह्मचर्य-सन्देश

[लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार]

नवयुवकोंको 'ब्रह्मचर्य' जैसे गम्भीर विषयपर, सरल-सुन्दर भाषामें जो-कुछ कहा जा सकता है, इस पुस्तक में कह दिया गया है। स्वर्गवासी स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराजने इस पुस्तककी भूमिका लिखी थी। स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज भारत-भूमि के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने शिक्षाके क्षेत्रमें 'ब्रह्मचर्य'को क्रियात्मक महत्त्व देनेके लिये गुरुकुल कांगड़ीकी स्थापना की थी। ऐसे महापुरुष ने इस पुस्तककी भूमिका इसीलिये लिखी थी क्योंकि उन्होंने पुस्तकके महत्त्वको देख लिया था। इस पुस्तक ने हिन्दी-साहित्यमें अमर स्थान बना लिया है। पुस्तकके चार संस्करण निकल चुके हैं, पांचवें संस्करणका प्रवन्ध हो रहा है। पुस्तककी श्रेष्ठता इसीसे सिद्ध है कि इसके गुजराती में दो स्वतंत्र अनुवाद हो चुके हैं।

खंडवाका 'कर्मवीर' पत्र लिखता है—"इस विषयपर हिन्दीमें सबसे अधिक प्रामाणिक, सबसे अधिक खोजपूर्ण और सबसे अधिक ज्ञातव्य बातोंसे भरी हुई यही पुस्तक देखने में आयी है।

दिल्लीका 'अर्जुन' लिखता है—"हम चाहते हैं कि प्रत्येक नव-युवकके हाथमें यह पुस्तक हो।"

लखनऊकी 'माधुरी' लिखती है—"भाषा परिमार्जित और वर्णन-शैली एकदम अछूती है। मालूम होता है, कोई विज्ञानवेत्ता सांसारिक तत्त्व-विवेचनापर व्याख्यान दे रहा है। आजकल जितनी पुस्तकें इस विषयपर निकली हैं, उन सबमें यह बढ़िया है।"

पुस्तक सचित्र तथा सजिल्द है। मूल्य साढ़े चार रुपया।

शिक्षा-शास्त्र

लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार तथा आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०, बी० टी० (एम० पी०)

'शिक्षा' के सम्बन्धमें जितने आधुनिक विचार हैं, वे सब इस ग्रन्थमें, थोड़े-सेमें, अत्यन्त सरल तथा रोचक भाषामें दे दिये गये हैं। शिक्षाके सिद्धान्त (Principles of Education), शिक्षा की विधि (Method of Education), शिक्षा का विधान (Organisation of Education) तथा भारतीय-शिक्षाका आदिकालसे आजतक का इतिहास (History of Indian Education)—ये सब विषय इस ग्रन्थमें एक स्थान पर दे दिये गये हैं। इस पुस्तककी उपयोगिता इसी बात से स्पष्ट है कि शिक्षा-संस्थाओं में जहां-जहां 'शिक्षा' विषय पढ़ाया जाता है, वहां-वहां इस पुस्तकका सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

पुस्तककी भूमिका श्रीसम्पूर्णानन्दजीकी उस समयकी लिखी हुई है जब वे शिक्षा-मन्त्री थे। सजिल्द पुस्तकका दाम तीन रुपया।

विषय-सूची

प्रारम्भिक-शब्द

(डा० रामनारायण सक्सेना, एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्,
प्रिन्सिपल डी. ए. वी. कालेज, देहरादून)

अब तक हमारा ध्यान अन्य विज्ञानोंकी तरफ़ तो था, परन्तु 'समाज-शास्त्र' एक उपेक्षित विषय था। पिछले कुछ वर्षोंसे, धीरे-धीरे, सामाजिक-विज्ञानोंकी भिन्न-भिन्न शाखाओंके विद्वानोंका ध्यान इस विषयकी तरफ़ भी जाने लगा है, और 'समाज-शास्त्र' एक विषयके तौरसे अपनी जगह बनाता जारहा है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होती जा रही है, जिसमें समाज-शास्त्रियोंके अलावा आम जनता भी इस शास्त्रमें दिलचस्पी लेने लगी है, और देशके शासक, सामाजिक कार्य-कर्ता, लेखक, सम्पादक, अध्यापक, वक्ता—सभी लोग समाज-शास्त्र के तथ्यों तथा मूल-तत्त्वोंको जाननेकेलिये उत्सुक होते जारहे हैं। उक्त परिस्थितिमें एक ऐसे ग्रन्थकी अत्यन्त आवश्यकता अनुभव हो रही थी जो समाज-शास्त्रके आधार-भूत सिद्धान्तोंको स्पष्ट, सरल, सुन्दर तथा बुद्धि-गम्य भाषामें व्यक्त करे। हिन्दी में तो अभी सामाजिक-विज्ञान-सम्बन्धी साहित्यकी बहुत ही कमी है। प्रस्तुत-पुस्तकने इस कमीको बहुत अंशतक दूर कर दिया है। इस पुस्तकमें 'समाज-शास्त्र' के सभी विषयोंका सुन्दर तथा सरल विवेचन किया गया है। वैसे तो पुस्तक समाज शास्त्रसे परिचय प्राप्त करनेकी इच्छा रखने वाले सभी पाठकोंके लिये उपयोगी है, परन्तु विश्व-विद्यालयोंके उन विद्यार्थियोंके लिये तो, जो 'समाज-शास्त्र' का अध्ययन कर रहे हैं, यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी क्योंकि इसमें बी० ए० तथा एम० ए० की पाठविधि के इस क्षेत्रके किसी विषयको छोड़ा नहीं गया, हर विषयकी गहन तथा विशद विवेचना की गई है। समाज-शास्त्रके सभी विश्व-विद्यालयोंके विद्यार्थियोंके लिये भी यह पुस्तक बड़ी आसानीसे पाठ्य-पुस्तक (Text-Book) का काम दे सकेगी। ७६६

पुस्तकके लेखक प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार एक प्रतिभाशाली सिद्ध-हस्त लेखक और उत्कृष्ट कोटिके विद्वान् हैं। उन्होंने सामाजिक-विज्ञानकी अन्य शाखाओंके सम्बन्धमें भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। 'समाज-शास्त्रके मूल-तत्त्व'-ग्रन्थ लिखकर उन्होंने जो हिन्दी-साहित्यकी सेवा की है, उसके लिये वे बधाईके पात्र हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि हिन्दीमें 'समाज-शास्त्र' पर अबतक जो साहित्य प्रकाशित होचुका है, जो लगभग न के बराबर है, उसे देखतेहुए यह पुस्तक निश्चित रूपसे हिन्दी-साहित्यकी श्री-वृद्धिका कारण बनेगी, और 'समाज-शास्त्र' का गहराईसे अध्ययन करनेवाले विद्यार्थियों तथा इस शास्त्रके आधार-भूत तत्त्वों से परिचय प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले जिज्ञासुओं—दोनोंके लिये वरदान सिद्ध होगी।

१९ फरवरी, १९५४
देहरादून

—रामनारायण सक्सेना

भूमिका

संसारको दो हिस्सोंमें बांटा जासकता है---जड़ तथा चेतन। चेतनके फिर दो हिस्से हैं---मनुष्य 'स्वयं', तथा 'स्वयं' के अतिरिक्त चेतनके साथ सम्बन्ध रखनेवाली 'सामाजिक-परिस्थिति'। 'सामाजिक-परिस्थिति' के भी फिर दो हिस्से हैं---'विशेष' तथा 'सामान्य'। संसारके इन हिस्सोंकी तरह मनुष्यके ज्ञानके भी यही विभाग किये जासकते हैं। जड़-पदार्थोंके सम्बन्धका ज्ञान 'भौतिक-विज्ञान' कहाता है जिसमें ज्योतिष, रसायन-शास्त्र, भौतिक-विज्ञान, यन्त्र-विद्या आदि आजाते हैं। चेतन-पदार्थोंके सम्बन्धमें जिन विज्ञानोंका मनुष्यके 'स्वयं' के साथ सम्बन्ध है, वे 'वैयक्तिक-विज्ञान' कहाते हैं। 'वैयक्तिक-विज्ञानों' में मनोविज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र आदि गिने जाते हैं। वैयक्तिकके वाद मनुष्य की 'सामाजिक-परिस्थिति' में दो प्रकारके विज्ञान हैं---'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' तथा 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान'। 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान' में इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति, धर्म-शास्त्र, विधान-शास्त्र आदि सब आजाते हैं, क्योंकि ये समाज के विशेष-विशेष विषयोंके विज्ञान हैं। इन सबके अतिरिक्त एक ऐसा विज्ञान भी है जो समाजके किसी विशेष विषयका अध्ययन नहीं करता, सब सामाजिक-विषयोंका सामान्य-अध्ययन करता है। यह 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' ही 'समाज-शास्त्र' कहाता है। 'समाज-शास्त्र' सब सामाजिक-विज्ञानोंका सार है, उनका निचोड़ है, इसलिए यह विज्ञानोंका भी विज्ञान है, मानो सामाजिक-विज्ञानोंका मूर्धन्य है। जैसे हम 'भौतिक-विज्ञानों' द्वारा अपने चारोंतरफ़की भौतिक दुनियाकी जानकारी हासिल करते हैं, जैसे 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' द्वारा संसारकी भूत तथा वर्तमान घटनाओं एवं आर्थिक समस्याओं आदिकी जानकारी हासिल करते हैं, वैसे 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' द्वारा उस दुनियाकी जानकारी हासिल करना भी हमारा कर्तव्य है जिसे हम 'समाज' कहते हैं, वह 'समाज' जिसमें हम पैदा होते, जिसमें रहते, और जिसमें जीते-मरते हैं।

'समाज-शास्त्र' हमारे दिन-दिनके व्यवहारमें, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, पठित-अपठित, धनी-निर्धन, उच्च-नीच---हर किसीके जीवनमें काम आता है। जब हम तलाकपर बहस करते हैं, बेकारीकी समस्याकी चर्चा करते हैं, लड़के-लड़कियोंकी सह-शिक्षापर विचार करते हैं, परिवार टूटेगा या रहेगा, राज्यको

वैयक्तिक-स्वतन्त्रतामें हस्त-क्षेप करनेका अधिकार है या नहीं, गृहोद्योग ठीक है या यन्त्रीकरण, संस्कृति तथा सभ्यतामें क्या भेद है, धर्मका मनुष्य-जीवनमें क्या स्थान है, धर्म-निरपेक्ष-राज्यका नारा कहां तक उचित है---आदि समस्याओं पर वाद-विवाद करते हैं, तब हम 'समाज-शास्त्र' के ही क्षेत्रमें होते हैं। असलमें, देखा जाय तो यही समस्याएं मनुष्यको हर समय घेरे रहती हैं, इसलिए 'समाज-शास्त्र' ही एक ऐसा विषय है जो मनुष्यको हर-समय मानो चिपटे हुए है। व्याख्याताओंके व्याख्यान, पत्रकारोंके लेख, उपदेष्टाओंके उपदेश, बहस करने वालोंकी बहसें---सब 'समाज-शास्त्र' के किसी-न-किसी विषयको केन्द्र बनाकर चला करती हैं, इसलिए यह विज्ञान सबके कामका विज्ञान है, और इसका अध्ययन, मनुष्य जिस-किसी भी क्षेत्रमें हो, उसे उस क्षेत्रमें वैज्ञानिक दृष्टिका विचारक बना देता है।

यह ठीक है कि 'समाज-शास्त्र' का अध्ययनमात्र कुछ नहीं कर सकता। जिस समय भौतिक-विज्ञानोंका आविष्कार होने लगा था, उस समय लोग समझने लगे थे कि अब संसार उन्नति के मार्ग पर चलकर न जाने कहां-से-कहां पहुंच जायगा। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। आगे चलनेके स्थान पर हम पीछे लौटे, उन्नति करने के स्थान पर भौतिक-आविष्कारोंके सहारे हम एक-दूसरेका गला काटने लगे। सामाजिक-विज्ञानोंके कारण भी समाज में काम कर रहे नियमों का ही पता चलेगा, इससे ज्यादा कुछ नहीं होगा। भौतिक-नियमोंके ज्ञान से मनुष्य आगे भी बढ़ सकता है, इनका दुरुपयोग भी कर सकता है। सामाजिक-नियमोंके ज्ञानसे भी इनका सदुपयोग तथा दुरुपयोग दोनों हो सकते हैं। हिटलर तथा मुसोलिनीने सामाजिक-नियमोंके ज्ञानका दुरुपयोग किया, परन्तु क्योंकि किसी चीजका दुरुपयोग हो सकता है, इसलिए तो वह बुरी नहीं हो जाती। विज्ञान ने उन्नति भी तो की है, और यह उन्नति भौतिक-नियमोंके ज्ञानसे की है। हमारा अन्तरात्मा भला हो, तो हम भी सामाजिक-विज्ञानोंके ज्ञानसे अपना ही नहीं, संसारका भला कर सकते हैं। इसीकारण जैसे हमारा अबतक भौतिक-विज्ञानोंकीतरफ़ ध्यान था, वैसे अब विद्वानोंका सामाजिक-विज्ञानों, और उनमें भी ख़ासकर 'समाज-शास्त्र' की तरफ़, ध्यान खिचता चला जारहा है।

योरुपमें तो अनेक वर्षोंसे यह विषय विश्वविद्यालयोंमें अन्य विषयोंकी तरह पढ़ाया जाता रहा, परन्तु इधर कुछ वर्षोंसे भारतके विश्व-विद्यालयोंने भी इस विषयकी तरफ़ ध्यान दि ? है, और बी० ए० तथा एम० ए० की पाठविधिमें इसका समावेश किया है। इस समय विद्यार्थियोंको अपने विषयका

अध्ययन करनेके लिये बीसियों पुस्तकोंकेलिये दौड़-धूप करनी पड़ती है, कोई एक ऐसी पुस्तक नहीं है जो उनकी पाठविधिके हर पहलूपर प्रकाश डाले, और इस तरतीब और सिलसिलेसे डाले जिस तरतीब और सिलसिलेसे ये विषय उनकी 'समाज-शास्त्र' की पाठविधिमें रखे हुए हैं। यह पुस्तक इस दृष्टिसे लिखी गई है कि विद्यार्थियोंकी इस मांग को यह एकदम पूरा कर दे, और उन्हें एक ही पुस्तकमें अपनी हर-बात का समाधान मिल जाय। पुस्तक को इस ढंगसे लिखा गया है कि विद्यार्थियोंके काम तो वह आये ही, साथ ही 'समाज-शास्त्र' की जानकारी हासिल करने वाले अन्य पाठक भी इस पुस्तक का पूरा-पूरा लाभ उठा सकें।

पारिभाषिक-शब्दोंकी समस्याको हल करनेकेलिये हमने हिन्दीके साथ अंग्रेजीके शब्द हर-जगह देदिये हैं। यह समय बीचका समय है। हिन्दीके शब्द बन रहे हैं, वे शब्द नये हैं, इसलिये उनके अर्थ उन शब्दों पर रूढ़ होनेमें कुछ समय लगेगा। अंग्रेजी भाषामें शब्द और अर्थ का सम्बन्ध रूढ़ हो चुका है, इसलिए, इस बीचके युगमें, हिन्दी-अंग्रेजी शब्दोंको साथ-साथ रखनेसे विषय अधिक स्पष्ट होता दीखता है। जब विषय स्पष्ट हो जायगा, तब शब्द अपने-आप बनने लगेंगे। पुस्तक के अन्त में शब्दानुक्रमणिका अंग्रेजीसे हिन्दीमें दी गई है, हिन्दीसे अंग्रेजी में नहीं। इसका यह कारण है कि हमारे साहित्य की जो अवस्था है, उसमें अध्यापक तथा विद्यार्थी अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दोंसे तो परिचित हैं, हिन्दीके पारिभाषिक शब्द, क्योंकि अभी वे बने ही नहीं, बन ही रहे हैं, अतः उनसे वे अपरिचित हैं। वे पुस्तक में जो विषय ढूंढना चाहें, अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों के सहारे आसानी से ढूंढ सकते हैं।

पुस्तक लिखनेमें सभी पुस्तकोंसे सहायता लीगई है, इसलिए सबका एक साथ आभार स्वीकार है।

हमारे मित्र, डा० रामनारायणसक्सेना, प्रिंसिपल' डी० ए० वी० कालेज, देहरादून, 'समाज-शास्त्र' के माने हुए विद्वान् हैं। उन्होंने पुस्तकके 'प्रारम्भिक-शब्द' लिखे हैं, इसलिये उनका हार्दिक धन्यवाद है।

विद्या-विहार,
बलबीर ऐवेन्यू,
देहरादून।

—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
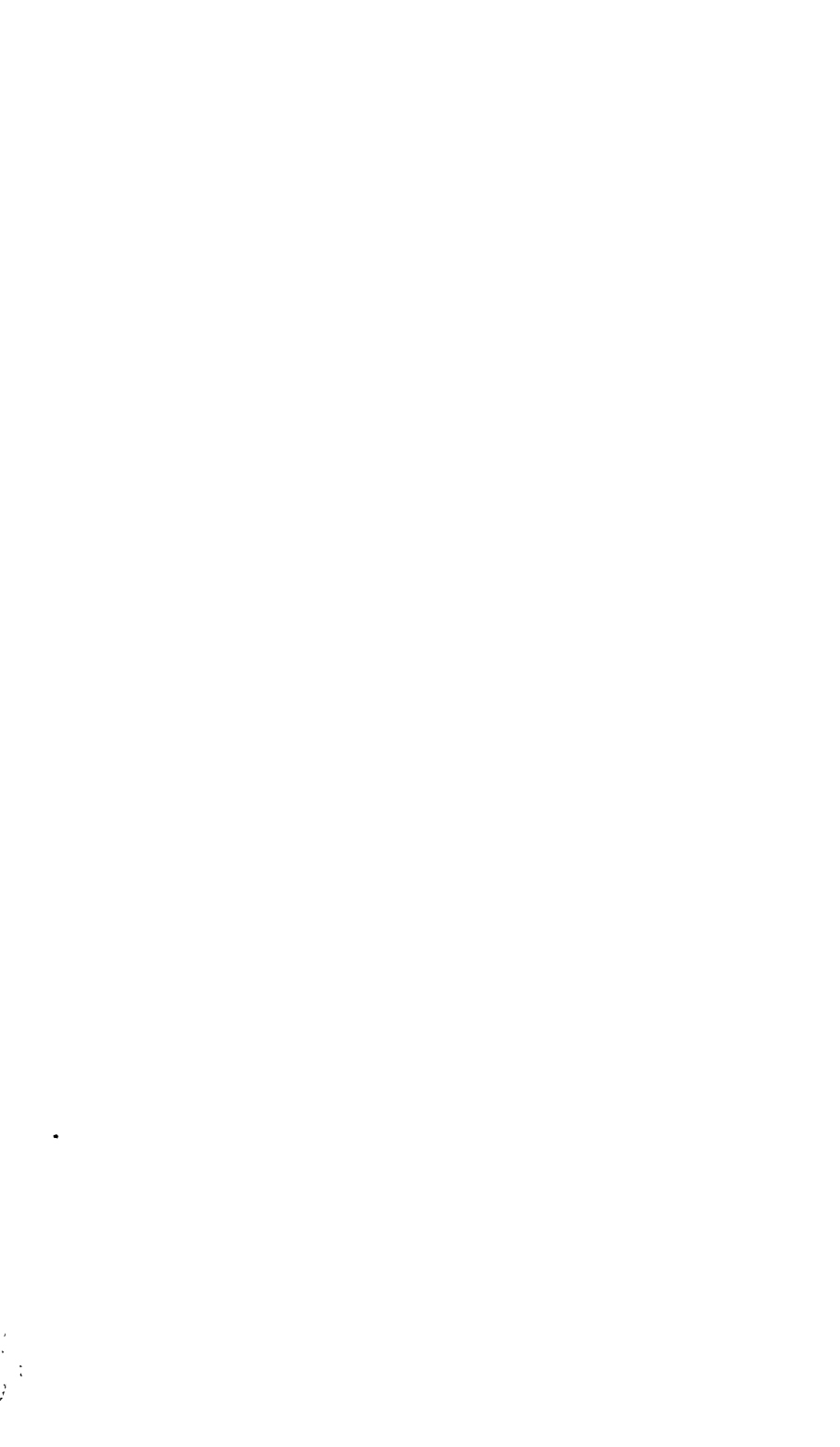
समाज-शास्त्रके मूल-तत्त्व

[१]

प्राथमिक परिभाषाएँ
(PRIMARY CONCEPTS)

'समाज-शास्त्र' का प्रारम्भ—

'समाज-शास्त्र' एक नवीन शास्त्र है, परन्तु इसका प्र[illegible] रूपमें प्लेटो (४२९-३४७ ई० पू०) के समयसे समझा जासकता है। [illegible] प्लेटोने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में 'समुदाय' (Community) की [illegible] की है—यह 'समुदाय' समाज-शास्त्रकी ही वस्तु है। इस शास्त्रकी विशेष रूपसे चर्चा ऑगस्ट कोम्टे (१७९८-१८५७) ने की, और उसीने पहले-पहल 'समाज-शास्त्र' (Sociology)—इस शब्दको गढ़ा। वह एक तरहसे इस शास्त्रका पिता कहा जासकता है। आगस्ट कोम्टेके बाद इस शास्त्रकी चर्चा जेम्स स्टुअर्ट मिल तथा हर्बर्ट स्पेंसरने की। १९वीं शताब्दीके अन्तिम भागमें जर्मनी तथा इंग्लैंडमें 'समाज-शास्त्र' की चर्चा और अधिक बढ़ी। यह देखा जाने लगा कि समाजमें कई नियम काम कर रहे हैं, उन नियमोंका अध्ययन किया जासकता है, उनमेंसे कई मनोवैज्ञानिक नियम हैं, कई आर्थिक, कई राजनैतिक, कई नियमोंका संस्कृतिसे सम्बन्ध है। होते-होते हमारा समय आगया। आज यह समझा जाने लगा है कि 'समाज-शास्त्र' अन्य विज्ञानोंकी तरह एक शास्त्र है, और जिसप्रकार अन्य शास्त्रोंका अध्ययन किया जाता है, उसीप्रकार इस शास्त्रका भी अध्ययन किया जासकता है। इस क्षेत्रमें वर्तमान समयमें जो कार्य हुआ है उसमें अमरीका के विद्वानोंका सबसे अधिक हाथ है।

'समाज-शास्त्र' के प्राथमिक शब्द—

इससे पहले कि हम इस शास्त्रकी अन्य किसी गहरी समस्याका वर्णन करें यह आवश्यक है कि पुस्तकमें जगह-जगह जिन शब्दोंका प्रयोग किया जायगा

उनको हम खोलकर समझ लें। प्रत्येक विज्ञानके अपने कुछ पारिभाषिक शब्द होते हैं, उन शब्दोंको समझे विना उस विज्ञानको समझना कठिन हो जाता है। 'भौतिक-विज्ञान' (Physics) के अपने शब्द हैं, उन शब्दोंको समझे विना भौतिक विज्ञान को कैसे समझ सकते हैं? 'अणु' शब्दका अर्थ है 'सूक्ष्म', परन्तु 'भौतिक-विज्ञान' (Physics) में इसका अर्थ होगा वह सूक्ष्मतम भौतिक-तत्व जिससे भौतिक-पदार्थ वनते हैं, जिसे अंग्रेजी में 'एटम' कहा जाता है। इसीप्रकार 'प्राणि-शास्त्र' (Biology) के 'कोष्ठ' (Cell), 'जीवन' (Life) आदि अपने शब्द हैं। 'प्राणि-शास्त्र' को समझनेकेलिये इन प्राथमिक, आधार-भूत शब्दोंका अर्थ समझना आवश्यक है। 'समाज-शास्त्र' के जो प्राथमिक, मूल-शब्द हैं, उन्हें ठीक-ठीक समझे विना इस शास्त्रको भी समझना कठिन है। वे शब्द हैं– 'समाज' (Society), 'समुदाय' (Community), 'समिति' (Association), 'संस्था' (Institution), 'प्रथा' (Custom) तथा रूढ़ियां (Mores)।

'समाज-शास्त्र' के प्राथमिक-शब्दोंकी व्याख्या क्यों जरूरी है—

'समाज-शास्त्र' के जिन शब्दोंका हमने अभी उल्लेख किया है उनका ठीक-ठीक समझ लेना इसलिये आवश्यक है कि वे शब्द आम वोलचालकी भाषासे लिये गये हैं। दूसरे विज्ञानोंमें ऐसा नहीं होता। उनके शब्द बिल्कुल अपने नये वने होते हैं। वोलचाल में शब्दोंका उतना वंधा हुआ अर्थ नहीं लिया जाता जितना किसी 'विज्ञान' में या 'शास्त्र' में लिया जाता है। इसलिये जव हम किसी 'शास्त्र' में ऐसे शब्दोंका प्रयोग करते हैं जो आम वोलचालमें प्रयुक्त होते हैं तब हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम यह स्पष्ट कर दें कि हमारे 'शास्त्र'में इन शब्दोंका यही अर्थ होगा, और कोई दूसरा अर्थ नहीं होगा। जब हम 'समाज' शब्दका प्रयोग करें, अथवा 'समुदाय', 'समिति', 'संस्था' आदि शब्दोंका प्रयोग करें, तो हमारे और सुननेवालेके मनमें एक ही चित्र खिचे, ऐसा न हो कि 'समाज' कहनेपर हमारे मनमें 'आर्यसमाज' का चित्र खिच जाय, और सुननेवालेके मनमें 'मानव-समाज' का चित्र खिच जाय।

इसके अतिरिक्त 'समाज-शास्त्र' एक ऐसा विज्ञान है जिसके मूल-तत्त्वोंको हम न देख सकते हैं, न पकड़ सकते हैं, न तराजूमें तोल सकते हैं, न प्रयोग-शालाकी परीक्षा-नलीमें डालकर उनका विश्लेषण करसकते हैं। 'समाज-शास्त्र' का काम मनुष्यका मनुष्यकेसाथ जो सामाजिक संवंध है—कहीं सहयोग है, कहीं असहयोग है, कहीं प्रेम है, कहीं द्वेष है—इसीका तो अध्ययन करना है। इन सम्बन्धोंको नापा नहीं जासकता, तोला नहीं जासकता, सूक्ष्म-वीक्षण-यंत्र द्वारा परखा नहीं

जासकता । 'समाज-शास्त्र' की परीक्षण-शाला तो रोज़-मर्राका संसार है । ये सामाजिक-सम्बन्ध जो देखे नहीं जासकते, छूये नहीं जासकते, नापे-तोले नहीं जासकते, अयथार्थ नहीं हैं, यथार्थ हैं । इन सम्बन्धोंकेलिये—ईर्ष्या, द्वेष, मित्रता, प्रेम—इन्हींकेलिये हम जीते हैं, मरते हैं—इन्हींकेलिये हमारा जीवन है । ईर्षा-द्वेष, मैत्री-प्रेमकी तरह 'समाज', 'समुदाय', 'समिति', 'संस्था'—ये भी न पकड़े जासकते हैं, न परीक्षा-नलीमें डाले जासकते हैं, परन्तु मनुष्यके जीवनमें इतने यथार्थ हैं, इतने सत्य हैं, जितने यथार्थ या जितनी सत्य कोई भी वस्तु होसकती है । यह दूसरा कारण है जिससे यह आवश्यक होजाता है कि 'समाज-शास्त्र' के इन मूल-तत्वोंको अगर भौतिक-विज्ञानोंके तत्वोंकीतरह नापा-तोला नहीं जासकता, तो कम-से-कम इतने स्पष्ट तौरपर समझ लिया जाय जिससे इनके विषयमें किसीप्रकारकी भ्रान्ति न रहे । इसलिये हम यहां इन पारिभाषिक शब्दोंका विवेचन करेंगे ।

१. समाज (SOCIETY)

'समाज' शब्द का क्या अर्थ है ?—

जिन शब्दोंकी हमने व्याख्या करनी है उनमेंसे सबसे पहला शब्द 'समाज' है । 'समाज' से हमारा क्या अभिप्राय है ? एरिस्टोटलने कहा था कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । यह सामाजिक-प्राणी, अर्थात् मनुष्य, अवतकके अपने करोड़ों वर्षोंके इतिहासमें क्या करता रहा है ? उसने एक संगठन बनाया, अच्छा बनाया या बुरा बनाया, परन्तु ऐसा संगठन बनाया जिसमें हमें किन्हीं बातोंकी आज़ादी है, किन्हीं बातोंकी बन्दिश है, कुछ हमारे कर्तव्य समझे जाते हैं, कुछ हमारे अधिकार समझे जाते हैं, कुछमें हम स्वतंत्र हैं, कुछमें परतन्त्र हैं । इस संगठन में हम कैसे रहें, कैसे न रहें, कैसे दूसरोंकेसाथ वर्तें, कैसे न वर्तें—इन सब बातोंकी व्यवस्था बनी हुई है । इस व्यवस्थामें समय-समयपर परिवर्तन भी होता रहता है—अगर किसी बातको अनुभवसे बुरा समझा जाता है, तो उसे छोड़ दिया जाता है, अच्छी बातोंको ले लिया जाता है—इसप्रकार हम एक-दूसरेकेसाथ बरतते जाते हैं, एकप्रकारके व्यवहारको जन्म देते हैं, वह ठीक नहीं जंचता तो दूसरे प्रकारके व्यवहारकी रचना कर डालते हैं—यह सारा सिलसिला, यह एक-दूसरेकेसाथ जो व्यवहारका 'सम्बन्ध' (Relationship) है, जो परिस्थितियोंके अनुसार सदा बदलता चला जारहा है, एक-सा नहीं बना रहता, उसीको इस शास्त्रमें 'समाज' (Society) कहा जाता है ।

'समाज' एक अमूर्त वस्तु है—

अगर 'समाज' इस प्रकारके 'संबंध' (Relationship) का नाम है, तो यह स्पष्ट है कि 'समाज' कोई प्रत्यक्ष, स्थूल वस्तु नहीं है। 'समाज' जीव-धारियोंकी उस अवस्थाका नाम है जिसमें उनका आपसमें एक-दूसरेकेसाथ 'सम्बन्ध' स्थापित हो जाता है। इस दृष्टिसे 'समाज' की सत्ता 'मूर्त' (Concrete) नहीं, 'अमूर्त' (Abstract) है; हम प्रत्यक्ष रूपमें नहीं दिखा सकते कि 'समाज' यह वस्तु है। जहां 'सामाजिक-सम्बन्ध' (Social relationship) व्यवस्थित रूपमें मौजूद हो वहीं 'समाज' की सत्ताको स्वीकार करना होगा। यह जरूरी नहीं कि 'सामाजिक-सम्बन्ध' अच्छे ही हों, अच्छे हों या बुरे हों, 'समाज' की सत्ताको स्वीकार करनेकेलिये 'सामाजिक-सम्बन्ध' का होना आवश्यक होगा। जहां लड़ाई-झगड़े होते हैं वहां एकप्रकारका 'सामाजिक-सम्बन्ध' है, अतः वहां भी 'समाज' की सत्ता है, जहां प्रेम है वहां दूसरेप्रकारका 'सामाजिक-सम्बन्ध' है, अतः वहां भी 'समाज' की सत्ता है।

'समाज' के जिस स्वरूपका हमने यहां वर्णन किया उसे 'समाज-सामान्य' (General conception of society) कहा जासकता है। 'समाज' का यह रूप 'विशेष' (Particular) नहीं, 'सामान्य' (General) रूप है, 'स्थूल' (Concrete) नहीं, 'सूक्ष्म' (Abstract) रूप है—यह 'समाज' का ऐसा रूप है जो किसी देश वा कालसे बंधा नहीं है—यह 'समाज' का अति विस्तृत सार्वत्रिक रूप है, जो न देखा जासकता है, न छुआ जासकता है, जिसे केवल अनुभव किया जासकता है। इसके अतिरिक्त 'समाज' शब्दका एक दूसरा संकुचित रूप भी है। जब हम 'समाज' (Society) शब्द के स्थानमें 'एक समाज' (A Society) शब्दका प्रयोग करते हैं तब हम 'समाज' के 'अमूर्त' (Indefinite) रूपसे 'मूर्त' (Definite) रूपकीतरफ, 'सूक्ष्म' रूपसे 'स्थूल' रूपकीतरफ, 'अदृश्य' से 'दृश्य' रूपकीतरफ, 'सामान्य' से 'विशेष' रूपकी-तरफ चले आते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम 'आंग्ल-समाज', 'जर्मन-समाज', 'रशियन-समाज', 'हिन्दू-समाज' आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं, तब अमूर्तके स्थानमें मूर्त, अदृश्यके स्थानमें दृश्य, सूक्ष्मके स्थानमें स्थूलकीतरफ आनेका प्रयास कर रहे होते हैं, तब हम देश-कालमें 'समाज' को बांध देते हैं, यद्यपि तब भी उतने स्थूल रूपपर नहीं पहुंच पाते जितने स्थूल रूपपर 'भौतिक-विज्ञान' (Physics) या 'रसायन-शास्त्र' (Chemistry) आदिमें हम पहुंच जाते हैं। इसका कारण यही है कि 'समाज'-शब्दको हम कितना ही 'स्थूल'

(Concrete) बनानेका प्रयत्न क्यों न करें, क्योंकि 'समाज' की भावना 'सामाजिक-सम्बन्धों' (Social relations) से उत्पन्न होती है, और 'संबंध' (Relations) देखनेकी वस्तु नहीं हैं, अतः 'समाज', अन्ततोगत्वा, अमूर्त तथा सूक्ष्म वस्तुका ही नाम रह जाता है।

'समाज' तथा 'सामाजिक-सम्बन्ध'—इन दोनोंको हम अभी और अधिक समझानेका प्रयत्न करेंगे :—

१. 'सामाजिक-सम्बन्ध' का अर्थ है—एक-दूसरेका ज्ञान—

हमने अभी कहा था कि वह 'सामाजिक-सम्बन्ध' जो परिस्थितियोंके अनुसार परिवर्तित होरहा है—'समाज' है, परन्तु प्रश्न उठता है कि 'सामाजिक-सम्बन्ध' से हमारा क्या अभिप्राय है ? हम बैठे लिख रहे हैं—मेजपर चारोंतरफ़ पुस्तकें पड़ी हुई हैं। मेजका और पुस्तकोंका भी एक-दूसरेकेसाथ 'सम्बन्ध' है, मेज़ने पुस्तकोंको थाम रखा है, परन्तु इस 'सम्बन्ध' को 'सामाजिक-सम्बन्ध' नहीं कहा जासकता। मेज़को पता नहीं कि पुस्तक उसपर पड़ी है, पुस्तकको पता नहीं कि वह मेजपर पड़ी है—दोनोंको एक-दूसरेकी सत्ताका ज्ञान नहीं है। 'सामाजिक-सम्बन्ध' वहीं माना जासकता है जहां एक-दूसरेकी सत्ताका 'ज्ञान' हो, उसकी 'प्रतीति' (Awareness) हो, उस 'ज्ञान', उस 'प्रतीति' से 'व्यवहार' (Behaviour) की संभावना हो। कुर्सी और पुस्तकका एक-दूसरेकेसाथ सम्बन्ध तो है, परन्तु उन्हें एक-दूसरेका ज्ञान नहीं, और ज्ञान नहीं तो उनके एक-दूसरेकेसाथ किसीप्रकारके 'व्यवहार' की भी संभावना नहीं पैदा होती—अतः उनके 'सम्बन्ध' को 'सामाजिक-सम्बन्ध' नहीं कहा जासकता। जहां एक-दूसरेकेसाथ सम्बन्धका 'ज्ञान', उसकी 'प्रतीति' नहीं, वहां 'सामाजिक-सम्बन्ध' नहीं, और जहां 'सामाजिक-सम्बन्ध' नहीं वहां 'समाज' भी नहीं।

कई लेखकोंने इस व्याख्यामें आपत्ति उठाई है। उनका कहना है कि यह जरूरी नहीं है कि 'सामाजिक-सम्बन्ध' वहीं हो जहां, जिनका 'सम्बन्ध' है, उन्हें उस सम्बन्धका 'ज्ञान' हो, 'प्रतीति' हो। कभी-कभी इंग्लैंडके, या किसी और देशके, बाजार-भावोंका प्रभाव ऐसा जबर्दस्त होसकता है कि हमारे देशके एक कोनेमें बैठेहुए एक मजदूरकी आर्थिक कठिनाई उग्र होउठे, और उसे बिल्कुल कुछ पता ही न हो कि यह उथल-पुथल क्यों होगई, इस उथल-पुथलके कारणोंको जाननेके लिये बड़े-बड़े पंडितोंको मगज़पच्ची करनी पड़े। परन्तु इस आक्षेपका यह उत्तर दिया जासकता है कि भले ही गांवके एक कोनेमें बैठेहुए मजदूरको इंग्लैंडके बाज़ार-भावों में गड़बड़ आजानेका 'ज्ञान' न हो, परन्तु जिस शृंखलामेंसे

होते-होते यह सारी गड़वड़ गांवतक पहुंची, उसका अगर विश्लेषण किया जाय, तो पता चलेगा कि इंग्लैंडकी गड़वड़का 'ज्ञान' आगे-आगे वढ़ता चला गया है। इंग्लैंडकी गड़वड़ का 'ज्ञान' वम्वई-कलकत्ता पहुंचा, कलकत्ते-वम्वईसे दिल्ली पहुंचा, दिल्लीसे देहरादून पहुंचा, देहरादूनमें जिस दुकानदारने दाम वढ़ा दिया उसके पास पहुंचा, और दुकानदारसे जिस मज़दूरने चीज़ पहलेसे वहुत मंहगे दामोंमें ख़रीदी उसतक पहुंचा। आख़िर, मज़दूर इतना तो पूछता ही है कि क्यों भाई, पहले दीयासलाई एक पैसेमें आती थी, अव उसी चीज़ के दो पैसे क्यों मांगते हो। दुकानदार कह देगा, दिल्लीका वाज़ार गरम होगया है, इसलिये मांगता हूं। दिल्लीका वाज़ार गर्म क्यों होगया? क्योंकि वम्वईका गर्म होगया! वम्वईका गर्म क्यों होगया? क्योंकि इंग्लैंडमें गड़वड़ी होगई। जहां 'समाज' है, वहां 'सामाजिक-सम्वन्ध' रहता है, जहां 'सामाजिक-सम्वन्ध' है वहां उस 'सम्वन्ध' का कुछ-न-कुछ 'ज्ञान', कुछ-न-कुछ 'प्रतीति' (Awareness) रहती ही है।

२. 'सामाजिक-सम्वन्ध' अनेक प्रकारके होसकते हैं परन्तु उनका आधार 'समान-वस्तु' तथा 'समान-स्वार्थ' (Common objects and common interests) हैं—

'सामाजिक-सम्वन्ध' कई प्रकारके होते हैं। कई सम्वन्ध हमें एक-दूसरे के निकट लाते हैं, कई एक-दूसरेसे दूर करते हैं। जो निकट लाते हैं वे मित्रताके सम्वन्ध हैं, जो दूर करते हैं वे शत्रुताके सम्वन्ध हैं। हम एक-दूसरेके निकट क्यों आते हैं, और एक-दूसरेसे दूर क्यों जाते हैं? यह इसलिये कि कोई वस्तु ऐसी होती है जिसमें हम दूसरोंकेसाथ अपनेको साझीदार समझते हैं। अगर उस साझीदारीमें दूसरे हमारा सहयोग देते हैं, तो हमारा उनकेसाथ मैत्रीका सम्वन्ध स्थापित होजाता है, अगर वे हमारा सहयोग देनेके स्थानमें विरोध करते हैं, तो हमारी उनकेसाथ शत्रुता होजाती है। एक मकान है, देश है, व्यापार है—कुछ लोग उस मकानमें, ज़मीन में, व्यापारमें हमारा भी हिस्सा समझते हैं—जिनके साथ मकानमें हमारा हिस्सा है वे हमारे कुनवेके हैं, जिनकेसाथ देशमें हम साझीदार हैं वे हमारे देश-भाई हैं, हमवतन हैं, जिनकेसाथ व्यापारमें हमारा हिस्सा है वे हमारे पार्टनर हैं, इन सवकेसाथ हमारा सहयोगका, मैत्रीका सम्वन्ध है। कई ऐसे भी हैं जिनके साथ हमारा असहयोगका, द्वेषका सम्वन्ध है। जो हमारे भाई थे वे ही हमारा अपने मकानमें हिस्सा निकालनेकेलिये मुकदमेवाज़ी करते हैं, जो हमारे देशके नहीं वे फौजें लेकर हमपर हमला करते हैं, जो हमारी तरहका ही व्यापार

करते हैं वे हमारा व्यापार मारनेकेलिये हमसे सस्ते दामोंपर चीज़ें वेचने लगते हैं—इन सवकेसाथ हमारा सहयोगका सम्वन्ध नहीं रहसकता। सहयोग-असहयोग, मैत्री-द्वेष आदिकी भावना तभी उठती है जव जिनका सहयोग अथवा असहयोग एवं मैत्री अथवा द्वेष उठ खड़ा हुआ है उनके स्वार्थ एक ही वस्तुकेलिये हों। देश एक ही वस्तु है—हमारा स्वार्थ है कि यह हमारे हाथमें रहे, दूसरोंका स्वार्थ है यह उनके हाथमें चला जाय, जो इस कार्यमें हमारा सहयोग देंगे वे हमारे मित्र, हितू, जो सहयोग नहीं देंगे वे हमारे शत्रु। जव हम 'सामाजिक-सम्वन्ध'—इस शब्दका प्रयोग करते हैं तव ये सव सम्वन्ध, अनुकूल-प्रतिकूल, जिनका हमने ऊपर वर्णन किया इस शब्दमें समा जाते हैं।

ये सम्वन्ध 'आर्थिक' होसकते हैं, 'राजनैतिक' होसकते हैं, 'सांस्कृतिक' होसकते हैं, विल्कुल कोरे 'वैय्यक्तिक' होसकते हैं, 'अनुकूल' होसकते हैं, 'प्रतिकूल' होसकते हैं। जव हम समाज में रहते हैं तव हमारे एक-दूसरेकेसाथ अनन्त प्रकारके 'सामाजिक-सम्वन्ध' होसकते हैं। ध्यानमें रखनेकी वात यही है कि कितने ही प्रकारके सम्वन्ध क्यों न हों, वे 'सामाजिक-सम्वन्ध' तभी कहायेंगे जव हमारे और दूसरोंके, जिनकेसाथ हमारे 'सामाजिक-सम्वन्ध' का प्रश्न उपस्थित हुआ है, स्वार्थकी चीज़ कोई एक ही वस्तु हो। जहां कोई ऐसी वस्तु नहीं होगी जिसके विषय में हमारा दूसरेकेसाथ अनुकूल या प्रतिकूल सम्वन्ध स्थापित हो, वहां 'सामाजिक-सम्वन्ध' कैसे वन सकेगा? वंवईमें एक मकान है, हमारी उस मकानमें कोई दिलचस्पी नहीं है, इसलिये उस मकान के मालिकोंकेसाथ, जहांतक उस मकानकी मिलकियतका सम्वन्ध है, हमारा कोई 'सामाजिक-सम्वन्ध' नहीं है, इसलिये नहीं है क्योंकि वह मकान हमारे और उनकेलिये अपने-अपने स्वार्थकी वस्तु नहीं है। इसके विपरित, वंवईमें एक दूसरा घराना है जो उसी मकानका हकदार है। वंवईके इन दो घरानोंका क्योंकि एकही मकानकेलिये स्वार्थ लड़ रहा है इसलिये इन घरानोंका पारस्पारिक सम्वन्ध 'सामाजिक-सम्वन्ध' की श्रेणी के अन्तर्गत है। कहनेका अभिप्राय यह है कि 'सामाजिक-सम्वन्ध' (Social relationship) तभी उत्पन्न होता है जव कोई ऐसी वस्तु हो, ऐसा स्वार्थ हो, जो उन लोगोंकेलिये समान हो, जो उसको पानेकेलिये प्रयत्न कर रहे हैं। 'समान-वस्तु तथा समान-स्वार्थ' (Common object and common interest) 'सामाजिक-सम्वन्ध' केलिये आवश्यक है। जहां इसप्रकारका 'समान-वस्तु और समान-स्वार्थ' का 'सामाजिक-सम्वन्ध' होगा वहां 'समाज' की सत्ताको मानना पड़ेगा।

३. 'समाज' में 'समानता और भिन्नता' (Likeness and difference) अन्तर्निहित हैं—

हम देख आये हैं कि 'समाज' का अभिप्राय है 'सम्बन्ध'। 'सम्बन्ध' के अन्दर दो विरोधी भाव आजाते हैं। 'ऊपर' का सम्बन्ध है 'नीचे' से, 'अधिक' का सम्बन्ध है 'कम' से, 'अपूर्ण' का सम्बन्ध है 'पूर्ण' से, 'समान' का सम्बन्ध है 'असमान' से—ये सब विरोधी संबंध ही तो हैं! 'समाज' की इकाई 'परिवार' है—'परिवार' एक छोटे-से-छोटा 'समाज' है, परन्तु 'परिवार' को हम 'समाज' क्यों कहते हैं? 'परिवार' में 'समानता' है—जो स्त्री और पुरुष अपनेको एक-दूसरेके समान अनुभव करते हैं, वे ही तो विवाह करके 'परिवार' बनाते हैं, परन्तु अगर वे 'समान' ही हों, 'भिन्न' न हों, तब क्या वे विवाह करेंगे? स्त्री और पुरुषका मेल ही भिन्नताके कारण है। अगर सब समान हों, स्त्री-पुरुष की भिन्नता न हो, तो विवाह जैसी कोई चीज़ नहीं होसकती। क्या कोई पुरुष पुरुषकेसाथ और स्त्री स्त्रीकेसाथ विवाह करती है?

हम सब भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु भिन्न होतेहुए भी हमें इस बातकी चेतना है, प्रतीति है, अनुभव है, कि हम एक-से हैं—इसीलिये तो हम एकदूसरेसे मिलते हैं, यह चेतना न हो, तो हम आपसमें क्यों मिलें? यह चेतना जितनी बढ़ती जाती है, व्यापक होती जाती है, उतना ही 'सामाजिक-सम्बन्ध' या 'समाज' का क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। ऐसा समय आसकता है जब हम विश्वभरके मानव-समाजको अपना-सा समझने लगें, तब हमारा 'समाज' का क्षेत्र इतना विशाल होजायगा जितना मानव-समाजका क्षेत्र। तब हम काले-गोरेका, ऊंच-नीचका, धनी-निर्धनका, छूत-अछूतका कोई भेद नहीं करेंगे, तब विश्व ही एक समाज होजायगा, और विशाल-दृष्टिसे देखनेवाला किसी एक शहरका नहीं, विश्वका नागरिक होगा। ऐसा भी समय आसकता है जब यह 'समानता' की दृष्टि मनुष्योंतक ही नहीं, पशु-पक्षियोंतक भी चली जाय—वह दृष्टि जिसमें 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावनाका उदय होजाय। यह दृष्टि 'समानताके सम्बन्ध' (Relation of likeness) को देखनेकी दृष्टि है, और इसी दृष्टिसे मनुष्य प्रथम-समाज, अर्थात् 'परिवार' को जन्म देता है। परन्तु जैसा पहले कहा गया, 'समाज' की भावनाको उत्पन्न करनेकेलिये केवल 'समानता' काफ़ी नहीं है। 'समानता' के साथ 'भिन्नता' का होना भी आवश्यक है। स्त्री-पुरुषकी जो लैंगिक भिन्नता है उसीसे तो विवाह होता है। जब भिन्नता समताका आश्रय लेती है तब दोनों में आदान-प्रदान होता है, और इस आदान-प्रदानसे 'समाज' की गाड़ी आगे चलती है। 'समाज' में

सम-व्यक्ति अपनी तरह-तरहकी विषमताओंके कारण मिलते हैं । परिवारमें स्त्री-पुरुष मिलते हैं--उनकी विषमता प्राणि-शास्त्र-सम्बन्धी है--एक स्त्री है, दूसरा पुरुष है ; व्यापारमें एक धनी परन्तु क्रिया-हीन और दूसरा निर्धन परन्तु क्रिया-शील व्यक्ति मिलते हैं--उनकी विषमता आर्थिक तथा सामर्थ्य-सम्बन्धी है । इसीप्रकार शक्ति, सामर्थ्य, रुचि आदि विषमताओंके कारण मनुष्य-मनुष्यका मेल होता है, इस मेलसे आदान-प्रदान होता है, और 'समाज' आगे-आगे कदम बढ़ाता जाता है । इसी 'समानता और भिन्नता' के कारण 'श्रम-विभाग' (Division of labour) का उदय होता है जिसमें, क्योंकि हरेक व्यक्ति हर कामको नहीं करसकता, इसलिये आदान-प्रदानकेलिये कुछ काम एक तरह के लोग करने लगते हैं, दूसरा काम दूसरीतरहके लोग करने लगते हैं । इस 'श्रम-विभाग' से 'समाज' उन्नतिके पथपर चल पड़ता है ।

४. 'समाज' में 'भिन्नता' मुख्य नहीं, 'समानता' मुख्य है—

'समाज' में जिस 'समानता' और 'भिन्नता' का हमने वर्णन किया उसमें 'समानता' का मुख्य स्थान है, 'विषमता' का गौण स्थान है । 'श्रम-विभाग' (Division of labour) क्यों होता है? यह विभाग, यह कार्योंकी भिन्नता इसलिये होती है क्योंकि मानव-समाजकी एक-सी आवश्यकताएँ हैं, सबने खाना है, पीना है, रहनेकेलिये कोई आश्रय ढूंढना है, इन एक-सी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेकेलिये वे कामोंको बांट लेते हैं--यह बांटना, यह कामोंकी भिन्नता, एकता और समानताको लानेकेलिये है, उन स्वार्थोंको पूर्ण करनेकेलिये है जो सब मनुष्योंके समान हैं । भिन्न-भिन्न प्रकारके लोग व्यापारकेलिये इकट्ठे होते हैं--वे भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य 'भिन्नता' नहीं, 'समानता' है, इसलिये यह कहना असंगत नहीं कि यद्यपि 'समाज' की गाड़ी 'समानता तथा भिन्नता' से चलती है, तो भी इस प्रवाहमें भिन्नता गौण तथा समानता मुख्य है, भिन्नता समानताको लानेकेलिये है ।

५. 'समाज' में 'मनुष्य' का स्थान—

'समाज' के जिन चार तत्वोंका हमने निरूपण किया उनसे भी ज्यादा 'समाज' का आधार-भूत तत्व तो 'मनुष्य' स्वयं है । मनुष्यके बिना 'समाज' क्या है ? मनुष्य ही तो 'समाज' को बनाता है । मनुष्य 'समाज' को क्यों बनाता है ? इसलिये, क्योंकि मनुष्य स्वभावसे सामाजिक प्राणी है । मनुष्य 'समाज' के बिना नहीं रहसकता । इसीलिये अगर किसीको कड़ी सजा देनी हो, तो उसे इकला बन्द कर देते हैं । जो मनुष्य इकले रहने लगते हैं वे प्रायः पागल होजाते हैं ।

वैसे तो 'समाज-शास्त्र' में पशु-पक्षी भी आजाते हैं, उनका भी अपना-अपना 'समाज' होता है, वे भी मनुष्यकीतरह इकले न रहकर मिलकर रहते हैं। 'मृगाः मृगैः संगमनुव्रजन्ति गावश्व गोभिस्तुरगास्तुरंगैः'—मृग मृगोंकेसाथ, गौ गौओंकेसाथ, घोड़े घोड़ोंकेसाथ रहते हैं। 'समान शील व्यसनेषु सख्यम्'—एक-से शील-स्वभाववाले मिलकर रहना पसन्द करते हैं—भले ही वे मनुष्य हों, पशु हों, पक्षी हों, परन्तु जिस 'समाज-शास्त्र' का हम विवेचन करने वैठे हैं उसमें हम मानव-समाज तक ही अपनेको परिमित रखेंगे—सम्पूर्ण प्राणी-जगत्को अपने अध्ययनका विषय नहीं वनायेंगे।

२. समुदाय (COMMUNITY)

'समुदाय'-शब्द का क्या अर्थ है ?—

हमारी परिभाषाओंमें 'समाज' के वाद 'समुदाय' (Community) शब्द है। 'समुदाय'-शब्दका क्या अर्थ है ? हमने देखा था कि 'समाज' प्राणियोंके एक-दूसरेकेसाथ एक 'अमूर्त-सम्बन्ध' (Abstract relationship) का नाम है, ऐसा सम्बन्ध जो सत्य है, यथार्थ है, समझ में आजाता है, परन्तु जिसे हम पकड़कर दिखा नहीं सकते कि यह रहा वह 'सम्वन्ध'। यह 'समाज' (Society) जिन व्यक्तियोंसे वनता है, जव हम उनका वर्णन करने लगते हैं, जब मनुष्यके मनुष्य-केसाथ 'सम्वन्ध' का नहीं, परन्तु जिनका 'संवंध' है उन व्यक्तियोंका वर्णन करने लगते हैं, तव 'समुदाय' (Community) शब्दका प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ, एक गांवमें जितने व्यक्ति रहते हैं वे सव मिलकर एक 'समुदाय' (Community) बनाते हैं, इसीप्रकार शहरके लोग, जाति, उप-जातिके लोग मिलकर इकट्ठे रहने लगते हैं—उन्हें हम 'समुदाय' (Community) कहते हैं। इनका आपसका 'सम्वन्ध' हमारे भीतर यह ज्ञान उत्पन्न करता है कि ये 'समाज' (Society) हैं, परन्तु ये स्वयं—ये गांव, शहर, जातियां—'समाज' नहीं, 'समुदाय' (Community) कहाते हैं। 'समाज' ये तभी कहायेंगे जव हम 'सम्बन्ध' की दृष्टिसे विचार करेंगे, जव इनके 'एकत्रण' की दृष्टि से विचार करेंगे तव 'समुदाय' कहायेंगे। 'समुदाय' (Community) में लोग इसतरह रहते हैं कि उनका जीवन एक-दूसरेसे कटा नहीं होता। एक-सा उनका जीवन होता है, एक-से उनके रीति-रिवाज होते हैं, जीवनकी एक-सी व्यवस्था होती है, एक-से नियमोंमें वे वन्धे रहते हैं। 'समुदाय' (Community) की आधार-भूत वात यह है कि मनुष्य दिन-रात अपने सम्पूर्ण जीवनको उस 'समुदाय' में विता सकता है—न विताना

चाहे तो दूसरी बात है। उसीमें पैदा होना, उसीमें रहना, उसीमें मर जाना— ऐसा जिस सामाजिक संगठनमें होसके वही 'समुदाय' है। जिस गांव,शहर, जाति, उप-जातिमें हम पैदा हुए, उसीमें जीवन बिताकर, उसीमें मरजाते हैं—समाज के ये संगठन ही 'समुदाय' (Community) कहाते हैं।

'समुदाय' की आधार-भूत दो बातें—'स्थानीयता' (Locality) तथा 'एक-भावना' (Community sentiment)—

(१) 'समुदाय' का सदा किसी एक 'स्थान' (Locality) से संबंध होता है। गांव, शहर किसी एक जगह बसे होते हैं, अतः वे 'समुदाय' कहाते हैं। प्राचीन-कालमें भारतमें 'स्थान' के कारण कई 'समुदाय' बने थे, जो पीछे जात-बिरादरी बन गये। 'सारस्वत'-ब्राम्हणोंका समुदाय था जो सरस्वती नदीपर बसा हुआ था, 'सरयू-पारीण' वे थे जो सरयू नदीके पार बसे हुए थे। अब जो दो नदियोंके बीचके हिस्सेमें बसते हैं, वे 'दो-आबा' के रहनेवाले कहाते हैं। ये सब 'समुदाय' एक 'स्थान' पर रहनेके कारण बने हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कई ऐसे 'समुदाय' भी होते हैं जो किसी एक स्थानसे बन्धे नहीं रहते। फिरन्दर समुदायोंका यही हाल है, परन्तु वे भी चाहे 'स्थान' बदलते रहें, किसी-न-किसी 'स्थान' पर रहते ही हैं, कुछ दिन इस 'स्थान' पर, तो कुछ दिन दूसरे 'स्थान' पर।

(२) किसी एक स्थानपर एक-साथ रहनेका परिणाम यह होता है कि ऐसे लोगोंमें 'एकात्मता', 'एक-भावना' (Community sentiment) उत्पन्न होजाती है। वे लोग एक जैसे त्यौहार मनाते हैं, एक-दूसरेके सुख-दुःखमें साथ देते हैं, और उन्हें यह अनुभव होता है कि परिवार उनका भले ही अलग-अलग हो, परन्तु फिर भी वे एक ही गांवके, या एक ही शहरके, या एक ही देशके रहनेवाले हैं। अगर कोई पंजाबी किसी मद्रासीको इंग्लैंडमें मिल जाय, तो एक-दूसरेसे परिचित न होतेहुए भी उनमें यह 'एकत्व-भावना' जोर कर जाती है। उस समय उनमें इस भावनाका उदय होना 'समुदाय-भावना' (Community sentiment or Social coherence) का उदय होना है। इस दृष्टिसे 'समुदाय-भावना' केलिये एक स्थानपर रहना इतना आवश्यक नहीं है जितना 'एकात्मता' का अनुभव करना। यह होसकता है कि कुछ लोग एक ही स्थानमें रहते हों, परन्तु वे दूसरोंकेसाथ 'एकात्मता' न अनुभव करते हों। अंग्रेज भारतमें रहते थे, परन्तु भारतीयोंकेसाथ किसी प्रकारकी 'एकात्मता' नहीं अनुभव करते थे। ऐसी हालतमें वे यहांके 'समुदाय' (Community) के हिस्से नहीं कहे जासकते थे। उनका 'समुदाय' इंग्लैंडमें था, जहां उनकी 'एकात्मता' की भावना थी। एक ही गांवमें कई व्यक्ति

ऐसे भी होसकते हैं, जो रहते तो उस गांवमें हैं, परन्तु गांवकी किसी बातमें उन्हें दिलचस्पी नहीं, वे मानो सबसे कटेहुए हैं। ऐसे लोगोंमें 'एकात्मता' की भावनाकी कमी है—परन्तु ऐसे लोग इने-गिने ही होसकते हैं, अगर सभी ऐसे बन जायं, तो 'समुदाय' (Community) उत्पन्न ही नहीं होसकता। 'समुदाय' का उत्पन्न होना तो जरूरी है, हम अपनी गर्जकेलिये 'समुदाय' को उत्पन्न करते हैं—इसलिये ऐसे व्यक्तियोंको जो 'समुदाय' में रहतेहुए 'समुदाय' से अलग रहनेका प्रयत्न करते हैं लोग घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं।

'समुदाय' के भीतर 'समुदाय' (Communities within communities)—

एक 'समुदाय' (Community) का यह अभिप्राय नहीं है कि उसके भीतर दूसरा 'समुदाय' (Community) नहीं होसकता। बम्बई एक बड़ा भारी शहर है—जो लोग बम्बईमें रहते हैं उनका एक ही 'स्थान' (Locality) है, और वे सब एक-दूसरेसे 'एकात्मता' (Community sentiment) अनुभव करते हैं। यह एक बड़ा 'समुदाय' हुआ। परन्तु इस 'समुदाय' के भीतर अन्य 'समुदाय' भी तो हैं। पारसी पारसियोंकेसाथ, गुजराती गुजरातियोंकेसाथ, पंजाबी पंजाबियोंकेसाथ एकात्मता अनुभव करते हैं, अतः इन सबके 'समुदाय' अलग-अलग हैं, और ये 'समुदाय' के भीतर 'समुदाय' हैं। इसीप्रकार पारसी, गुजराती और पंजाबियोंमें जो व्यापारी लोग हैं, वे भिन्न-भिन्न 'समुदायों' के होतेहुए भी व्यापारके नाते, एक हित, एक स्वार्थ होनेके कारण अपनेको 'व्यापारी-समुदाय' (Business community) कहते हैं। भारतके विभाजनके बादसे एक नवीन 'समुदाय' उत्पन्न होगया है। जो लोग पंजाबसे विस्थापित होकर भारतमें आ बसे हैं वे भारतमें जगह-जगह बिखर गये हैं — कोई दिल्ली, कोई बम्बई, कोई कलकत्ता जापहुंचा है। इन सब विस्थापितोंके एकप्रकारके हित हैं, ये सब एक-सी चोट खाये हुए हैं, इन सबमें 'एक-भावना' है, अतः शरणार्थीमात्रका एक 'शरणार्थी-समुदाय' (Refugee community) है। भारतके विशाल 'समुदाय' में यह एक छोटा बिखरा-बिखरा 'समुदाय' है, बिखरा-बिखरा इसलिये क्योंकि सब शरणार्थी एक ही जगह तो नहीं हैं। शरणार्थियोंमें भी अपने-अपने 'समुदाय' हैं—कोई मुलतान से आये हैं, कोई रावलपिंडीसे, कोई कोहाटसे, कोई लाहौरसे। ये लोग कहीं भी रहें, जबतक एक-दूसरेसे अपना सम्बन्ध बनाये हुए हैं, तबतक इनका अपना एक पृथक् छोटा-छोटा 'समुदाय' है। जब इनको यहां रहते सालों बीत जायेंगे, जहां

ये लोग आ बसे हैं वहीं अपने जीवनकी जड़ फेंक देंगे, यहींवालोंके सुख-दुःखमें अपनेको घुला-मिला देंगे, तब ये यहींके अन्य 'समुदायों' के अंग बन जायेंगे।

छोटेसे बड़े समुदायकी तरफ़—

कोई समय था जब बहुत छोटे-छोटे 'समुदाय' होते थे। सौ-दो-सौ व्यक्तियों-का एक 'समुदाय' था, और वह काफ़ी था। 'समुदाय' की सब जरूरियात आपसमें ही पूरी हो जाती थीं। आपसमें ही जरूरियात पूरी करनेका कारण यह था कि यातायातके साधन थे नहीं, न सड़कें थीं, न रेलगाड़ियां थीं, करते तो क्या करते ? अब समय बदल गया है, दूर-दूरतक जानेके साधन निकल आये हैं। ऐसी अवस्थामें अब यह आवश्यक नहीं रह गया कि 'समुदाय' की सब ज़रूरियात एक ही जगहसे पूरी कर ली जायं। पहले गांव और शहर दूसरे गांवों और शहरोंपर अपने जीवन-केलिये निर्भर नहीं रहते थे, परन्तु अब जो काम गांवमें पूरा होजाय वह गांवमें, नहीं तो शहरमें पूरा होजाता है। विज्ञानकी वर्तमान सुविधाओंके कारण हम एक-दूसरे-पर ज्यादा निर्भर रहने लगे हैं। इसप्रकार ज्यों-ज्यों हम अपनी जरूरियात केलिये दूसरोंपर निर्भर होने लगे हैं, त्यों-त्यों हमारा दूसरोंसे सम्पर्क बढ़ता जारहा है, उनकेसाथ हमारी 'एकात्मता की भावना' (Community sentiment) भी बढ़ती जारही है। इसका परिणाम यह है कि हम एक छोटे 'समुदाय' का अंग होतेहुए भी एक बड़े 'समुदाय' का भी अंग होते जारहे हैं, और धीरे-धीरे मानव-समाजके एक 'विशाल-समुदाय' का विकास होता जारहा है। 'समुदाय' (Community) विकासके मार्गपर चलते-चलते 'एक-जातीयता' (One nation) तथा इससे भी आगे बढ़कर 'एक-विश्व' (One world) के विचारको जन्म देरहा है। यह विचार उत्पन्न होरहा है कि हम सब विश्वकी एक मानव-जातिके अंग हैं—'समंजन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'—सब अमृत-पुत्र एक होकर रहें—यह भावना जड़ पकड़ती जारही है। 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' (United Nations Organisation) इसी भावनाका प्रतीक है। विश्वके एक राष्ट्रमें परिणत होजानेका यह अभिप्राय नहीं है कि गांव, शहर, देश—ये छोटे-छोटे 'समुदाय' नहीं रहेंगे। क्यों नहीं रहेंगे ? सभ्य-समाजको विकासकेलिये छोटे तथा बड़े दोनों दायरोंकी ज़रूरत है। छोटे दायरेमें, अपने गांव और अपने शहरमें जो दोस्ताना सम्बन्ध बन सकते हैं, जो दिन-रातकी चुहलबाजियां और गप्पें लड़ सकती हैं, जो तू-तू, मैं-मैं और लड़-झगड़कर फिर बगलगीर होना होसकता है, वह सब केवल विश्वका नागरिक बने रहनेसे थोड़े-ही होसकता है। परन्तु हां, बड़े दायरेसे हमारा सम्बन्ध होना हमारे विकासकेलिये ज़रूरी है। जब हमारा सम्बन्ध एक बड़े दायरेसे, बड़े

966

समुदायसे होजाता है, तब हमें अपने विकासके मौके बहुत अधिक मिलने लगते हैं, हमें अपना जीवन पहलेसे अधिक पूर्ण अनुभव होने लगता है। छोटा तथा बड़ा दायरा, छोटा 'समुदाय' तथा बड़ा 'समुदाय' दोनों मनुष्यकेलिये आवश्यक हैं, परन्तु मनुष्यके विकासकी दिशा छोटे 'समुदाय' में रहतेहुए बड़े 'समुदाय' केसाथ एकात्मता अनुभव करना है ।

छोटे दायरे क्यों टूट रहे हैं—

हम अपनी आंखोंके सामने देख रहे हैं कि विश्वके छोटे-छोटे दायरे टूटते जारहे हैं, उनकी जगह बड़े दायरे बनते जारहे हैं। जात-बिरादरीका शिकंजा ढीला पड़ता जारहा है, मत-मतान्तरके कारण जो संकुचितपन आजाता है वह कम होता जारहा है, लोग जात-बिरादरी छोड़कर, मत-मतान्तरकी पर्वा न कर, मनुष्यमात्रको एक 'समुदाय' समझनेकीतरफ़ कदम बढ़ा रहे हैं, मानव मानव-मात्रकेलिये, अपने गांव या शहरके मानवकेलिये ही नहीं, तड़पन अनुभव करने लगा है, विकास इसी दिशाकीतरफ़ जारहा है—इस सबका कारण क्या है ? इसका एक कारण तो यह है कि यातायातके साधन बढ़ गये हैं, हम अबतक जिन लोगोंको जानते भी न थे उनके बीचमें हम इन साधनोंसे पहुंचने लगे हैं, उनके साथ 'एकात्मता' अनुभव करने लगे हैं। यह 'यान्त्रिक-कारण' (Technical reason) है। दूसरा कारण 'आर्थिक' (Economic) है। इस युग में क्योंकि 'औद्योगिक-उन्नति' (Industrial development) के कारण बड़े-बड़े शहरोंमें बड़ी-बड़ी मिलें खड़ी हो गई हैं, इसलिये उनमें काम करनेकेलिये मजदूर घर-बार छोड़कर शहरोंमें आ बसते हैं। कोई कहींका, कोई कहींका—वे ऊंच-नीचका भेद-भाव भूलकर एक आर्थिक-सूत्रमें अपनेको बंधा पाते हैं, उनमें 'एकात्मता' की भावना उत्पन्न होजाती है, वे समझने लगते हैं कि वे किसी भी गांवके, किसी भी शहरके, किसी भी जात-बिरादरीके क्यों न हों, सबका मूल-प्रश्न रोटी है, और इस प्रश्नको हल करनेकेलिये जिन भी मुसीबतोंका सामना करना पड़े, उनको हल करनेकेलिये वे सब एक हैं—चाहे वे इस गांवके हों या उस गांवके, इस शहरके हों या उस शहरके, इस देशके हों या उस देशके ! छोटे-छोटे दायरोंके टूटने और बड़े-बड़े दायरोंके बननेका तीसरा कारण 'सांस्कृतिक' (Cultural) है। राजनीतिके धुरंधर—एक देशको दूसरे देशसे लड़ानेवाले भले ही देश-भक्ति की दुहाई देकर, 'देश खतरे में है' का नारा बुलन्दकर मनुष्यको मनुष्यसे अलग करनेका प्रयत्न करें, परन्तु विचार, कला, विज्ञान ऐसे पक्षी हैं जो किसी देशकी परिधि और सीमाको स्वीकार नहीं करते, वे स्वतन्त्र उड़ते हैं, और सब देशोंमें अपना

बसेरा बना लेते हैं। जॉन स्टुअर्ट मिलने जब 'लिबर्टी' ग्रन्थको लिखा था तब कौन उसके विचारोंको भारतमें आनेसे रोक सकता था ? गैलिलियो और ब्रूनोके वैज्ञानिक आविष्कार अपने ही देशकी सम्पत्ति कैसे रह सकते थे ? रवीन्द्रनाथ ठाकुरके गीत क्यों न विश्वभरमें संगीतका प्रवाह बहाते ? विचार, संगीत, कला, विज्ञान—यही तो संस्कृति है—यह संस्कृति मनुष्यको छोटे-छोटे 'समुदायों' में सदाकेलिये कैद नहीं रहने देसकती। जो राष्ट्र अपने देश-वासियोंको अपनी छोटी-छोटी खिड़कियोंसे बाहर नहीं झांकने देते, उन्हें लोह-पट (Iron curtain) के भीतर कैद रखते हैं, वे भूल में हैं, क्योंकि आजके मानव-समाजको छोटे-छोटे दायरोंमें कोई बन्द नहीं रख सकता—समाजके विकासका जो प्रवाह अनादि-कालसे बह रहा है यह कैद उसके साथ मेल नहीं खाती।

'समुदाय' (Community) तथा 'समाज' (Society) में भेद—

'समुदाय' तथा 'समाज' में भेद है। जैसा हम देख चुके हैं 'समाज' (Society) के अन्तर्गत वे सब 'सम्बन्ध' (Relations) आ जाते हैं जो मनुष्य मनुष्यकेसाथ बनाता है। 'सामाजिक-सम्बन्धों' की संगठित रचनाका नाम 'समाज' (Society) है। 'समुदाय' (Community) में भी सामाजिक-सम्बन्धोंका संगठन होता है, परन्तु 'समुदाय' (Community) में ये सामाजिक-सम्बन्ध एक-से होते हैं, 'समुदाय' के सब व्यक्ति परस्पर 'एकात्मता' (Common sentiment) अनुभव करते हैं, उनका रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज एक-से होते हैं। 'समाज' (Society) में 'संगठन' का अंश तो है, परन्तु यह जरूरी नहीं है कि वह 'संगठन' समाजके व्यक्तियोंको एकताके सूत्रमें ही पिरोये। एक-दूसरेके बड़े-बड़े दुश्मन भी 'समाज' के ही अंग हैं। रूस और अमरीका एक-दूसरेके विरोधी हैं, दोनों 'समाज' (Society) कहे जा-सकते हैं, परन्तु दोनोंका एक 'समुदाय' (Community) नहीं है—'समुदाय' (Community) अमरीकावालोंका अलग है, रूसवालोंका अलग है। 'समुदाय' में उसके जो अंग हैं, उनका एक हित, एक स्वार्थ (Common interest) होना आवश्यक है, 'समाज' में उसके जो अंग हैं उनके भिन्न-भिन्न हित, भिन्न-भिन्न स्वार्थ हो सकते हैं।

मध्य-वर्ती उदाहरण (Border line cases)—आश्रम, विहार, जेल, शरणार्थी आदि—

इसमें सन्देह नहीं कि गांव, शहर, जाति—ये 'समुदाय' (Community) हैं, क्योंकि ये एक 'स्थान' (Locality) पर बसे होते हैं, और इनमें बसनेवालों

का 'समान-हित' (Common interest) होता है। परन्तु वर्तमान-युगमें ऐसे दृष्टांत भी सामने आजाते हैं जिनके विषयमें यह निर्णय करना कठिन होजाता है कि वे क्या हैं। उदाहरणार्थ :—

(१) प्राचीन-काल के ब्रह्मचर्याश्रम, बौद्ध-भिक्षुओंके विहार, ईसाई पादरी-पादरिनोंके निवास-गृह (Monasteries), श्री अरविंदके पांडीचरी जैसे साधनाश्रम तथा जेल आदि जहां सब लोग एक ही स्थानपर रहते हैं, एक-सा जीवन व्यतीत करते हैं, एक-दूसरेके सुख-दुःखमें सदा शरीक होते हैं—इन्हें 'समुदाय' (Community) कहा जायगा या नहीं? कई लोग इन संगठनोंको 'समुदाय' (Community) का नाम देना इसलिये नहीं पसन्द करेंगे क्योंकि इन संगठनोंका कार्य अत्यन्त संकुचित है। परन्तु नहीं, संगठन का कार्य तो 'समुदाय' (Community) के छोटे-बड़े होनेके साथ-साथ संकुचित तथा विस्तृत होता ही रहेगा। क्योंकि ये संगठन एक 'स्थान' (Locality) पर बसे हैं, और क्योंकि इनमें 'एकात्म-भावना' (Common sentiment) काम कर रही है, इसलिये इन्हें 'समुदाय' (Community) कहना सर्वथा युक्तियुक्त है। इनके छोटे-बड़े होनेका इनके 'समुदाय' (Community) कहलानेपर कोई असर नहीं पड़सकता।

(२) इसीप्रकार 'शरणार्थियों' (Refugees) तथा अन्य बाहरसे आये हुए उन 'आगन्तुकों' (Immigrants) को भी हम 'समुदाय' (Community) के अन्तर्गत ही कहेंगे जो हमारे देशमें आकर जगह-जगह बिखर गये, परन्तु जहां भी वे हैं अपनी ही भाषा बोलते हैं, अपने ही रीति-रिवाजपर चलते हैं, और अपने लोगोंके सुख-दुःखमें अपना सुख-दुःख समझते हैं। शरणार्थियोंके 'समुदाय' बड़े विलक्षण हैं। एक तो उनका वह 'समुदाय' है जो उनका अपनी जात-बिरादरी वालोंकेसाथ है। यह 'समुदाय' भारतमें आनेके बाद चारोंतरफ़ बिखरा हुआ है। एक ही बिरादरीके कुछ लोग दिल्ली, कुछ बम्बई और कुछ कलकत्ता चले गये हैं। दूसरा इनका 'समुदाय' अपने उन शहरोंवालोंका है जो भारतमें आकर एक ही जगह बस गये हैं। तीसरा 'समुदाय' शरणार्थी-मात्र है। जो भी शरणार्थी है वह दूसरे शरणार्थीसे एकात्मता अनुभव करता है, और चुनावोंमें उसीको वोट देता है, चाहे उसे वह जानता हो या न जानता हो। चौथा 'समुदाय' वह अभी उत्पन्न कर रहा है। जहां आ बसा है वहांके संगठनोंमें घुसनेका प्रयत्न कर रहा है, वहांके जीवनमें अपनेको घुला-मिलाकर एक नये 'समुदाय' को जन्म देरहा है।

हैं। इन 'समुदायों' में अनेकानेक 'समितियां' (Associations) होसकती हैं। पहले तो बम्बईमें ही अनेक 'समितियां' होसकती हैं—कहीं क्रिकेट क्लब है, कहीं डाक्टरोंका, कहीं व्यापारियोंका अपने-अपने मतलबसे संगठन बनाहुआ है। फिर, पारसियोंमें, पंजाबियोंमें, गुजरातियोंमें, मराठोंमें अपने-अपने संगठन बनेहुए हैं। इसप्रकार एक व्यक्ति एक 'समुदाय' (Community) का होताहुआ अनेक, कभी-कभी बीसियों 'समितियों' (Associations) का सदस्य होसकता है।

(४) 'समिति' (Association) का कार्य अपने पदाधिकारियोंद्वारा होता है। ऐसी कोई 'समिति' नहीं होसकती जिसके कोई निर्वाचित या अनिर्वाचित कार्य-कर्ता अथवा पदाधिकारी न हों। 'समुदाय' (Community) के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसके कार्य-कर्ता अवश्य हों ही— हो भी सकते हैं, नहीं भी हो सकते हैं। 'समिति' (Association) का कार्य अपने उन पदाधिकारियोंद्वारा होता है जो 'समिति' (Association) के प्रति उत्तरदायी होते हैं। इस दृष्टिसे 'समिति' की अपनी ही एक कानूनी स्थिति हो जाती है। 'समिति' (Association) के पास रुपया आता है, चन्देके तौरपर या किसी अन्य तरहसे। 'समिति' (Association) की अपनी सम्पत्ति हो सकती है, जायदाद हो सकती है। इस सम्पत्तिको भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी इच्छासे इस्तेमाल नहीं कर सकते —इसका उपयोग उन्हीं 'विशेष-हितों' (Specific interests) के लिये होसकता है जिनकेलिये इस संगठनकी रचना की गई है। 'समिति' (Association) के भिन्न-भिन्न व्यक्ति स्वतन्त्र रूपसे कुछ नहीं करसकते, वे सब मिलकर 'एक' सत्ता बनते हैं, अलग-अलग कुछ नहीं हैं, और उन सबके मिलने से जो 'एक' सत्ता उत्पन्न होती है उसकी कानूनमें अपनी स्वतंत्र स्थिति मानी गई है। 'समिति' (Association) के अलग-अलग सदस्योंके कोई अधिकार नहीं, परन्तु इन सदस्योंके संगठित 'संघ' (Corporation) के अधिकार हैं। यह 'समिति' ' (Association) 'समिति' के तौर पर ज़मीन ख़रीदसकती है, मुक़दमे करसकती है—वह सब कानूनी कार्यवाही करसकती है जो एक व्यक्ति स्वतन्त्र रूपसे कर सकता है। 'समिति' का मानो कानूनी व्यक्तित्व उत्पन्न हो जाता है।

मध्य-वर्ती उदाहरण (Borderline cases)—'परिवार' तथा 'राष्ट्र'—

जैसे 'समुदाय' (Community) पर लिखते हुए हमने 'आश्रम'-'विहार'-'जेल'-'शरणार्थी' आदि पर विचार किया था, वैसे 'समिति'

(Association) पर लिखतेहुए भी कई संगठन हमारे सामने ऐसे आजाते हैं जिनके विषयमें विचार करना आवश्यक है कि वे 'समिति' (Association) के अन्तर्गत हैं, या नहीं। उदाहरणार्थ, दो मुख्य 'सामाजिक-संगठन' ऐसे हैं जिनपर विचार करना आवश्यक है कि वे 'समिति' (Association) के अन्तर्गत हैं, या नहीं? वे संगठन हैं—'परिवार' (Family) तथा 'राष्ट्र' (State)। इन दोनोंपर हम क्रमशः विचार करेंगे :—

(१) 'समाज' के विकासकी प्रारंभिक अवस्थामें 'परिवार' का रूप कुछ ऐसा पाया जाता है कि इसे 'समुदाय' (Community) के अन्तर्गत समझा जासकता है। इस अवस्थामें 'परिवार' ही इसके सदस्योंका आदि और अन्त होता है, वे इसीमें पैदा होते, इसीमें जीते-मरते हैं। उस अवस्थामें 'परिवार' उनके जीवनको इसप्रकार घेरे होता है कि उसके बाहर उनकेलिये कुछ नहीं होता।

परन्तु हम 'समाज' के विकासकी प्रारंभिक अवस्थामें नहीं हैं। आज 'परिवार' का रूप 'समुदाय' (Community) का न रहकर 'समिति' (Association) का होगया है। दो व्यक्ति –स्त्री तथा पुरुष– एक विशेष लक्ष्यको सम्मुख रखकर विवाह करते हैं। उनका उद्देश्य है—सन्तान उत्पन्न करना। कइयोंका उद्देश्य होता है—रोटी पकानेवालीका बन्दोबस्त करना। जो लोग विवाहको एक 'दैवीय-संस्कार' (Sacrament) समझते हैं उनकेलिये तो 'परिवार' एक 'समुदाय' (Community) ही है, परन्तु आजकल तो विवाह एक 'सामाजिक-साझेदारी' (Social contract) समझा जारहा है—इस दृष्टिसे 'परिवार' एक प्रकारकी 'समिति' (Association) है, जो उस विशेष उद्देश्यके पूरा न होनेपर जिसकेलिये यह सहयोग है, तोड़ा भी जासकता है। इसी विवाह-विच्छेदको तलाक कहते हैं।

परन्तु 'परिवार' में जो नये प्राणी जन्म लेते हैं उनकेलिये 'परिवार' फिर एकप्रकारके 'समुदाय' (Community) का रूप धारण करलेता है—जबतक वे बच्चे रहते हैं, वे 'परिवार' को ही अपने जीवनका सब-कुछ समझते हैं। बालककेलिये 'परिवार' ही वह 'समुदाय' (Community) है, जो उसे समाजके विशाल 'समुदाय' (Community) के लिये तय्यार करता है। धीरे-धीरे यह 'परिवार', जो उसकेलिये एक प्रकारका 'समुदाय' (Community) था, ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों उसकेलिये 'समिति' (Association) का रूप धारण करता जाता है—वह 'परिवार' को अपने जीवनका आदि और अन्त समझना छोड़कर, अपने एक नये 'परिवार' को

जन्म देनेकेलिये कदम बढ़ा देता है। इसप्रकार वही 'परिवार' जो बच्चे-केलिये 'समुदाय' (Community) था, उसी बच्चेके बड़ा होकर युवक होजानेपर, 'समिति' (Association) का रूप धारण कर लेता है।

(२) 'राष्ट्र' (State) को भी प्राय: 'समुदाय' (Community) समझा जाता है, परन्तु 'राष्ट्र' भी 'परिवार' की तरह 'समुदाय' (Community) नहीं है, 'समिति' (Association) है। 'राष्ट्र' (State) को 'समुदाय' (Community) समझा जाता रहा है, परन्तु इसके अत्यन्त भयंकर परिणाम निकले हैं। सबसे भयंकर परिणाम तो यह रहा है कि जो लोग 'राष्ट्र' (State) और 'समुदाय' (Community) को एक समझते रहे हैं, वे यह कहते रहे हैं कि 'राष्ट्र' (State) का हित, और 'समुदाय' (Community) का हित एक ही है। क्योंकि ये दोनों एक ही वस्तु हैं इसलिये 'राष्ट्र' (State) को 'समुदाय' (Community) की हर बातमें हस्त-क्षेप करनेका अधिकार है। परिणाम यह होता है कि 'राष्ट्र' (State) अपनी सीमाओंसे आगे निकल जाता है, और मनुष्यके मनुष्यकेसाथ निर्बाध सम्बन्धमें रुकावट बनकर खड़ा होजाता है। एक अंग्रेज जर्मनको शत्रु समझता है। क्यों समझता है? क्योंकि 'राष्ट्र' (State) का यह तकाजा है कि जो उसी राष्ट्रका नहीं है जिसके हम हैं, वह हमारा शत्रु है। परन्तु क्या ऐसा नहीं हो सकता कि दूसरे राष्ट्रका मानव हमारे अपने राष्ट्रके मानवके समान हमारा हितू हो, हम उसके साथ वैसी ही 'एकात्मता' अनुभव करें जैसे अपने राष्ट्रके मानवके साथ अनुभव करते हैं? परन्तु 'राष्ट्र' (State) को 'समुदाय' (Community) माननेका विचार हमारी इस विचार-धारामें बाधक बन जाता है—इसलिये बाधक बन जाता है क्योंकि 'राष्ट्र' तो वहींतक सीमित है जहांतक हमारा देश सीमित है, परन्तु यह ज़रूरी नहीं कि 'समुदाय' की भावना भी देशकी सीमातक ही सीमित रहे। इसके अतिरिक्त 'राष्ट्र' (State) को 'समुदाय' (Community) माननेसे एक दूसरा भी भयंकर परिणाम उत्पन्न हो जाता है। 'राष्ट्र' (State) अपनेको इतना समर्थ और शक्तिशाली मानने लगता है कि व्यक्तिकी स्वतंत्रताका बिल्कुल अपहरण कर डालता है। 'राष्ट्र' (State) की यह मांग होने लगती है कि वह जिस ढांचेमें ढालना चाहे उसीमें हर व्यक्तिको ढालनेका उसे पूर्ण अधिकार है। इसीसे राज्य के असीम-प्रभुत्वको माननेवाले 'एकाधिकारवादी' (Totalitarian) राष्ट्र उत्पन्न होजाते हैं। अगर 'राष्ट्र' को अन्य 'समितियों' (Associations) की तरह एक 'समिति' (Association) माना जाय, तब तो यह मानना पड़ेगा कि जैसे अन्य 'समितियां'

(Associations) हमने 'विशिष्ट-उद्देश्यों' (Particular interests) को पूर्ण करनेकेलिये बनायी हैं, वैसे 'समुदाय' (Community) ने ही 'राष्ट्र' (State) को भी अपने 'विशिष्ट-उद्देश्यों' को पूर्ण करनेकेलिये बनाया है। 'राष्ट्र' (State) उन 'विशिष्ट-उद्देश्यों' को पूर्ण करता है तो ठीक, नहीं तो 'राष्ट्र' (State) का ढांचा बदल देना होगा। इस विचार-सरणीमें व्यक्तिकी स्वतंत्रता बनी रहती है क्योंकि व्यक्तिद्वारा बनायेहुए 'समुदाय' (Community)के 'विशिष्ट-उद्देश्यों' को पूर्ण करनेकेलिये ही 'राष्ट्र' बना है।

'राष्ट्र' (State) को हम 'समुदाय' (Community) नहीं कह सकते—इसके निम्न कारण हैं—

(क) एक 'राष्ट्र' जहां समाप्त होजाता है, दूसरा 'राष्ट्र' वहां प्रारम्भ होता है। 'समुदाय' (Community) में ऐसा नहीं होता। दो भिन्न-भिन्न 'राष्ट्रों' (States) में एक ही 'समुदाय' (Commuuity) रह सकता है। जहां हिन्दुस्तान समाप्त होता है वहां पाकिस्तान शुरू होता है—ये दोनों 'राष्ट्र' (States) हैं, परन्तु हिन्दू और मुसलमान पाकिस्तानमें भी रह सकते हैं, हिन्दुस्तानमें भी—ये दोनों 'समुदाय' (Communities) हैं। 'राष्ट्र' (State) में 'समुदाय' (Community) रहता है, 'समुदाय' (Community) में 'राष्ट्र' (State) नहीं रहता।

(ख) 'समुदाय' (Community) पहले था, 'राष्ट्र' (State) पीछे हुआ। 'समुदाय' (Community) ने 'राष्ट्र' (State) को बनाया। लोग पहले एक जगहपर इकट्ठे रहते थे, उनमें एकात्मताकी भावना थी—परन्तु राजनैतिकता अभी उनमें उत्पन्न नहीं हुई थी। जब 'समुदाय' (Community) में राजनैतिक-भावनाका उदय हुआ—यह अधिकार इसका, यह मेरा—इन अधिकारोंपर जो आघात पहुंचायेगा उसे दण्ड मिलेगा—दण्ड देनेका अधिकार किसके पास होगा—इन विचारोंका जब जन्म हुआ, तब 'राष्ट्र' (State) की भावना जगी, इसलिये 'राष्ट्र' (State) को 'समुदाय' (Community) नहीं कहा जासकता। 'समुदाय' (Community) 'राष्ट्र' (State) की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

अगर 'राष्ट्र' (State) 'समुदाय' (Community) नहीं तो क्या है ? इसका उत्तर यही है कि 'राष्ट्र' एकप्रकारकी 'राजनैतिक-समिति' (Political association) का नाम है। जैसे अन्य 'समितियां' (Associations) किन्हीं विशेष-विशेष उद्देश्यों, हितों, स्वार्थोंकेलिये

बनायी जाती हैं, वैसे 'राष्ट्र' (State) भी एक विशेष, 'निश्चित-उद्देश्य' (Particular interest) के लिये बनाया जाता है—इसीलिये यह 'समिति' (Association) है, 'समुदाय' (Community) नहीं।

'राष्ट्र' एक 'समिति' (Association) है, परन्तु अन्य 'समितियों' (Associations) से भिन्न है—

हमने अभी देखा कि 'राष्ट्र' को हम 'समुदाय' (Community) नहीं कह सकते, 'समिति' (Association) कह सकते हैं। 'राष्ट्र' अन्य 'समितियों' के समान ही एक 'समिति' (Association) है—क्योंकि यह एक खास उद्देश्यसे बनायी जाती है—परन्तु फिर भी अन्य समितियोंसे इसमें कुछ भिन्नता है। वह भिन्नता निम्न है :—

(क) 'राष्ट्र' ही एक ऐसी 'समिति' (Association) है जो राष्ट्रके किसी व्यक्तिको जेलखानेमें डालसकती है, देश-निकाला देसकती है, मृत्यु-दंडतक देसकती है। दूसरी समितियां छोटा-मोटा दंड देसकती हैं, जुर्माना करसकती हैं, सदस्यतासे हटा सकती हैं, परन्तु मृत्यु-जैसा भारी दंड नहीं देसकतीं।

(ख) अन्य 'समितियों' (Associations) के सदस्य सदस्यतासे त्याग-पत्र देकर उनसे अलग होसकते हैं, परन्तु 'राष्ट्र' एक ऐसी 'समिति' (Association) है जिससे कोई त्याग-पत्र देकर अलग नहीं होसकता।

(ग) जितनी व्यापकता 'राष्ट्र' में है, वह अन्य 'समितियों' (Associations) में नहीं है। इसका काम एक खास प्रकारकी व्यवस्थाको अपनी दण्डनीतिसे कायम रखना है। यह स्वयं एक 'समिति' है, परन्तु 'राष्ट्र' की अन्य समितियोंकेलिये भी विधि-विधान बना सकती है।

४. संस्थाएँ (INSTITUTIONS)

'संस्था'-शब्दका क्या अर्थ है?—

हमने पहले कहा था कि मानव-समाजके कुछ 'समान-हित' (Common interests) हैं, और कुछ 'विशेष-हित' (Particular interests) हैं। 'समान-हितों' को दृष्टिमें रखकर जो संगठन बनते हैं, वे 'समुदाय' (Community) कहाते हैं, 'विशेष-हितों' को दृष्टिमें रखकर जो संगठन बनते हैं, वे 'समिति' (Association) कहाते हैं। परन्तु इन हितों, इन स्वार्थों, इन उद्देश्योंको पानेकेलिये, इन्हें कागज़पर ही न रखकर क्रियामें उतारनेकेलिये, इन्हें मूर्त-रूप देनेकेलिये कुछ साधनोंका आश्रय लिया जाता है, कुछ तरीके, कुछ

प्रणालियां, कुछ रास्ते निकाले जाते हैं। विशेष-विशेष हितोंको पूर्ण करनेके ये तरीके, ये साधन, ये प्रणालियां ही 'संस्था' (Institution) कहलाती हैं। उदाहरणार्थ, 'परिवार' का उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति, प्रजा-पालन आदि है—यह 'परिवार' का 'हित' (Interest) है। 'परिवार' एक 'समिति' (Association) है। अपने 'हित' को 'परिवार' कैसे पूर्ण करे, इसका क्या साधन है ? इस उद्देश्यको पूर्ण करनेकेलिये 'विवाह', 'घर' आदि साधन बनाये गये हैं। 'परिवार' को 'समिति' (Association) कहा जायगा, तो 'परिवार' के उद्देश्यको पूर्ण करनेवाले साधन—'विवाह'-'घर' आदिको 'संस्था' (Institution) कहा जायगा। 'राष्ट्र' (State) एक 'समिति' (Association) है। इसका उद्देश्य है प्रजाका सुशासन हो, सबको अपनी उन्नतिका समान अवसर मिले, कोई किसीके अधिकारको दबा न सके। इस उद्देश्यको पूर्ण करनेके क्या साधन हैं ? एक साधन तो यह है कि सब अपना-अपना मत दें, और जिसको समझें कि वह उनके हितोंकी सबसे अधिक रक्षा करसकता है उसके हाथमें शासन-सूत्र दे दें—यह चुनाव-प्रणाली है। राष्ट्रको 'समिति' (Association) कहसकते हैं, तो चुनाव-प्रणालीको 'संस्था' (Institution) कह सकते हैं। इसीप्रकार 'राष्ट्र' द्वारा संसद्, परिषद्, विधान, विधान-सभा—इन सबका निर्माण होता है। ये सब राष्ट्रके साधन हैं, इसलिये 'संस्थाएँ' (Institutions) हैं।

'संस्था' (Institution) तथा 'समिति' (Association) में भेद—

(१) 'समिति' का निर्माण किसी ख़ास उद्देश्यको, किसी 'हित-विशेष' (Particular interest) को सामने रखकर होता है। वह 'समिति' (Association) ही अपने उद्देश्यको पूर्ण करनेकेलिये किसी 'संस्था' (Institution) का निर्माण करती है।

(२) 'परिवार' को 'समिति' (Association) कह सकते हैं; 'परिवार' के 'हितों' (Interests) को पूरा करनेकेलिये 'विवाह'-'घर' आदि को 'संस्थाएँ' (Institutions) कहसकते हैं। 'राष्ट्र' एक 'समिति' (Association) है, उसके 'हितों' (Interests) को पूरा करनेकेलिये विधान-संसद्-परिषद्-लोकसभा आदि 'संस्थाएँ' (Institutions) हैं। 'आर्य-समाज' एक 'समिति' (Association) है, उसके उद्देश्योंको पूरा करनेकेलिये सन्ध्या-हवन-साप्ताहिक-सत्संग आदि 'संस्थाएँ' (Institutions) हैं।

(३) 'समिति' (Association) एक 'संगठित समूह' (Organised group) को कहते हैं, 'संस्था' (Institution) उस 'संगठित

समूह' की अपने हितोंको पूर्ण करनेकी 'कार्य-प्रणालीके रूप' (Form of procedure) को कहते हैं। 'परिवार' एक 'संगठित-समूह' है, परन्तु 'विवाह' इस 'संगठित-समूह' के उद्देश्यको पूर्ण करनेकी जो 'कार्य-प्रणाली'—तरीका—(Procedure) है, उसका एक 'रूप' (Form) है।

मध्य-वर्ती उदाहरण—(Borderline cases)—

कई उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिनमें यह निश्चय करना पड़ता है कि उस शब्दको हम 'समिति' (Association) के अर्थमें प्रयुक्त कर रहे हैं, या 'संस्था' (Institution) के अर्थमें। उदाहरणार्थ, जब हम 'हस्पताल'-'यूनीवर्सिटी'-'पार्लियामेंट' आदि शब्दोंका प्रयोग करते हैं तब उनसे हमारा अभिप्राय 'समिति' (Association) होता है, या 'संस्था' (Institution)? अगर हम ध्यानसे देखें, तो ज्ञात होगा कि कभी हम इन शब्दोंका 'समिति' के अर्थमें प्रयोग करते हैं, कभी 'संस्था' (Institution) के अर्थमें। 'हस्पताल' शब्दका प्रयोग हम डाक्टरों, नर्सों तथा अन्य सेवकोंके सम्बन्धमें कर सकते हैं—वे सब लोग जो 'रोगी-परिचर्या' के 'विशेष-हित' को सम्मुख रखकर एकत्रित हुए हैं। इस रूपमें यह शब्द 'समिति' (~~Institution~~ Association) के अर्थमें प्रयुक्त होगा। परन्तु इस शब्दका प्रयोग हम उस इमारतकेलिये भी करसकते हैं जिसमें रोगी रखे जाते हैं, डाक्टरोंकी उस श्रेणीकेलिये भी करसकते हैं जो रोगियोंकी सेवाकेलिये तय्यार की जाती है। इस रूपमें यह शब्द 'संस्था' (Institution) के अर्थमें प्रयुक्त होगा। 'यूनीवर्सिटी'-शब्दका प्रयोग भी दोनों रूपोंमें होसकता है। एक तो चान्सलर, वायस-चान्सलर, प्रोफ़ेसर आदिकी श्रेणी है जिसका काम विद्या-दान देना है। इस अर्थमें 'यूनीवर्सिटी'-शब्दका प्रयोग एक 'समिति' (Association) के अर्थमें है। परन्तु 'यूनीवर्सिटी' उस इमारतको भी कहते हैं जहां विद्यार्थीलोग आकर पढ़ते हैं, परीक्षा-प्रणाली, डिग्री आदि देना सब यूनीवर्सिटी करती है। इस अर्थमें यह शब्द एक 'संस्था' (Institution) के लिये प्रयुक्त होरहा है। इसीप्रकार 'पार्लियामेंट' शब्दका जब एक 'संगठन-विशेष' (Organised group) के अर्थमें प्रयोग होगा, तब यह 'समिति' (Association) होगी, जब उस 'प्रणाली' (Form of procedure) के अर्थमें प्रयोग होगा, जो प्रणाली उस 'संगठन-विशेष' के हितोंको क्रियामें परिणत कर रही है, तब यह 'संस्था' (Institution) कहायगी।

'संस्था' (Institution) तथा 'समुदाय' (Community)—

यह हमने देखा कि 'समिति' (Association) अपने हितोंको पूरा

करनेकेलिये 'संस्थाओं' (Institutions) का निर्माण करती है, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि 'समुदाय' (Community) द्वारा 'संस्थाओं' (Institutions) का निर्माण नहीं होता। 'समिति' तथा 'समुदाय' दोनों ही संस्थाओंका निर्माण करते रहते हैं। उदाहरणार्थ, बड़े-बड़े त्यौहार किसने चलाये? वसन्त-पञ्चमी, होली, दसहरा, दिवाली—ये सब 'समुदायों' (Communities) द्वारा चलायेहुए त्यौहार हैं। ये त्यौहार 'संस्था' (Institutions) ही तो हैं। 'समुदाय' (Community) तथा 'समिति' (Association) की निर्माण की हुई 'संस्थाओं' (Institutions) में एक भेद होता है। वह भेद यह है कि 'समुदाय' (Community) जिन 'संस्थाओं' (Institutions) को चलाते हैं, वे आप-से-आप चलते हैं, आश्चर्य होता है कि ये कैसे इतना विशाल रूप धारण कियेहुए हैं। कुंभके मेलेको किसने नहीं देखा? यह 'समुदाय' (Community) का एक पर्व है। लाखों आदमी विना वुलाये इकट्ठे होजाते हैं। 'समिति' (Association) की 'संस्थाएँ' (Institutions) आप-से-आप नहीं खड़ी होतीं, उन्हें खड़ा करना पड़ता है—परन्तु धीरे-धीरे देरतक चलते रहनेपर अगर उनमें अपनी कुछ जान होती है, तो वे भी खड़ी हो जाती हैं।

'समिति' (Association), 'संस्था' (Institution) तथा 'हित-विशेष' (Special interests)—

'समिति' अपने 'हित-विशेषों' को सामने रखकर 'संस्थाओं' का निर्माण करती है। इस वातको चित्र रूपमें निम्न तौरपर प्रकट किया जासकता है:—

'समिति' (Association)	'संस्था' (Institution)	'विशेष-हित' या 'विशेष-प्रयोजन' जिनकेलिये 'संस्था' वनाई गई (Special interests or purposes)
१. परिवार	विवाह, घर, जायदाद, विरासत आदि	सन्तानोत्पत्ति, पितृ-भावना, गृह-निर्माण
२. यूनीवर्सिटी	प्रोफेसरोंके व्याख्यान, परीक्षा-पद्धति, डिग्री आदि	विद्याध्ययन, आजीविकाका प्रश्न हल करना आदि
३. व्यापार	हिसाव-कितान, वही-खाता, कम्पनी आदि	द्रव्य-लाभ
४. ट्रेड यूनियन	स्ट्राइक, पिकिटिंग आदि	वेतन-वृद्धि, मजदूरोंकी स्थिति सुधार
५. राजनैतिक	राजनैतिक दल का विधान, पार्टीसे निकाल देना, पार्टी का नेता आदि	हुकूमत देशका शासन, अपनी पालिसी के अनुसार चलाना आदि
६. राष्ट्र	विधान, भिन्न-भिन्न शासन-प्रणालियां	शासनमें व्यवस्था रखना, अव्यवस्था न होने देना आदि

'संस्था' (Institution) की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता—

'समिति' द्वारा 'संस्था' किसी 'विशेष-हित', 'विशेष-प्रयोजन' के लिये बनायी जाती है। 'संस्थाओं' का इन हितोंको पूरा करनेमें विशेष प्रभाव पड़ता है। यूनीवर्सिटीका 'विशेष-प्रयोजन' विद्या देना है, और यूनीवर्सिटीमें रहकर विद्या पढ़नेसे वहांके वातावरणका विद्यार्थी पर अच्छा प्रभाव भी पड़ता है। जो लड़के यूनीवर्सिटीमें नहीं रहते उनमें और घरपर रहकर पढ़नेवाले लड़कोंमें अन्तर पड़जाता है। 'संस्थाओं' का प्रभाव बड़ा प्रबल होता है। महात्मा गांधीके आश्रममें और डा० मुंजेके नासिकके सैनिक-विद्यालयमें पढ़ेहुए विद्यार्थियोंमें कितना बड़ा अन्तर पाया जाता है? एक अहिंसाको जीवनका आधार-भूत बनाता है, तो दूसरा किसीप्रकार किसीसे न दबना अपना लक्ष्य बनाता है। कैसरके समय जर्मनीमें जो युवक तय्यार होते थे, वे समझते थे कि उन्होंने संसारमें शासन करना है—वे विश्व-युद्धके सपने लेनेके बगैर रह ही नहीं सकते थे। इन लोगोंमें आधारभूत कोई भेद है क्या? सभी एक-से मनुष्य हैं, परन्तु अपने-अपने देशकी 'संस्थाओं'ने उन्हें एक-दूसरेसे इतना भिन्न बना दिया था।

परन्तु एक समय आता है जब 'संस्था' (Institution) उस लक्ष्यको खो बैठती है जिसकेलिये इसकी स्थापना हुई थी। 'संस्था' तभीतक उपयोगी है जबतक वह लक्ष्यको पूरा करती रहे, जहां वह लक्ष्यसे हटी, वहीं, या तो लक्ष्यको पुनरुज्जीवित करनेसे उसकी उपयोगिता बनी रह सकती है, या 'संस्था' को खत्म करदेना आवश्यक होजाता है। महात्मा गांधीने अपने आश्रमको बनाया, परन्तु उसकी उपयोगिता न देखकर उन्होंने उसे समाप्त करदिया। महा-पुरुष ऐसा ही करते हैं। दूसरे लोग 'संस्था' की उपयोगिता न रहनेपर भी, यह देखकर भी कि 'संस्था' जिस प्रयोजनकेलिये बनायी गई थी उसे पूरा नहीं कररही, उस मरी 'संस्था' से भी चिपटे रहते हैं। वे इसलिये 'संस्था' से चिपटे रहते हैं क्योंकि उससे उनका कोई निजी स्वार्थ सिद्ध होता है, उनको अपनी प्रतिष्ठा बढ़ती मालूम पड़ती है, उन्हें 'संस्था' से कुछ रुपया-पैसा मिलता है—नहीं तो वे भी जानते हैं कि 'संस्था' की अब उपयोगिता नहीं रही।

समाजके कर्ण-धारोंका कर्तव्य है कि जिन 'संस्थाओं' का वे निर्माण करें, उनके सम्बन्धमें समय-समयपर पड़ताल करते रहें—यह देखते रहें कि जिन 'विशिष्ट-उद्देश्यों' के लिये ये बनायी गई थीं उन्हें ये पूरा कर रही हैं या नहीं। अगर नहीं कर रहीं, तो जिन कारणोंसे ये अपने उद्देश्यसे विचलित होगई हों उन्हें दूर करना चाहिये, अगर तब भी 'संस्था' में सुधार होता न दीख पड़े, तो

उसे समाप्त कर देना चाहिये, और किसी नवीन 'संस्था' का निर्माण करना चाहिये। ऐसा करें तो अच्छा है, नहीं तो समाजमें यह प्रक्रिया अपने-आप भी होती रहती है।

५. प्रथा (CUSTOM)

'समिति' (Association) तथा 'संस्था' (Institution) के नियमोंका पालन करनेकेलिये 'प्रथा' का वड़ा महत्व है। समाजका जो सालोंसे चलन रहा है, छोटोंका वड़ोंकेसाथ सामना होजानेमें, पढ़ने-लिखनेमें, विवाह-शादीमें, वह सब चलन 'प्रथा' कहाता है। 'प्रथा' तथा 'कानून' में फ़रक है। 'प्रथा' की वात हमारी रग-रगमें घुसी होती है, वह मानो हमारा अपना आपा होती है, 'कानून' की वात दंडके भयसे मानी जाती है। जव 'कानून' भी लोगोंकी रग-रगमें घुस जाय, तव वह भी प्रथाका रूप धारण कर लेता है। आदि-समाज में 'कानून' तो था नहीं, 'कानून' की जगह 'प्रथा' उस समाजका शासन करती थी। वर्तमान समाजमें धीरे-धीरे 'प्रथा' का स्थान कानून लेता जा रहा है। हम इस पुस्तकके २६वें अध्यायमें 'प्रथा तथा कानन' पर विशेष प्रकाश डालेंगे।

६. रूढ़ियां (MORES)

जैसे 'प्रथा' हमारे व्यवहारपर शासन करती है, वैसे, 'रूढ़ियां' भी हमारे व्यवहारका 'नियमन' (Control) करती हैं। वड़ी-वड़ी वातोंका नियन्त्रण करनेवाले नियम 'प्रथा' हैं, छोटी-छोटी वातोंका नियन्त्रण करनेवाले नियम 'रूढ़ियां' (Mores) हैं। 'रूढ़ि' (Mores) तथा 'रीति' (Folkways)—ये दो शब्द समाज-शास्त्र की पुस्तकोंमें जगह-जगह पाये जाते हैं। 'रीति' अच्छी भी हो सकती है, वुरी भी हो सकती है, समाजमें जो व्यवहार, जो चलन चला आ रहा है, वह 'रीति' (Folkways) है, परन्तु 'रूढ़ि' (Mores) वे 'रीतियां' हैं जिन्हें समाजने इस दृष्टिसे अपना लिया है कि वे ठीक हैं, उनके अनुसार चलना चाहिये।

प्रश्न

१. 'समाज'-शब्दका क्या अर्थ है? इसकी व्याख्या कीजिये।
२. 'समाज' में 'समानता' और भिन्नता' (Likeness and difference) अन्तर्निहित हैं—इसे स्पष्ट कीजिये।
३. 'समुदाय' (Community) शब्दका क्या अर्थ है? इसके आधार-भूत तत्व क्या हैं?

४. 'समुदाय' (Community) तथा 'समाज' (Society) में क्या भेद है ?

५. आश्रम, विहार, जेल, शरणार्थी—ये क्या 'समुदाय' (Community) हैं, नहीं तो क्या हैं ?

६. 'समिति' (Association) तथा 'संस्था' (Institution) के लक्षण करतेहुए इनके भेदको स्पष्ट कीजिये और प्रत्येकके दृष्टांत दीजिये।

७. क्या 'परिवार' तथा 'राष्ट्र' को 'समुदाय' (Community) कहा जासकता है ? नहीं, तो क्यों ?

[२]

समाज-शास्त्रका स्वरूप तथा विषय-क्षेत्र

(NATURE AND SCOPE OF SOCIOLOGY)

१. समाज-शास्त्रका स्वरूप (NATURE OF SOCIOLOGY)

समाज-शास्त्र क्या है ? 'समाज' और 'शास्त्र'—इन दो शब्दों से 'समाज-शास्त्र'—शब्द बना है। 'समाज' के 'शास्त्र', अर्थात् 'समाज' के 'विज्ञान' को 'समाज-शास्त्र' कहते हैं। परन्तु प्रश्न होता है—'समाज' क्या है, और 'विज्ञान' क्या है ?

'समाज' के विषयमें हम प्रथम-अध्यायमें काफ़ी लिख आये हैं, फिर भी 'समाज-शास्त्र के स्वरूप' के सम्बन्धमें विवेचन करतेहुए फिरसे 'समाज' पर कुछ लिखना आवश्यक जान पड़ता है। 'समाज' क्या है ? 'समाज' की परिभाषा तभी सार्थक होसकती है जब उसमें निम्न तीन बातें हों :—

'समाज' (Society) क्या है ?—उसकी तीन बातें—

(१) व्यक्तियोंकी अनेकता (Plurality of individuals)—एक व्यक्तिसे 'समाज' नहीं बनता, 'समाज' बननेकेलिये व्यक्तियोंकी अनेकता आवश्यक है। अनेक व्यक्तियोंके होनेका अर्थ है—'समूह' (Group) का होना। 'समूह' हो, तो 'समाज' बने, 'समूह' न हो, एक ही व्यक्ति हो, तो 'समाज' नहीं बन सकता ?

(२) पारस्परिक-सम्बन्ध (Relationship or Association or Correlation)—'समाज' अनेक व्यक्तियोंके मिलनेसे बनता है, परन्तु अगर उन अनेक व्यक्तियोंका आपसका कोई 'संबंध' न हो, तब भी 'समाज' नहीं बनता, 'समाज' बनानेकेलिये जैसे 'अनेकता' आवश्यक है, वैसे उन अनेक व्यक्तियोंमें कोई-न-कोई 'पारस्पारिक-सम्बन्ध' भी आवश्यक है। इस 'संबंध' का रूप क्या होता है ? यह 'सम्बन्ध' एकप्रकारका 'कार्य-कारण' का 'सम्बन्ध' होता है। माता-पुत्र के 'संबंध' को लीजिये। यह कैसा

'संबंध' है ? माता आज्ञा देती है, पुत्र आज्ञाका पालन करता है; बच्चा रोता है, माता उसे दूध पिलाती है। माता और पुत्र आपसमें जिन संबंधोंसे बरतते हैं, वे सम्बन्ध कार्य-कारणके नियमसे बंधे हुए हैं। ऐसा नहीं होता कि बच्चा रोता रहे, और मां पत्थरकी होकर पास बैठी रहे। अगर ऐसा करती है, तो उसका भी कोई-न-कोई कारण होता है। इसीप्रकार गुरु-शिष्य, लेखक-पाठक, देनेवाला-लेने-वाला, स्वामी-भृत्य, राजा-प्रजा— ये सब 'संबंध' हैं। इन सम्बन्धोंमें एक प्रभावित करता है, दूसरा प्रभावित होता है। संसारके सब सम्बन्धोंमें कर्ता-कर्म, प्रभावक-प्रभावित, कारण-कार्य—यह सूत्र पिरोया हुआ है। अगर किसी 'समूह' में अनेक व्यक्ति हों, परन्तु कोई किसीपर किसीप्रकार का प्रभाव न डाल रहा हो, 'समूह' में होतेहुए भी प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र एक इकाई हो, तो वहां 'समाज' नहीं कहा जासकता।

हमने अभी कहाथा कि 'पारस्परिक-सम्बन्ध' जहां नहीं होगा, वहां 'समाज' भी नहीं होगा। 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Relationship or Association) को अभी और अधिक स्पष्ट करनेकी आवश्यकता है। 'पारस्परिक-सम्बन्ध' की इकाई कहां है, यह शुरू किस बिन्दु-से होता है, कब हम कह सकते हैं कि अब 'सम्बन्ध' आरम्भ हुआ ? अगर एक ही व्यक्ति हो, तब तो पारस्परिक-सम्बन्धका प्रश्न ही नहीं उठता, इसका पहले-पहल प्रश्न तब उठता है जब एकके स्थानपर दो व्यक्ति हों। एकके स्थानपर दो व्यक्ति हुए नहीं कि 'पारस्परिक-सम्बन्ध' का प्रश्न उठा नहीं। परन्तु सिर्फ़ दो व्यक्ति होनेसे ही तो 'सम्बन्ध' नहीं पैदा होजाता। 'सम्बन्ध' तो तब पैदा होता है जब उन दोमेंसे कोई एक प्रभाव डालना शुरू कर दे। किसपर शुरू कर दे ? उसी, दूसरेपर। अगर दो होनेपर भी कोई किसीपर कोई प्रभाव नहीं डाल रहा, तो वहां 'समाज' नहीं होगा। अगर एकके स्थानपर दोनोंने एक-दूसरेपर प्रभाव डालना शुरू कर दिया, तब तो 'सम्बन्ध' और आगे बढ़ गया —'एक' के स्थानपर 'दो' क्रिया-शील होगये। हम तो यह देख रहे थे कि 'सम्बन्ध' की इकाई क्या है, किस बिन्दुसे सम्बन्ध पहले-पहल शुरू होता है। जैसे कोई प्राणी-शास्त्रका विद्यार्थी यह जानना चाहे कि जीवनकी पहली इकाई क्या है, वह बिन्दु क्या है जब संसारमें पहले-पहल जीवन उत्पन्न हुआ, तो वह जीवन के 'प्रारंभिक-कोष्ठ' (Cell) तक पहुंच जाता है, इसीप्रकार हम यह जानना चाहते हैं कि वह बिन्दु क्या है जहां हम यह कह सकें कि अब 'समाज' शुरू हुआ। इसका उत्तर यही है कि जब एकसे दो होंगे, और उन दोमेंसे भी किसी एकमें दूसरेकेप्रति कोई 'ज्ञान', कोई 'प्रतीति' (Awareness), कोई 'संबंध'

पैदा होगा, तभी 'समाज' का विचार उत्पन्न होगा, उससे पहले नहीं। माता वच्चेको जन्म दिया। माताके हृदयमें वच्चेकेप्रति एक 'प्रतीति' उत्पन्न हुई वच्चेको तो माताका अभी कोई ज्ञान नहीं है। मातामें वच्चेकेप्रति जिस सम 'प्रतीति' उत्पन्न हुई, उसीसमय 'समाज' का आधार-भूत विचार उत्पन्न होगया इसके वाद जव वच्चेमें भी माताकेप्रति 'प्रतीति' पैदा हुई—एक ही व्यक्ति 'प्रतीति' सीमित न रहकर दोनोंमें जाग उठी, तव तो 'समाज' का विचार और आ वढ़ गया। यही 'प्रतीति' वढ़ते-वढ़ते अनेक व्यक्तियोंमें समा गई। यह एक-दूसरे 'संवंध', यह 'प्रतीति' ही 'समाज' का मूल-तत्व है। यह 'प्रतीति' भिन्न-भावक होसकती है, शत्रु-भावकी भी होसकती है, परन्तु जहां कोई 'प्रतीति' ही नही कोई संवंध ही नहीं, वहां 'समाज' का विचार भी नहीं माना जासकता। इसीकार अगर कोई मनुष्य रातको किसी दूसरे मनुष्यसे अन्धेरेमें अनजाने टकरा जाय तो ऐसे ही है जैसे किसी खंभेसे टकरा गया। उससमय दो मनुष्योंके होनेपर भ 'समाज' शब्दका प्रयोग नहीं होगा; हां, अगर जानवूझकर कोई दूसरेसे टकर जाय, तो 'समाज'-शब्दका प्रयोग होगा, इसलिये होगा क्योंकि 'समाज' वह होगा जहां 'सामाजिक-संवंध' होगा, जहां 'ज्ञान'-पूर्वक 'सामाजिक-संवंध' होगा

(३) सामाजिक-क्रिया (Social activity)—'अनेकता' भ हो, 'संवंध' भी हो, परन्तु अनेक व्यक्तियोंके पारस्परिक सम्वन्धसे अगर को 'सामाजिक-क्रिया' न पैदा हो, तव भी 'समाज' नहीं वन सकता। अनेक व्यक्तियों पारस्परिक-सम्वन्धसे एक ऐसी क्रिया उत्पन्न होजानी चाहिये जो उनके सम्वन्ध टूट जानेपर न रहसके —तभी कहा जासकता है कि 'समाज' की उत्पत्ति हुई।

तो फिर 'समाज' -शब्दका क्या लक्षण हुआ? (समाज अनेक व्यक्तियों उस समूहको कहते हैं जिसमें वे एक पारस्परिक-संवंधमें वंध जाते हैं, और य सम्वन्ध उनमें एक ऐसी सामाजिक-क्रिया उत्पन्न कर देता है जो वे अलग-अल तो नहीं कर सकते, परन्तु उनके पारस्परिक-सम्वन्धसे वह क्रिया उत्पन्न हो जात हैं, और उनके मिले रहनेतक ही वह क्रिया जारी रहती है।

'समाज' के उदाहरण क्या हैं? रामायण-महाभारतमें जिन देवों-दानवोंक वर्णन है वे-सव 'समाज' हैं, योरुपकी जिन जंगली जातियोंका वहांकी इतिहासकी पुस्तकोंमें जिक्र आता है वे-सव 'समाज' हैं, वर्तमान समयके उन्नत देश, उन्नत जातियां भी 'समाज' हैं, क्रिकेट-क्लव, नाट्य-मंडली, विद्यालय-महाविद्यालय— जहां-जहां अनेक मनुष्य पारस्परिक किसीप्रकारके सम्वन्धके कारण किसी भी क्रिया-शीलतामें लगेहुए हैं वे सव 'समाज' हैं।

हमने कहा था कि 'समाज' के 'विज्ञान' को 'समाज-शास्त्र' कहते हैं। हमने देखा कि 'समाज' क्या है। अब हमने यह देखना है कि 'शास्त्र'—अर्थात् 'विज्ञान' क्या है। इन दोनोंके स्वरूपको हमने समझ लिया, तो 'समाज-शास्त्रके स्वरूप' (Nature of Sociology) को अपने-आप समझ लिया।

'शास्त्र'—अर्थात् 'विज्ञान' (Science) क्या है?—

'विज्ञान' (Science) का काम 'तथ्यों' (Facts) का इस-प्रकारका वर्णन करना है जिससे यह स्पष्ट होजाय कि उनका आपसमें कार्य-कारणका क्या सम्बन्ध है। रसायन-शास्त्र जलका वर्णन करतेहुए बतलाता है कि हाईड्रोजन और ऑक्सीजनके मिलनेसे जो पदार्थ उत्पन्न होता है, वह जल है। इस वर्णनमें तथ्योंको इसप्रकार स्पष्ट कर दिया गया है जिससे जलके कारणका पता चल जाता है। न्यूटनने देखा कि सेब पृथ्वीपर आगिरा। न्यूटनने उसके कारणका पता लगाया, और इस परिणामपर पहुंचा कि गुरुत्वाकर्षण-शक्तिद्वारा हरेक पदार्थ ऊपरसे नीचेको आजाता है। विकासका सिद्धान्त क्या है? एक प्राणी उत्पन्न होता है, परिस्थितिके कारण उसमें परिवर्तन आजाते हैं। सर्दीमें रहनेवाले प्राणियोंके बाल बढ़ जाते हैं—ये प्राणी फिर ऐसे ही प्राणियोंको जन्म देने लगते हैं जिनके पैदायिशसे ही बाल बढ़े होते हैं। प्राणी जो-कुछ है, वह पिछली [परि]स्थितियोंका परिणाम है, और इस समय जैसी परिस्थितियां हैं, उनसे आनेवाले [प्रा]णीका रूप बन रहा है। इन उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि 'विज्ञान' का काम तथ्यों तथा घटनाओंके उस संबंधको ढूंढ निकालना है जिससे यह पता चले कि यह घटना ऐसी ही क्यों है, यह तथ्य ऐसा ही क्यों है, दूसरी तरहका क्यों नहीं है? 'विज्ञान' इस बातका युक्ति-युक्त उत्तर देसकता है कि गर्मीके बाद वर्षा क्यों होती है, वर्षाके बाद सर्दी क्यों होती है, पृथ्वी सूर्यके गिर्द क्यों घूमती है। यह 'क्यों', यह 'कार्य-कारणके संबंधका ढूंढना', यह सब बातोंका पूर्वापर संबंधका पता लगाना ही 'विज्ञान' कहाता है। 'विज्ञान' क्योंकि इसप्रकारके सम्बन्धोंका पता लगा लेता है, यह पता लगा लेता है कि कौन-सा 'कारण' है जिससे कोई 'कार्य' पैदा हुआ, इसलिये यह घटना-चक्रपर अधिकार भी प्राप्त करसकता है, घटना-चक्रको जैसा-चाहे वैसा चला भी सकता है। जबतक हमें यही नहीं पता कि किस चीजका क्या कारण है, [त]क हम उसे अपने अधिकारमें, अपने वशमें कैसे कर सकते हैं। अपने वशमें [त]ा किसी चीजको तभी किया जासकता है जब उसके कारणका पता हो। 'विज्ञान' [क]ा काम हर वस्तुके कारणको ढूंढ निकालना है, और कारण ढूंढ लेनेके बाद उसका ... स्पष्ट तौरपर आंखोंके सामने ला रखना है जिससे पता चले कि वह वस्तु

कैसे उत्पन्न हुई, उसका विकास कैसे हुआ, उसके विकासके क्या कारण हैं, और किन कारणोंसे घिरीहुई वह किधर जारही है, उसका आगे क्या रूप होनेवाला है।

वैज्ञानिक-वर्णनके तीन भाग—

'विज्ञान' जब किसी घटना-क्रम, या किन्हीं तथ्योंका वर्णन करने लगता है, तो उस वर्णनको तीन हिस्सोंमें बांटा जासकता है :—

(क) 'वर्णन' (Description)—पहले तो उस वस्तु-विशेषका मोटा-मोटा वर्णन कर दिया जाता है। 'वनस्पति-शास्त्र' (Botany) के विषयमें विचार करना हो, तो साधारणतौरपर बता दिया जायगा कि भिन्न-भिन्न वनस्पतियोंके सम्बन्धमें विचार करनेवाले शास्त्रको वनस्पति-शास्त्र कहते हैं। मोटेतौरपर वनस्पतियोंके अमुक-अमुक विभाग हैं—इत्यादि।

(ख) 'व्याख्या' (Explanation)—वर्णनके बाद उसीकी विशेषतौरपर, मोटे-तौरपर नहीं, व्याख्या की जाती है। 'वनस्पति-शास्त्र' में बताया जायगा कि वनस्पतिपर परिस्थितिका क्या प्रभाव पड़ता है, पृथ्वी, जल, प्रकाश आदिसे वनस्पतिमें क्या-क्या परिवर्तन आजाते हैं। वृक्षमें जड़का, तने, पत्ते आदिका पारस्परिक क्या सम्बन्ध है।

(ग) 'मूल्यांकन' (Evaluation)—इसप्रकार वर्णन करनेकेबाद उन वस्तुओंका क्या फ़ायदा, क्या नुकसान है, यह बताया जायगा। पत्तोंकी खाद बन जाती है, किसी वृक्षकी जड़ दवाईका काम करती है, किसीकी ज़हर होती है—वनस्पति-शास्त्रका अध्ययन करतेहुए इसप्रकारके हानि-लाभका पता लगाना उस शास्त्रके मूल्यको आंकना है, इसलिये वैज्ञानिक-वर्णनके इस तीसरे हिस्सेको 'मूल्यांकन' (Evaluation) कहते हैं।

हमने देखा कि किन्हीं 'तथ्यों तथा घटनाओं' (Facts and phenomena) का वैज्ञानिक-वर्णन करना हो, तो 'वर्णन'–'व्याख्या'–'मूल्यांकन'—ये तीन बातें उसके विषयमें बतानी होंगी। परन्तु 'तथ्यों तथा घटनाओं' (Facts and Phenomena) की कौन-कौन-सी समस्याएँ हैं, कौन-कौन-से पहलू हैं जिनपर इन तीन दृष्टियोंसे प्रकाश डाल दिया जाय, तो वे तथ्य स्पष्ट होजाते हैं? प्रत्येक 'विज्ञान' के इसप्रकारके तथ्य, इसप्रकारकी समस्याएँ चार हैं :—

प्रत्येक 'विज्ञान' की चार समस्याएँ होती हैं—

(क) 'मुख्य-समस्या' (Problem-facts)—किसी विज्ञानकी मुख्य समस्या क्या है—इसका मोटेतौरसे 'वर्णन' कर देना, फिर उसकी विस्तृत 'व्याख्या' कर देना, फिर इस मुख्य-समस्याका 'मूल्य-आंकना'—ये तीनों वर्णन जब होजायेंगे

तब उस 'विज्ञान' की मुख्य-समस्याका रूप हमारे सामने विशद-रूपमें प्रकट होजायगा।

(ख) मुख्य-समस्याके 'घटक-तत्व' (Elemental facts that compose the Problem-fact)—मुख्य-समस्याका वर्णन करनेकेबाद हमें उन तत्वोंका वर्णन करना होगा जिनसे मुख्य-समस्या बनती है। 'वनस्पति-शास्त्र' का वर्णन करतेहुए हमें जड़, तना, पत्तेका वर्णन तो करना ही है, परन्तु साथ ही कार्बन, आक्सीजन, पृथ्वी, जल, वायु—इन सब तत्वोंका भी वर्णन करना है क्योंकि यद्यपि ये स्वयं मुख्य-समस्या नहीं हैं, तो भी मुख्य-समस्याको बनानेवाले ये 'घटक-तत्व' तो हैं। जो चीज दूसरी चीजको घटे, अर्थात् बनाये, उसे 'घटक' कहते हैं; इन 'घटक-तत्वों' का 'वर्णन', इनकी 'व्याख्या' तथा इनका 'मूल्यांकन' करना 'वनस्पति-शास्त्र' के पूरे रूपको समझनेकेलिये आवश्यक होजाता है।

(ग) 'प्रभावक-तत्व' (Conditioning facts)—हमारी जो 'मुख्य-समस्या' होती है, उसपर दूसरी समस्याओंका प्रभाव पड़ता रहता है, और वह भी दूसरी समस्याओंको प्रभावित करती रहती है। 'वनस्पति-शास्त्र' (Botany) की अनेक समस्याओंको समझनेकेलिये 'प्राणी-शास्त्र' (Biology) का सहारा लेना पड़ता है, इतिहासकी अनेक बातोंको समझनेकेलिये अर्थ-शास्त्रका सहारा लेना पड़ता है। अगर हम 'वनस्पति-शास्त्र' का 'मुख्य-समस्या' के तौरपर वर्णन कर रहे हैं, और इसमें 'प्राणी-शास्त्र' का सहारा लेते हैं, तो उससमय 'वनस्पति-शास्त्र' के लिये 'प्राणी-शास्त्र' एक 'प्रभावक-तत्व' (Conditioning fact) बन जाता है। 'प्रभावक-तत्वों' का भी वर्णन-व्याख्या-मूल्यांकन—ये तीनों करना आवश्यक है जिससे विषय अत्यन्त स्पष्ट होजाय।

(घ) 'परिणाम' (Resultant facts)—किसी 'विज्ञान' की 'मुख्य-समस्या', उसके 'घटक-तत्व' तथा 'प्रभावक-तत्व'—इनपर विचार करनेकेबाद कुछ 'परिणाम' निकलते हैं। इन 'परिणामों' का वर्णन-व्याख्या-मूल्यांकन कर चुकनेके बाद उन 'तथ्यों तथा घटनाओं' (Facts and phenomena) एवं उस 'विज्ञान' का, जिसका हम वर्णन कर रहे हैं, स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।

समाज-शास्त्रकी चार समस्याएँ और उनका तीन प्रकारका वैज्ञानिक वर्णन—

हमने कहा था, 'समाज-शास्त्र' एक 'विज्ञान' है। हमने देखा, 'समाज' किसे कहते हैं, हमने यह भी देखा कि 'विज्ञान' किसे कहते हैं, और देखा कि 'विज्ञान'

किस प्रक्रियासे किसी विषयका वर्णन करता है। 'समाज-शास्त्र' पर उक्त प्रक्रिया कैसे घटती है—अब हमारे लिये यह देखना बाकी रह गया है। हमने अभी देखा था कि प्रत्येक 'विज्ञान' की चार समस्याएँ होती हैं—'मुख्य-समस्या', 'घटक-तत्व', 'प्रभावक-तत्व' तथा 'परिणाम'। 'समाज-शास्त्र' की भी ये चार समस्याएँ हैं, और इन्हीं चारों समस्याओंको सुलझाना 'समाज-शास्त्रका स्वरूप' (Nature of Sociology) है। हमने देखना है कि 'समाज-शास्त्र' की ये चार समस्याएँ क्या हैं?

(क) समाज-शास्त्रकी 'मुख्य-समस्या' (Problem of Sociology)—जैसे 'वनस्पति-शास्त्र' वह शास्त्र है जो 'वनस्पति' का वर्णन करे, वनस्पति ही उसकी मुख्य-समस्या है, उसीप्रकार 'समाज-शास्त्र' की मुख्य-समस्या 'समाज' है। 'समाज' का वर्णन, (Description), 'समाज' की व्याख्या (Explanation) तथा 'समाज' का मूल्यांकन (Evaluation) ही समाज-शास्त्रकी 'मुख्य-समस्या' है।

(ख) समाज-शास्त्रके 'घटक-तत्व' (Elemental facts of which Sociology is composed)—जैसे 'वनस्पति-शास्त्र' के घटक-तत्व जड़, पत्ते, तना, कार्वन, आक्सीजन, पृथ्वी, जल, वायु हैं, वैसे 'समाज-शास्त्र' के घटक-तत्व, वे तत्व जिनसे 'समाज-शास्त्र' वनता है, प्रथा-रीति-रिवाज, संघ-संस्थाएं आदि हैं। परन्तु रीति-रिवाज-संस्था आदिके आधारमें भी मनुष्यके मानसिक विचार हैं। जैसे विचार होंगे वैसा समाज वन जायगा। अच्छे विचार होंगे, तो अच्छा, वुरे विचार होंगे, तो वुरा, प्रेमके विचार प्रवल होंगे, तो शान्तिमय, द्वेषके विचार होंगे, तो लड़ने-झगड़नेवाला 'समाज' उठ खड़ा होगा। इसलिये 'समाज-शास्त्र' (Sociology) की रचना करनेवाले आधार-भूत तत्व 'मनोविज्ञान' (Psychology) के तत्व ही हैं। जो लोग 'समाज-शास्त्र' और 'मनोविज्ञान-शास्त्र' में भेद नहीं कर सकते, वे इसीलिये भेद नहीं कर सकते क्योंकि वे 'मुख्य-समस्या' और 'घटक-तत्व' में भेद करना भूल जाते हैं। अगर वे इसप्रकारके भेदको करना सीख जायं, तो उनके मनमें स्पष्ट होजाय कि 'समाज-शास्त्र' में 'मनोविज्ञान' का क्या स्थान है। इसप्रकार 'मनोविज्ञान' का 'समाज-शास्त्र' के अध्ययनमें घटक-तत्वके रूपमें 'वर्णन', उसकी 'व्याख्या' तथा उसका 'मूल्यांकन' करनेसे 'समाज-शास्त्र' के साथ 'मनोविज्ञान' का संवंध स्पष्ट होजाता है।

(ग) समाज-शास्त्रके 'प्रभावक-तत्व' (Conditioning facts of Sociology)—'समाज-शास्त्र' की मुख्य-समस्या क्या है, उस

समस्याको जन्म देनेवाले 'घटक-तत्व' क्या हैं—ये दो बातें जान लेनेके बाद तीसरा प्रश्न उपस्थित होता है, और वह यह कि 'समाज-शास्त्र' किन तत्वोंसे प्रभावित होता है। वैसे तो जो 'घटक-तत्व' हैं, वे भी किसी शास्त्रको प्रभावित ही करते हैं, परन्तु 'घटक-तत्व' तो उस शास्त्रका आधार-भूत तत्व होता है, 'प्रभावक-तत्व' आधार-भूत नहीं होता। 'समाज-शास्त्र' के जो 'प्रभावक-तत्व' हैं, वे चार हैं:—

(i) 'भौगोलिक-प्रभावक-तत्व' (Geographic conditioning factors of social change)—किसी देशकी भौगोलिक-स्थितिका सामाजिक-परिवर्तनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। वहांका जल-वायु कैसा है, धरती उपजाऊ है या बंजर, पानी की सुविधा है या नहीं, पानी मीठा है या कठोर, किसप्रकारके पेड़-फूल-पत्ती हैं—इन सब भौगोलिक-परिस्थितियोंका समाजके विकासपर प्रभाव पड़ता है, इसलिये 'समाज-शास्त्र' में भूगोल-भूगर्भ-शास्त्र आदि 'प्रभावक-तत्व' के रूपमें सहायक सिद्ध होते हैं।

(ii) 'यान्त्रिक-प्रभावक-तत्व' (Technological conditioning factors of social change)—'भौगोलिक' तथा 'यान्त्रिक' में यह भेद है कि 'भौगोलिक' तो वह है जो प्रकृतिमें पाया जाता है, प्राकृतिक है; 'यान्त्रिक' प्राकृतिक नहीं, मनुष्यद्वारा बनाया हुआ है। नदीका रूप 'भौगोलिक' (Geographic) है, नहरका रूप 'यान्त्रिक' (Technic) है; गुफाका रूप 'भौगोलिक' है, मकान-घरका रूप 'यान्त्रिक' है; पहाड़ोंके दर्रोंका रूप 'भौगोलिक' है, सड़कों-रेलोंका रूप 'यान्त्रिक' है; जंगलमें घूमरहे जानवरोंका रूप 'भौगोलिक' है, पालतू जानवरोंका रूप 'यान्त्रिक' है। 'समाज-शास्त्र' के विकासमें सभ्यताके इस 'यान्त्रिक' रूपका बड़ा भारी असर है, अतः यान्त्रिक-सभ्यतासे सम्बन्ध रखनेवाले सब तत्व—गांव, शहर, कल-कारखाने, सड़क, रेल, सम्पत्ति—ये सब 'समाज-शास्त्र' के लिये 'प्रभावक-तत्व' (Conditioning factors) हैं।

(iii) 'प्राणि-शास्त्रीय प्रभावक-तत्व' (Biological conditioning factors of social change)—'समाज' में स्त्री-पुरुष हैं, स्त्री-पुरुष की कौन-कौन-सी बातें सन्तानमें संक्रान्त होती हैं, यह सब जानना आवश्यक है। कुछ संक्रान्त होती हैं, कुछ संक्रान्त नहीं होतीं। यह विषय 'परिस्थिति तथा वंशानुसंक्रमण' (Environment and Heredity) का है। हमारा 'समाज' आज जो कुछ है, वह वही है जो हमारे माता-पिताने अपने संस्कारोंके रूपमें हमें दिया है, आगेका 'समाज' जो-कुछ होगा वह वही होगा, जो हम अपनी सन्तानको देंगे। यह तीसरा तत्व है जो समाज-शास्त्र तथा उसके विकासको प्रभावित करता है।

इस विकासका अध्ययन करतेहुए हमें 'लिंग-भेद' (Sex), 'प्रजाति' (Race), 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) आदिका अध्ययन करना आवश्यक होजाता है।

(iv) 'सामाजिक प्रभावक-तत्व' (Social and Cultural conditioning factors of social change)—जहां 'समाज-शास्त्र' के विकास, इसकी प्रगति, इसके स्वरूप आदिका निर्धारण करनेपर भौगोलिक (Geographic), यान्त्रिक (Technic) तथा प्राणि-शास्त्रीय (Biological) प्रभाव पड़ते हैं, वहां 'समाज' स्वयं भी 'समाज' को प्रभावित करता रहता है। सामाजिक-विकासकी प्रक्रियाओंमें जो भी कदम् हम उठाते हैं उसपर पिछले सामाजिक-विकासकी छाप होती है। क्योंकि हम पिछला विकास कर चुके होते हैं इसीलिये अगला विकास होसकता है, हम पिछली मंजिलतक न पहुंच चुके होते, तो अगली मंजिलकेलिये कदम उठ ही नहीं सकता। बच्चे जो-कुछ करते हैं उसपर माता-पिताका प्रभाव पड़ता है, विद्यार्थी जो-कुछ पढ़ते हैं उसपर अध्यापकका प्रभाव पड़ता है, अनुयायी जो-कुछ करते हैं, उसपर नेताका प्रभाव पड़ता है, मजदूर-वर्ग जो-कुछ करता है, उसपर मालिकका प्रभाव पड़ता है, प्रजा जो-कुछ करती है उसपर शासकोंका प्रभाव पड़ता है। 'समाज-शास्त्र' पर प्रभाव डालनेवाला चौथा तत्व 'समाज' खुद है—'समाज' ही 'समाज' को बदलता रहता है।

'समाज-शास्त्र' के उक्त चारों 'प्रभावक-तत्वों' (Conditioning factors) का 'वर्णन'-'व्याख्या'-'मूल्यांकन' करनेसे इस शास्त्रकी ठीक-ठीक वैज्ञानिक व्याख्या होजाती है। इन सबका इस पुस्तकमें भिन्न-भिन्न अध्यायोंमें विस्तारपूर्वक वर्णन होगा।

(घ) समाज-शास्त्र के 'परिणाम' (Resultant facts of Sociology)—जब हमने देखलिया कि 'समाज-शास्त्र' की 'मुख्य-समस्या' क्या है, इस शास्त्र के 'घटक-तत्व' क्या हैं, 'प्रभावक-तत्व' क्या हैं, तब 'समाज-शास्त्र' का स्वरूप हमारे सामने स्वयं स्पष्ट होगया। इस स्वरूपके आधारपर हमें 'समाज-शास्त्र' के कुछ परिणाम निकालने होंगे। 'समाज' की किन अवस्थाओंका परिणाम 'एक-तन्त्र-शासन' है, किनका परिणाम 'जन-सत्ता-वाद' है; किनका परिणाम 'व्यक्तिवाद' है, किनका परिणाम 'समाजवाद' है; किनका परिणाम 'शान्ति' है, किनका परिणाम 'युद्ध' है; किनका परिणाम 'परिवारका संगठन' है, किनका परिणाम 'विवाह-विच्छेद' है—इन सब समस्याओंपर अपने परिणामोंका 'वर्णन' करना, उनकी 'व्याख्या' करना, और उन परिणामोंका 'मूल्यांकन' करना,

यह समाज-शास्त्र का काम है।

'समाज' तथा 'विज्ञान'—इन दो शब्दोंका हमने ऊपर जो-कुछ विवेचन किया है उसे समझ लेना 'समाज-शास्त्रके स्वरूप' को समझ लेना है।

२. समाज-शास्त्रका विषय-क्षेत्र वा उद्देश्य
(Scope or Aim of Sociology)

हमने यह तो देखा कि 'समाज-शास्त्र' का क्या 'स्वरूप' है, अब दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि इस शास्त्रका 'विषय-क्षेत्र' क्या है। इस सम्बन्धमें समाज-शास्त्रियोंमें दो विचार-धाराएँ हैं—एक विचार-धारा 'विशेषात्मकता' (Specialism or Particularism) की विचार-धारा है, दूसरी है 'समन्वयात्मक' (Synthetic) विचार-धारा। हम इन दोनोंका क्रमशः वर्णन करेंगे।

१. 'समाज-शास्त्र'का विषय-क्षेत्र 'विशेषात्मकता' (Specialism) है—

हमने 'समाज-शास्त्रके स्वरूप' का वर्णन करतेहुए कहा था कि प्रत्येक 'विज्ञान' के सम्मुख चार समस्याएँ होती हैं: 'मुख्य-समस्या' (Problem facts), 'समस्याके घटक-तत्व' (Elemental facts), 'प्रभावक-तत्व' (Conditioning facts) तथा 'परिणाम' (Resultant facts)। 'समाज-शास्त्र' के 'विषय-क्षेत्र' (Scope) के सम्बन्धमें एक पक्ष तो यह कहता है कि इस शास्त्रका क्षेत्र सिर्फ 'मुख्य-समस्या' (Problem facts) तक अपनेको सीमित रखना है, 'समस्याके घटक-तत्व' (Elemental facts) तथा 'समस्याके प्रभावक-तत्वों' (Conditioning facts) को उलझनमें पड़ना इसका काम नहीं। जैसे 'वनस्पति-शास्त्र' की अपनी 'मुख्य-समस्या' है, 'प्राणी-शास्त्र' की अपनी 'मुख्य-समस्या' है, 'अर्थ-शास्त्र'की अपनी 'मुख्य-समस्या' है, वैसे 'समाज-शास्त्र' की भी अपनी 'मुख्य-समस्या' है। 'वनस्पति-शास्त्र' की 'मुख्य-समस्या' क्या है? इसकी समस्या है 'वनस्पति-शास्त्र' के वे सिद्धान्त जिनपर इस शास्त्रका आधार है। उन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करना ही 'वनस्पति-शास्त्र' का विषय-क्षेत्र है। यही बात 'प्राणी-शास्त्र' तथा अन्य विज्ञानोंके विषयमें कही जासकती है। इसीप्रकार 'समाज-शास्त्र' का विषय-क्षेत्र उन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करना है जो इस शास्त्रकी नींवमें पड़ेहुए हैं। उदाहरणार्थ, 'प्रतिस्पर्धा' (Competition) एक सिद्धान्त है, जिसपर 'समाज' खड़ाहुआ है। एक आदमी दूसरेसे आगे निकलना चाहता है, दूसरा उसे आगे नहीं बढ़ने देता। इस भावनासे एकप्रकारका सामाजिक-व्यवहार उत्पन्न होजाता है। इस

सिद्धान्तका 'समाज' में अध्ययन करना 'समाज-शास्त्र' का विषय-क्षेत्र है। 'प्रतिस्पर्धा' (Competition) की तरह 'श्रम-विभाग' (Division of labour), 'श्रेणी-विभाग' (Class division), 'नेतृत्व' (Leadership), 'आज्ञा-पालन' (Obedience) आदि अनेक सिद्धान्त हैं, जो यद्यपि राजनीति, अर्थ-शास्त्र, धर्म-शास्त्र आदि भिन्न-भिन्न शास्त्रोंमें पाये जाते हैं, परन्तु मुख्यतौरपर यही समाज-शास्त्रके विषय हैं, ये समाज-शास्त्रकी 'मुख्य-समस्यायें' (Problem facts) हैं। इस पक्षका यह कहना है कि इस शास्त्रको अपनेको इन्हीं समस्याओं तक सीमित रखना चाहिये। इसप्रकार इन समस्याओंकेसाथ अपनेको बांधलेनेसे ही यह शास्त्र एक शास्त्र-विशेष (Special or particular science) का रूप धारण करसकता है, नहीं तो, सब विज्ञानोंकी बातें करनेसे, कुछ मनोविज्ञानकी बातें, कुछ प्राणी-शास्त्रकी, कुछ भूगर्भ-शास्त्रकी, कुछ इतिहास, कुछ अर्थ-शास्त्र—मतलब यह कि सब शास्त्रोंकी खिचड़ी पकाने से तो 'समाज-शास्त्र' का अपना कोई निश्चित, कोई विशेष रूप ही नहीं रहता। 'समाज-शास्त्र' की सीमाओंको बांध देनेसे ही यह एक खास, एक विशेष शास्त्र बन सकता है, नहीं तो 'समाज-शास्त्र' चूं-चूं का मुरब्बा हो जाता है, और कुछ नहीं रहता।

सिमल का 'विशेपात्मक'-दृष्टिकोण (Specialism of Simmel)—

'समाज-शास्त्र' के इस 'विशेषात्मक' (Specialistic) दृष्टि-कोणके माननेवालोंके मुखिया जर्मन समाज-शास्त्री सिमल (Simmel) हैं। उनका कथन है कि यह बात तो ठीक है कि समाज-शास्त्रका काम 'सामाजिक-सम्बन्धों' (Social relations) का वर्णन करना है, परन्तु 'सामाजिक-सम्बन्ध' दो रूपों में पाया जाता है। एक तो 'सामाजिक-सम्बन्ध'का वह रूप है जिसे हम 'सूक्ष्म-रूप' (Abstract form) कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, प्रतिस्पर्धा, श्रम-विभाग, श्रेणी-विभाग, नेतृत्व, आज्ञा-पालन आदि 'सामाजिक-सम्बन्ध' के 'सूक्ष्म-रूप' (Abstract form) हैं। दूसरा 'सामाजिक-सम्बन्ध' का वह रूप है जिसे हम 'स्थूल-रूप' (Concrete form) कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, जब हम राजनीति-शास्त्रका अध्ययन करतेहुए अमरीका तथा रूसकी 'प्रतिस्पर्धा'-को देखते हैं, तब 'सूक्ष्म-प्रतिस्पर्धा' का ही, राजनीति के आयनेमें उसके छलछलाते 'स्थूल-रूप' का दर्शन कर रहे होते हैं। 'राज-भक्ति' एक 'सूक्ष्म' तत्व है, परन्तु जब ईरानके बादशाहके देशसे भाग जानेके बाद उसके भक्त ईरानके प्रधान-मंत्री डा० मुसद्दिकको पकड़ लेते हैं, सैंकड़ोंका खून बहा देते हैं, तब सूक्ष्म राज-भक्ति

हमारी आंखोंके सामने स्थूल, साकार बनकर खड़ी होजाती है। ऐसे ही अन्य 'सूक्ष्म'-तत्वोंके, भिन्न-भिन्न विज्ञानोंमें, 'स्थूल' दर्शन हो सकते हैं। भिन्न-भिन्न विज्ञानोंमें समाज-शास्त्रके जो 'सूक्ष्म' सिद्धान्त काम कररहे हैं, उन सिद्धान्तोंको उन विज्ञानोंमेंसे निकालकर अलग कर लेना, फिर उन विज्ञानोंके झमेलेमें न पड़कर उन 'सूक्ष्म'-सिद्धान्तोंका स्वतंत्र रूपसे वर्णन करना—सिमल के मतमें यही समाज-शास्त्रका विषय-क्षेत्र है, अन्यथा समाज-शास्त्रकी अपनी स्वतंत्र सत्ता, इसकी अपनी खासियत कुछ नहीं रहती, दूसरे शास्त्रोंमें ही यह चोंचें मारता रहता है।

इस दृष्टिसे 'समाज-शास्त्र' (Sociology) तथा अन्य 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social sciences) में क्या भेद है? सिमल का कहना है कि 'समाज-शास्त्र' भी उन्हीं विषयोंका वर्णन करता है जिनका वर्णन अन्य 'सामाजिक-विज्ञान'—इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र—आदि करते हैं, परन्तु भेद यह है कि सिमल की 'विशेषात्मक-दृष्टि' (Specialism) के अनुसार समाज-शास्त्र स्वतन्त्ररूपसे उन 'सूक्ष्म' सामाजिक-सिद्धान्तों (Abstract Sociological ideas) का विवेचन करता है जिनका विवेचन 'स्थूल'-रूप (Concrete form) में अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, प्राणी-शास्त्र आदि विज्ञान करते हैं। समाज-शास्त्रका 'विषय-क्षेत्र' (Scope) 'सूक्ष्म' सामाजिक-सिद्धान्तों (Abstract social conceptions) का वर्णन करना है।

वीरकांद्तका 'विशेषात्मक'-दृष्टिकोण (Specialism of Vierkandt)—

एक दूसरे जर्मन समाज-शास्त्री श्रीयुत् वीरकांद्त (Vierkandt) हैं जिनके विचार सिमल के विचारोंसे मिलते-जुलते हैं। इनका कहना यह है कि समाज-शास्त्रका काम 'समाज' के उन तत्वोंको ढूंढ निकालना है जो समाज-शास्त्र केलिये 'मूल-तत्व' (Irreducible categories) कहे जासकते हैं। मनुष्यका मनुष्यकेसाथ जब संबंध पैदा होता है तब लज्जा, प्रेम, द्वेष, सहकारिता, प्रतिस्पर्धा, दब्बूपन, अधिकारकी भावना, लालसा आदि अनेक प्रकारके मानसिक-सम्बन्ध प्रकट होते हैं। ये मानसिक-सम्बन्ध जो एक मनुष्यको दूसरे मनुष्यकेसाथ जोड़ते हैं, समाज-शास्त्रके आधार-भूत मूल-तत्व हैं। 'प्रेम' एक मानसिक-तत्व है, द्वेष, लज्जा, लालसा—ये सब भी मानसिक-तत्व हैं। ये मानसिक-तत्व ही तो समाजको बनाते हैं। 'समाज' की भावना ही तब पैदा होती है जब हम किसीसे प्रेम करने लगते हैं, किसीसे द्वेष करने लगते हैं, किसीसे सहयोग, किसीसे असहयोग, किसीसे लज्जा, किसीसे शंका, किसीसे भय करने लगते हैं। ये लज्जा, प्रेम, द्वेष,

सहकारिता, प्रतिस्पर्धा आदि जो मानव-समाजको खेल खिला रहे हैं—ये मनुष्यको मनुष्यकेसाथ बांधनेवाले मानसिक-वन्धन (Psychical bonds)—यही समाज-शास्त्रका विषय-क्षेत्र है। इन विषयोंका वर्णन करनेकेलिये समाज-शास्त्रको मनोविज्ञानका सहारा लेनेके अतिरिक्त इधर-उधर भागनेकी जरूरत नहीं। उदाहरणार्थ, 'श्रम-विभाग' एक सिद्धान्त है जिसका आधार सहयोग है। समाज-शास्त्रका काम सहयोगके मानसिक-तत्वपर आश्रित इस 'श्रम-विभाग' का वर्णन कर देना मात्र है, अर्थ-शास्त्रकेसाथ होड़ करना नहीं। अर्थ-शास्त्रकेलिये तो 'श्रम-विभाग' एक 'मुख्य-समस्या' (Problem fact) है, समाज-शास्त्रके लिये ऐसी वात नहीं है। अगर समाज-शास्त्र 'श्रम-विभाग' को 'मुख्य-समस्या' मानकर चल पड़े, तो अर्थ-शास्त्र और समाज-शास्त्रमें क्या भेद रहे? इसीप्रकार 'संस्कृति'के सम्वन्धमें विचार करतेहुए समाज-शास्त्रका यह काम नहीं है कि जो काम इतिहासका है वह काम समाज-शास्त्र करने लगे, और संस्कृतिके विकासका विस्तृत विवेचन प्रारंभ कर दे। समाज-शास्त्रके 'विषय-क्षेत्र' को वहुत विस्तृत वना देनेसे यह शास्त्र एक अनिश्चित-सा वन जाता है, इसलिये आवश्यक है कि इसे इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, धर्म आदिमें भटकनेसे रोका जाय, और इसका विषय-क्षेत्र निश्चित कर दिया जाय। वीरकांद्त ने 'समाज-शास्त्र' के विषय-क्षेत्रकी जो सीमा निर्धारित की है, उसका निर्देश ऊपर कर दिया गया है—उसके मतमें समाज-शास्त्रका काम 'समाज' के उन मूल-तत्वोंको ढूंढ निकालना है जो मनुष्यका मनुष्यकेसाथ सामाजिक-सम्वन्ध स्थापित करते हैं। मनुष्यका मनुष्यकेसाथ संवंध जोड़नेवाले ये मूल-तत्व 'मानसिक-तत्व' हैं—लज्जा, प्रेम, द्वेष, सहकारिता आदि—और इन्हींके कारण मनुष्यके मनुष्यकेसाथ जो सम्वन्ध स्थापित होजाते हैं, प्रेमके कारण परिवारका, द्वेषके कारण युद्धका, सहकारिताके कारण अन्य प्रकारका, इन्हीं सवका विवेचन करना समाज-शास्त्रका विषय-क्षेत्र है।

२. समाज-शास्त्रका विषय-क्षेत्र 'समन्वयात्मक' (Synthetic) है—

अभी हमने दर्शाया कि 'विशेषात्मकता' (Specialism) के माननेवाले समाज-शास्त्रका विषय-क्षेत्र वैसा ही निश्चित तथा परिमित कर देना चाहते हैं जैसा 'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences) तथा 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) का है। अर्थात्, जैसे 'प्राकृतिक-विज्ञानों'——रसायन-शास्त्र (Chemistry), भौतिकी (Physics) आदि—का निश्चित क्षेत्र है, और जैसे 'सामाजिक-विज्ञानों'—इतिहास, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि—का भी निश्चित क्षेत्र है, वैसे समाज-शास्त्रका

भी क्षेत्र निश्चित होना ही ठीक है। इसके विपरीत 'समन्वयात्मक'-दृष्टिवाले विद्वानोंका कहना है कि अगर सिमल के कथनानुसार समाज-शास्त्र सिर्फ 'सूक्ष्म-सिद्धान्तों' (Abstract principles) को लेकर चले—अगर सिर्फ श्रम-विभाग, श्रेणी-विभाग, सहकारिता आदिका वर्णन तो करे, परन्तु 'प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञानों' (Natural and Social Sciences) में उतरकर उनकी पड़ताल न करे, तो इस विज्ञानका मूल्य ही क्या रह जाता है? उदाहरणार्थ, अगर 'प्रतियोगिता' (Competition) के सिद्धान्तका समाज-शास्त्र अध्ययन करता है, और अर्थ-शास्त्र की बारीकियोंमें प्रवेश करके उसका पूरा-पूरा अध्ययन नहीं करता, या इतिहास में जब-जब भिन्न-भिन्न देशोंमें प्रतियोगिता चली उनका विवेचन नहीं करता, तो सिर्फ 'प्रतियोगिता' के ऊपर एक सूखा-सा निबन्ध लिख देना किस कामका? 'आधीनता' (Subordination) एक 'सामाजिक-सम्बन्ध' (Social relation) है। क्या समाज-शास्त्रके ग्रन्थमें इसपर एक नीरस-सा भावात्मक (Abstract) निबन्ध लिख दिया जाय, या पिता और पुत्रमें 'आधीनता' का क्या स्वरूप है, राजा और प्रजामें आधीनताका क्या स्वरूप है, मजदूर और मालिकमें आधीनताका क्या स्वरूप है, पृथ्वी और सूर्यमें आधीनताका क्या स्वरूप है— इस सबका विवेचन किया जाय? समन्वयात्मक-दृष्टि (Synthetic view) का प्रतिपादन करने-वाले विद्वानोंका कहना है कि समाज-शास्त्रको अपना विषय-क्षेत्र संकुचित, परिमित तथा सीमित न बनाकर व्यापक और विस्तृत बनाना होगा, तभी यह समाज-शास्त्र कहा सकेगा। अन्य विज्ञानोंसे पृथक् होकर तो समाज-शास्त्र कुछ रहता ही नहीं है। सब विज्ञानोंके मेलसे समाज-शास्त्र बनता है। समाज-शास्त्रमें सब विज्ञान आकर एकीभूत होजाते हैं, इसमें सबका 'समन्वय' (Synthesis or Correlation) होजाता है, इसलिये समाज-शास्त्र एक विज्ञान ही नहीं, 'विज्ञानों का विज्ञान' (Science of sciences) है, और सभी विज्ञान इसके विषय-क्षेत्रमें आजाते हैं।

'विशेषात्मक'-दृष्टिकोण (Specialism) का अन्य विज्ञानोंमें एक बड़ा भारी दुष्परिणाम देखा जारहा है। भूगोल-शास्त्र, प्राणी-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र आदि तो अपने विषयतक ही अपनेको सीमित रखते हैं—इनकी तो 'विशेषात्मक' दृष्टि ही है। परन्तु इस दृष्टिका परिणाम क्या होरहा है? इसका परिणाम यह होरहा है कि इन विज्ञानोंकी दृष्टि अपने ऊपर इतनी केन्द्रित होती जाती है कि ये यही समझने लगे हैं कि संसारमें जो-कुछ होता है इन्हींके दृष्टि-कोण

से होता है। भूगोलकी दृष्टि यह हो चली है कि इतिहासमें जो-कुछ हुआ, भू-गोलकी दृष्टिसे हुआ। भारतवर्षपर मुहम्मद गौरीके हमले क्यों हुए? क्योंकि भारतकी जल-वायु गर्म थी—इसलिये यहांके लोग कमज़ोर होगये, पेशावरकीतरफ़ पहाड़ी दर्रे थे—उनसे आक्रान्ता आसकते थे। वस वे आये, और ये पराजित हुए। भूगोल ही जातियोंका भाग्य निश्चित कर देता है—यह 'भौगोलिक-भाग्य-निर्णय-वाद' (Geographic determination) का सिद्धान्त इसलिये उठ खड़ा हुआ क्योंकि भूगोलके विद्वानोंकी दृष्टि सिर्फ भूगोलपर इतनी अटक गई कि उन्हें इसके सिवाय कुछ दीखना ही बन्द होगया। यही दूसरोंका हाल है। प्राणी-शास्त्रके विद्वान् कहते हैं कि मानव-समाज जो-कुछ है, उसे प्राणी-शास्त्र ही वनाता है—इसे 'प्राणि-शास्त्रीय भाग्य-निर्णय-वाद' (Biological determination) कह सकते हैं। कई लोग कहते हैं कि मनुष्य-समाज वही-कुछ वनता जाता है जो आजकलके यान्त्रिक-साधन उसे वनाते जाते हैं—यह 'यान्त्रिक भाग्य-निर्णयवाद' (Technical determination) है। ये संकुचित दृष्टियां इसीलिये उत्पन्न होती हैं क्योंकि हम सव दृष्टियोंका समन्वय करनेके स्थानपर उन-उन विज्ञानोंको इतना अलग-अलग वनायेहुए हैं कि वे दूसरे विज्ञानकी दृष्टिको तुच्छ समझते हैं। ऐसी अवस्थामें अन्य विज्ञानोंकी विशेषात्मक-दृष्टिकीतरह समाज-शास्त्रकी अपनी पृथक् विशेषात्मक-दृष्टि पैदा करना कितनी भारी भूल होगी। यह एक अलग 'सामाजिक-भाग्य-निर्णयवाद' (Social determination) पैदा होजायगा। इन सव वातोंपर विचारकरके समाज-शास्त्रकेलिये सही दृष्टि वही है जिसमें सव दृष्टियोंका 'समन्वय' (Correlation or Synthesis) हो, जिसमें सव दृष्टियोंका स्वतन्त्र रूप न दिखाकर सवका पारस्परिक-सम्वन्ध (Interrelation) दिखाया गया हो।

दुरखीम का 'समन्वयात्मक'-दृष्टिकोण (Synthesis of Durkheim)—

समाज-शास्त्रके जिस 'समन्वयात्मक'-दृष्टिकोणका अभी उल्लेख किया गया इसके मुख्य समर्थक फ्रांसके विद्वान् श्रीयुत दुरखीम (Durkhiem) हैं। उनका कथन है कि समाज-शास्त्रको तीन भागोंमें वांटा जासकता है:—

(i) सामाजिक स्वरूप-शास्त्र (Social Morphology)
(ii) सामाजिक शारीर-शास्त्र (Social Physiology)
(iii) सामान्य समाज-शास्त्र (General Sociology)

'सामाजिक स्वरूप-शास्त्र' (Social Morphology) में वे सव विषय आजाते हैं, जिनका आधार भौगोलिक है। उदाहरणार्थ, किसी देशकी

जन-संख्या (Population), जन-संख्याका 'परिमाण' (Volume), अर्थात् वह कितनी है, जन-संख्याका 'घनत्व' (Density), अर्थात् एक स्थानपर कितनी घनी आबादी है, जन-संख्याका 'वितरण' (Local distribution), अर्थात् कहां-कहां कितनी-कितनी बंटी हुई है —ये सब विषय 'सामाजिक स्वरूप-शास्त्र' (Social Morphology) के अन्दर आजाते हैं।

'सामाजिक शारीर-शास्त्र' (Social Physiology) में वे सब विषय आजाते हैं जिन्हें 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciences) कहा जाता है। धर्म, नीति, अर्थ, भाषा, कानून आदि सब समाज-शास्त्रसे संबद्ध हैं, अतः धर्मका समाज-शास्त्र (Sociology of Religion), नीतिका समाज-शास्त्र (Sociology of Morals), अर्थका समाज-शास्त्र (Sociology of Economic Life), भाषा का समाज-शास्त्र (Sociology of Language), कानून का समाज-शास्त्र (Sociology of Law)—ये सब विषय 'सामाजिक शारीर-शास्त्र' (Social Physiology) में आजाते हैं।

'सामान्य समाज-शास्त्र' (General Sociology) का काम यह पता लगाना है कि भिन्न-भिन्न सामाजिक-विज्ञान (Special Social Sciences) —इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति-शास्त्र आदि—जिन भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंका अपने-अपने क्षेत्रमें विवेचन करते हैं क्या उनके आधारमें कोई 'सामान्य सिद्धान्त'—'सामान्य-नियम' (General laws) काम कर रहे हैं ? अगर कर रहे हैं, तो वे 'सामान्य-नियम' क्या हैं ? समाज-शास्त्रका यह भाग दार्शनिक भाग है, परन्तु क्योंकि यह दार्शनिक विवेचन तभी संभव है जब समाज-शास्त्रके भिन्न-भिन्न भाग—धर्म का समाज-शास्त्र, अर्थका समाज-शास्त्र, कानूनका समाज-शास्त्र तथा अन्य समाज-शास्त्र—अपना पूरा-पूरा तथा गहरा विवेचन करें, इसलिये समाज-शास्त्रके इस दार्शनिक विवेचनकेलिये उक्त भिन्न-भिन्न विवेचन-को दुरखीम अत्यन्त आवश्यक मानता है।

हौब हाउस का 'समन्वयात्मक'-दृष्टिकोण (Synthesis of Hobhouse)—

दुरखीमकीतरह इंग्लैंडके समाज-शास्त्री हौब हाउसने भी 'समन्वयात्मक'-दृष्टिकोणका प्रतिपादन किया है। दुरखीम का कथन है कि विविध सामाजिक-शास्त्रोंका समन्वय ही समाज-शास्त्र है। वह कहता है कि समाज-शास्त्रीको दो प्रकारका अध्ययन करना चाहिये :—

(१) प्रथम अध्ययन तो समाज-शास्त्रके उस अंगका अध्ययन है जिसका

वह विशेषतौरपर मनन कररहा है। उदाहरणार्थ, अगर वह अर्थ-शास्त्रका अध्ययन कररहा है, तो उसे अर्थ-संबंधी उन सिद्धान्तोंका विशेष ध्यान रखना है जिनका समाजके विकासकेसाथ निकटका सम्बन्ध है, अगर इतिहासका अध्ययन कररहा है, तो इतिहासकी उन घटनाओंपर विशेष ध्यान देना है जिनका वह अर्थ-शास्त्रके सिद्धान्तोंकेसाथ समन्वय करसकता है।

(२) समाज-शास्त्रीका द्वितीय अध्ययन तब प्रारंभ होता है जब वह भिन्न-भिन्न सामाजिक-विज्ञानों (Social Sciences) की उन केन्द्रीय-कल्पनाओं (Central conceptions) को निकाल लेता है जिनके इर्द-गिर्द सब सामाजिक-विज्ञान चक्कर काटते हैं। ये केन्द्रीय-कल्पनाएँ वे स्थिर विचार हैं जो भिन्न-भिन्न विज्ञानोंमें भिन्न-भिन्न रूप धारण करते रहते हैं। इन केन्द्रीय-कल्पनाओंतक पहुंचनेकेलिये भिन्न-भिन्न विज्ञानोंके आन्तरिक-सम्बन्धका जानना आवश्यक है। यह जानना आवश्यक है कि अर्थ-शास्त्रके सिद्धान्त किसप्रकार इतिहासमें, इतिहासके निर्णय किसप्रकार राजनीतिमें, और राजनीतिके तत्व किसप्रकार मनोविज्ञान में ओत-प्रोत हैं। समाज-शास्त्रकी यही दृष्टि 'समन्वयात्मक'—दृष्टि है।

समाज-शास्त्रकी यथार्थ-दृष्टि—

समाज-शास्त्रके उद्देश्य अथवा विषय-क्षेत्रके सम्बन्धमें जिन दो दृष्टियोंका ऊपर उल्लेख किया गया है उनपर जरा गहराईसे विवेचन किया जाय, तो स्पष्ट होजायगा कि इन दोनों दृष्टि-कोणोंमें बहुत बड़ा भेद नहीं है। अगर हम समाज-शास्त्रमें सिमल तथा वीरकांद्त के कथनानुसार 'भावात्मक' (Abstract) सामाजिक-सम्बन्धों (Social relations) का ही वर्णन करें, तो भी यह आवश्यक होगा कि उनको भिन्न-भिन्न विज्ञानोंमें घटाकर दिखलाएँ ताकि यह स्पष्ट होजाय कि ये सिद्धान्त कोरी गप्पबाजी नहीं, अपितु वास्तवमें ये सिद्धान्त अन्य विज्ञानोंमें मूर्त-रूपमें पाये जाते हैं। इसलिये 'विशेषात्मक' (Specialism) तथा 'समन्वयात्मक' (Synthesis) दोनों दृष्टियोंके समाज-शास्त्रमें साथ-साथ चलनेसे ही यह शास्त्र अपनेको एक पूर्ण-शास्त्र कह सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रो० हेज़ (Hayes) का कथन है कि प्रत्येक विज्ञानकी चार समस्याएँ होती हैं —'मुख्य-समस्या' (Problem facts), मुख्य-समस्याके 'घटक-तत्व' (Elemental facts), 'प्रभावक-तत्व' (Conditioning facts) तथा 'परिणाम' (Resultant facts)। ये चार समस्याएँ किसी एक

विज्ञानकी नहीं, सब विज्ञानोंकी होती हैं। अगर यह बात ठीक है, तो समाज-शास्त्रकी भी यही चार समस्याएँ होनी चाहियें। समाज-शास्त्र की 'मुख्य-समस्या' है—'समाज' तथा 'सामाजिक-सम्बन्ध'। इस समस्या के 'घटकतत्व' वे 'मानसिक-सम्बन्ध' (Psychical bonds) हैं, जिनसे सारा सामाजिक-व्यवहार चलता है। ये मानसिक-सम्बन्ध हैं—प्रेम, द्वेष, ईर्ष्या, लज्जा, प्रतिस्पर्धा, सहयोग आदि। ये न हों, तो समाज बनता ही नहीं। इसलिये समाज-शास्त्र जब अपनी 'मुख्य-समस्या' के 'घटक-तत्वों' का विवेचन करने लगता है तब इसका मनोविज्ञानके क्षेत्रमें चले जाना स्वाभाविक है। प्रत्येक विज्ञानकी तीसरी समस्या है—'प्रभावक-तत्व'। प्रत्येक विज्ञानको अन्य जो भी विज्ञान प्रभावित करते हैं उन विज्ञानोंकी चर्चा करना भी आवश्यक होजाता है। समाज-शास्त्रको अन्य सभी विज्ञान प्रभावित करते हैं। भौतिकी, रसायन आदि 'प्राकृतिक-विज्ञान' (Natural Sciences) तथा इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, राज-नीति, कानून आदि 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciences)—ये सब समाज-शास्त्रको प्रभावित करते हैं, इसलिये इनको भी यह शास्त्र नहीं छोड़ सकता। अन्तमें, प्रत्येक विज्ञान अपने कुछ परिणाम निकालता है—समाज-शास्त्र के भी अपने कुछ परिणाम हैं, इनको समाज-शास्त्रका दर्शन कहा जासकता है। प्रो० हेज़ (Hayes) के इस दृष्टि-कोणको सामने रखते हुए 'विशेषात्मकता' (Specialism) तथा 'समन्वयात्मकता' (Synthesis or Correlation or Interrelation) का मसला अपने-आप हल होजाता है। सब विज्ञानोंका, और सबकेसाथ समाज-शास्त्रका भी 'विशेषात्मक' अध्ययन आवश्यक है, परन्तु उस अध्ययनको सार्थक बनानेकेलिये उसका 'समन्वयात्मक' अध्ययन और भी अधिक आवश्यक है।

संक्षेपमें हम यह कह सकते हैं कि शुरू-शुरूमें मनुष्यका अध्ययन प्रारंभिक अवस्थाका था, इसलिये उसने 'समाज' का अध्ययन नहीं किया, परन्तु 'समाज' के भिन्न-भिन्न पहलुओंका, भिन्न-भिन्न अंगोंका अध्ययन किया। 'समाज' के आर्थिक पहलूके अध्ययनसे अर्थ-शास्त्रका जन्म हुआ, समाजके राजनैतिक पहलूके अध्ययनसे राजनीतिका जन्म हुआ, समाजकी ऐतिहासिक घटनाओंके संकलनकेद्वारा इतिहासका जन्म हुआ, कानूनी पहलूके अध्ययन से स्मृति-शास्त्रका जन्म हुआ, परन्तु ये सब अध्ययन 'समाज' के एक-एक पहलूके, एक-एक अंगके अध्ययन थे, इनसे 'समाज' का समग्र-रूप आंखोंके सामने नहीं खड़ा होता था। ठीक ऐसे अवसरपर एक ऐसे विज्ञानकी आवश्यकता थी जो

सब पहलुओंको मिलाकर, सबका 'समन्वय' करके, 'समाज' के समग्र-रूपको हमारे सामने रखदे। चार अंधोंकी कहानी प्रसिद्ध है। उनके सामने हाथी पड़ गया। किसीने टांग पकड़ी, किसीने कान पकड़ा, किसीने पूंछ पकड़ी। जिसने जो-कुछ पकड़ा, उसने हाथी का वही वर्णन कर डाला। असली, यथार्थ वर्णन तो इन सबके दृष्टि-कोणोंको मिलानेसे बनता है। इसीप्रकार समाज-शास्त्रका समग्र-रूप तभी प्रकट होता है जब एक-एक विज्ञानके पृथक्-पृथक् रूपको समाज-शास्त्र न समझकर सबके सम्मिलित स्वरूपको समाज-शास्त्र समझा जाय। यही कारण है कि अन्य 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciences) पहले पैदा हुए हैं, समाज-शास्त्र पीछे पैदा हुआ है, पीछे इसलिये हुआ है क्योंकि अन्य सामाजिक-विज्ञानोंने जो परिणाम निकाले हैं, उन सबके मिलनेसे ही तो समाज-शास्त्रका जन्म हुआ है।

प्रश्न

(१) समाज-शास्त्रका लक्षण कीजिये।

(२) 'पास्परिक-सम्बन्ध' (Relationship अथवा Association) से समाज-शास्त्रमें आप क्या समझते हैं ?

(३) 'विज्ञान' क्या है, 'वैज्ञानिक-वर्णन' किसे कहते हैं, प्रत्येक विज्ञानकी चार 'समस्याएँ' क्या होती हैं—यह दर्शाकर सिद्ध कीजिये कि समाज-शास्त्र भी एक ऐसा विज्ञान है जिसकी चार समस्याएँ हैं। समाज-शास्त्रकी वे चार समस्याएँ क्या हैं ?

(४) 'मनोविज्ञान समाज-शास्त्रका घटक-तत्व (Elemental fact) है'—इस कथनकी व्याख्या कीजिये।

(५) समाज-शास्त्र के 'प्रभावक-तत्व' (Conditioning facts) क्या हैं, उनका संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

(६) समाज-शास्त्रके स्वरूपका वर्णन कीजिये।

(७) सिमल तथा वीरकांद्त का 'विशेषात्मक'-दृष्टिकोण (Specialism) क्या है ?

(८) दुरखीम तथा हौब हाउस का 'समन्वयात्मक'-दृष्टिकोण (Synthesis) क्या है ?

(९) 'विशेषात्मक' तथा 'समन्वयात्मक'-दृष्टि-कोणों को एक सूत्रमें मिलानेका क्या समाधान दिया जासकता है ?

(१०) समाज-शास्त्रके उद्देश्यों एवं उसके विषय-क्षेत्रका प्रतिपादन कीजिये।

[३]

समाज-शास्त्रका अन्य सामाजिक-विज्ञानों के साथ सम्बन्ध

(RELATION OF SOCIOLOGY TO OTHER SOCIAL SCIENCES)

सब विज्ञानोंका काम कार्य-कारणके नियमका पता लगाना है। जो-कुछ है वह क्यों है, उसका कारण क्या है? कोई समय था जब मनुष्य हरेक प्रश्नका उत्तर देतेहुए कह देता था—इसका कारण ईश्वर है, परन्तु अब मनुष्य इतनेमात्रसे सन्तुष्ट नहीं होता। ईश्वर स्वयं तो आकर हर बातमें हस्त-क्षेप नहीं करता रहता। अगर वह है, तो वह भी किन्हीं नियमोंसे ही तो इस महान् विश्वको चला रहा है। सब नियमोंका आधार-भूत नियम, जिसमें सब नियम समा जाते हैं, कार्य-कारणका नियम है, और प्रत्येक विज्ञान अपने क्षेत्रमें इसी नियमकी खोज कर रहा है। स्थूल-पदार्थोंसे संबंध रखनेवाले विज्ञानोंको, जो नियमोंकी खोज कर रहे हैं, हम तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं:—

(१) वे विज्ञान जो प्राकृतिक-पदार्थोंमें कार्य-कारणके नियमको ढूंढ रहे हैं, उन्हें हम 'प्राकृतिक-विज्ञान' (Natural Sciences) कहते हैं। भौतिकी, रसायन, इन्जीनीयरिंग आदि 'प्राकृतिक-विज्ञान' हैं।

(२) वे विज्ञान जो मनुष्यके मनुष्यकेसाथ जो संबंध हैं, उन सब संबंधोंका अध्ययन करनेके स्थानमें, किसी एक संबंधका, संबंध-विशेषका अध्ययन करते हैं, उस विशेष संबंधके कार्य-कारणकी खोज करते हैं, उन्हें हम 'विशेष सामाजिक-विज्ञान' (Special Social Sciences) कहते हैं। 'अर्थ-शास्त्र' मनुष्यके आर्थिक पहलूको खोजता है, 'इतिहास' मनुष्यकी घटनाओंका संबंध जोड़ता है, 'मनोविज्ञान' मनुष्यके मनका पता लगाता है, 'सामाजिक-मनोविज्ञान' मनोविज्ञानकी ही एक शाखा है, 'राजनीति' मनुष्यके झगड़े क्यों होते हैं इस बातको ढूंढ निकालता है। ये सब विज्ञान समाजकी किसी एक समस्या,

उसके किसी एक पहलू, एक प्रश्नका समाधान करते हैं, समग्र समाजको लेकर नहीं चलते—इसलिये इन्हें 'विशेष सामाजिक विज्ञान' (Special Social Sciences) कहा जाता है।

(३) ऐसा भी विज्ञान हो सकता है जो मनुष्यकी सिर्फ एक समस्याको लेकर न चले, भिन्न-भिन्न 'विशेष सामाजिक-विज्ञानों' ने जो समस्याएँ प्रस्तुत की हैं, उन सबको इकट्ठा करले; मनुष्य या मनुष्योंकी समस्याओं (Man's problems) को नहीं, समग्र मानव-जाति, समग्र मानव-समाज (Mankind as a whole) की समस्याओंको हल करनेके नियमोंका पता लगाये। ऐसा विज्ञान 'विशेष सामाजिक-विज्ञान' नहीं कहायेगा क्योंकि वह किसी 'विशेष' समस्याको लेकर नहीं खड़ा हुआ, वह 'सामान्य सामाजिक-विज्ञान' (General Social Science) कहायेगा। १९वीं सदीमें दूसरे विज्ञान प्रकट हुए हैं, १९वींके अन्त और बीसवीं सदीमें यह 'सामान्य सामाजिक विज्ञान (General Social Science) प्रकट हुआ है, जिसे 'समाज-शास्त्र' (Sociology) कहा जाता है।

१. समाज-शास्त्र एक 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' है (SOCIOLOGY IS A GENERAL SOCIAL SCIENCE)

हमने अभी कहा है कि समाज-शास्त्र एक 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' है। 'सामान्य'-शब्द इसलिये लगा दिया क्योंकि मनुष्यके किसी 'एक' प्रश्नको न लेकर यह विज्ञान उसके 'सभी' प्रश्नोंको लेकर चलता है। 'सभी', अर्थात् 'सामान्य'। परन्तु जब हम कहते हैं कि समाज-शास्त्रका काम मनुष्यके 'सभी' प्रश्नोंपर विचार करना है, तब हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि परमात्मासे लेकर मच्छरतक सब-कुछ इस शास्त्रके अध्ययनका विषय है। हमारा कथन इतना ही है कि अन्य 'विशेष-सामाजिक-विज्ञानों' (Special Social Sciences) की अपेक्षा यह अधिक व्यापक है। 'समाज-शास्त्र', अर्थात् 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान' तथा 'विशेष-सामाजिक-विज्ञान'—इनके अध्ययनके विषय तो एक ही हैं, भेद इतना ही है कि 'विशेष-सामाजिक-शास्त्र' जिन विषयोंका अलग-अलग अध्ययन करते हैं, उन्हींको 'सामान्य-सामाजिक-विज्ञान', अर्थात् 'समाज-शास्त्र' मिला लेता है, उनका समन्वय कर लेता है। वैसे जितने भी 'सामाजिक-विज्ञान' हैं, चाहे 'विशेष' हों या 'सामान्य', सभीके अध्ययनका विषय 'मनुष्य' तथा 'मनुष्य की समस्याएँ' हैं। 'विशेष' सामाजिक-विज्ञानका विषय मनुष्यकी विशेष-विशेष समस्याएँ हैं, 'सामान्य सामाजिक-विज्ञान', अर्थात् 'समाज-शास्त्र' का विषय

उन सब विशेष-विशेष समस्याओंका समन्वय है, अर्थात् उन सब समस्याओंपर एकही जगहपर विचार करना है।

'विज्ञान' किसे कहते हैं—

विशेष 'सामाजिक-विज्ञानों' (Special Social Sciences) को तो देरसे 'विज्ञान' (Science) माना जाने लगा है। इसके दो कारण हैं:—

(१) पहला कारण तो यह है कि कोई विद्या 'विज्ञान' तब कहाती है जब उसमें 'भावात्मक-विचारों' (Abstract ideas) के रूपमें सोचा जासके। उदाहरणार्थ, अर्थ-शास्त्रमें 'भावात्मक-विचारों' (Abstract ideas) में सोचा जासकता है। अर्थ-सम्पत्ति (Wealth) आदि 'भावात्मक' विचार हैं। राजनीतिमें 'राष्ट्र'-'राज्य' (State, kingdom) आदि 'भावात्मक' विचार हैं इसलिये 'अर्थ-शास्त्र', 'राजनीति' आदि 'विज्ञान'की श्रेणीमें गिने जाते हैं।

(२) दूसरा कारण यह है कि कोई विद्या 'विज्ञान' तब कहाती है जब उसमें कुछ ऐसे 'नियमों' (Laws) का पता लगे जो अखंड हों, बदलते न हों, अपरिवर्तनीय हों। भौतिकी (Physics) में 'गुरुत्वाकर्षण' (Law of gravitation) का पता लगा, यह एक अखंड नियम है, इसलिये भौतिकी-विद्याको 'विज्ञान' माना जाता है। इसीप्रकार जितने 'विशेष सामाजिक-विज्ञान' (Special Social Sciences) हैं सबके अपने-अपने अखंड नियम हैं, इसकारण ये सब 'विज्ञान' माने जाने लगे हैं।

'समाज-शास्त्र' को क्यों 'विज्ञान' माना जाय ?

प्रश्न यह है कि क्या 'विशेष सामाजिक-विज्ञानों' (Special Social Sciences) की तरह 'सामान्य सामाजिक-विज्ञान' (General Social Science) अर्थात् 'समाज-शास्त्र' (Sociology) की विद्या भी 'विज्ञान', अर्थात् 'सायन्स' मानी जानी चाहिये या नहीं ?

(१) किसी विद्याके 'विज्ञान' माने जानेकी पहली शर्त यह है कि उसमें विचारोंकी 'भावात्मकता' (Abstractions) हो। इस दृष्टिसे सिमल आदि कई जर्मन लेखक, जिनका जिक्र किया जा चुका है, कहते हैं कि समाज-शास्त्रका काम समाजके भिन्न-भिन्न सम्बन्धोंका निरीक्षण करके कुछ ऐसे सम्बन्ध, कुछ ऐसी प्रवृत्तियां पता लगा लेना है, जो 'भावात्मक' (Abstract) हों, और फिर इन संबंधों, इन प्रवृत्तियोंका वर्णन करदेना है। जिस हदतक यह विद्या अपनेको इसप्रकारके भावात्मक-वर्णनमें बांधे रखती है उस हदतक यह 'विज्ञान' है।

परन्तु असलमें तो 'समाज-शास्त्र' की विद्या 'भावात्मक-वर्णन' करने की विद्या नहीं है। समाज-शास्त्रका काम 'भावात्मक-विचार' करना (Abstract

thinking) नहीं, इसका काम तो अन्य शास्त्रोंके 'भावात्मक'-विचारोंको समाजमें घटाना है। समाज-शास्त्र भावात्मक नहीं, क्रियात्मक विद्या है। परन्तु क्या क्रियात्मक होनेसे यह 'विज्ञान' नहीं रहती? यह तो वह 'विज्ञान' है, जो अन्य 'विज्ञानों' का अध्ययन करता है, और उन विज्ञानोंका अध्ययन करनेके बाद उनके 'भावात्मक'-विचारोंको मनुष्य-जीवनमें घटाता है। अन्य सामाजिक-विज्ञान जहां समाप्त होते हैं, वहां समाज-शास्त्र शुरू होता है। अन्य सामाजिक-विज्ञान 'भावात्मक-विचारों' (Abstractions) पर लाकर हमें छोड़ देते हैं, समाज-शास्त्र इन 'भावात्मक-विचारों' को पकड़ लेता है, और पकड़कर मानव-समाजमें घटाना शुरू करता है। क्योंकि यह 'भावात्मक-विचारों' को मानव-समाजमें घटा देता है, इससे उसका 'विज्ञान' होना कैसे ख़त्म हो सकता है? स्पष्ट है कि अगर 'विशेष समाज-शास्त्र' (Special Social Sciences) 'विज्ञान' कहे जासकते हैं, तो उनका समन्वय करनेवाला, उनके परिणामोंको लेकर आगे चलनेवाला समाज-शास्त्र हरहालतमें 'विज्ञान' कहा जासकता है।

(२) किसी विद्याके 'विज्ञान' माने जानेकी दूसरी शर्त यह है कि उसमें कुछ ऐसे नियमोंका पता लगे, जो अखंड हों, बदलते न हों, अपरिवर्तनीय हों। इसमें संदेह नहीं कि समाज-शास्त्र कुछ नियमोंका पता लगाता है, परन्तु अन्य विज्ञानों और समाज-शास्त्रमें यह भेद है कि अन्य विज्ञानोंके नियम अखंड होते हैं, समाज-शास्त्र के नियम अखंड नहीं होते, वे बदल सकते हैं। जब हम कहते हैं—'समाज-शास्त्र के नियम'—तब हमारा क्या मतलब होता है? हमारा मतलब होता है—ऐसे नियम जो समाजमें काम कर रहे हैं। 'समाज' में ईंट-पत्थर तो हैं नहीं, 'समाज' में तो 'मनुष्य' हैं। जो नियम निष्प्राण, प्रकृतिमें काम करेंगे, अणुओं, परमाणुओंमें काम करेंगे, वे अखंड होंगे। गुरुत्वाकर्षणका नियम अखंड इसलिये है, क्योंकि यह प्राणहीन प्रकृतिमें काम कर रहा है। मनुष्य-समाजमें जो नियम काम करेंगे, वे अणुओं, परमाणुओंमें नहीं, मनुष्योंमें काम करेंगे, और इसलिये उनका सम्बन्ध मनुष्यकी मानसिक-रचनाकेसाथ होगा। मनुष्यका मन बदल सकता है, अब एक विचार आया, मनने पलटा खाया तो वह विचार बदल गया। इसलिये समाज-शास्त्रके नियम अन्य शास्त्रोंकीतरह अखंड नहीं कहे जासकते, इसलिये नहीं कहे जासकते क्योंकि उनका आधार मनुष्यकी 'मानसिक-प्रवृत्तियां (Mental tendencies) हैं, जो एक दिशामें काम करती हैं, परन्तु उस दिशामें जानेसे अपनेको रोक भी सकती हैं। किसी देशकी ऐसी अवस्थाएं होसकती हैं कि समाज-शास्त्रके नियमोंके आधारपर हम कह दें कि अब लड़ाई छिड़नेवाली है, परन्तु क्योंकि समाज-शास्त्रके नियमोंका आधार 'मनुष्य' हैं, 'मनुष्यकी मानसिक-

प्रवृत्तियां' हैं, इसलिये सब कारणोंके उपस्थित होनेपर भी लड़ाई रुक सकती है, इसलिये रुक सकती है कि जो मानवीय-कारण लड़ाई पैदाकरनेवाले थे, उनके विरोधी दूसरे मानवीय-कारण उपस्थित होगये, या इसलिये रुक सकती है कि जो लड़नेवाले थे उन्होंने लड़ाईके सब कारणोंके होनेपर भी अपना विचार ही बदल लिया। परन्तु क्योंकि समाज-शास्त्रके नियम अखंड नहीं हैं, क्या इसलिये इसे 'विज्ञान' न कहा जाय ? इसके नियम अखंड न होनेपर भी यह 'विज्ञान' है, इसलिये 'विज्ञान' है क्योंकि अन्य विज्ञानोंकीतरह समाज-शास्त्र भी 'निरीक्षण' (Observation), 'तुलना' (Comparison), 'वर्गीकरण' (Classification) तथा 'नियम-निर्धारण' (Formulation of Law)—इन चार प्रक्रियाओंमेंसे गुजरकर ही अपने परिणामोंपर पहुंचता है। किसी 'नियम' पर पहुंचनेकी जो प्रक्रिया है—'निरीक्षण'-'तुलना'-'वर्गीकरण'-'नियम'—यह सारी प्रक्रिया समाज-शास्त्रमें भी होती है, भेद इतना ही है कि क्योंकि समाज शास्त्रमें 'मनुष्य', 'मनुष्य की प्रवृत्ति'-जैसा एक तत्व है जो बदल सकता है, गणित, रसायन, भौतिकी आदि में यह तत्व नहीं है, इसलिये समाज-शास्त्रके परिणाम 'नियम' (Laws) कहलातेहुए भी बदल सकते हैं, अन्य शास्त्रोंके परिणाम भी 'नियम' कहलाते हैं, परन्तु बदलते नहीं। जिसे अन्य शास्त्रोंमें 'नियम' (Law) कहते हैं, उसे 'समाज-शास्त्र' में 'प्रवृत्ति' (Tendency) कहते हैं, परन्तु क्योंकि समाज-शास्त्रमें 'नियम' को 'प्रवृत्ति' कहते हैं, सिर्फ इतनी बातसे क्यों समाज-शास्त्र को 'विज्ञान' न कहा जाय ?

समाज-शास्त्रके पता लगाये नियमोंका महत्व—

भौतिकी-विज्ञान, रसायन-शास्त्र, प्राणी-शास्त्र आदि विज्ञानोंने जिन नियमोंका पता लगाया उनसे चारोंतरफ एक हलचल मच गई। १४वीं, १५वीं तथा १६वीं शताब्दीमें योरुपमें जो 'पुनर्जागरण' (Renaissance) हुआ, जो बढ़ते-बढ़ते १९वीं शताब्दीकी 'औद्योगिक क्रान्ति' (Industrial Revolution) का रूप धारण कर गया, उस-सबका श्रीगणेश विज्ञानोंद्वारा ही तो हुआ। आज जो एक बिल्कुल नवीन सभ्यता उठ खड़ी हुई है—सब काम मशीनसे होने लगा है—यह 'विज्ञान' का ही प्रताप है। जैसे इन विज्ञानोंने एक नवीन-युग उत्पन्न कर दिया है, वैसे समाज-विज्ञान भी एक नवीन-युग उत्पन्न करेगा। जब पहले-पहल समाज-शास्त्रने अन्य विज्ञानोंकीतरह अपने नियम पता लगाने शुरू किये थे, तब मानव-समाज उसीतरह भौंचक्का देखने लगा था जैसे कभी अन्य विज्ञानोंके परिणामोंके कारण वह भौंचक्का हो गया था। कोम्टे (Comte) के अनुयायियों-

मेंसे एक श्री वकल (Buckle) ने जब यह कहा कि गेहूंके दाममें वढ़ती-घटतीका सम्बन्ध सीधा विवाहोंकी संख्यापर निर्भर करता है, तव लोग आंखें फाड़-फाड़कर देखने लगे। जब उसने यह कहा कि आत्म-घात, नाजायज़ वच्चे और गुमहोनेवाले पार्सलोंकी संख्या लगभग वही रहती है जो पहले थी, तो लोगोंको और भी आश्चर्य हुआ। जैसे अन्य विज्ञानोंने एक क्रान्ति की है, वैसे समाज-शास्त्र भी एक क्रान्ति कर रहा है। आज संसारका सवसे वड़ा प्रश्न ही यह है कि यद्यपि आरामकी हरेक चीज़ इन्सानके पास है तब भी वह क्यों तड़पता फिरता है। हक्सले ने ठीक कहा था कि अगर अपने विकासमें मनुष्य आगे-आगे वढ़ता जहां आ खड़ा हुआ है उससे आगे न वढ़ा, तो क्या ही अच्छा हो कि कोई नक्षत्र इस पृथ्वीसे टकराकर इसे अपनी हस्तीसे मिटा दे। अगर खेतीके अच्छे साधनोंके प्रयोगसे दुगुनी खेती हो सकती है, तो समाज-शास्त्रके द्वारा मनुष्यको पहलेसे ज्यादा सुखी क्यों नहीं वनाया जा सकता ? मनुष्यमें अपनी प्रवृत्तियोंको वदलनेका असीम सामर्थ्य है। दो नस्लोंमें हम किसी देशको क्या-से-क्या वना सकते हैं। हमारे देखते-देखते नाज़ी जर्मनी, फैसिस्ट इटली क्या-कुछ नहीं वन गये थे, और देखते-देखते कैसे मट्टीमें मिल गये! रूसकी आजसे २५ साल पहले क्या हालत थी? जापान किस तरह सितारेकीतरह आस्मानमें चमका था ? भारत आज स्वतन्त्र होनेके वाद क्या-कुछ नहीं वन सकता ? हमें समाज-शास्त्रके नियमोंको, उसकी प्रक्रियाको समझनेकी ज़रूरत है, फिर हम अपने समाजको कुछ-का-कुछ वना सकते हैं। हरेक विज्ञान उन कारणोंका पता लगाता है जिनको अपने हाथमें करलेनेसे परमात्मा और भाग्यका सहारा लेकर वैठ रहनेकी जरूरत नहीं रहती, उन कारणोंपर अपना वश करलेना काफी होता है, फिर मनचाहा परिणाम निकलता है। आज समाज-शास्त्रके आधार-भूत कारणोंका पता लगाकर समाज-शास्त्री मनचाहा संसार वनानेका स्वप्न लेरहा हैं।

२. 'समाज-शास्त्र' तथा 'विशेष सामाजिक-विज्ञान'

(SOCIOLOGY AND SPECIAL SOCIAL SCIENCES)

'विशेष-सामाजिक-विज्ञान'—इस शब्दमें 'विशेष'-शब्द दिया गया है। इसे स्पष्ट करना आवश्यक है। कोई विज्ञान 'विशेष'-विज्ञान क्यों कहाता है ? हम किसी विज्ञानको 'विशेष-विज्ञान' इसलिये कहते हैं क्योंकि यह अपने विषयका 'विशेष' अध्ययन करता है, और इसीकारण अपनेको अपने 'विशेष' क्षेत्रमें ही सीमित रखता है। इसका काम यह नहीं है कि अन्य विज्ञानोंने अपने क्षेत्रमें जो निष्कर्ष निकाले हैं उनपर नुकताचीनी करे, इसका काम तो अन्य 'विशेष'-विज्ञानोंने जो निष्कर्ष निकाले हैं, उन्हें जैसे-का-तैसा लेलेना है। प्रत्येक 'विशेष'-विज्ञान,

जिसका हम इस प्रकरणमें वर्णन करेंगे, इसी धारणाको लेकर चलता है। अर्थ-शास्त्रको इस बहसमें नहीं पड़ना कि लोग अफीम क्यों खाते हैं, इसका खाना अच्छा है, या बुरा। अर्थ-शास्त्र तो इस बातको मानकर चलेगा कि लोग अफीम खाते हैं। अर्थ-शास्त्रका प्रश्न यह होगा कि अगर बहुत लोग खाते हैं, और कम पैदा होती है, तो इसका दाम बढ़ जायगा, अगर कम लोग खाते हैं, बहुत पैदा होती है, तो इसका दाम घट जायगा। इसीप्रकार अन्य 'विशेष-विज्ञान' (Special Sciences) अपनेको अपने क्षेत्रमें ही सीमित रखते हैं, दूसरे विज्ञानोंके तथ्योंको लेकर चलते हैं, उन तथ्योंकी बहसमें नहीं पड़ते। फिर भी सब विज्ञानोंका आपसी संबंध है। समाज-शास्त्र विशेष' नहीं, 'सामान्य'-विज्ञान है, और इसका भी अन्य 'विशेष-विज्ञानों' के साथ संबंध है। वह सम्बन्ध क्या है, हमें यही जानना है।

इससे पहले कि हम 'समाज-शास्त्र' (Sociology) तथा 'विशेष सामाजिक-शास्त्रों' (Special Social Sciences) के संबंधपर कुछ लिखें, यह आवश्यक जान पड़ता है कि पहले 'प्राकृतिक विज्ञानों' (Natural Sciences) तथा 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) के भेदको स्पष्ट कर दिया जाय।

'प्राकृतिक' (Natural) तथा 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) में भेद—

प्रायः समझा जाता है कि 'प्राकृतिक-विज्ञानों' तथा 'सामाजिक-विज्ञानों' में यह भेद है कि 'प्राकृतिक-विज्ञान'—भौतिक-विज्ञान (Physics), रसायन-शास्त्र (Chemistry) आदि—अप्राणि-जगत् (In-animate beings) पर विचार करता है, 'सामाजिक-विज्ञान'—अर्थ-शास्त्र, राजनीति, आचार-शास्त्र, कानून, समाज-शास्त्र आदि—प्राणि-जगत् (Animate beings) पर विचार करता है। परन्तु यह बात नहीं है। 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciences) भी अप्राणि-जगत् पर विचार कर सकते हैं, और 'प्राकृतिक-विज्ञान' (Natural Sciences) भी प्राणि-जगत्के विषयोंपर विचार कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, पहाड़ अप्राणि-जगत्का पदार्थ है। पहाड़के सम्बन्धमें प्राकृतिक-विज्ञानोंमेंसे भू-गर्भ शास्त्र तो यह विचार करेगा कि आदि-कालमें पृथ्वीकी पपड़ी किस तरहसे सुकड़ी, किस तरह पहाड़ बन गये, वनस्पति-शास्त्र उससमयकी वनस्पतियोंकी चर्चा करेगा, परन्तु समाज-शास्त्र इस बातपर विचार शुरू कर देगा कि जब पहाड़ बन गये, तो वहां पहाड़ोंपर मनुष्यकेलिये रहना कठिन होगया, वह उस स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानोंपर जाने लगा।

इसीप्रकार एक दूसरा उदाहरण लीजिये। मनुष्य तो प्राणी है, परन्तु रसायन-शास्त्र उसीके शरीरमें जो रासायनिक-क्रियाएँ हो रही हैं, उनका अध्ययन कर सकता है, यद्यपि रसायन-शास्त्र 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciencc) नहीं, 'प्राकृतिक-विज्ञान' (Natural Science) है। असल में, सारा भेद दृष्टिकोणका है, दोनों प्रकारके विज्ञान एकही विषयकी विवेचना कर सकते हैं, परन्तु दृष्टि दोनोंकी अपनी-अपनी होगी। रसायन-शास्त्रकी दृष्टि रासायनिक होगी, समाज-शास्त्रकी दृष्टि सामाजिक होगी, अर्थ-शास्त्रकी दृष्टि आर्थिक होगी। इसीप्रकार अन्य शास्त्रोंकी दृष्टि वही होगी जिस पहलूको लेकर वे विज्ञान उत्पन्न हुए हैं।

'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences) तथा 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) में निम्न भेद हैं:—

(१) दोनों विज्ञानोंके दृष्टि-कोणोंमें भेद है। 'प्राकृतिक-विज्ञान' (Natural Sciences) प्राकृतिक-पदार्थोंमें जो नियम काम कर रहे हैं उनका पता लगाते हैं, और अगर 'सामाजिक-विज्ञानों' में दख़ल देते हैं तव भी सिर्फ अपने भौतिक नियम पता लगानेकेलिये ही देते हैं। 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciences) उन पदार्थोंका विवेचन करते हैं जिनका किसीतरहका भी 'मनुष्य' या मनुष्यके 'सामाजिक-व्यवहार' के साथ कोई संबंध होता है। दोनोंकी 'कल्पना' (Theory) अलग-अलग हैं। 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) की कल्पना अप्राणि-जगत् अथवा प्राणि-जगत्मेंसे किसीपर भी विचार करती हुई मनुष्यको अपने विचारका केन्द्र मानकर चलती है, 'प्राकृतिक-विज्ञान' (Natural Sciences) मनुष्यको केन्द्र मानकर नहीं चलते।

(२) 'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences) के जो मूल-तत्व हैं उनका पारस्परिक-सम्वन्ध केवल भौतिक होता है, 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) के मूल-तत्वोंका सम्वन्ध मनोवैज्ञानिक होता है। रसायन-शास्त्रके मूल-तत्व हाइड्रोजन-ऑक्सीजन आदि हैं, इनका आपसका संबंध सिर्फ भौतिक है, इसमें मानसिक-संबंधको कहीं स्थान नहीं। समाज-शास्त्रके मूल-तत्व मनुष्य हैं, मनुष्यकी मानसिक-अवस्थाएँ हैं, रुचियां हैं, प्रवृत्तियां हैं। इन सवका आपसी सम्वन्ध ईंट-पत्थर या अणुओं-परमाणुओंका-सा नहीं, इनका सम्वन्ध तो वहुत गहरा है, और वहुत चकरादेनेवाला है।

(३) 'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences) के मूल-तत्वोंका विश्लेषण करके उन्हें अलग-अलग किया जासकता है, 'सामाजिक-विज्ञानों' के मूल-तत्वोंका विश्लेषण करके उन्हें अलग-अलग नहीं किया जासकता। कार्बन,

नाइट्रोजनको हम अलग-अलगकरके दिखा सकते हैं, परन्तु मनुष्यके भावों, उद्वेगों, उसकी प्रेरणाओंको अलग-अलगकरके नहीं दिखाया जासकता ।

यद्यपि 'प्राकृतिक-विज्ञानों' (Natural Sciences) तथा 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) में उक्त भेद हैं; तो भी दोनों विज्ञानोंकी अन्वेषणकी पद्धति एक-सी है, दोनों 'निरीक्षण'-'तुलना'-'वर्गीकरण' तथा 'नियम-निर्धारण' की वैज्ञानिक-पद्धतिसे अपने परिणामोंपर पहुंचते हैं । विश्वकी वास्तविक-सत्ता क्या है—इसी बातकी तो दोनोंप्रकारके विज्ञान खोज कर रहे हैं, एक अपने दृष्टि-कोणसे आगे बढ़ता है, दूसरा अपने दृष्टिकोणसे ।

'विज्ञानों' का मोटा-सा पारस्परिक-संबंध निम्न चित्रसे स्पष्ट हो जायगा । इस चित्रमें मनुष्यको जब समाजकी इकाई (Social Unit) समझा जाता है,तब सामाजिक-विज्ञान प्रकट होते हैं, जब उसे व्यक्ति-रूपसे इकाई (Individual Unit) समझा जाता है, तब वैयक्तिक-विज्ञान ।
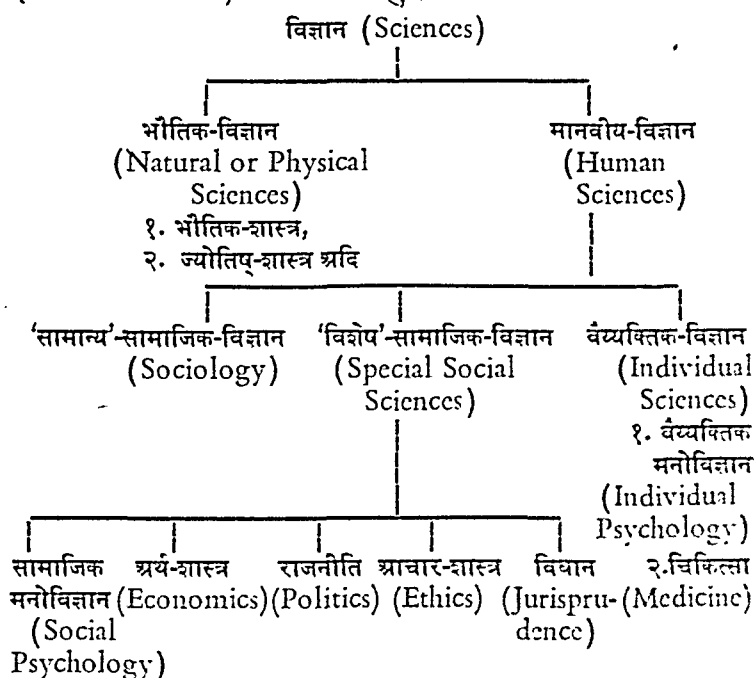
जितने 'सामाजिक-विज्ञान' (Social Sciences) हैं उन सबका लक्ष्य मनुष्यके सामाजिक-कार्यों तथा सामाजिक-व्यवहारों (Social activities and Social behavior) का वर्णन करना है । इस वर्णनमें कोई विज्ञान

किसी पहलूपर प्रकाश डालता है, कोई किसी पहलूपर। अब हम इन भिन्न-भिन्न 'सामाजिक-शास्त्रों' (Special Social Sciences) का 'समाज-शास्त्र' (Sociology) से क्या सम्बन्ध है, इस बात का विवेचन करेंगे।

३. समाज-शास्त्र तथा अर्थ-शास्त्र

'अर्थ-शास्त्र' (Economics) 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) में से एक है। यह 'विज्ञान' इसलिये है क्योंकि इसमें 'भावात्मक-विचार' (Abstractions) हैं। इसका मुख्य 'भावात्मक-विचार' (Abstract idea) है—'सम्पत्ति' (Wealth)। 'अर्थ-शास्त्र'का विज्ञान 'सामाजिक' इसलिये कहाता है क्योंकि 'सम्पत्ति' का मनुष्यसे, अर्थात् समाजसे सम्बन्ध है। और, यह 'विशेष सामाजिक-विज्ञान' इसलिये कहाता है क्योंकि यह समाजके सम्पत्ति-सम्बन्धी विशेष पहलूपर ही अपनेको सीमित रखता है, सब पहलुओंको अपना विषय-क्षेत्र नहीं बनाता।

हमने अभी कहा, अर्थ-शास्त्रका मुख्य भावात्मक-विचार 'सम्पत्ति' है। 'सम्पत्ति' कई तरहकी हो सकती है, आजकलके अर्थ-शास्त्री किसी व्यक्तिकी कार्य-निपुणताको भी 'सम्पत्ति' के अन्दर गिनने लगे हैं, परन्तु अर्थ-शास्त्र अपने विषयका क्षेत्र केवल उस 'सम्पत्ति' को बनाता है जो 'उत्पन्न' की जासकती है, जिसे 'अदल-बदल' सकते हैं, जिसे हम 'बांट' सकते हैं। इन तीनों प्रक्रियाओंको अर्थ-शास्त्रकी परिभाषामें 'उत्पादन' (Production), 'विनिमय' (Exchange) तथा 'वितरण' (Distribution) कहते हैं। अर्थ-शास्त्री यह तो कहता है कि जिस वस्तुकी मांग ज्यादा होगी उसका उत्पादन भी अधिक होगा, जिसका उत्पादन आवश्यकतासे अधिक हो जायगा उसका दाम घट जायगा, परन्तु वह यह जाननेका प्रयत्न नहीं करता कि जिस वस्तुकी मांग ज्यादा हो गई है उससे समाजका भला हो रहा है, या सत्यानाश हो रहा है। अगर अफीमकी मांग बढ़ रही है, तो उसकी पैदावार ज्यादा हो जायगी—अर्थ-शास्त्र तो अपनेको यहींतक सीमित रखता है, परन्तु ज्यादा अफीम खाकर चीनी लोगोंने अपनेको तबाह कर लिया था, अंग्रेजोंने सिर्फ अफीमसे रुपया कमानेकेलिये अपनी आत्माको बेच दिया था, मनुष्य होतेहुए मनुष्यको नरकमें पहुंचा दिया था—ये-सब विश्लेषण करना 'समाज-शास्त्र' का काम है। 'अर्थ-शास्त्र' अपना नियम बताकर अलग होगया, उस नियमको समाजमें घटतेहुए देखकर मानव-समाजकी क्या अवस्था हो जाती है, यह देखना समाज-शास्त्रका काम होगया। हमने एक आदमीसे कहा कि हमारी एक हजार पुस्तकोंकी जिल्द बंधनी है, पचास रुपया सैंकड़ेपर तुमसे बंधवायेंगे, सौ जिल्दें बंधवानेके बाद हमें दूसरा

आदमी चालीस रुपया सैंकड़ेपर जिल्द बांधनेवाला मिल गया। अर्थ-शास्त्रका नियम यह है कि जहां सस्ता काम होगा मनुष्य उधर चला जायगा। हमने पहले आदमीको छोड़कर दूसरेसे जिल्दें बंधवानी शुरू कर दीं—परन्तु हमारी 'बात' कहां गई, हमने पहले को जो ज़बान दी थी उसका क्या हुआ? अर्थ-शास्त्रको इससे कोई मतलब नहीं है कि हमने किसको क्या वचन दिया था। उसकी दृष्टिसे सारा प्रश्न 'मांग' और 'मांगको पूरा करने' (Demand and supply) का है। परन्तु समाज-शास्त्र इस प्रश्नको यहीं नहीं छोड़ सकता। इसमें सन्देह नहीं कि अब हमको सस्ता रेट मिल गया, परन्तु वचन भी तो कुछ होता है। हो सकता है हमें वचन-भंग करनेपर चीज़ सस्ती मिलने लगे, पर वह अन्तमें मंहगी पड़े। एक मजदूरने ऐसी ही बातपर अपने मालिकका सिर उतार लिया था। आर्थिक दृष्टि-कोण मानव-समाजका एक पहलू है, उसी पहलूकेसाथ मिला हुआ, उसीकी बगलमें, परन्तु उससे बिल्कुल अलग, सामाजिक-पहलू खड़ा है।

४. समाज-शास्त्र तथा आचार-शास्त्र

हमने पुस्तकोंकी जिल्द बंधवानी थी। हमने एक जिल्दसाज़से रेट तय करके बात पक्की कर ली, परन्तु बात पक्की करनेके बाद दूसरेसे रेट सस्ता मिलने पर अपने वचनको तोड़ दिया। वचन तोड़ना हमारा एक सामाजिक-व्यवहार है—और इस सामाजिक-व्यवहारका विवेचन समाज-शास्त्र करेगा। परन्तु, वचन तोड़नेमें एक बड़ा भारी सिद्धान्त भी तो उलझा हुआ है। मनुष्यके 'आचार' का माप-दंड क्या होना चाहिये, उचित क्या है, अनुचित क्या है, ठीक क्या है, गलत क्या है —ये सब बातें 'आचार-शास्त्र' (Ethics) के अन्तर्गत हैं। अर्थ-शास्त्रका काम 'साधनों' (Means) का विवेचन करना है—किन साधनोंसे हम अपनी आर्थिक-समस्याओंको हल करें, आचार-शास्त्रका काम 'साधनों की शुद्धि' (Purity of means) का प्रश्न है—जिन साधनोंसे हम अपना उद्देश्य पूर्ण करते हैं वे शुद्ध हैं या अशुद्ध, झूठसे हम अपना उद्देश्य सिद्ध करते हैं या सचसे, बेईमानीसे काम निकालते हैं या ईमानदारीसे? आचार-शास्त्र बतलाता है कि उचित साधनोंसे उद्देश्य-सिद्ध करना ठीक है, अनुचित साधनोंसे नहीं। जहां उद्देश्य शुद्ध हो, वहां साधन भी शुद्ध ही होना चाहिये। कई लोग कहते हैं, उचित-अनुचित कुछ नहीं, सब समझका फेर है, जिसे लोगोंने उचित मान लिया वह उचित, जिसे अनुचित मान लिया वह अनुचित। परन्तु ऐसी बात तो नहीं दीखती। बुड्ढी मांको, जो किसी कामकी नहीं, मार देना कोई उचित नहीं कहता। उसे जानसे मार देना क्यों अनुचित है? वह समाजके किस काम आनेवाली है? नहीं, उचित-अनुचितका भेद सिर्फ मानने-न-माननेपर आश्रित

नहीं है, कई बातें ऐसी जान पड़ती हैं जो अपने-आपमें उचित हैं, और कुछ बातें ऐसी हैं जो अपने-आप में अनुचित हैं। 'आचार-शास्त्र' (Ethics) यही कहता है। आचार-शास्त्रके इस निष्कर्ष को समाज-शास्त्र समाजमें देखनेका प्रयत्न करता है। समाजमें तरह-तरहके रीति-रिवाज-प्रथाएँ-मान्यताएँ हैं। समाज-शास्त्र उनका अध्ययन करता है, और पता लगाता है कि उचित-अनुचितके विषयमें आचार-शास्त्रका विचार कहां तक युक्ति-संगत है, समाजकी प्रगति कहांतक आचार-शास्त्रके मन्तव्यकी पुष्टि करती है ?

५. समाज-शास्त्र तथा मनोविज्ञान

मनोविज्ञान प्राणीकी मानसिक-अवस्थाओंका अध्ययन करता है। राग-द्वेष-ईर्ष्या-प्रतिस्पर्धा आदि मानसिक-अवस्थाएँ हैं। ये मानसिक-अवस्थाएँ वे 'तत्व' (Elements) हैं, जो हैं तो मनोविज्ञानके विषय, परन्तु ये तत्व ही समाज-शास्त्रकी रचना करते हैं। जैसा हम पहले कह आये हैं, प्रत्येक 'विज्ञान' की चार-समस्याएँ होती हैं—'मुख्य-समस्या', (Problem facts), 'घटक-तत्व' (Elemental facts), 'प्रभावक-तत्व' (Conditioning facts) तथा 'परिणाम' (Resultant facts)—मनोविज्ञानका काम समाज-शास्त्र-को 'घटक-तत्व' दे देना है। जैसे रसायन-शास्त्रके घटक-तत्व हाइड्रोजन-ऑक्सीजन आदि हैं, वैसे समाज-शास्त्रके घटक-तत्व प्राणीके राग-द्वेष आदि मानसिक-तत्व हैं। ये मानसिक-तत्व मनोविज्ञानमें तो 'मुख्य-समस्या' होते हैं, क्योंकि मनोविज्ञानने सिर्फ इन्हींका अध्ययन करना होता है, परन्तु समाज-शास्त्रमें ये तत्व 'घटक-तत्व' हो जाते हैं। इन घटक-तत्वों—राग- द्वेषआदि मानसिक-अवस्थाओं-का पारस्परिक सम्बन्ध ही समाजको समाज बनाता है। इसप्रकार जैसे 'मनोविज्ञान' (Psychology) समाज-शास्त्रकेसाथ मिला-जुला है, वैसे 'सामाजिक-मनोविज्ञान' (Social Psychology) का भी समाज-शास्त्रकेसाथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। 'मनोविज्ञान' (Psychology) तो उन मानसिक-अवस्थाओंका अध्ययन करता है, जो 'समाज-शास्त्र' (Sociology) के लिये 'घटक-तत्व' (Elemental facts) का काम करती हैं, 'सामाजिक-मनोविज्ञान (Social Psychology) उस मानसिक-परिस्थिति, मानसिक-वातावरण (Mental environment) का अध्ययन करता है, उस सामाजिक परंपराका अध्ययन करता है जिससे मनुष्य जन्मसे ही घिरा रहता है, और जिससे हर क्षण प्रभावित रहकर ही वह अपना हरतरहका सामाजिक-व्यवहार करता है। जैसे व्यक्ति समग्र-रूपसे काम करता है, हाथ अलग, टांग अलग काम नहीं करती, सब अंग

मिलकर काम करते हैं, वैसे समाज भी समग्र-रूपसे एक होकर काम करता है, समूहके सब व्यक्ति अलग-अलग काम नहीं करते, व्यक्ति की तरह समूहमें भी एक 'सामूहिक मत' (Group mind) है या नहीं—इत्यादि समस्याओंका अध्ययन 'सामाजिक-मनोविज्ञान' (Social Psychology) का काम है। ऊपर हमने जो विवेचन किया उससे स्पष्ट होजाता है कि मनोविज्ञान (Psychology) समाज-शास्त्र के लिये 'घटक-तत्व' (Elemental facts) का काम देता है, और 'सामाजिक-मनोविज्ञान' (Social Psychology) समाज-शास्त्रकेलिये 'प्रभावक-तत्व' (Conditioning facts) का काम देता है।

६. समाज-शास्त्र तथा राजनीति-शास्त्र

जिस दिन मनुष्यका मनुष्यसे संबंध स्थापित हुआ, उसी दिन 'सामाजिकता' उत्पन्न होगई, क्योंकि 'समाज' का अभिप्राय ही यही है—'सामाजिक-संबंध उत्पन्न हो जाना'। परन्तु क्या यह कहा जासकता है कि उसी दिन राज्यकी भावना भी उत्पन्न हो गई? राज्य तो तब उत्पन्न होता है जब पहले समाज मौजूद होता है। यह हो सकता है कि समाज हो, और राज्य न हो। समाज जैसे परिवार, संघ आदिको उत्पन्न करता है, वैसे सुरक्षाकी भावना राज्यको भी उत्पन्न करती है। यह भी हो सकता है कि मानव-समाजमें इतनी उन्नति हो जाय कि कोई किसीके अधिकारको हड़पनेकेलिये आंख उठाकर न देखे, और राज्य नष्ट हो जाय, समाज बना रहे। इन दोनों शास्त्रोंमें यह मौलिक भेद होतेहुए भी यह मानना पड़ेगा कि समाज राज्यको उत्पन्न करता है, और राज्य समाजको बदलता रहता है। राज्यके कानून क्या हैं? सामाजिक कानूनोंसे राज्य ही तो लगातार समाज को बदलता रहता है। आज हिन्दू-कोडके सुधारद्वारा राज्य हिन्दू समाजको बदल रहा है—इससे समाज और राज्य का संबंध स्पष्ट है।

७. समाज-शास्त्र तथा इतिहास

इतिहास भी अन्य 'सामाजिक-विज्ञानों' की तरह एक 'विशेष सामाजिक-विज्ञान' है। इसका काम मानव-समाजकी सदियोंसे चली आरही घटनाओंका श्रेणी-बद्ध उल्लेख करना है। जो मसाला इतिहासने संगृहीत कर दिया उसे लेकर समाज-शास्त्रका काम वर्तमान और भविष्यत्का चित्र खींचना, और समाजको आगामी आनेवाली गलतियोंसे बचाना है। पीछेकी कहानी इतिहास लिखता है, इतिहासकी लिखी कहानीको हाथमें लेकर, आगेका रास्ता समाज-शास्त्र बतलाता है। हम अबतक किस रास्तेसे चले, क्या ठोकरें खायीं, कहां हमारा रास्ता बिल्कुल साफ़ था, कहां ऊबड़-खाबड़ था—ये सब बातें मालूम न हों, तो

कैसे पता चले कि अब किन बातोंसे हमें सावधान रहना है। इस दृष्टिसे इतिहास तथा समाज-शास्त्र एक दूसरेके अत्यन्त निकट हैं। ज्यों-ज्यों समाज-शास्त्रकीतरफ़ विद्वानोंकी दृष्टि पड़ रही है त्यों-त्यों इतिहासके अध्ययनके प्रकारपर भी नया प्रकाश पड़ता जा रहा है। समय था जब कौन राजा किस सन्में गद्दीपर बैठा, किसका पुत्र था, किसका पिता था--यही-कुछ रट लेना इतिहास समझा जाता था, अब इसे कोई इतिहास नहीं कहता। अब इतिहासमें समाज-शास्त्रकी दृष्टि काम कर रही है। तारीखें रटा देनेका काम ही इतिहास नहीं है, इतिहास है घटनाओंका इसप्रकार खोजपूर्ण सिलसिलेवार उल्लेख करना जिससे उस समय ये घटनाएँ क्यों घटीं, क्या ग़लतियां हुईं, इन सब बातोंपर भी प्रकाश पड़े। नये इतिहास इसी दृष्टि-बिन्दुसे लिखे जाने चाहियें। यह दृष्टि समाज-शास्त्रकी दृष्टि है।

८. समाज-शास्त्र तथा प्राणी-शास्त्र

कभी समझा जाता था कि भिन्न-भिन्न योनियां एकदम इस सृष्टिमें पैदा हो गईं—मनुष्य, गाय, बैल—सब योनियां एक साथ प्रकट हुईं। ज्यों-ज्यों प्राणीकी उत्पत्तिपर विचार होनेलगा, यह समझ आनेलगा कि भिन्न-भिन्न योनियोंकी एक-साथ उत्पत्ति नहीं हुई, परन्तु जीवन-तत्व एक है, वही धीरे-धीरे विकसित होकर भिन्न-भिन्न योनियोंका रूप धारण करता गया है। प्राणी-शास्त्र (Biology) के इस विचारको विकास-वाद कहा जाता है, और इसका प्रतिपादन डार्विन तथा एलफ्रेड रसल वालेस ने स्वतंत्र रूपसे एक-साथ किया। परन्तु अगर जीवन-तत्व एक है, तो यह इतनी भिन्नता कहांसे आयी, एकसे अनेक कैसे होगया? इसका उत्तर डार्विनने यह दिया कि परिस्थिति प्राणीमें परिवर्तन लाती जाती है। प्राणीमें अपने भीतर एक शक्ति है, जिसके अनुसार जैसी परिस्थितिमें वह अपनेको पाता है उसका मुकाबिला करनेकी उसमें साधन और शक्ति पैदा हो जाती है। सर्दीमें बाल पैदा होजाते हैं, दौड़ना-ही-दौड़ना पड़े, तो खुर पैदा होजाते हैं। जो इसप्रकार अपनेको परिस्थितिके अनुकूल नहीं बना सकते, वे नष्ट होजाते हैं। इसप्रकार प्रकृति अपना परीक्षण करती-करती उन प्राणियोंका चुनाव करती जाती है जो जीवनके संघर्षमें टिक सकते हैं, बाकीको नष्ट करती जाती है। विकासवादके इस सिद्धान्तको 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural Selection) का सिद्धान्त कहते हैं। इन चुनेहुए प्राणियोंमें प्रकृतिकेसाथ अपनेको अनुकूल बनानेसे जो शक्ति उत्पन्न होजाती है, वह वंश-परंपरासे सन्तान-से-सन्तानमें संक्रान्त होजाती है। पहले जिस शक्तिको प्राप्त करनेकेलिये प्राणीको कशमकश करनी पड़ती थी, वह

शक्ति उसकी सन्तानको विरासतमें मिल जाती है। 'परिस्थिति' प्राणीमें परिवर्तन करती है, वे परिवर्तन 'वंश-परंपरा' द्वारा माता-पितासे संतानमें संक्रान्त होजाते हैं—यह प्रश्न 'वंश-परंपरा तथा परिस्थिति' (Heredity and Environment) का है, और इसमें सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि कौनसे गुण सन्तानमें जाते हैं, कौनसे नहीं जाते ?

इस प्रकरणमें हमें प्राणी-शास्त्रके सिद्धान्तोंकी खोजके अन्दर नहीं जाना, इतना ही बताना है कि प्राणी-शास्त्रके विकास-वादके वे सब सिद्धान्त, जिनका हमने ऊपर वर्णन किया है, समाज-शास्त्रकेलिये अत्यन्त आवश्यक हैं। अगर प्रकृति सबल प्राणियोंका चुनाव करके निर्बलोंको नष्ट कर देती है, तो मनुष्य-समाजमें निर्बल व्यक्तियोंको क्या स्थान है ? अगर निर्बल व्यक्तियोंको कोई स्थान नहीं, तो मनुष्यमें स्वभावसे दया, सहानुभूति आदि कोमल भावनाएँ क्यों निहित हैं ? अगर हमें दया भी करनी है, सहानुभूति भी दिखानी है, तो निर्बल व्यक्तियोंकी संख्या लगातार बढ़ती ही न जाय, निकम्मे-निठल्ले-भीख मांगनेवाले हाथमें भिक्षा-पात्र लेकर दर-दर न फिरने लगें, इसका क्या इलाज है ? इसके अतिरिक्त अगर वंश-परंपरासे कुछ गुण माता-पितासे सन्तानमें जाते हैं, तो कौन-से गुण जाते हैं ? क्या वे ही जाते हैं जिनका असर रुधिरमें पड़ जाता है, जिनका आधार शारीरिक है, या वे भी जाते हैं जो मानसिक होते हैं ? हम पेड़ों, पशुओंकी नस्ल सुधारते हैं— क्या मनुष्यकी नस्लको भी सुधारा जा सकता है ? भारत के प्राचीन आर्योंने मनुष्यकी नस्लका सुधार करनेकेलिये सोलह संस्कार चलाये थे—उनका प्राणी-शास्त्रकी दृष्टिसे क्या महत्व है ? ये सब प्रश्न हैं, जो प्राणि-शास्त्रके खजानेसे लेकर समाज-शास्त्र अपना ताना-बाना बुनने लगता है।

९. समाज-शास्त्र तथा विधान-शास्त्र

विधान-शास्त्र (Jurisprudence) का काम समाजके कानून बनाना है। जो लोग कानून तोड़ते हैं, उन्हें क्या दंड देना चाहिये ताकि समाजमें आपाधापी न मच जाय ? इस शास्त्रका समाज-शास्त्रकेसाथ जो सम्बन्ध है उसीको सम्मुख रखतेहुए समाज-शास्त्रके ग्रन्थोंमें 'सामाजिक-विघटन' (Social disorganisation)—पर विचार किया जाता है। इस पुस्तकमें भी इस विषय पर एक अध्यायमें विचार होगा। एक आदमी भूखा है, वह चोरी कर लेता है। मूलतः, यह प्रश्न उस व्यक्तिका इतना नहीं है जितना उस समाजका है जिसमें एक व्यक्तिको न काम मिलता है, न खानेको मिलता है। समाज-शास्त्र इस प्रश्नको 'बेकारीकी समस्या' (Problem of Unemployment) के रूपमें देखता है। गरीबी, बेकारी, कानून का तोड़ना आदि समस्याएं विधानसे तो

सम्बन्ध रखती ही है, परन्तु साथ ही समाज-शास्त्रसे भी ये उतना ही गहरा सम्बन्ध रखती है। इन सबपर अपने-अपने स्थानपर हम इस पुस्तकमें विचार करेंगे।

१०. सामाजिक दर्शन

'विज्ञान' (Science) तथा 'दर्शन' (Philosophy) में भेद है। 'विज्ञान' का आधार निरीक्षण-परीक्षण (Observation and Experiment) होता है, 'दर्शन'का आधार तर्क तथा कल्पना (Theory) होता है। 'विज्ञान' जो-कुछ दीखता है उसका विवेचन करता है, 'दर्शन' संसारकी भौतिक-सत्ता क्या है, वस्तुका परमार्थ रूप क्या है, जो दीखता है वह नहीं, जो इसका असली रूप है, वह क्या है—इन बातोंका विवेचन करता है।

इस दृष्टिसे अन्य विज्ञानोंकीतरह समाज-शास्त्रके भी दो रूप हैं। एक रूप तो वह है जिस रूपमें यह समाजका, अच्छा हो, बुरा हो, जो रूप निरीक्षण-परीक्षणके अन्दर आजाता है, उसका वर्णन करता है। परन्तु इसका एक दूसरा रूप भी है। वह रूप यह है कि समाज जिस किसी संगठनकी भी रचना करता है, परिवार, बिरादरी, राज्य, समुदाय—इन सबका लक्ष्य क्या है? क्या जो-कुछ है वही ठीक है, या समाजके भीतर एक लक्ष्यको निखारते जाना, मानव-समाजका जिसमें भला हो उस लक्ष्यको उभारते जाना, जिन संस्थाओंसे संसारको लाभ है, उनको बढ़ावा देते जाना—यह हमारा लक्ष्य है? समाज-शास्त्रके दोनों पहलू हैं। एक पहलू तो सिर्फ मनुष्यके सामाजिक-सम्बन्धोंका वर्णन करता है। समाज-शास्त्रका यह रूप एक 'विज्ञान' (Science) है। दूसरा पहलू सिर्फ सम्बन्धोंका ही वर्णन नहीं करता, उसमें उचित-अनुचितको भी देखता है, यह भी बतलाता है कि मानव-समाजका भला किसमें है, बुरा किसमें है। यह 'दर्शन' (Philosophy) है। मनुष्य-समाज सहयोगसे नहीं चलेगा, एटम-बम्ब और हाईड्रोजन-बम्ब बनाता जायगा, तो एक दिन कोई-न-कोई देश इन घातक शस्त्रोंका प्रयोग करके दूसरेको भस्म करनेका प्रबल प्रयत्न जरूर करेगा—इस सारी प्रक्रियाका अध्ययन 'समाज-शास्त्र' (Sociology) 'दर्शन' की हैसियतसे करता है, वह मानव-समाजको चेतावनी देकर कह उठता है कि इस मार्गपर चलनेसे मनुष्य-समाजका भला नहीं है, गाड़ीका कांटा बदलो, असहयोगके स्थानमें सहयोगसे काम लो। इस दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि जैसे अन्य सामाजिक-विज्ञानोंके निष्कर्षोंको समाज-शास्त्र ले लेता है, और लेकर उनका आपसमें संबंध जोड़कर अपने परिणाम निकालता है, वैसे सामाजिक-'विज्ञान' के निष्कर्षोंको समाजिक-'दर्शन' ले लेता है, और उनसे मनुष्य-समाजका हित किसमें है, हानि किस में है—इस प्रकारके निष्कर्ष निकालता है।

समाज-शास्त्रकेसाथ सामाजिक-'दर्शन' न हो, तो क्या हानि है ? हानि यह है कि उस अवस्थामें हम सिर्फ सामाजिक घटनाओं और उनके आपसी सम्बन्धोंका अध्ययन करेंगे। लड़ाई हुई, यह एक सामाजिक घटना है, दास-प्रथा है, यह एक दूसरी सामाजिक घटना है। परन्तु इन घटनाओंसे संसार आगे बढ़ा या पीछे हटा, मनुष्यका भला हुआ या बुरा हुआ, मनुष्य क्या करे जिससे ऐसी दुर्घटनाएँ न घटें—यह 'सामाजिक-दर्शन' का काम है। सामाजिक-'दर्शन' की दृष्टिसे हम न देखें, सिर्फ सामाजिक-'विज्ञान' की ही दृष्टिसे देखें, तो कह सकते हैं, समाजने ही तो युद्धको उत्पन्न किया, समाजने ही दास-प्रथाको जन्म दिया—फिर ये बुरे क्यों ? परन्तु नहीं, सामाजिक-'दर्शन' इन घटनाओंको और आगेतक देखता है—दूरतक, वहांतक जहांतक सिर्फ 'विज्ञान' (Science) नहीं देख सकता, किन्तु 'दर्शन' (Philosophy) देख सकता है।

प्रश्न

१. स्थूल-पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञानोंको किन तीन श्रेणियोंमें बांटा जाता है ?
२. 'विज्ञान' किसे कहते हैं, यह दर्शाकर सिद्ध कीजिये कि 'समाज-शास्त्र' विज्ञान है।
३. समाज-शास्त्रके नियमोंका क्या महत्व है ?
४. 'प्राकृतिक' (Natural) तथा 'सामाजिक' (Social) विज्ञानोंमें क्या भेद है ?
५. 'प्राकृतिक' तथा 'सामाजिक'-विज्ञानोंमें क्या समानता है ?
६. समाज-शास्त्रको 'सामान्य सामाजिक-शास्त्र' (General Social Science) तथा अर्थशास्त्र, राजनीति आदिको 'विशेष सामाजिक-शास्त्र' (Special Social Science) क्यों कहते हैं ?
७. समाज-शास्त्रका अर्थ-शास्त्र, आचार-शास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति-शास्त्र, इतिहास, प्राणी-शास्त्र तथा विधान-शास्त्रसे संबंध दिखाइये।
८. 'विज्ञान' तथा 'दर्शन' में क्या भेद है ? समाज-शास्त्रका 'विज्ञान' की हैसियतसे और 'दर्शन' की हैसियतसे क्या रूप है। 'सामाजिक-विज्ञान' (Social science) तथा 'सामाजिक-दर्शन' (Social philosophy) में क्या भेद है ?

[४]

समाज-शास्त्रके अध्ययनकी पद्धतियां

(METHODS OF STUDY OF SOCIOLOGY)

समाज-शास्त्रमें वैज्ञानिक-पद्धतिके प्रयोगमें कठिनाइयां—

हमने देखा कि 'समाज-शास्त्र' एक विज्ञान है। 'समाज-शास्त्र' का अध्ययन भी वैज्ञानिक-पद्धतियोंद्वारा ही होता है, परन्तु प्राकृतिक-विज्ञानों में जिन पद्धतियोंका प्रयोग होता है उनका समाज-शास्त्रमें प्रयोग कठिन है। इस सम्बन्ध में जो कठिनाई है, वह निम्न है :—

(१) प्राकृतिक-विज्ञानोंकेलिये हम प्रयोग-शालाका निर्माण कर सकते हैं, समाज-शास्त्रकेलिये प्रयोग-शाला नहीं बनायी जासकती। समाज-शास्त्रकी प्रयोग-शाला अगर कोई है तो सारा संसार है, और अगर नहीं है तो कहीं नहीं है।

(२) प्राकृतिक-विज्ञानोंकी घटनाएँ निश्चित होती हैं। आगमें हाथ डालेंगे, तो जल जायगा, पहाड़परसे पत्थर फेंकेंगे, तो नीचे गिरेगा, दिनके बाद रात होगी, रातके बाद दिन होगा। समाज-शास्त्रमें ऐसे निश्चित नियम नहीं होते, इसलिये किसी प्राकृतिक माप-दंडसे उन्हें मापा नहीं जासकता।

(३) सबसे बड़ी बात यह है कि प्राकृतिक-विज्ञानोंके तत्व, उनकी सत्ताएँ जड़ होती हैं, जिनपर, जैसा परीक्षण चाहें करसकते हैं। समाज-शास्त्रकी इकाई मनुष्य है, जो जड़ नहीं, चेतन है। प्राकृतिक-पदार्थोंकी जड़ इकाइयोंमें बाहरके प्रभावसे परिवर्तन होता है, परन्तु समाज-शास्त्रकी चेतन इकाई मनुष्यपर, बाहरके साथ भीतरसे, मनुष्यकी चेतनासे भी प्रभाव पड़ता रहता है, दूसरे मनुष्योंके सम्पर्कसे भी प्रभाव पड़ता रहता है। मनुष्य चाहे तो स्वयं ही अपने विचारको बदल सकता है। इसकारण भी प्राकृतिक-विज्ञानोंको जिस सुगमतासे मापा-तोला जासकता है, मनुष्यसे सम्बन्ध रखनेवाले समाज-शास्त्रको उस सुगमतासे नहीं मापा-तोला जासकता।

(४) समाज-शास्त्र मनुष्योंका शास्त्र है, और उसकी विवेचना भी मनुष्य ही करता है। मनुष्यमें राग-द्वेष तो रहते ही हैं। जब हम किसी प्राकृतिक-विज्ञानका अध्ययन करते हैं, तब राग-द्वेष नहीं होता। पानीका विश्लेपण करके

जब हम ऑक्सीजन और हाईड्रोजन निकालते हैं, तब न प्रेममें होते हैं, न द्वेषमें। बिल्कुल निस्संग तथा निष्काम-वृत्तिसे, तटस्थतासे यह अध्ययन होता है, परन्तु जब हम रूसके कम्यूनिज़मका अध्ययन करने लगते हैं, तब अगर हम भी कम्यूनिस्ट हैं, तो यही सोचकर करते हैं कि यह सर्वोत्तम राज्य-व्यवस्था है, और अगर नहीं हैं, तो इसकी आलोचना साथ-साथ करते जाते हैं। इसलिये समाज-शास्त्रीकेलिये आवश्यक है कि ऐसी पद्धतिसे अपने विषयका अध्ययन करे जिससे ज्यादा-से-ज्यादा तटस्थ-भावनासे काम लेसके। फिर भी अपने विचारोंको मनुष्य कहांतक छोड़ सकता है, और इसलिये समाज-शास्त्रमें बिल्कुल शुद्ध वैज्ञानिक विवेचन करसकना कठिन होजाता है।

इन-सब कठिनाइयोंके बावजूद समाज-शास्त्रका वैज्ञानिक अध्ययन संभव है, और किया जारहा है। आजकल इस शास्त्रके अध्ययनमें जो वैज्ञानिक-पद्धतियां प्रयोगमें लायी जारही हैं हम उनका संक्षिप्त परिचय यहां देंगे।

समाज-शास्त्रके अध्ययनकी पद्धतिकी आधार-भूत समस्या—

हम इस पुस्तकमें जगह-जगह लिख आये हैं कि समाज-शास्त्रका काम मानव-समाजके पारस्परिक-संबंधोंका अध्ययन करना है। 'मानव-समाजके पारस्परिक-सम्बन्धका अध्ययन'—इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि मनुष्य-समाजमें एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यकेसाथ, एक समाजका दूसरे समाजकेसाथ, एक संस्थाका दूसरी संस्थाकेसाथ, एक परिवारका दूसरे परिवारकेसाथ, या समाजका परिवारकेसाथ जो संबंध है, उसमें कोई नियम काम कर रहा होता है। समाज-शास्त्रका काम इस नियमका पता लगाना है। समाज-शास्त्रके अध्ययनकी वही पद्धति होगी जिसके प्रयोगसे हम इन नियमोंका पता लगा सकेंगे। निम्न उदाहरणोंसे स्पष्ट होजायगा कि मनुष्य-समाजमें जो संबंध हैं, उनमें कोई 'पारस्परिक-संबंधका नियम' (Law of Interrelation or Correlation) होता है।

(१) किसी देशमें केन्द्रीय सरकारका संबंध उस देशकी आम जनताकी शिक्षाकेसाथ जुड़ा होता है। जनता जितनी ज्यादा शिक्षित होगी उतनी केन्द्रीय सरकारकी स्थिरताकी संभावना ज्यादा रहेगी।

(२) विशेष-विशेष सामाजिक-वर्गों (Social classes) का विशेष-विशेष राजनैतिक-संस्थाओं (Political institutions) के साथ कुछ सम्बन्ध होता है। भारतमें ब्राम्हण-वर्गके लोग मुख्य-मन्त्री अधिक संख्यामें हैं—यह एकप्रकारका संबंध दीख पड़ता है जिसकी समाज-शास्त्री पड़ताल करसकता है।

(३) खास-खास धार्मिक विचार या धार्मिक रीतियोंका खास-खास बुद्धि-स्तरके लोगोंकेसाथ खास-खास सम्बन्ध है। जितना बुद्धि-स्तर नीचा होगा

उतना देवी-देवताओंकी, भूत-प्रेतकी भावना प्रबल होगी, जितना बुद्धि-स्तर ऊंचा होता जायगा उतनी यह भावना कम होती जायगी।

(४) एक ही समयमें एक जातिकी जो सामाजिक अवस्था होगी उसका प्रतिबिम्ब दूसरी जातिकी सामाजिक अवस्थापर भी पड़ेगा—एक जातिकी सामाजिक अवस्थाका दूसरी जातिकी तत्कालीन सामाजिक अवस्थाकेसाथ संबंध होता है। अंग्रेजोंको नकटाई लगाते देखकर भारतीय भी इसे लगाने लगे।

(५) विश्वके सब देशोंकी एक-दूसरेपर निर्भरता बढ़ती जारही है।

(६) संसारमें भिन्न-भिन्न प्रकारके आर्थिक ढांचे, आर्थिक संगठन (Economic structures) हैं। इनका सामाजिक ढांचों, सामाजिक संगठनों (Social structures) के साथ कोई-न-कोई सम्बन्ध है। आर्थिक ढांचेका परिवारकेसाथ, लोक-तंत्र, प्रजा-तंत्र, समाजवादी, कम्यूनिस्ट आदि भिन्न-भिन्न प्रकारकी सरकारोंकेसाथ, सम्पत्तिकी समस्या, युद्ध, श्रेणी-वर्ग आदि सब सामाजिक संगठनोंकेसाथ भिन्न-भिन्न संबंध है।

(७) समाजके वर्गोंकी रचना (Class structure) का संबंध आर्थिक-रचना (Economic structure) के साथ है। कभी एक वर्ग ऐसा था जिससे बेगार ली जाती थी, तब समाजकी आर्थिक-रचना जैसी थी वैसी तब नहीं रह सकती जब बेगार करनेवाला वर्ग समाजमें कोई न हो।

(८) परिवारके स्वरूपका आर्थिक-व्यवस्थाकेसाथ संबंध है। जहां संयुक्त-परिवार-प्रथा है वहां जो आर्थिक-व्यवस्था होती है वह विभक्त-परिवार प्रथासे भिन्न होती है, जहां सब भाइयोंमें एक ही भाई शादी करता है वहां आर्थिक-व्यवस्था उस परिवारसे भिन्न होती है जहां सब भाई अलग-अलग शादी करते हैं। इन दोनोंप्रकारके परिवारोंमें धार्मिक तथा सदाचारके विचारोंमें भी अन्तर होता है। एकप्रकारके परिवारमें दूसरे भाईकी स्त्रीकेसाथ संबंध पाप है, दूसरे प्रकारके परिवारमें इसप्रकारके सम्बन्धकी खुली छूट है।

(९) आर्थिक कारणोंका संगठित युद्धोंकेसाथ संबंध है। कोई देश जब आर्थिक दृष्टिसे तंग आजाता है तब युद्धपर आमादा होजाता है, जो देश सबतरहसे समृद्ध हैं उनके दिमागमें युद्धका विचार कम आता है।

(१०) लड़ाईमें कोई देश युद्ध-बन्दियोंको दास बनाकर रखेगा, कोई उनका वध करदेगा, कोई उन्हें मुक्त कर देगा, या अपने देशमें बसनेकी छूट दे देगा—इन सब बातोंका आर्थिक कारणोंकेसाथ संबंध है।

(११) किसी देशकी आर्थिक-व्यवस्थाकेसाथ इस बातका संबंध है कि देशमें उच्च-वर्गके लोगोंकी श्रेणी पैदा होती है या मध्य-वर्गके लोगोंकी श्रेणी,

देशमें सर्व-व्यापी दास-प्रथा प्रचलित होती है, या मजदूर श्रेणीके लोग बढ़ते जाते हैं।

(१२) जनताकी जागृतिकेसाथ-साथ शासन-व्यवस्थामें परिवर्तनका संबंध है। जनतामें जागृति हो और तदनुकूल शासनमें परिवर्तन न हो, तो इसकेसाथ देशमें क्रान्ति होजानेका सम्बन्ध है।

(१३) औद्योगिक संगठनका समाजकी सुव्यवस्था या अव्यवस्थाकेसाथ संबंध है।

(१४) उद्योगीकरण (Industrialization) तथा पूंजीवाद (Capitalism) का कुछ-न-कुछ पारस्परिक सम्बन्ध है।

(१५) जितना 'शहरी-करण' (Urbanisation) बढ़ेगा उतना 'परिवार' का संगठन शिथिल होगा—इन दोनोंका कुछ-ऐसा-सा संबंध दीखता है।

(१६) 'श्रेणी-विभाजन' (Class differentiation) और 'युद्ध' का परस्पर सम्बन्ध मालूम पड़ता है।

(१७) वीवर (Weber) ने यह स्थापना की थी कि किसी समुदाय (Community) के सदाचार-सम्बन्धी क्रियात्मक विचारों तथा उसके आर्थिक संगठनका एक-दूसरेकेसाथ संबंध होता है।

(१८) टायलर (Tyler) ने प्रारंभिक जातियोंके अध्ययनके बाद यह स्थापना की थी कि जिन जातियोंमें घर-जँवाई रखनेकी प्रथा है उनमें सासके अपने जँवाईसे कुछ अलग-से रहनेकी भी प्रथा है। इन दोनों प्रथाओंका आपसी कुछ संबंध है।

हमने ऊपर जो दृष्टांत दिये उनका उद्देश्य यह दर्शाना है कि समाज-शास्त्रका काम इसीप्रकारके 'पारस्परिक-संबंधों' (Correlations) को खोजना है।

हम 'पद्धति' या 'विधि' (Method) से क्या जानना चाहते हैं—

हमने इतने दृष्टांत इसलिये दिये, जिससे यह बिल्कुल स्पष्ट होजाय कि मनुष्य-समाजमें जो संबंध पाये जाते हैं, जिन संबंधोंका अध्ययन करना समाज-शास्त्रका काम है, वे निरे संबंध ही नहीं, एक खास प्रकारके संबंध होते हैं, उन संबंधोंमें कुछ नियम, कुछ एक-दूसरेपर निर्भरता, आश्रयता, या कुछ एक प्रकारका अनुपात-सा पाया जाता है। कुछ ऐसा मालूम पड़ता है कि यह होगा तो यह भी होगा, यह नहीं होगा तो यह भी नहीं होगा। समाज-शास्त्रके अध्ययनकी विधिमें, पद्धतिमें ऐसा-कुछ होना चाहिये जिससे कौन-सा संबंध कहांतक दूसरेसे बंधा हुआ है, किस अंशतक दूसरेपर निर्भर है, किस अनुपातमें निर्भर है—इन सब बातों

का उस विधिसे पता चल जाय। ऊपरके दृष्टांतोंमें जो बातें हम जानना चाहते हैं वे संक्षेपमें निम्न हैं :—

(१) इन दृष्टान्तोंमेंसे हर दृष्टान्तमें जिन दो बातोंका संबंध दर्शाया गया है वह 'पारस्परिक-संबंध' (Correlation) कहाता है। हम जिस विधिका प्रयोग करें उससे यह पता चल जाना चाहिये कि यह 'पारस्परिक-संबंध' (Correlation) किस 'रूप' (Form)का है। अगर अशिक्षाकेसाथ राज-प्रथा का संबंध है, तो राज-प्रथाका रूप जन-सत्तावाद नहीं होसकता, अशिक्षितोंमें या तो राजा राज कर सकता है, या उनमें एकसत्तावाद चल सकता है।

(२) किस-'रूप'के जाननेकेसाथ-साथ हम यह भी जानना चाहेंगे कि इस सम्बन्धमें जो अदला-बदली है, कमी-ज्यादती है, परिवर्तन है, उसकी क्या 'मात्रा' (Degree) है। एक शब्दमें, हम यह जानना चाहेंगे कि हमने सब-कुछ अध्ययन करनेकेबाद 'संबंधों' (Correlations) का जो 'रूप' निर्धारित किया, उसमें किस-किस मात्रामें परिवर्तन पाया जाता है—'परिवर्तनकी सीमा' (Extent or limit of variation) क्या है? अशिक्षाकेसाथ एकसत्तावाद चल सकता है, परन्तु अशिक्षित जनता किस मात्रातक एकसत्ताको बर्दाश्त कर सकती है, और किस सीमापर आकर वह भी बौखला उठती है?

(३) हम यह भी जानना चाहेंगे कि कौन-से संबंध एक-साथ रह सकते हैं—कौन-से संबंधोंका साथ बनता है, कौन-सों का साथ नहीं बनता। उदाहरणार्थ, गिडोयेकी देशभक्ति का कुछ अर्थ नहीं है—इन दोनोंमें कोई 'सहचारिता' (Compatibility) नहीं है। 'सामाजिक-सम्बन्धों' के विषयमें हम यह जानना चाहेंगे कि वे संबंध 'सहचारी' (Compatible) हैं, या 'असहचारी' (Incompatible) हैं, एकसाथ रहसकते हैं, या एकसाथ नहीं रहसकते।

(४) हम इन विधियोंसे यह भी जानना चाहेंगे कि जिन सामाजिक-सम्बन्धोंका हम अध्ययन कर रहे हैं, जिन सामाजिक-परिवर्तनोंका विवेचन कर रहे हैं, उनमें किस अंशतक नियम-बद्धता, सुशृङ्खलता (Order) है?

(५) हमें यह भी जानना है कि जिन दो संबंधोंका हम अध्ययन कर रहे हैं, उनमेंसे एकमें परिवर्तन होनेपर क्या दूसरेमें भी परिवर्तन आजाता है? उदाहरणार्थ, अगर हम यह कहते हैं कि आर्थिक-व्यवस्थाका सामाजिक-व्यवस्थासे संबंध है, तो वह संबंध तभी माना जासकता है अगर आर्थिक-व्यवस्थामें परिवर्तन कर दिया जाय, तो सामाजिक-व्यवस्थामें अपने-आप परिवर्तन आजाय, नहीं तो इनका सम्बन्ध ही क्या?

(६) इन संबंधोंमें यह जानना भी आवश्यक है कि कौन-सा संबंध कारण है, कौन-सा कार्य है ? अगर इनका आपसका कारण-कार्य (Cause and effect) का संबंध नहीं है, तो क्या सिर्फ यही संबंध है कि ये दोनों एक-साथ रहते हैं ? यह हो सकता है कि दो इसप्रकारके संबंध हों, जो एक-दूसरेके न कार्य हों, न कारण हों, परन्तु फिर भी दोनों सम्बन्ध समाजमें साथ-साथ दीख पड़ते हों। जिस विधिका हम समाज-शास्त्रमें प्रयोग करें उससे यह बात भी स्पष्ट होजानी चाहिये।

(७) समाजमें जो भिन्न-भिन्न परिवर्तन होरहे हैं उनमें एक परिवर्तनके अन्तर्गत कहांतक दूसरे परिवर्तन स्वयं आजाते हैं। क्रांतिसे अगर किसी देशका मुख्य-मन्त्री बदला गया, तो विदेशोंमें उसके निश्चित कियेहुए राजदूत स्वयं त्याग-पत्र दे देते हैं। क्यों दे देते हैं ? क्योंकि मुख्य-मन्त्री क्रांतिसे बदला गया है। क्रांतिका अभिप्राय है, जो विचार-धारा मुख्य-मंत्रीकी थी, उससे बिल्कुल विपरीत विचारोंके लोगोंने राज्य-सत्ताको छीन लिया। मुख्य-मंत्रीने उन्हीं लोगोंको विदेशोंमें राजदूत बनाकर भेजा होगा जो उसीकी विचार-धाराके होंगे। इसलिये जब क्रांतिद्वारा राज बदलता है, तो अन्य परिवर्तन उसके अन्तर्गत आवश्यक होजाते हैं। हमारी विधिसे यह स्पष्ट होना चाहिये कि यह सामाजिक-परिवर्तन कैसा है ? साधारण है, या असाधारण—ऐसा असाधारण कि इसका असर चतुर्दिक् है, सर्व-व्यापी है ?

संक्षेप में, हम अपनी विधिसे यह जानना चाहेंगे कि इन संबंधोंका आपसका क्या रिश्ता है, कार्य-कारणका रिश्ता है, एक-दूसरेकेसाथ रहने भर का रिश्ता है, हल्का-सा रिश्ता है, गहरा रिश्ता है, एकका दूसरेपर क्या असर पड़ता है, जंगली जातियोंमें इन रिश्तोंका एक-दूसरेपर क्या असर था, आजकी सभ्य जातियोंमें इनका क्या असर है ? अब हम उन पद्धतियोंका, विधियों (Methods) का वर्णन करेंगे जिनके द्वारा समाज-शास्त्र उन गहन प्रश्नोंको हल करनेका प्रयत्न करता है जिनका वर्णन हमने अभी किया।

१. प्रतिकूल निगमन-पद्धति
(INVERSE DEDUCTIVE METHOD)

संसारमें वस्तुएँ बिखरी पड़ी हैं, और एक-एक वस्तुका हम ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो सारी उम्र बीत जाय, और हम वस्तुओंको गिनते ही रहें। परन्तु हम ऐसा नहीं करते। संसारमें जितनी भी वस्तुएँ हैं इनका आपसका कुछ सम्बन्ध-सा है, उस संबंधके अनुसार हम उन्हें एक-एक श्रेणीमें बांट लेते हैं। जो वस्तुएँ एकतरहकी

हैं वे एकतरफ, जो दूसरी तरहकी हैं वे दूसरी तरफ, जो तीसरी तरहकी हैं वे तीसरी तरफ—इत्यादि। इसप्रकारका वर्गीकरण करते-करते हमें ऐसा लगने लगता है कि एकतरहकी वस्तुओंमें भी कुछ आपसी सम्बन्ध है—कुछ कार्य हैं, कुछ कारण हैं। वस्तुओंका अलग-अलग श्रेणियोंमें 'वर्गीकरण' (Classification) करनेके बाद हम हर श्रेणीमें एक 'नियम' (Law) ढूंढ़ना शुरू करते हैं—एक ही श्रेणीमें कौन-सी बात है, जो सबमें समान पायी जाती है? इस प्रक्रियासे हमें हर वस्तुका अलग-अलग ज्ञान प्राप्त करनेकी जरूरत नहीं रहती, ज्ञान प्राप्त करनेका गुर हमारे हाथ आजाता है।

'आगमन-पद्धति' (Inductive method)—

एक ही तरहकी भिन्न-भिन्न वस्तुओंको देखकर हम किसप्रकार किसी नियम-पर पहुँचते हैं? हम देखते हैं, राम मर गया, लक्ष्मण मर गया, राम-लक्ष्मणके जितने भाई थे सब मर गये। ये सब—राम, लक्ष्मण, उनके भाई—मनुष्य थे। राम भी मनुष्य था, और मर गया, लक्ष्मण भी मनुष्य था, और मर गया, उनके भाई भी मनुष्य थे, और मर गये। यह सब हमें 'निरीक्षण और परीक्षण' (Observation and Experiment)से मालूम हुआ। अब हम इस 'निरीक्षण' और 'परीक्षण' के आधारपर मनुष्यमात्रके संबंधमें एक 'नियम' पर पहुँच जाते हैं। वह नियम है—'मनुष्य मरण-धर्मा है'। अब हम जिस-जिस मनुष्यको देखेंगे, उसपर यह 'निरीक्षण' और 'परीक्षण' करने नहीं बैठ जायेंगे कि यह मनुष्य भी मरेगा या नहीं। मनुष्यको देखते ही हम कह देंगे कि जैसे और मर गये वैसे यह भी किसी समय मर जायगा। संसारका अनुभव ऐसा ही कहता है। इसप्रकार 'निरी-क्षण'के आधारपर जब हम किसी सचाईपर पहुँचते हैं, तब इस प्रक्रियाको 'तर्क-शास्त्र' (Logic) में 'आगमन-पद्धति' (Inductive method) कहा जाता है। 'आगमन' इसलिये कि इस नियमका अनेक निरीक्षणों और परीक्षणों, अनेक दृष्टान्तोंको देखकर 'आगमन' (Induction), अर्थात् 'आना' हुआ। प्रत्येक विज्ञानमें जो 'नियम' (Laws) काम कर रहे हैं उन नियमोंको हम इसीप्रकार पता लगाते हैं—विज्ञानके इन नियमोंको 'आगमन' (Inductions) कहा जाता है।

'आगमन-पद्धति' से जिन 'नियमों' का हम पता लगाते हैं, वे दो तरहके हो सकते हैं। एक तो वे 'नियम' जो 'नियम' (Laws) घोषित किये जासकते हैं, जिनमें कोई अपवाद नहीं देखा गया। दूसरे वे 'नियम' जो अभी 'नियम' घोषित नहीं किये जासकते, जो 'नियम' बननेके रास्तेमें हैं, अभी पूरीतरहसे नियम नहीं बने, जो अभी 'निरीक्षण'–'परीक्षण' की प्रक्रियामेंसे गुज़र रहे हैं। ऐसे नियमोंको 'परीक्षणा-

त्मक-नियम' (Empirical generalisations) कहते हैं। इन्हें 'परीक्षणात्मक' इसलिये कहते हैं क्योंकि यह तो ठीक है कि इन नियमोंका अभीतक अपवाद नहीं मिला, परन्तु क्या मालूम अभी अगले ही दृष्टान्तमें यह नियम टूट जाय, और इसका अपवाद मिल जाय।

'निगमन-पद्धति' (Deductive method)—

'नियमों' (Laws—Inductions) तथा 'परीक्षणात्मक-नियमों' (Empirical laws–Empirical generalisations–Empirical Inductions) पर सब विज्ञानोंका ढांचा खड़ा है। जो 'नियम' (Laws) घोषित किये जा चुके हैं, उन 'नियमों' (Inductions) को आधार बनाकर, 'भौतिक-विज्ञानों' (Physical Sciences), अर्थात् भौतिक-शास्त्र, गणित-शास्त्र, यंत्र-विद्या, ज्योतिष आदि का ढांचा खड़ा किया जाता है। इन भौतिक-विज्ञानोंके जो अगले बड़े-बड़े और छोटे-छोटे परिणाम निकाले जाते हैं, वे इन्हीं प्रारंभिक-'नियमों' (Inductions) के आधारपर ही होते हैं जिनका 'निरीक्षण-परीक्षण' द्वारा पहले हमने पता लगाया हुआ है। तीर आस्मानमें छोड़ा जायगा, तो वह गोलाई लियेहुए उतरेगा, सीधा नहीं गिरेगा—ऐसा हम कहते हैं। ऐसा क्यों कहते हैं? इसका कारण यही है कि 'गुरुत्वाकर्षण' (Gravitation) के कारण वह गिरता है, वायुकी 'प्रतिरोध-शक्ति' (Resistance of air) उसे गिरने नहीं देती, परन्तु यह रोक बहुत जबर्दस्त नहीं है, इसलिये वायुका दबाव जहां-जहां कम होता जाता है उस रास्तेसे तीर उतरता जाता है—यह टेढ़ा रास्ता ही उसका उतरनेका गोलाई का रास्ता है। इस दृष्टान्तमें पृथ्वीकी 'गुरुत्व-शक्ति' (Gravitation), वायुकी 'प्रतिरोध-शक्ति' (Resistance) आदि 'नियमों' (Inductions) का हम पहले दूसरे दृष्टान्तोंसे 'आगमन-विधि' (Inductive method) द्वारा पता लगा चुके हैं, इसलिये वर्तमान दृष्टांतमें हम इस 'नियम' पर पहुंचते हैं कि आस्मानमें फेंका तीर गोलाईसे उतरेगा। यह तो हमने परिणाम निकाल लिया कि अगर वायुमें तीर फेंका जायगा, तो पृथ्वीकी गुरुत्व-शक्ति और वायुकी प्रतिरोध-शक्तिके कारण गोलाईके रास्तेसे उतरेगा, परन्तु हमारा यह परिणाम ठीक है, या गलत—इसकी क्या कसौटी है? इसकी कसौटी यह है कि या हम तीर फेंककर देख लें, या तीर न हो, तो पत्थर फेंककर ही देख लें। अगर तीर या पत्थर आस्मानमें फेंकनेपर वह गोलाईके रास्तेसे उतरे तब हम समझेंगे कि हमने जो नतीजा निकाला था वह ठीक था, इसलिये ठीक था क्योंकि हमने उसे 'परीक्षण' से मिलाकर देख लिया।

नतीजेपर पहुँचनेके जिस तरीकेका हमने अभी वर्णन किया वह तरीका पहले तरीकेसे भिन्न है। पहले तरीकेको हमने 'आगमन-विधि' (Inductive method) कहा था, यह तरीका 'निगमन-विधि' (Deductive method) कहाता है। 'आगमन-विधि' में हमने वहुतसे दृष्टांत इकट्ठे कर लिये थे—राम भी मरा, लक्ष्मण भी मरा, उनके भाई भी मरे। इन दृष्टांतोंसे हमारे इस 'नियम' (Induction) का 'आगमन' हुआ कि 'सव मनुष्य मरते हैं'। हमने अभी जिस तरीकेका वर्णन किया है उसमें और पहले तरीकेमें भेद यह है कि पहले तरीकेमें तो हमने पहले वहुतसे दृष्टांत देखे थे, तव नियम निकाला था, इस दूसरे तरीकेमें हम वहुतसे दृष्टांतोंको लेकर नहीं चले। हम तो उन नियमोंको लेकर चले हैं जो उसीप्रकारके दृष्टांतोंसे कभीके निकल चुके हैं। यह ठीक है कि जव गुरुत्व-शक्ति का नियम पहले-पहल निकला था, तव 'आगमन-विधि' (Inductive method) से ही निकला था, परन्तु जव हम तीर किस रास्तेसे उतरेगा यह सोच रहे हैं, तव यह 'नियम' मानकर चल रहे हैं कि पृथ्वीमें 'गुरुत्व-शक्ति' है, और वायु में 'प्रतिरोध-शक्ति' है। तव हम इन नियमोंका, जिनका हमें पहले-से ज्ञान हो चुका है, किन्हीं दृष्टान्तोंसे 'आगमन' (Induction) नहीं करते, परन्तु किन्हीं दृष्टान्तोंपर 'निगमन' (Deduction) करते हैं, उन दृष्टान्तोंपर इन नियमोंको घटाते हैं। वर्तमान दृष्टांतमें, हमने पृथ्वीकी 'गुरुत्व-शक्ति' और वायुकी 'प्रतिरोध-शक्ति' को जानतेहुए तीर के संवंधमें विचार किया, और एक काल्पनिक परिणाम निकाला कि अगर तीर आस्मानमें फेंका जायगा, तो इसे गोलाईमें गिरना चाहिये, और इस परिणामको तीर या पत्थर फेंककर तजर्वा करके भी देख लिया कि वास्तवमें ऐसा होता है या नहीं? इस विवरणसे यह स्पष्ट है कि 'निगमन-पद्धति' (Deductive method), 'आगमन-पद्धति' (Inductive method) से भिन्न है। एकतरहसे उससे उल्टी है। 'आगमन' (Inductive) में हम दृष्टान्तोंसे 'नियम' (Law) पर पहुँचते हैं, 'निगमन' (Deductive) में हम पहलेसे 'आगमन' द्वारा जानेहुए नियमोंको लेकर चलते हैं, और यह देखनेकेलिये कि हमारा परिणाम ठीक है या नहीं, उसे दृष्टान्तोंपर घटाते हैं। 'आगमन' (Inductive) में 'दृष्टान्त' पहले हैं, 'नियम' पीछे ; 'निगमन' (Deductive) में 'नियम' पहले हैं, 'दृष्टान्त' पीछे। 'आगमन' (Inductive) दृष्टान्तोंसे नियम निकालकर विज्ञानको दे देता है, और 'निगमन' (Deductive) उन नियमोंको लेकर अपने भिन्न-भिन्न परिणाम निकालता रहता है, और वे परिणाम ठीक हैं या नहीं इस वातको परखनेके लिये उन्हें दृष्टान्तोंकेसाथ घटाकर देख लेता है। इस 'निगमन-पद्धति' (Deductive method) का प्रयोग 'भौतिक-विज्ञानों' (Physical

Sciences) के लिये किया जाता है, अतः इसे 'भौतिक-पद्धति' (Physical method) भी कहा जाता है। अब हम देखेंगे कि समाज-शास्त्रमें कौन-सी पद्धति काम करती है।

'निगमन-पद्धति' (Deductive Method) के दो भेद—

'निगमन-पद्धति' (Deductive method) के दो भेद हैं। एक तो 'अनुकूल निगमन-पद्धति' (Direct Deductive method), दूसरी 'प्रतिकूल निगमन-पद्धति' (Inverse Deductive Method)। जिस 'निगमन-विधि' Deductive method) का हमने अभी उल्लेख किया है, वह 'अनुकूल निगमन-विधि' (Direct Deductive Method) है। यह 'भौतिक-विज्ञानों' (Physical Sciences) में वर्ती जाती है। दूसरी 'प्रतिकूल निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) है, जो 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) में वर्ती जाती है। इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र—इन सब विज्ञानोंमें 'प्रतिकूल निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) वर्ती जाती है। 'समाज-शास्त्र'में भी इसी 'प्रतिकूल निगमन-विधि' का प्रयोग होता है। अब हमने यह देखना है कि यह 'प्रतिकूल निगमन-विधि' क्या है?

'प्रतिकूल निगमन-पद्धति' (Inverse Deductive Method) क्या है?—

हमने कहा था कि 'आगमन' (Inductive) तथा 'निगमन' (Deductive) में यह भेद है कि 'आगमन' (Inductive) दृष्टान्तोंसे नियम निकालता है, और 'निगमन' (Deductive) नियमोंसे शुरू करके उन्हें दृष्टान्तोंपर घटाकर देखता है। परन्तु 'नियम' भी तो दो तरहके होते हैं—एक तो वे नियम (Laws) जो 'निरीक्षण' तथा 'परीक्षण' से 'नियम' घोषित किये जाचुके हैं, दूसरे वे 'नियम' जो अभी परखे जारहे हैं, जिनपर 'निरीक्षण' तथा 'परीक्षण' हो रहा है—जिन्हें 'नियम' न कहकर हमने 'परीक्षणात्मक-नियम' (Empirical generalisation) कहा था।

'आगमन-विधि' (Inductive method) दृष्टान्तोंको देखकर निरीक्षण-परीक्षण द्वारा 'नियमों' तथा 'परीक्षणात्मक'-नियमोंका पता लगाती है। 'अनुकूल निगमन-विधि' (Direct Deductive Method) का आधार ये ही 'नियम' (Laws) होते हैं। 'प्रतिकूल निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) का आधार 'परीक्षणात्मक-नियम' (Empirical generalisations) होते हैं। समाज-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, इतिहास आदि 'सामाजिक-विज्ञानों' (Social Sciences) में हम 'भौतिक-शास्त्र' (Physical Sciences) की तरहके

किन्हीं निश्चित 'नियमों' (Laws) को आधार बनाकर नहीं चल सकते, क्योंकि 'सामाजिक-विज्ञानों' में 'मनुष्य' एक ऐसा तत्व है, जो स्वतंत्र-कर्ता होनेके कारण उसप्रकारकी निश्चितता नहीं उत्पन्न होने देता जैसी भौतिक-विज्ञानोंमें होसकती है। इसीलिये सामाजिक-विज्ञानोंका आधार जो नियम हैं, वे 'परीक्षणात्मक-नियम' (Empirical generalisations) ही होसकते हैं, 'निश्चित-नियम' (Definite laws) नहीं होसकते।

इन 'परीक्षणात्मक-नियमों' (Empirical generalisations) के आधारपर हम कुछ परिणाम निकालते हैं। जैसे हमने भौतिक-विज्ञानमें 'नियम' के आधारपर, अर्थात् पृथ्वीकी 'गुरुत्व-शक्ति' और वायुकी 'प्रतिरोध-शक्ति' के आधारपर, यह परिणाम निकाला था कि आस्मानमें फेंकाहुआ तीर गोल रास्तेसे गिरेगा, इसीप्रकार हम सामाजिक-विज्ञानमें 'परीक्षणात्मक-नियम' के आधारपर, इस 'परीक्षणात्मक-नियम' के आधारपर कि 'जहां राजा अत्याचार करता है वहां क्रांति होजाती है', यह परिणाम निकालते हैं कि अमुक देशमें अत्याचार होरहा है अतः वहां क्रांति होजायगी। इस अंशतक 'अनुकूल निगमन-विधि' (Direct Deductive Method) और 'प्रतिकूल निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) में यह समानता है कि दोनों कुछ मानेहुए नियमोंसे चले हैं, ऐसे नियमों-से जिन्हें ये इस समय सिद्ध करने नहीं बैठे, परन्तु जो नियम सिद्ध होचुके हैं, जिन नियमोंको ये मानकर चले हैं। भेद इतना है कि इनमेंसे 'भौतिक-विज्ञान' का आधार 'अनुकूल-निगमन' (Direct deduction) ऐसे नियमोंसे चला है जो 'निश्चित-नियम' (Definite laws) हैं, 'सामाजिक-विज्ञान' का आधार 'प्रतिकूल-निगमन' (Inverse deduction) ऐसे नियमोंसे चला है जो 'निश्चित' न होकर 'परीक्षणात्मक-नियम' (Empirical generalisations) हैं।

इससे अगले कदममें ये दोनों विधियां एक-दूसरेसे उलट जाती हैं। 'अनुकूल निगमन-विधि' (Direct Deductive Method) तो जो परिणाम निकालती है, उसे दृष्टान्तपर घटाकर अपने परिणामकी सत्यता सिद्ध कर लेती है। तीर गोल रास्तेसे उतरेगा, पत्थर फेंककर देख लो—हाथ कंगनको आरसी क्या? 'भौतिक-विज्ञान' में, जहां निश्चित-नियमोंको हम आधार बनाते हैं, ऐसा किया जासकता है, परन्तु 'सामाजिक-विज्ञान' में तो हमारे आधार-भूत नियम ही अभी पूरे नियम कहलाने के दर्जेपर नहीं हैं, फिर उन परीक्षणात्मक-नियमोंसे निकले परिणामोंको किसप्रकार परखा जाय ? कैसे हम समझें कि इन कच्चे नियमोंसे जो परिणाम हम निकाल रहे हैं वे ठीक हैं ? इन परिणामोंको इन-जैसे दृष्टान्तोंके-

साथ मिलाकर तो देखा नहीं जासकता कि ये ठीक हैं या नहीं, क्योंकि जब ये परिणाम स्वयं अधकचरे नियमोंपर आश्रित हैं, तब इस कोटिके जितने भी दृष्टान्त मिलेंगे सभी अधकचरे नियमोंपर ही आश्रित होंगे। हां, यह होसकता है कि इन परिणामोंकी तुलना उन परिणामोंसे की जाय, जो इनसे ऊंचे, इनसे महान्, इनसे अधिक व्यापक हैं, जिनको मनुष्यका स्वभाव कहता है कि हां, ये ठीक हैं। अगर उन व्यापक परिणामोंसे 'सामाजिक-विज्ञानों' के परिणाम मेल खाते हैं, तो इन्हें ठीक समझा जायगा, नहीं मेल खाते, तो इन्हें गलत समझा जायगा। उदाहरणार्थ, हमने समाज-शास्त्रमें यह परिणाम निकाला कि रूसमें क्रान्ति इसलिये हुई क्योंकि जारका अत्याचार सीमाका उल्लंघन कर गया। परन्तु इस परिणामकी सत्यताको परखा कैसे जाय? इसके परखनेका तरीका मिल महोदयने यह बताया कि मनोविज्ञानकी सचाई क्या कहती है, मनुष्यका स्वभाव क्या है, इससे मिलाकर अपने परिणामको परख लो। उसके साथ यह मेल खा जाय तो ठीक, नहीं तो तुम्हारा परिणाम गलत। मनुष्यका यह स्वभाव है कि वह अत्याचारके प्रति विद्रोह करता है। अगर इस बातमें किसीको सन्देह नहीं कि अत्याचारके प्रति विद्रोह करना मनुष्यका जन्म-सिद्ध स्वभाव है, जीव-जन्तु, पशु, कीट, पतंग, मनुष्य सभीमें यह पाया जाता है, मनोविज्ञान (Psychology) इसकी पुष्टि करता है, प्राणी-शास्त्र (Biology) इसकी पुष्टि करता है, तब हम समाज-शास्त्रके अपने परिणामको मनुष्य-स्वभावके इस परिणामकेसाथ मिलाकर देख लेते हैं। अगर यह उसके साथ ठीक बैठता है, तो हमारा परिणाम ठीक ही है, भले ही हम अपने परिणामपर 'परीक्षणात्मक-नियमों' (Empirical generalisations) से पहुंचे हों, 'निश्चित-नियमों' (Definite laws) से नहीं।

इस पद्धति को 'प्रतिकूल' (Inverse) क्यों कहा गया—

हमने देखा कि 'निगमन-विधि' (Deductive method) के हमने दो भाग किये जिनमेंसे एक विधिको हमने 'अनुकूल निगमन-विधि' (Direct-Deductive Method) और दूसरी को 'प्रतिकूल निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) कहा। इनमेंसे 'अनुकूल' (Direct)-विधि 'भौतिक-शास्त्रों' (Physical Sciences) में काम आयी, 'प्रतिकूल' (Inverse)-विधि 'समाज-शास्त्रों' (Social Sciences) में तथा 'समाज-शास्त्र' (Sociology) में काम आयी। यह 'अनुकूल' और 'प्रतिकूल' क्या है?

हमने देखा था कि 'अनुकूल निगमन-विधि' (Direct Deductive Method) में हम 'नियम' से चले, और एक परिणामका पता लगाकर, हमने दृष्टान्तकेसाथ

उसको मिलाया। दृष्टान्तकेसाथ जब वह मेल खा गया, तो हमने परिणामको ठीक समझा। परन्तु 'प्रतिकूल निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) में परिणामको दृष्टान्तके साथ मिलाकर उसकी जांच नहीं की जा सकती। दृष्टान्तकेसाथ तुलना करनेके स्थानमें, दृष्टान्तसे उलटी, प्रतिकूल चीज, अर्थात् एक व्यापक-नियमकेसाथ उसकी तुलना की जाती है। 'रूसकी राज्य-क्रांति जार बादशाहके अत्याचारोंके कारण हुई'—इसकी परख हम किसी दृष्टान्तकेसाथ तुलना करके नहीं करते, अगर दृष्टान्तकेसाथ तुलना करते, तो जैसे ये परिणाम कच्चा है, वैसा ही क्योंकि इस सम्बन्धका हर दृष्टान्त कच्चा होगा, इसलिये परिणामकी ठीक-ठीक जांच हो ही नहीं सकेगी। इसीलिये दृष्टान्तकेसाथ तुलना करनेके स्थानमें हम इस परिणामकी मनोविज्ञान तथा प्राणी-शास्त्रकी इस आधार-भूत सचाईकेसाथ तुलना करते हैं कि मनुष्यका स्वभाव ही ऐसा है कि वह अत्याचारको बर्दाश्त नहीं करता। एक दृष्टान्तकेसाथ अपने परिणामको परखनेके स्थानमें हमने अपने परिणामसे भी अधिक व्यापक-सत्यकेसाथ उसको परखा। 'दृष्टान्त' केसाथ परखना, और एक 'व्यापक-नियम'केसाथ परखना—ये दोनों एक-दूसरेसे प्रतिकूल विधियां हैं, इसलिये समाज-शास्त्रकी विधिको 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) कहा गया है। समाज-शास्त्र अपने परिणामोंको भिन्न-भिन्न दृष्टान्तोंकेसाथ नहीं, परन्तु अन्य विज्ञानोंके मानेहुए परिणामोंके साथ परखता रहता है। अगर मनोविज्ञान, प्राणि-विज्ञान, अर्थ-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र, इतिहास उन परिणामोंकी पुष्टि करते हैं जिनपर समाज-शास्त्र पहुँचा है, तो उन परिणामोंकी सत्यतासे इन्कार नहीं किया जासकता। समाज-शास्त्रके अध्ययन करनेकी यही सबसे मुख्य विधि है।

'आगमन', 'अनुकूल-निगमन' तथा 'प्रतिकूल-निगमन' में भेद—

'आगमन-विधि' (Inductive method) तथा 'अनुकूल' एवं 'प्रतिकूल' -निगमन-विधि (Direct Deductive Method and Inverse Deductive Method) इन तीनोंकी पारस्परिक तुलना करनेसे हमें 'प्रतिकूल-निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method)का विषय और अधिक स्पष्ट हो जायगा।

अगले पृष्ठमें हम इन तीनों विधियोंकी तुलना करनेका एक चित्र दे रहे हैं जिससे 'आगमन-विधि' (Inductive Method) और 'निगमन-विधि' (Deductive method)का ही भेद नहीं स्पष्ट होजायगा, अपितु 'अनुकूल निगमन-विधि' (Direct Deductive Method) तथा 'प्रतिकूल निगमन-विधि' (Indirect Deducteve Method) का भेद भी स्पष्ट होजायगा।

'अनुकूल आगमन-विधि' (Inductive Method)	'अनुकूल निगमन-विधि' (Direct Deductive)	'प्रतिकूल निगमन-विधि' (Inverse Deductive)
—	—	—
१. 'दृष्टान्तों' से प्रारंभ करते हैं।	१. 'दृष्टान्तों' से नहीं, 'नियमों' से प्रारंभ करते हैं।	१. 'दृष्टान्तों' से नहीं, 'नियमों' से भी नहीं, 'परीक्षणात्मक-नियमों' से प्रारंभ करते हैं।
[Examples]	[Laws]	[Empirical laws]
२. 'नियम' से समाप्त करते हैं।	२. 'नियमों' से परिणाम—'निगमन'—निकालते हैं।	२. 'परीक्षणात्मक-नियमों' से परिणाम—'निगमन'—निकालते हैं।
[नियम—Induction]	[निगमन—Deduction]	[निगमन—Deduction]
३. भौतिक-विज्ञानों के 'नियम' (Laws) तथा सामाजिक-विज्ञानों के 'परीक्षणात्मक-नियम' (Empirical laws) इसी विधिसे प्राप्त होते हैं।	३. परिणामको दृष्टांतोंसे परखते हैं। [Verification]	३. परिणामोंको दृष्टान्तों-से नहीं, परन्तु अन्य विज्ञानोंके व्यापक-नियमोंसे मिलाकर परखते हैं। [Verification]
...	४. भौतिक-विज्ञानोंकी यह विधि है।	४. सामाजिक-विज्ञानों तथा 'समाज-शास्त्र' की यह विधि है।

२. ऐतिहासिक-विधि

(HISTORICAL METHOD)

जिस 'प्रतिकूल निगमन-विधि' (Inverse Deductive Method) का हमने अभी उल्लेख किया है, इसे 'ऐतिहासिक-विधि' (Historical Method) भी कहते हैं। यह इसलिये क्योंकि इतिहासके सम्बन्धमें प्रायः इसी विधिका प्रयोग होता है। परन्तु कई विद्वान् 'ऐतिहासिक-विधि' —इस नामसे एक पृथक् विधिका उल्लेख करते हैं जिसमें जीवन-चरित्र, आत्म-चरित्र आदि आजाते हैं। उनका कहना है कि व्यक्तियोंकी जीवनियोंसे बड़े-बड़े सामाजिक-तथ्य प्रकट होते हैं। जैसे भौतिक-शास्त्रकेपास मापनेकेलिये फुटरूल है, रसायन-शास्त्रके पास परीक्षण करनेकेलिये प्रयोग-नलिका है, प्राणी-शास्त्रकेपास खोजकेलिये क्षुद्र-वीक्षण यन्त्र है, वैसे समाज-शास्त्रकेपास मानवीय समस्याओंकी खोजकेलिये, उनके रूपको समझनेकेलिये व्यक्तियोंके अपने विषयमें लिखेहुए आत्म-चरित हैं, या ऐसे जीवन-

चरित्र हैं, जो दूसरोंने लिखे हैं, परन्तु जिनमें व्यक्तिकी जीवनीकी सब समस्याओं-पर प्रकाश डाला गया है। महात्मा गांधीके लिखे आत्म-चरितसे मानव-समाजके अनेक मौलिक प्रश्नोंपर प्रकाश पड़ता है, चर्चिलके लिखे संस्मरणोंसे गत महायुद्ध-की अनेक सामाजिक समस्याएँ सुलझ जाती हैं।

'आत्म-चरित' और 'जीवनियों' के अतिरिक्त 'इतिहास' भी जो इन्हीं दो-का-सा वर्णन है, समाज-शास्त्रकी समस्याओंको काफी छूता है। कई विद्वान् तो इतिहासको 'भूत समाज-शास्त्र', और समाज-शास्त्रको, 'वर्तमान इतिहास' का नाम देते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि 'आत्म-चरित', 'जीवन-चरित्र' तथा 'इतिहास' का अध्ययन समाज-शास्त्रको समझनेकी एक विधि कही जासकती है, परन्तु यह समझ रखना चाहिये कि यह विधि अत्यन्त सीमित है—इस विधिसे समाज-शास्त्र-की बहुत थोड़ी, परिमित समस्याओंपर ही प्रकाश पड़ सकता है।

३. 'आदर्श-कल्पना' के विश्लेषणकी विधि
(METHOD OF IDEAL-TYPE ANALYSIS)

इस पुस्तकके दूसरे अध्यायमें 'समाज-शास्त्र का विषय-क्षेत्र' क्या है—यह लिखतेहुए हमने सिमल तथा वीरकांद्तके विचार लिखे थे। हमने बतलाया था कि ये जर्मन समाज-शास्त्री इस शास्त्रको अन्य 'सामाजिक-विज्ञानों' की तरह एक 'विशेष-शास्त्र' (Special Science) मानते हैं, और जैसे अन्य 'सामाजिक-विज्ञानों' के पास 'भावात्मक-विचार' (Abstractions) हैं, वैसे समाज-शास्त्र में भी 'भावात्मक-विचारों' (Abstractions) की उन्होंने कल्पना की है। इसी कल्पनाको स्थूल रूप देनेकेलिये इन विद्वानोंने एक विशेष विधि निकाली है, जिसे 'आदर्श-कल्पना-विश्लेषण-विधि' (Method of Ideal-Type Analysis) कहा जाता है। इस विधिके अनुसार विद्यार्थी एक सामाजिक-समस्याको ले लेता है, या जिस सामाजिक दृष्टि-विन्दुका अध्ययन करना चाहता है, उसे ले लेता है, और उस समस्या, या उस दृष्टि-विन्दुका विश्लेषण करता-करता उसके सम्बन्धमें एक आदर्श-कल्पनाको रच डालता है। उदाहरणार्थ, 'मित्रता' के सम्बन्धमें विद्यार्थीने सामाजिक गवेषणा करनी है। वह 'मित्रता' का विश्लेषण करेगा—क्या अमुक भाव मित्रता कहला सकता है–इत्यादि इत्यादि। इस विश्लेषणको करते-करते वह एक 'आदर्श-मित्र' की कल्पना करेगा—ऐसा मित्र जिसमें मित्रताके सब विश्लिष्ट-गुण समा जांय। इसकेबाद भिन्न-भिन्न मित्रताके दृष्टान्तोंको लेकर 'आदर्श-मित्र' से उनकी तुलना की जायगी, और यह पता लगाया जायगा कि कौन-सा मित्र 'आदर्श-मित्र' के कितना निकट है। जो

जितना अधिक निकट होगा उसका उतना ही अधिक मूल्यांकन होगा। स्पेन्गलर (Spengler) ने इसप्रकारके आदर्शके छः विभाग किये हैं, जो निम्न हैं:—

१. आदर्श विचारात्मक-व्यक्ति (Theoretical Ideal Type)
२. आदर्श आर्थिक-व्यक्ति (Ideal Economic Type)
३. आदर्श कलात्मक-व्यक्ति (Ideal Aesthetic Type)
४. आदर्श सामाजिक-व्यक्ति (Ideal Social Type)
५. आदर्श राजनैतिक-व्यक्ति (Ideal Political Type)
६. आदर्श धार्मिक-व्यक्ति (Ideal Religious Type)

इसप्रकारकी आदर्श-कल्पना करके समाजमें जिस-जिस प्रकारके व्यक्ति पाये जांय, उनकी इन आदर्श व्यक्तियोंसे तुलना करके, प्रत्येक व्यक्तिका मूल्य आंका जासकता है। इस विधिमें यह दोष है कि जो आदर्श-कल्पना हम करते हैं वह दूसरे पुरुषकी आदर्श-कल्पनासे भिन्न होसकती है, हमारे अपने भिन्न-भिन्न प्रकारके अनुभव हमारी आदर्श-कल्पनाओंको अपने रंगमें रंग सकते हैं, और यह होसकता है कि जिस कल्पनाको हम 'आदर्श-कल्पना' समझे बैठे हैं वह वास्तवमें 'आदर्श-कल्पना' न हो।

४. गणनात्मक-विधि (STATISTICAL METHOD)

गणनात्मक-विधिका समाज-शास्त्रमें बहुत प्रयोग होता है, विशेषतः ऐसे प्रश्नोंके सम्बन्धमें तो बहुत ही प्रयोग होता है जिनमें नाप-तोल, संख्या आदिका सवाल हो। उदाहरणार्थ, हमारे देशकी जन-संख्या देशके विभाजनके बाद कितनी बढ़ी; हर रोज कितने बच्चे पैदा होते हैं, कितने मरते हैं; जहां तलाककी प्रथा है वहां विवाहके एक महीने बाद कितने तलाक होते हैं, एक वर्ष बाद कितने होते हैं; हमारे देशका दूसरे देशोंकेसाथ जो व्यापार है उसमें आयात कितना है, निर्यात कितना है—ये सब प्रश्न गणना-विधिसे ही हल किये जाते हैं, और इस विधिका समाज-शास्त्रमें दिनोंदिन प्रचार बढ़ता जाता है। प्रो० गिडिंग्स (Giddings) पहले समाज-शास्त्री थे जिन्होंने विद्वानोंका ध्यान इस शास्त्रमें गणनाके महत्वकी-तरफ खींचा।

५. समाज-मिति (SOCIOMETRY)

समाज-शास्त्रके कई प्रश्न गणनाके अन्दर आ जाते हैं, उनपर गणनात्मक-विधिसे विचार होता है, परन्तु कई प्रश्न ऐसे हैं जिनमें गणना कुछ काम नहीं देती। उदाहरणार्थ, ईर्ष्या, श्रेणी-संघर्ष, अर्थात् मजदूर-मालिक में तना-तनी आदि, सामाजिक सहयोग, अर्थात किस अंशतक कोई समाज विषम-परिस्थितियोंमें

अपने मानसिक संतुलनको खो नहीं बैठता—इन सब प्रश्नोंपर गणना-विधिसे तो कोई प्रकाश नहीं पड़ता। फिर क्या किया जाय ? इन बातोंको मापना 'समाज-मिति' (Sociometry) का काम है। इनको कैसे मापा जाय ? इसकेलिये समाज-शास्त्रियोंने माप-दंड कायम किये हैं। कोई जाति सहयोगके निर्धारित माप-दंडके जितना निकट होती है उतनी ही उस जातिमें सहयोगकी मात्रा है, जितना वह निर्धारित माप-दंडसे दूर होती है उतनी ही उस जातिमें सहयोगकी कमी है। अस्लमें, समाज-मिति एक तरहसे 'गणना-विधि' (Statistical-method) तथा 'आदर्श कल्पना-विधि' (Ideal-Type Method) का मेल है।

६. विचार-धारात्मक विधि (IDEOLOGICAL METHOD)

प्रत्येक समाजकी संस्थाओं तथा समाजके स्वरूपमें समय-समयपर जो परिवर्तन होते हैं उनमें उस समयकी विचार-धाराओं (Ideologies) का बड़ा भारी असर होता है। महात्मा गांधीने अपने समयमें अहिंसा तथा सत्यकी जिस विचार-धाराको जन्म दिया था उससे अपने समाजमें कुछ खासतरहके व्यक्ति और संस्थाएँ उत्पन्न हो गये। उन संस्थाओंका अध्ययन करतेहुए महात्मा गान्धीकी विचार-धाराको कैसे भुलाया जा सकता है ? योरुपमें सबसे गरीब और सबसे पिछड़ा हुआ देश रूस आज संसारके सबसे अधिक शक्तिशाली देशोंमें है। रूसका अध्ययन करतेहुए समाजवाद तथा कार्ल मार्क्स की विचार-धाराको कैसे भुलाया जासकता है ? अस्लमें, समाज-शास्त्रके किसी समयका भी अध्ययन करना हो—भूत, वर्तमान, भविष्यत्—हर समयपर तत्कालीन विचार-धाराका एक अमिट प्रभाव होता है। आज भारतवर्षकी जो भी समस्या है उसे धर्म-निरपेक्षता (Secularism) की दृष्टिसे ही समझा जा सकता है क्योंकि इसी दृष्टिसे आजके समाजकी रचना होरही है। यह धर्म-निरपेक्षता हमारी पिछली धर्मान्धताकी प्रतिक्रिया है—वह धर्मान्धता जिसने पागलपनमें लाखों निरपराधोंका खून बहाया। समाजमें इसप्रकार विचारोंकी प्रतिक्रियाएँ होती रहती हैं। 'विचार-धारात्मक-विधि' समाज-शास्त्रमें दिनोंदिन अपना स्थान बनाती जा रही है।

प्रश्न

१. समाज-शास्त्रमें प्रचलित वैज्ञानिक पद्धतियोंके प्रयोग करनेमें क्या-क्या कठिनाइयां हैं ?
२. समाज-शास्त्रके अध्ययनकी 'पद्धति' (Method) की आधार-भूत समस्या क्या है ?

३. कुछ उदाहरण देकर समझाइये कि समाज-शास्त्र जिस 'पारस्परिक-संबंध' (Correlation) का अध्ययन करता है उसका स्वरूप क्या है ?
४. समाज-शास्त्रके अध्ययनकी 'विधि' (Method) से हम समाज-शास्त्रकी क्या-क्या बातें जानना चाहते हैं ?
५. 'आगमन-पद्धति' (Inductive method), 'अनुकूल-निगमन-पद्धति' (Direct Deductive Method) तथा 'प्रतिकूल-निगमन-पद्धति' (Inverse Deductive Method) का वर्णन करतेहुए इनका भेद स्पष्ट कीजिये।
६. समाज-शास्त्रमें 'प्रतिकूल-निगमन-पद्धति' (Inverse Deductive Method) का प्रयोग होता है। किसप्रकार होता है, इसे उदाहरण देकर समझाइये।
७. 'प्रतिकूल-निगमन-पद्धति' (Inverse Deductive Method) को 'प्रतिकूल'- (Inverse) क्यों कहा जाता है ?
८. 'ऐतिहासिक-विधि' (Historical method) का वर्णन कीजिये।
९. 'आदर्श-कल्पना-विश्लेषण-विधि' (Method of Ideal-Type Analysis) क्या है ?
१०. 'गणनात्मक-विधि' (Statistical method) की व्याख्या कीजिये।
११. 'समाज-मिति' (Sociometry) में 'आदर्श-कल्पना-विश्लेषण-विधि' (Ideal-Type) तथा 'गणनात्मक-विधि' (Statistical method) मिले हुए हैं—इस बातको स्पष्ट कीजिये।
१२. 'विचार-धारात्मक-विधि' (Ideological method) का स्पष्टीकरण कीजिये।

[५]
'परिस्थिति' का क्या अर्थ है ?
(MEANING OF ENVIRONMENT)

समाज-शास्त्र मनुष्यके सामाजिक-सम्बन्धोंका अध्ययन करता है। 'मनुष्यके सामाजिक-संबंध'—इसका विश्लेषण करें, तो दो बातें इसमें आजाती हैं। एक है 'मनुष्य', दूसरा है उसका अपनेको छोड़कर दूसरोंके साथ 'संबंध'—एक वह खुद है, और दूसरा वह सब-कुछ है, जो वह खुद नहीं है। उसे छोड़कर जो-कुछ है, वह सब 'परिस्थिति' (Environment) कहाता है।

'परिस्थिति' (Environment) का 'प्राणी' (Organism) से सम्बन्ध है–

'परिस्थिति' (Environment) मनुष्यकेसाथ ही जुड़ी हुई नहीं है, जड़-चेतन सभीकेसाथ 'परिस्थिति' जुड़ी हुई है। जड़-जगत्में सूर्य-चन्द्र-आकाश-तारे-जल-वायु—सबमें अपनेको छोड़कर बाकी सब उसकी 'परिस्थिति' (Environment) है। सूर्यकेलिये स्वयं सूर्य तो 'परिस्थिति' (Environment) नहीं होसकता, परन्तु चन्द्र-आकाश-तारे-वनस्पति-पशु-पक्षी-मनुष्य—सब उसकी 'परिस्थिति' है। इसीप्रकार चन्द्रके लिये चन्द्र तो स्वयं परिस्थिति नहीं है, बाकी सब उसकी 'परिस्थिति' है। जब हम समाज-शास्त्रमें 'परिस्थिति' शब्दका प्रयोग करते हैं, तब हम सूर्यकेलिये जैसे चन्द्रमा, आकाश, तारे आदि 'परिस्थिति' हैं, या चन्द्रमाके लिये सूर्य आदि 'परिस्थिति' हैं, वैसी व्यापक 'परिस्थिति'की बात नहीं कररहे होते। समाज-शास्त्रमें 'परिस्थिति' शब्दका इतना व्यापक प्रयोग नहीं होता। तो फिर इस शब्दका प्रयोग कैसे होता है? इस शास्त्रमें 'परिस्थिति'-शब्दका प्रयोग तब होता है जब चेतनकी दृष्टिसे बात होरही हो, जहां किसीप्रकार-का जीवन हो। बीजको बो दें तो वह फूट पड़ता है, उग आता है—इसमें किसी प्रकारका जीवन दीख पड़ता है। यहां 'बीज', और 'बीजकी परिस्थिति'-शब्दका प्रयोग होगा। पशु-पक्षी-मनुष्यमें तो जीवन है ही। 'परिस्थिति-शब्दका प्रयोग पशु-पक्षी-मनुष्यमें जीवनकी दृष्टिसे होता है। 'बीज' और 'बीजकी परिस्थिति', 'पशु' और 'पशुकी परिस्थिति', 'मनुष्य' और 'मनुष्यकी परिस्थिति'—इस

प्रकारका प्रयोग हम इसलिये करते हैं क्योंकि बीज, पशु, मनुष्यमें किसी-न-किसी प्रकारका जीवन दीखता है; 'सूर्य' और 'सूर्यकी परिस्थिति', 'जल' और 'जलकी परिस्थिति'—इसप्रकारका प्रयोग हम इसलिये नहीं करते क्योंकि सूर्य-जल आदिमें जीवन नहीं दीखता। 'परिस्थिति' का 'जीवन' के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'प्राणी' (Organism) की उपस्थितिमें ही 'परिस्थिति' (Environment) शब्दका प्रयोग होता है, 'प्राणी' न हो, चेतन न हो, तो जड़के मुकाबिलेमें उसके अतिरिक्त दूसरी जड़ वस्तुकेलिये 'परिस्थिति'-शब्दका प्रयोग हम प्रायः नहीं करते।

'परिस्थिति' (Environment) के उदाहरण—

(१) बीजकी परिस्थिति धरती है। आमकी गुठलीको हम जमीनमें बो देते हैं। वर्षा, गर्मी, नमी आदि अनुकूल परिस्थितियां पाकर वह फूट आती है, जमीनमें दूर-दूर उसकी जड़ें जापहुँचती हैं, आस्मानमें तना बढ़ता चला जाता है, सूर्यकी रोशनी पाकर पत्तोंमें हरियाली छिटक आती है। 'बीज' अपनी 'परिस्थिति' के साथ ऐसा रल-मिल जाता है कि अगर इसे इस 'परिस्थिति' से अलग कर लिया जाय, अगर जड़ें जमीन खोदकर नंगी कर दी जांय, पानी न पड़ने दिया जाय, सूर्यका प्रकाश रोक लिया जाय, तो पेड़ सूख जायगा। खास बात यह है कि इस 'परिस्थिति' में, जिस चीजका बीज है, उसी चीजका पेड़ उठ खड़ा होता है। आमकी गुठलीसे आमका, बेरकी गुठलीसे बेरका पेड़ निकलता है। बहुत बढ़िया खाद मिली है, इसलिये बेरकी गुठलीसे अंगूरकी बेल निकल पड़े—ऐसा नहीं होता। हां, अच्छी खाद मिलेगी, तो आमका पेड़ बढ़िया आम होगा, रद्दी खाद मिलेगी, तो बढ़िया गुठलीसे भी घटिया पेड़ होगा। कोई पेड़ एक खास जमीनमें होगा, दूसरी जमीनमें नहीं होगा। हरी छालका केला बम्बईमें होगा, देहरादूनमें नहीं होगा, सेव काश्मीरमें होगा, हरद्वारमें नहीं होगा, लखनऊका खरबूजा जैसा वहां होगा वैसा दूसरी जगह नहीं होगा। जल-वायुका बीजपर जबर्दस्त असर होगा।

(२) पेड़ोंकीतरह पशुओंका भी 'परिस्थिति' से विशेष सम्बन्ध है। यह तो ठीक है कि पेड़ोंकीतरह वे जमीनमें गड़े नहीं होते, और इसलिये जितना जमीनका, जल-वायुका पेड़ोंपर असर है, उतना पशुओंपरनहीं, परन्तु जीव-जन्तु-पशु-पक्षी भी 'परिस्थिति' से बंधाहुआ है। कपड़ेकी जूं सिरमें, और सिरकी जूं कपड़ेमें नहीं रहती; शेर रेगिस्तानमें, और ऊंट पहाड़की गुफाओंमें नहीं रहता। शेरके लिये जंगल ही अनुकूल 'परिस्थिति' है, ऊंटकेलिये रेगिस्तान ही अनुकूल 'परिस्थिति' है। अगर इन प्राणियोंको अपनी-अपनी परिस्थितिसे अलग कर दिया जाय, तो इनकेलिये जीना कठिन होजाय।

(३) पेड़ों तथा पशु-पक्षियोंकीतरह मनुष्य भी 'परिस्थिति' का दास है। अनुकूल परिस्थितिमें मनुष्यका विकास होता है, प्रतिकूल परिस्थितियोंमें उसका विकास नहीं होपाता। ऐसे दृष्टान्त मौजूद हैं जिनमें मनुष्य अपनी सामाजिक-परिस्थितियोंसे अलग रहा। अलग रहनेका परिणाम यह हुआ कि उसका किसी-प्रकारका विकास ही नहीं होपाया। १९२० की घटना है कि भारतके एक ईसाई पादरी श्री सिंहको शिकार करते समय दो लड़कियां भेड़ियोंकी गुफाओंमें मिलीं। पादरी महोदय दोनोंको घर लेआये—एककी आयु आठ वर्ष, और दूसरीकी साढ़े-आठ वर्ष थी। पहलीका नाम उन्होंने अमला और दूसरीका नाम कमला रखा। दोनों लड़कियां पशुओंकीतरह हाथों तथा पैरोंसे चलती थीं, उन्हींकी तरह जीभ बाहर निकालकर हांफती थीं, दिनको सोती, रातको इधर-उधर फिरती थीं, नंगी रहती थीं। अमला तो जल्दी मर गई, परन्तु कमला १७ वर्ष तक जिन्दा रही। जबतक उसका मानव-समाजकेसाथ किसीप्रकारका संपर्क नहीं था, वह पशु ही बनी रही, संपर्कमें आनेकेबाद धीरे-धीरे कपड़े पहनना, खड़े होकर चलना, कुछ-कुछ बोलना सीख गई। पशु भी 'परिस्थिति' से सीखता है, परन्तु पशु तथा मनुष्यके सीखनेमें अन्तर है। श्रीयुत् तथा श्रीमती कैल्लौग (Kellogg) ने एक चिपांझीको अपने नौ महीनेके बच्चेके-साथ पाला। दोनों साथ-साथ खाते, पीते, रहते और सोते। चिपांझी दरवाज़ा खोलना, कांटेसे खाना, गिलाससे पानी पीना आदि तो लड़केसे जल्दी सीख गया, परन्तु बोलना न सीख सका। कैल्लौगका बच्चा ठीक समयपर बोलना, और सब काम सीख गया। 'परिस्थिति' से प्राणी वहींतक जासकता है जहांतक उसकी आन्तरिक-शक्ति है, ठीक इसतरह जैसे अच्छी खादसे अच्छा आम पैदा किया जासकता है, परन्तु आमसे जामुन नहीं लिये जासकते।

'परिस्थिति' अनुकूल भी हो सकती है, प्रतिकूल भी—

'परिस्थिति' दोनोंतरहकी होती है—अनुकूल भी, प्रतिकूल भी। पौधेको ठीक खाद मिले, गर्मी-नमी-पानी आदि ठीक मात्रामें मिलते रहें, वह बढ़ता रहता है, पशु-पक्षीको भोजन मिलता रहे, सुरक्षा रहे, तो जीवित रहता है, मनुष्य भी अनुकूल परिस्थितिमें पनपता है, परन्तु अगर वृक्ष-पशु-पक्षी-मनुष्यको भोजन न मिले, इनकी सुरक्षाका प्रबन्ध न होसके, प्रतिकूल परिस्थितियां उत्पन्न होजांय, तो या ये कमज़ोर होजाते हैं, या मर जाते हैं। प्रतिकूल परिस्थितियोंमें जीनेकी जद्दोजहद करनेको 'जीवन-संग्राम' (Struggle for existence) कहते हैं। जीवनके इस संग्राममें जो बलिष्ठ है वह बच रहता है, जो कमज़ोर है वह परिस्थितियोंके थपेड़े खाताहुआ ख़त्म होजाता है—'बलशालीकी विजय'

(Survival of the fittest) प्रकृतिका नियम है जो वनस्पति, पशु, मनुष्य सबपर लागू होरहा है।

परिस्थिति के साथ 'अनुकूलन' (Adaptation)—

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि प्रतिकूल परिस्थितिमें 'प्राणी' (Organism) नष्ट ही होजाय। यह होसकता है कि वह अपने शरीरमें ऐसे परिवर्तन करता रहे जिनके कारण वह प्रतिकूल परिस्थितिमें भी बचा रहे। 'विकास-वादके सिद्धान्त' (Theory of Evolution) में इसप्रकार शरीरके अंगोंके बदलजानेको 'परिवर्तन-का सिद्धान्त' (Theory of variation) कहते हैं। विकासवादी कहते हैं कि पहले जीराफ़की गर्दन लम्बी नहीं थी। जब उसे ऊँचे-ऊँचे पेड़ोंके पत्ते खानेकेलिये गर्दनको लगातार ऊँचा करते रहना पड़ा, तो भिन्न-भिन्न सन्ततियोंमें बढ़ते-बढ़ते हजारों-लाखों सालोंमें इतनी लम्बी गर्दनवाला जानवर पैदा होगया। इसप्रकार प्रकृतिके-साथ अपनेको अनुकूल बनाते रहनेको 'अनुकूलन का सिद्धान्त' (Theory of adaptation) कहा जाता है। 'अनुकूलन' (Adaptation) तीन तरह का होसकता है :—

तीन प्रकारका 'अनुकूलन' (Adaptation)—

(१) एक तो शुद्ध 'भौतिक-अनुकूलन' (Physical adaptation) है। हम चाहें, न चाहें, यह 'अनुकलन' (Adaptation) होता रहता है। सूर्यकी गर्मीसे चमड़ी काली पड़ती जायगी, फेफड़ोंमें शुद्ध हवा जायगी तो वे फैलेंगे, बलिष्ठ होंगे। इस दृष्टिसे बीमारी भी शरीरका परिस्थितिकेसाथ 'अनुकूलन' (Adaptation) है, मृत्यु भी एक प्रकारका 'अनुकूलन' (Adaptation) है। बीमारीमें शरीर रोगको बाहर फेंकरहा होता है। फोड़ा क्या है ? शरीरमें जो विजातीय-द्रव्य है, मवाद है, वह शरीरमें तो जज्ब हो नहीं सकता, शरीर जब उस मवादको बाहर निकालनेका प्रयत्न करता है, वह फोड़ा कहाता है। ज्वर भी इसीप्रकारकी प्रक्रिया है। मृत्यु क्या है ? शरीरका जब कोई भी अंग 'परिस्थिति'-के साथ सम्बन्ध नहीं रख सकता, तो वह अपने सारे हथियार नीचे रख देता है। यह 'परिस्थिति' के साथ 'अनुकूलन' नहीं तो क्या है ? इसप्रकारकी 'भौतिक-अनुकूलन' (Physical adaptation) की प्रक्रिया वृक्ष-पशु-मनुष्यमें उनके अनजाने चलती रहती है, इसपर हमारा कोई बस नहीं है। यह जन्म-जात है।

(२) दूसरा 'अनुकूलन' 'जीवन-सम्बन्धी-अनुकूलन' (Biological adaptation) है। एक पेड़ एक जगह होसकता है, दूसरी जगह नहीं; मछली पानीमें ही जीवित रहसकती है, पानीसे बाहर नहीं; शेर जंगलों और

कन्दराओंमेंही रहसकता है, रेगिस्तानमें नहीं ; ऊँट रेगिस्तानमें ही रहसकता है समुद्रमें नहीं। ये सब 'जीवन-सम्बन्धी-अनुकूलन' (Biological adaptation) हैं। मछली अपने-आपको खुश्क ज़मीनके अनुकूल नहीं बना सकती; ऊँट अपनेको समुद्रमें रहनेके अनुकूल नहीं बना सकता। 'भौतिक-अनुकूलन' (Physical adaptation) और 'जीवन-सम्बन्धी अनुकूलन' (Biological adaptation) दोनों जन्म-जात हैं, सीखे नहीं जाते।

(३) तीसरा है 'सामाजिक-अनुकूलन' (Social adaptation)। क्योंकि 'समाज' का विचार मनुष्यमें ही सीमित है, इसलिये 'सामाजिक-अनुकूलन' (Social adaptation) मनुष्यमें ही होसकता है। 'सामाजिक-अनुकूलन' (Social adaptation) का अर्थ क्या है ? हमने अभी देखा था कि 'भौतिक-अनुकूलन' (Physical adaptation) और 'जीवन-सम्बन्धी-अनुकूलन' (Biological adaptation) दोनों जन्म-जात हैं, सीखे नहीं जासकते, परन्तु 'सामाजिक-अनुकूलन' में या तो हम अपनेको प्रतिकूल परिस्थितिके अनुकूल बना लेते हैं, या प्रतिकूल परिस्थितिको ही बदलकर उसे अपने अनुकूल बना लेते हैं—यह जन्म-जात नहीं, अपने बसकी चीज़ है, सीखी-सिखायी जासकती है। परिस्थितिको बदलकर अपने अनुकूल बनालेनेको 'परिस्थिति-परिवर्तन' (Adjustment) कहते हैं, अपनेको बदलकर परिस्थितिके अनुकूल बनालेनेको 'आत्म-परिवर्तन' (Accomodation) कहते हैं। सब प्राणियोंमें मनुष्य ही ऐसा है जो 'परिस्थिति' को बदल सकता है, अन्य प्राणियोंकेलिये परिस्थिति इतनी जबर्दस्त है कि वे अपनेको जितना बदलकर जी सकें जीते हैं, नहीं तो परिस्थिति उनको समाप्त कर देती है। मनुष्यकी दृष्टिसे परिस्थितिके तीन भागोंमेंसे दो भाग हमारे विचारकेलिये काफी हैं—'भौतिक' तथा 'सामाजिक'।

मनुष्यकी परिस्थिति के दो प्रकार—'भौतिक' तथा 'सामाजिक'—

मनुष्यकेलिये 'भौतिक-परिस्थिति' (Physical environment) है—पहाड़, नदी, नाले, पहाड़ोंके दर्रे, समुद्र, जल-वायु आदि। इन 'भौतिक-परिस्थितियों' का मनुष्यकी सभ्यतापर शुरू-शुरूमें बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। ये परिस्थितियां प्रकृतिमें बनी-बनायी हैं, इनके बनानेमें मनुष्यको प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इनका असर वृक्ष-पशु-पक्षीपर भी है। 'सामाजिक-परिस्थिति' (Social environment) मनुष्यकेलिये निराली है। यह प्रकृतिकी बनायी नहीं, मनुष्यकी बनायी हुई है—इसे 'मनुष्य-रचित' (Man-made) कहा जाता है। नदी 'भौतिक-परिस्थिति' है, नहर 'मनुष्य-रचित परिस्थिति' है ; जंगल 'भौतिक-

परिस्थिति' है, वाग-वगीचे 'मनुष्य-रचित-परिस्थिति' है। 'भौतिक' (Physical) को 'प्राकृतिक' (Natural) भी कहते हैं। हर्बर्ट स्पेंसरने 'भौतिक' को 'अनैन्द्रियिक-परिस्थिति' (Inorganic environment) तथा 'जीवन-संबंधी' (Biological) को 'ऐन्द्रियिक-परिस्थिति' (Organic environment) कहा है। 'सामाजिक-परिस्थिति' (Social environment) को 'मनुष्य-रचित' (Man-made) कहते हैं। क्योंकि 'मनुष्य-रचित-परिस्थिति' ही का दूसरा नाम 'संस्कृति' है, अतः 'सामाजिक-परिस्थिति' को 'सांस्कृतिक-परिस्थिति' (Cultural environment) भी कहा जासकता है। संस्कृतिसे जो समाज-परंपरा चली आरही है, जो सांस्कृतिक-परिस्थिति सन्तान-से-सन्तानको उत्तराधिकारके तौरपर, दायभागके तौरपर मिल रही है, उसे 'सामाजिक-दायभाग' (Social heritage) कहा जासकता है।

'मनुष्य-रचित परिस्थिति' के दो प्रकार—'वाह्य' और 'आभ्यन्तर'—

अभी हमने 'परिस्थिति'के दो भाग किये थे—'प्रकृति-रचित' तथा 'मनुष्य-रचित'। इनमेंसे 'मनुष्य-रचित-परिस्थिति' के भी दो प्रकार हैं—'वाह्य' (Outer) तथा 'आभ्यन्तर' (Inner)। 'मनुष्य-रचित वाह्य-परिस्थिति' के दृष्टान्त हैं—घर, शहर, रेल, हवाई जहाज—वह सब-कुछ जिसे हम 'भौतिक-सभ्यता' (Material civilization) कहते हैं। 'मनुष्य-रचित आभ्यन्तर परिस्थिति' के दृष्टान्त हैं—हमारा समाज, हमारी संस्थाएँ, हमारी सामाजिक परंपरा, हमारा रहने-सहनेका ढंग, हमारा सामाजिक-जीवन, वह सब-कुछ जिसे हम 'सामाजिक-दायभाग' (Social heritage) कह सकते हैं। 'वाह्य' तथा 'आभ्यन्तर' में यह भेद है कि 'मनुष्य-रचित वाह्य-परिस्थिति' हमारे मिट जानेपर भी वनी रहती है, मुसलमानोंका राज चला गया किन्तु उनकी खड़ी कीहुई इमारतें आज भी खड़ी हैं, पुरातन ईजिप्ट नहीं रहा परन्तु उन लोगोंके वनाये हुए 'पिरैमिड' अव भी मौजूद हैं; 'मनुष्य-रचित' 'आभ्यन्तर-परिस्थिति' हमारे मिटनेकेसाथ ही मिट जाती है, मुसलमानोंके राजके जानेकेसाथ उनकी समाजके रीति-रिवाज भी चले गये। जो हमने ले लिये वे अव हमारी सामाजिक-रचनाके हिस्से होगये, मुसलमानोंके न रहे, इसलिये हमारा समाज जवतक रहेगा तवतक वे रहेंगे, हमारा समाज नष्ट होजायगा, तो वे भी नष्ट होजायेंगे, अगर कोई दूसरे उन्हें ले लेंगे, तव वे उनकी सामाजिक-रचनाके अंग होजायेंगे। 'वाह्य-परिस्थिति' को 'सभ्यता' (Civilisation) कहा जाता है, 'आभ्यन्तर-परिस्थिति'को 'संस्कृति' (Culture) कहते हैं।

९६६

परिस्थितिकी व्याख्या—

ऊपर जो विवरण हमने दिया है उससे अव 'परिस्थिति' की व्याख्या स्पष्ट होजाती है। जव हम पौधे-वृक्ष आदिकेलिये 'परिस्थिति'-शब्द का प्रयोग करते हैं तव हमारा अभिप्राय 'भौतिक-परिस्थिति' (Physical environment) से होता है ; जव हम जीव-जन्तु, कीट-पतंग, पशु-पक्षीकेलिये 'परिस्थिति'-शब्द का प्रयोग करते हैं तव हमारा अभिप्राय 'भौतिक-परिस्थिति' (Physical) तथा 'जीवन-संवंधी-परिस्थिति' (Biological)—इन दो से होता है ; जव हम मनुष्यकेलिये 'परिस्थिति'—शब्दका प्रयोग करते हैं तव हमारा अभिप्राय 'भौतिक' (Physical), 'जीवन-संवंधी' (Biological) तथा 'सामाजिक' (Social)—इन तीनों परिस्थितियोंसे होता है। इन तीन प्रकारकी परिस्थितियोंकेसाथ अनुकूलता रखनेको 'अनुकूलन' (Adaptation) कहते हैं—'परिस्थितिकेसाथ अनुकूलन' जीवित रहनेका गुर है। मनुष्यकी परिस्थितियोंमें 'सामाजिक-परिस्थिति' मुख्य है। 'सामाजिक' कहनेमें 'वाह्य' तथा 'आभ्यन्तर' दोनों परिस्थितियां आजाती हैं। 'वाह्य-सामाजिक-परिस्थिति (Outer Social environment) को 'सभ्यता' (Civilisation), तथा 'आभ्यन्तर सामाजिक-परिस्थिति' (Inner Social environment) को 'संस्कृति' (Culture) कहते हैं। 'आभ्यन्तर-सामाजिक-परिस्थिति' वंश-परंपरासे सन्तान-से-सन्तानको जासकती है, इसलिये इसे 'सामाजिक-दायभाग' (Social heritage) कहा जाता है। 'परिस्थिति' के इस विचारको चित्रमें यूं प्रकट किया जासकता है :—
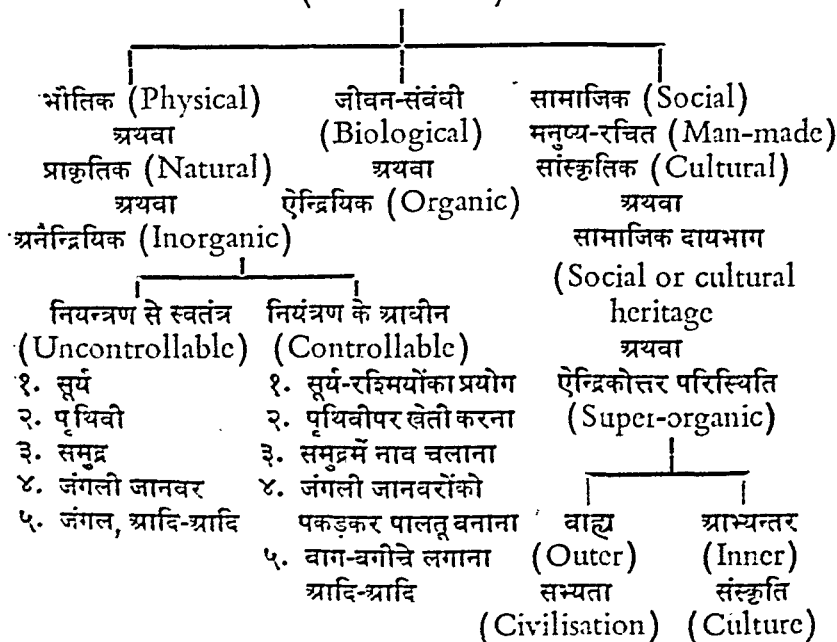
भौतिक तथा जीवन-संबंधी-परिस्थिति (Physical and Biological environment)—

भौतिक-परिस्थितिका क्या महत्व है, इस विषयपर १८वीं शताब्दीमें मौंटेस्क्यू (Montesquieu) तथा १९वीं शताब्दीमें बकल (Buckle) ने विद्वानोंका ध्यान पहले-पहल आकर्षित किया। डार्विन (Darwin)के विकास-वादने प्राणी-शास्त्रके परीक्षणोंसे इस विषयके महत्वको और अधिक बढ़ादिया। उसने सिद्ध किया कि भौतिक परिस्थितिकेसाथ अपनेको अनुकूल बनाकर—'अनुकूलन' (Adaptation)—के द्वारा ही प्राणीमें 'परिवर्तन' होता है। डार्विनके परीक्षण तो वृक्षों-पशु-पक्षियोंतक ही सीमित थे, परन्तु फ़ांसके कुछ विद्वानोंने, जिनमें डिमोलिन्स (Demolins) का नाम मुख्य है, परि-स्थितिके प्रभावका फ्रांसके कुछ सामाजिक-क्षेत्रोंमें अध्ययन किया, और इस परिणामपर पहुंचे कि 'भौतिक-परिस्थिति' जैसे वनस्पति-पशु-पक्षियों में परिवर्तन करती रहती है, वैसे मनुष्य भी इसके शिकंजेमें कसा हुआ है।

'भौतिक-परिस्थिति' का अध्ययनकरनेवालोंने पता लगाया कि मानव-समाज का विकास अनुकूल भौतिक-परिस्थितियोंके ऊपर आश्रित है। पहले-पहल मनुष्य वहीं बसा जहां खुले मैदान थे, बड़ी-बड़ी नदियां थीं, जहां अनाजकी और पैदावारकी बहुतायत होसकती थी। भारतमें गंगाके तटपर, एशिया और सीरियामें यूफ़्रेटीज नदिके किनारे, ईजिप्टमें नील दरियाके आस-पास जो लोग बसे, उन्होंने संसारमें महान् सभ्यताओंको जन्म दिया। शुरु-शुरुमें जब सड़कें नहीं थीं, यातायात के साधन नहीं थे, तब नदियां ही व्यापारका माल लाने-ले-जानेका साधन थीं। इन्हींके मार्गसे व्यापार होता था, इन्हींके मार्गसे लुटेरे आक्रमण करते थे। अगर योरुपमें डैन्यूब और राइन दरिया न होते, तो वहांका इतिहास किसी और तरह लिखा जाता। संसारके बड़े-बड़े शहर—लंडन, कराची, बम्बई, कलकत्ता, रंगून, हांगकांग—या तो दरियाओंके किनारे बसे हैं, या समुद्रके किनारे हैं जहां जहाजोंका आसानीसे आना-जाना होसकता है। नदियोंकी तरह समुद्रोंका भी मानवके विकासमें बड़ा भारी हाथ है। पहाड़ों और मैदानोंमें रहनेवालोंमें 'भौतिक-परिस्थिति' के कारण ही बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है। पहाड़के रहनेवाले मजबूत, मेहनती, गरीब, मितव्ययी होते हैं, मैदानोंके रहनेवाले कमजोर, आराम-पसन्द, धनी और फिजूलखर्च होते हैं, अपनी-अपनी 'भौतिक-परिस्थिति' से दोनोंका अलग-अलग स्वभाव बन जाता है।

सर्दी-गर्मी-बरसातका भी मनुष्यपर बड़ा असर है। एक खास दर्जेके ताप-मानपर मनुष्य अधिक काम कर सकता है, उससे कम-अधिकपर काम करनेकी

शक्ति घट जाती है। ३८ से ६० फार्नहाइटकी ठंडकमें काम अच्छा होता है—यह परीक्षणोंसे पाया गया है। ऋतुके परिवर्तनोंका अपराधोंसे 'पारस्परिक-संबंध' (Correlation) पता लगानेका समाज-शास्त्रियोंने प्रयत्न किया है। कई कहते हैं कि मार-काट, हमला आदि गर्मियोंमें, और चोरी-डकैती आदि सर्दियोंमें अधिक होते हैं। जो 'भौतिक-परिस्थिति' को ही सब-कुछ मानते हैं उनके विचार करनेकी यह दिशा है।

सामाजिक-परिस्थिति (Social environment)—

जैसे रेशमका कीड़ा अपने भीतरसे अपना शरीर बनाता रहता है, वैसे समाज भी अपने भीतरसे ही अपना एक शरीर बनाता रहता है। रीति-रिवाज-संस्थाएँ-रहन-सहनका ढंग, प्रथाएँ—ये सब 'सामाजिक-परिस्थिति' कहाती हैं। मनुष्यपर केवल 'भौतिक-परिस्थिति' (Physical environment) का प्रभाव नहीं पड़ता, इस 'सामाजिक-परिस्थिति' (Social environment, Social heritage) का भी प्रभाव पड़ता है। एक अंग्रेज अंग्रेज क्यों है, और एक चीनी चीनी क्यों है? क्योंकि अंग्रेज एक ऐसे समाज में पैदा हुआ है जिसमें एक खास ढंगका रहन-सहना है, खास ढंगके रीति-रिवाज हैं, इसीप्रकार एक चीनी चीनी इसलिये है क्योंकि वह अपने समाजके रंग-ढंगमें पला है। एक अमरीकन जिसका जन्मका नाम जोज़फ़ राइनहार्ट (Joseph Rinehart) था तीन वर्षकी अवस्थामें माता-पिताद्वारा छोड़ दिया गया। उसके माता-पिता न्यूयार्कके लौंग-आईलैंडके रहनेवाले थे। उस बालकको वहीं रहनेवाले एक चीनी परिवारने पाल लिया, और उसे चीनमें लेगये। सत्रह वर्ष चीनमें रहनेके बाद वह अमरीका लौटा। शक्ल-सूरतमें वह अमरीकन था, परन्तु रहने-सहनेमें, बोल-चालमें, आदतोंमें, सब तरहसे वह चीनी था। क्यों था? इसलिये क्योंकि मनुष्य जो-कुछ है वह 'सामाजिक-परिस्थिति' (Social environment, Social heritage) का परिणाम है।

वैसे तो ये रीति-रिवाज, यह सामाजिक-परंपरा हमारे जीवनमें इतनी ओत-प्रोत रहती है कि हम इसे अपनेसे अलग करके सोच ही नहीं सकते, रीति-रिवाज ही समाज है, समाज ही रीति-रिवाज है, परन्तु कई समय ऐसे आजाते हैं जब हमें स्पष्ट दीखने लगता है कि रिवाज अलग हैं, समाज अलग है। उदाहरणार्थ, दहेजकी प्रथा है, तलाककी प्रथा है, बहु-विवाहकी प्रथा है। ये सब प्रथाएँ, और हिन्दू समाज एक ही समझे जाते हैं, परन्तु जब लोग दहेजसे तंग आगये, जब दुराचारी पतिकेसाथ बंधे-बंधे स्त्री-समाज परेशान होगया, जब स्त्रीको

नाचीज समझकर जितनी मर्जीहुई उतने विवाह पुरुष करता गया, और सारे समाजमें इन सामाजिक-प्रथाओंके विरोधमें चीत्कार उठ खड़ा हुआ, तब यह स्पष्ट होगया कि हिन्दू-समाज दूसरी चीज है, ये प्रथाएँ दूसरी चीज हैं, क्योंकि हिन्दू-समाज इन प्रथाओंको झटका देकर छिन्न-भिन्न भी करसकता है। समाजके विकासमें अक्सर ऐसे समय आते हैं जब समाज पुरानी चीजोंको तोड़ा करता है, नयी चीजोंको बनाया करता है। धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक—सभी क्षेत्रोंमें यह नव-निर्माण हुआ करता है। जबतक नव-निर्माण नहीं होता, तबतक हम समझते हैं कि जो-कुछ चला आरहा है, जो रूढ़ि है, वही समाज है, परन्तु जब हम इन रूढ़ियोंको, प्राचीन परंपराओंको छिन्न-भिन्न कर देते हैं, तब स्पष्ट होजाता है कि समाज इनसे भिन्न है, समाज इन्हें बनाता है, ये समाज को नहीं बनातीं।

सामाजिक-जीवनका प्रत्येक मुख्य पहलू 'सामाजिक-परिस्थिति' (Social environment) या 'सामाजिक परंपरा' (Social heritage) कहाता है। मोटेतौरपर 'सामाजिक-परिस्थिति' में निम्न बातें आजाती हैं :—

(१) परंपरा (Tradition) —प्राचीन-कालसे चले आरहे वे विचार या काम, जो सन्तान-से-सन्तानको वंश-क्रमानुसार मिलते आये हैं, और जिनके कारण मनुष्य किसी एक समूहका अंग है—हिन्दू है, मुसलमान है, ईसाई है—उन्हें 'परंपरा' कहा जाता है। हिन्दुओंमें पुनर्जन्मका विचार परंपरागत विचार है। अंग्रेज किसी भी राजनैतिक-शरणार्थीको अपने यहां आश्रय देते हैं, यह उनकी परंपरा है।

(२) प्रथा (Custom) —वे तरीके जिनके अनुसार किसी समूहके लोग अपने दैनिक कार्य करते हों, 'प्रथा' कहाते हैं। हिन्दुओंमें धोती पहननेकी, चौकेमें रोटी खानेकी 'प्रथा' है। जिसप्रकार हम लोग बरतते हैं, वह 'प्रथा' है। हिन्दू हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं, पाश्चात्य ढंगमें हाथ मिलाया जाता है—यह 'प्रथा' है।

(३) क्रिया-कलाप (Ceremonies and Rites)—खास-खास मौकोंपर धार्मिक-भावनासे जो कार्य किये जाते हैं, वे 'संस्कार' (Ceremonies) तथा 'क्रिया-कलाप' (Rites) कहाते हैं। विवाह एक 'संस्कार' है, इस संस्कार में जो भिन्न-भिन्न विधियां की जाती हैं, वे 'क्रिया-कलाप' हैं।

(४) रीतियां तथा रूढ़ियां (Folk-ways and Mores)—समाजके कुछ प्रचलित रीतियां होती हैं, ये रीतियां 'समाजके चलन' (Folk-ways) हैं। इन रीतियोंमेंसे कई रीतियां जब बिल्कुल पक्की होजाती हैं, जिन्हें समाज

ठोक-बजाकर सन्तान-से-सन्तानको देता चला जाता है, वे 'रूढ़ियां' (Mores) कहाती हैं।

परंपरा, प्रथा, क्रिया-कलाप, रीति, रूढ़ियां आदि मिलकर 'सामाजिक-परिस्थिति' बनती है। इसके दो रूप हैं—'बाह्य' तथा 'आभ्यन्तर'। इन सबका वर्णन पहले किया जाचुका है।

'भौतिक-परिस्थिति' तथा 'सामाजिक-परिस्थिति' की तुलना—

'परिस्थिति' के संबंधमें विद्वानोंमें दो विचार पाये जाते हैं। पहला विचार तो यह है कि जैसी 'भौतिक-परिस्थिति' होगी, वैसी 'सामाजिक-परिस्थिति' बन जायगी, मनुष्य वैसी 'सांस्कृतिक-सभ्यता' को जन्म देगा। जिसप्रकारकी जल-वायु होती है वैसा ही तो पेड़ उगता है, जैसी 'भौतिक-परिस्थिति' होती है वैसा ही तो पशु भी बनता चला जाता है। तभी हमने पहले कहा था कि ज़ीराफ़की गर्दन 'भौतिक-परिस्थिति' के कारण लम्बी होगई। इसप्रकारके 'परिस्थिति-वाद' को माननेवालोंका कहना है कि भागनेके कारण हरिणकी पतली-पतली, ऊंची-ऊंची टांगें होगईं, शिकार करनेके कारण शेरके पैने-पैने पंजे होगये। एक पुश्तमें नहीं, पुश्त-दर-पुश्तमें परीक्षण करते-करते प्रकृतिने 'भौतिक-परिस्थिति' की परीक्षण-शालामेंसे गुज़ारकर प्राणीको वैसा बना दिया जैसा आज यह बन गया है। इस विचारके समर्थकोंमें, जैसा-हमने पहले कहा, फ़्रांसके समाज-शास्त्रियोंका नाम विशेषतौरपर लिया जासकता है। मोंटेस्क्यू (Montesquieu), ला प्ले (Le Play), डिमोलिन्स (Demolins) तथा ब्रुन्ह (Brunhes) इस विचारको मानने वालोंमें मुख्य हैं। इंग्लैंडमें बकल (Buckle)तथा जर्मनीमें रैटज़ल (Ratzel)ने विद्वानोंका इस विचार-धाराकी-तरफ़ विशेष ध्यान खींचा। इन सबका कहना है कि जैसे 'भौतिक-परिस्थिति' पौधे-पशु-पक्षीको बदलती रहती है, वैसे 'भौतिक-परिस्थिति' से ही मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक रचनाका, उसकी सभ्यता तथा संस्कृतिका निर्माण होता रहता है। इसे वे 'परिस्थिति-शास्त्र' (Ecology) कहते हैं। आफ़्रीकाके लोग काले क्यों हैं, भारतके लोग गेहुँए क्यों हैं, चीनके लोग पीले क्यों हैं, योरुपके लोग गोरे क्यों हैं?—'भौतिक-परिस्थिति' के कारण! योरुपमें भौतिक-विज्ञानोंका आविष्कार हुआ, भारतमें आध्यात्मिकताका उदय हुआ—'भौतिक-परिस्थिति' के कारण! वहां अत्यन्त शीत होनेसे बरबस उन्हें प्रकृतिके-साथ जूझना पड़ा, इसलिये दिमाग लड़ाते-लड़ाते भौतिक-विज्ञान प्रकट हुए, यहां प्रकृतिकी तरफ़से कुछ कष्ट न था, इसलिये आरामसे परमार्थकी चर्चा शुरु होगई। प्राचीन सभ्यताओंका प्रारंभ बड़ी-बड़ी नदियोंके तटपर हुआ—किसलिये?

इसलिये क्योंकि वहां रहनेकी सुविधा थी, इसीलिये ऐसे ही स्थानोंपर शुरू-शुरू में बड़े-बड़े शहर बने। इस 'परिस्थिति-शास्त्र' (Ecology) का ही परिणाम है कि अमरीकाके कुछ समाज-शास्त्रियोंमें एक नयी लहर चल रही है जिसे 'प्रान्त-विभाजन वाद' (Regionalism) कहते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक देशका 'परिस्थिति' के अनुसार विभाजन करदेना चाहिये। एक 'परिस्थिति' के लोग एक हिस्सेमें, दूसरी 'परिस्थिति' के लोग दूसरे हिस्सेमें बांट देने चाहियें। इस समय तो हर देशका अस्वाभाविक विभाजन हुआ-हुआ है। जो-कुछ था, वह चला आरहा है। परन्तु इसमें लोगोंको असुविधा है। एक स्थानपर भिन्न-भिन्न प्रकारके लोगोंके रहनेकी जगह, एक ही तरहके लोग एक स्थानपर रहने चाहियें। भारतमें भाषावार प्रान्तोंके विभाजनकी मांग है। पिछले दिनों 'आंध्र'-नामका एक नया प्रान्त बना। ये-सब विचार 'परिस्थिति' को प्रधान मानकर चले हुए विचार हैं, यह मानकर चले हुए हैं कि जैसी 'परिस्थिति' होती है वैसी 'सभ्यता' का निर्माण हो जाता है, मनुष्य अपनी 'भौतिक-परिस्थिति' की सन्तान है, उससे भिन्न वह हो ही नहीं सकता।

(२) एक दूसरा विचार है, जो 'भौतिक-परिस्थिति' का मनुष्यपर प्रभाव तो मानता है, परन्तु इतना नहीं मानता कि इस 'परिस्थिति' को मनुष्यका बाप बना दे। इस विचारको माननेवालोंका कहना है कि मनुष्य 'भौतिक-परिस्थिति' को अपनी संस्कृतिके बलसे बदलता रहता है, कभी-कभी बिलकुल नवीन 'भौतिक-परिस्थिति' का निर्माण कर देता है। उदाहरणार्थ, जबसे पंजाबका विभाजन हुआ है, तबसे पंजाबकी राजधानी चंडीगढ़का निर्माण होरहा है। एक बिलकुल सुनसान जगहपर, जहां किसी चीजकी सुविधा नहीं थी, बड़ी-बड़ी, चौड़ी-चौड़ी सड़कें बन गई हैं, बिजली लग गई है, बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी होगई हैं, जंगलमें मंगल होगया है। वर्तमान-युगमें मनुष्य अपने विज्ञानके बलपर दलदलोंको सुखाकर उनकी जगह विशाल-भवन खड़े कररहा है, समुद्रोंमें तारें बिछाकर सैकड़ों मीलोंकी दूरीको दूरी नहीं रहने देरहा। मनुष्य 'भौतिक-परिस्थिति' से नहीं बन रहा, अपनी 'सांस्कृतिक-परिस्थिति' से 'भौतिक-परिस्थिति' को बना रहा है।

हमने पहले विचारमें देखा था कि मनुष्यको 'प्राकृतिक-परिस्थिति' (Natural environment) बनाती है, परन्तु इस दूसरे विचारको माननेवालोंका कहना है कि ये मनुष्यको नहीं बनातीं, मनुष्य इनको बनाता है। अपने पक्षकी पुष्टिमें उनका कथन है कि:—

(क) कलकत्ते या वर्तमान-युगके किसी बड़े शहरको लें, तो कोई समय था जब वहां जंगली लोग रहते थे, उस समय जो बच्चे वहां पैदा होते थे वे बड़े

होकर खेती करते थे, शिकार खेलते थे, मछलियां पकड़ते थे, और जंगली जीवन व्यतीत करते थे। आज भी वहांकी 'प्राकृतिक' अथवा 'भौतिक' परिस्थितियां वही हैं जो पहले थीं, वही जमीन, वही जल-वायु, वही सब-कुछ है, परन्तु आज जो बच्चे वहां पैदा होते हैं, वे बड़े होकर मोटरोंपर सैर करते हैं, प्यानो बजाते हैं, और अपने पूर्वजोंसे सर्वथा भिन्न जीवन व्यतीत करते हैं। क्या कारण है कि 'प्राकृतिक-परिस्थिति इन दोनोंकी वही है, परन्तु इनके जीवनके विकासमें जमीन-आस्मानका भेद है? इसका कारण यह है कि 'प्राकृतिक-परिस्थिति' (Natural environment) मनुष्यको नहीं बनाती, 'सांस्कृतिक-परिस्थिति' (Social or Cultural environment) मनुष्य को बनाती है, और जैसा वह चाहे वैसी 'परिस्थिति' का निर्माण कर देती है।

(ख) इसके अतिरिक्त भारतकी 'भौतिक-परिस्थिति' (Physical or Natural environment) अलग है, योरुपकी अलग, परन्तु दोनों देशोंमें एक-सा विकास होरहा है, वही रेल-तार, वही मोटर-हवाई जहाज, वैसे ही शहर, वैसी ही सड़कें, वैसी ही विचार-धारा। अगर 'भौतिक-परिस्थिति' (Physical environment) ही हमारी 'सभ्यता' और 'संस्कृति' को जन्म देती है, अगर उसीसे मनुष्य वह बनता है जो-कुछ वह है, तो इन देशोंकी 'भौतिक-परिस्थितियों' के अलग-अलग होते हुए, क्यों इनमें आज एक-सा विकास हो रहा है? इसका यही कारण है कि 'भौतिक-परिस्थिति' सभ्यता तथा संस्कृतिको नहीं जन्म देती, सभ्यता तथा संस्कृति 'भौतिक परिस्थिति' का निर्माण करती है। तभी तो भिन्न-भिन्न 'भौतिक-परिस्थितियों' के होतेहुए भी इन देशोंमें एकही प्रकारकी सभ्यता फैल रही है।

अस्लमें, उक्त दोनों विचार एकदेशीय हैं। न 'भौतिक-परिस्थिति' ही सब-कुछ है, न 'सामाजिक या सांस्कृतिक-परिस्थिति' ही सब-कुछ है। भौतिकका सामाजिक या सांस्कृतिकपर, और इन दोनोंका भौतिक परिस्थितिपर प्रभाव पड़ता है। दोनों दृष्टिकोण अपना इकतरफापन छोड़ दें, तो दोनों ठीक हैं, सिर्फ अपनी-अपनी बातपर अड़े रहें, तो दोनों गलत हैं।

'भौतिक-परिस्थिति' (Physical environment) तथा 'सामाजिक-परिस्थिति' (Social environment) के अतिरिक्त 'आर्थिक-परिस्थिति' (Economic environment) भी महत्वकी वस्तु है, परन्तु इसके विषय में हम 'नागरिक तथा ग्रामीण जीवनमें भेद' (Contrasts of Urban and Rural Life)—इस अध्यायमें विवेचन करेंगे क्योंकि इस विषयका नगर तथा ग्रामके-साथ विशेष संबंध है।

प्रश्न

१. 'परिस्थिति' (Environment) और 'प्राणी' (Organism) का आपसमें क्या संबंध है ?
२. 'परिस्थिति' के कुछ उदाहरण दीजिये और समझाइये कि 'परिस्थिति' किसे कहते हैं ?
३. 'अनुकूलन' (Adaptation) क्या है ? तीन प्रकार के 'अनुकूलन' (Adaptation) क्या हैं —समझाइये ?
४. मनुष्य 'भौतिक-परिस्थिति' (Physical environment) का परिणाम है—इस विचार के माननेवाले अपने कथनकी पुष्टि कैसे करते हैं ?
५. मनुष्य 'सामाजिक-परिस्थिति' (Social environment) का परिणाम है—इस विचार के माननेवाले अपने कथनकी पुष्टि कैसे करते हैं ?
६. 'भौतिक-परिस्थिति' का 'सामाजिक-परिस्थिति' पर, और 'सामाजिक' का 'भौतिक' पर क्या प्रभाव है ?
७. 'सामाजिक-दायभाग' (Social heritage) क्या है, इसकी व्याख्या कीजिये ।
८. 'परिस्थिति-शास्त्र' (Ecology) क्या है ? समझाइये ।

[६]

भौगोलिक-परिस्थितियोंका समाजके जीवनपर प्रभाव

(GEOGRAPHIC CONDITIONS AS AFFECTING THE LIFE OF SOCIETY)

हम पिछले अध्यायमें देख आये हैं कि 'भौतिक-परिस्थिति' (Physical environment) तथा 'सामाजिक-परिस्थिति' (Social environment) का मनुष्यकी रचनामें बड़ा भारी हाथ है। 'भौतिक-परिस्थिति' प्राणियोंकी 'प्रारंभिक-परिस्थिति' (Primary environment) है, इसके बाद ही 'सामाजिक-परिस्थिति' को स्थान मिल सकता है। इस 'प्रारंभिक-भौतिक-परिस्थिति' (Primary physical environment) का ही मुख्य-रूप 'भौगोलिक-परिस्थिति' (Geographical environment) है। इस अध्यायमें हम मनुष्यकी इसी परिस्थितिका वर्णन करेंगे।

'भौगोलिक-परिस्थिति' दो तरहकी होसकती है। एक वह जिसपर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं होसकता, यह 'नियन्त्रणसे स्वतंत्र' (Uncontrollable) कहाती है; दूसरी वह है, जो है तो भौगोलिक, परन्तु जिसपर हम किसीप्रकारका नियन्त्रण करसकते हैं, यह 'नियन्त्रणके आधीन' (Controllable) कहाती है। सूर्य, पृथिवी, समुद्र, जंगलके जानवर, जंगल—ये-सब हमारे नियन्त्रणसे स्वतंत्र हैं, हम इनका कुछ नहीं बना सकते, हां, सूर्यकी रश्मियोंसे हम आग जला सकते हैं, पृथिवीपर खेती करसकते हैं, समुद्रमें नौकाएँ चला सकते हैं, जंगली जानवरोंको पकड़कर उन्हें पालतू बना सकते हैं, जंगलको काटकर उसकी जगह बाग-बगीचे लगा सकते हैं। पहली नियंत्रणसे 'स्वतंत्र', दूसरी उसके 'आधीन' है।

'भौगोलिक-परिस्थिति' (Geographical envrionment) वैसी-की-वैसी बनी रहती, अगर बीच में मनुष्य न आपड़ता। जंगली जानवर अनन्त-कालतक जंगलोंमें चरते रहते, कोई खूंटेपर आकर न बंधता, पृथ्वीपर जंगली पेड़ होते,

कहीं गेहूं और चावलके हरे-हरे खेत दृष्टि-गोचर न होते, समुद्र-आसमानको चूमनेवाली तरंगें उछालता रहता, उसकी छातीको चीरनेवाले जहाज न होते। मनुष्यने उच्छृङ्खल प्रकृतिको अपने विज्ञानकी रस्सियोंसे बांधकर बैठा दिया। परन्तु क्या 'भौगोलिक-परिस्थिति' (Geographical environment) इसप्रकार मनुष्यसे हार मान सकती है ? पुराना इतिहास क्या बताता है ? सुमेरियन सभ्यताका मानवने महान् विकास किया था, परन्तु इतिहासकार कहते हैं कि क्योंकि उस समयका मनुष्य मलेरियाका इलाज न कर सका, इसलिये वह सभ्यता मट्टीमें मिल गई, इसीप्रकार अन्य सभ्यताओंकेसाथ हुआ। मनुष्य समझता है कि वह प्रकृतिपर विजय पा लेगा, भौगोलिक-परिस्थितियोंको पराजित कर नवीन-समाजकी रचना कर डालेगा, नयी सभ्यता और नयी संस्कृतिको जन्म देगा, परन्तु 'भौगोलिक-परिस्थिति' इतनी जबर्दस्त है कि बार-बार मनुष्यको पछाड़ गिराती है, और उसके अभिमानको चकनाचूर कर देती है।

१. 'भौगोलिक-वाद' (GEOGRAPHICAL SCHOOL)

यह सब देखकर समाज-शास्त्रियोंमें एक सम्प्रदाय ऐसा उत्पन्न होगया है, जो कहता है कि समाजके जीवनपर भौगोलिक-परिस्थितियोंका इतना अमिट प्रभाव होता है कि अगर कहा जाय कि मनुष्य जो-कुछ है भौगोलिक-परिस्थितियोंके कारण ही है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस विचार-धाराका प्रारंभ अरस्तु (Aristotle) से कहा जासकता है, परन्तु वर्तमान-युगमें कुछ फ्रांसीसी-विद्वानोंने इस विचारका विशेष-रूपसे मनन किया है। इस विचारके मुखिया फ्रेंच विद्वान् मौंटेस्क्यू थे। उनके बाद इस विचारका पृष्ठ-पोषण ला प्ले ने किया, ला प्ले के बाद डिमोलिन्स ने। इन विद्वानोंने फ्रांसके अनेक भौगोलिक भागोंका इस दृष्टिसे अध्ययन किया कि 'भौगोलिक-परिस्थिति' का सामाजिक-विकासपर क्या प्रभाव पड़ता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, भौगोलिक-परिस्थितिमें समाज का विकास हुआ है—इस सिद्धांतको 'परिस्थिति-शास्त्र' (Ecology) कहा जाता है। ला प्ले आदिके विचारोंका अन्य विद्वानोंपर असर पड़ा, और हौवर्ड ओडम (Howard W. Odum) ने 'प्रान्त-विभाजन-वाद' (Regionalism) पर विचार करना शुरू किया जिसका अभिप्राय यह है कि 'भौगोलिक-परिस्थिति' को आधार बनाकर प्रान्त बनाने चाहियें। जर्मनी में श्री रैटजल (Ratzel) ने 'भौगोलिक-वाद' (Geographical School) पर बल दिया, और 'Human Geography' नाम के एक विशाल ग्रन्थकी रचना की। इंग्लैंडमें श्री बकल महोदयने मानव-समाजका इतिहास भौगोलिक-

दृष्टिसे लिख डाला जिसमें दर्शाया गया कि 'भौगोलिक-परिस्थिति' ही मानवीय-सभ्यताका निर्माण करती है। अमरीका के समाज-शास्त्रियों में एलेन सैम्पल (Ellen C. Sample), डैक्सटर (E. G. Dexter) तथा एल्सवर्थ हटिंगटन (Ellsworth Hutington) इसी विचार-धाराको माननेवाले हैं। इन विद्वानोंने हम लोगोंका ध्यान इस बातकीतरफ बड़े ज़ोरसे खींचा कि 'भौगोलिक-परिस्थितियां' ही किसी देशकी सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आर्थिक स्थितिको बनाती हैं, इसलिये हम सब इसीके ऋणी हैं।

अब हम यह दर्शानेका प्रयत्न करेंगे कि 'भौगोलिक-परिस्थितियों' का मानव-समाजके विकासमें क्या-क्या प्रभाव पड़ता है।

१. 'जन-संख्या' (Population) पर 'भौगोलिक-परिस्थिति' का प्रभाव—

संसारमें ज़मीनका बहुत बड़ा हिस्सा खाली पड़ा है, कुछ थोड़े-से हिस्सेमें ही सारी जन-संख्या इकट्ठी हुई पड़ी है। अगर धरतीको पांच बराबर-बराबरके हिस्सोंमें बांटा जाय, और इसीप्रकार मनुष्योंको भी पांच बराबर-बराबरके हिस्सोंमें बांटा जाय, तो मनुष्योंके पांच हिस्सोंमेंसे चार हिस्सेके लोग धरतीके पांच हिस्सों मेंसे सिर्फ एक हिस्सेमें बसेहुए हैं। धरतीके पांच हिस्सोंमेंसे सिर्फ एक हिस्सेमें इतने लोग क्यों बसे हैं, चार हिस्से खाली क्यों पड़े हैं? इसका यही कारण है कि यह हिस्सा उपजाऊ है, उसमें नदियां हैं, समुद्र हैं, समुद्रसे आयात-निर्यात हो-सकता है, नदियोंसे धरतीको सींचा जासकता है। बड़े-बड़े शहर वहीं बसते हैं जहां भौगोलिक-दृष्टिसे बसनेकी सुविधा होती है। रेगिस्तानमें क्यों शहर नहीं बस जाते? इसीलिये कि वहां शहर बसेंगे, तो बसकर क्या करेंगे? जहां कुछ खानेको नहीं, पीनेको नहीं, रहनेको नहीं—ऐसी जगह मनुष्य नहीं बसता। संसारकी जितनी पुरानी सभ्यताएं हैं, सबका उद्गम-स्थान नदियोंके तट रहे हैं। 'पर्वतानां उपस्थे नदीनां च संगमे। धियो विप्रा अजायत'—पर्वतोंके निकट, नदियोंके किनारे मनुष्यकी बुद्धि जागती है।

'भौगोलिक-परिस्थिति' के कारण जन-संख्या एक जगह घनीभूत होकर रहने लगती है, और जब मनुष्योंकी किसी स्थानपर घनी आबादी होजाती है, तब दूसरे फायदे उन्हें अपने-आप मिलने लगते हैं। 'भौगोलिक-परिस्थिति' से तो गंगाके किनारे अलाहाबाद, बनारस, कलकत्ता बसे, और जब वहांकी आबादी घनी होगई, तो उनको दूसरे फायदे भी होने लगे। जहां घनी आबादी होगी वहींपर सबतरहके लोग मिलेंगे, वहीं श्रम-विभाग होगा, वहीं तरह-तरहके आविष्कार होनेकी संभावना होगी, आविष्कार होंगे तो उन्हें संभालनेवाले भी वहां मिल जावेंगे। लोग गांवकी जगह शहरमें जाना क्यों पसन्द करते हैं? इसीलिये क्योंकि

शहरमें आबादी घनी होती है, ज्यादा जन-संख्या होनेकेकारण सबतरहकी सुविधाएं वहां मिल जाती हैं। परन्तु शुरु-शुरुमें आबादी घनी क्यों होती है? सिर्फ इसलिये क्योंकि वहांकी 'भौगोलिक-परिस्थिति' ऐसी होती है कि लोग दबादब वहां आकर रहने लगते हैं।

२. 'आर्थिक-धंधों' (Economic Occupations) पर 'भौगोलिक-प्रभाव'—

अर्थ-शास्त्रका काम 'मांग तथा मांगकी पूर्ति' (Demand and supply) के नियमोंका पता लगाना है। मांगको पूरा करनेकेलिये भिन्न-भिन्न साधनोंका प्रयोग होता है। कोई व्यापार करके दूसरोंकी मांगको पूरा करता है, कोई उद्योग-धंधेसे, कोई मजदूरी करके। ये व्यापार, उद्योग-धंधे, मजदूरी 'भौगोलिक-परिस्थिति' से निश्चित होती हैं। अगर किसी जगह कच्चा माल है, जूट, कोयला, लोहा, नमक आदि हैं, तो वहां उनके कारखाने खुल जाते हैं, कोयलेकी कानें खुद जाती हैं, हजारों और लाखोंकी संख्या में मजदूर वहां आबसते हैं। जमशेदपुरमें टाटाका लोहेका कारखाना खुल गया, सांभर झीलपर नमकका कारखाना खुल गया। भिन्न-भिन्न व्यवसायोंके लोग वहां आबसे। 'भौगोलिक-परिस्थिति' का व्यापार, उद्योग-धन्धों, मजदूरी आदिपर प्रभाव पड़ता है, इन उद्योग-धन्धोंका सामाजिक-जीवनपर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, जौनसार बावरकी 'भौगोलिक-परिस्थिति' ऐसी है कि खेतीके बगैर वहां कोई चारा नहीं। जमीन थोड़ी-थोड़ी है। अगर हरेक भाई शादी करे, तो हर सन्ततिके बाद जमीनके इतने छोटे-छोटे टुकड़े होजायं कि किसीके पास इतनी जमीन भी न रहे जिसे जोतकर वह एक परिवारका भी पेट भर सके। इसका हल उन्होंने क्या किया? वहां सिर्फ बड़ा भाई शादी करता है, और वही पत्नी सब भाइयोंकी साझी पत्नी समझी जाती है—इसप्रकार 'भौगोलिक-परिस्थिति' का सीधेतौरपर तो प्रभाव उद्योग-धंधेपर हुआ, किन्तु परिणाम-स्वरूप उसका प्रभाव सामाजिक-जीवन पर भी पड़ गया।

३. 'प्रगति-शीलता' तथा 'कूप-मंडूकता' (Progress and Stagnation) पर 'भौगोलिक-प्रभाव'—

कोई देश प्रगति-शील है, या कूप-मंडूक है, आगे बढ़ रहा है, या जहां-का-तहां खड़ा है—यह देशकी 'भौगोलिक-परिस्थिति' निर्धारित करती है। जो देश सब देशोंसे कटाहुआ होगा, एकतरफ ऐसे पहाड़ हों जिन्हें कोई लांघ न सके, दूसरीतरफ ऐसे समुद्र हों जिन्हें कोई पार न करसके, तीसरी तरफ ऐसे रेगिस्तान हों जिनको पार करना जानपर खेल जाना हो, चौथी तरफ कोई और बला हो, वहां कौन पहुंच सकेगा? न वहांके लोग अपने देशसे बाहर जासकेंगे, न बाहरके वहां

आसकेंगे। ऐसी भौगोलिक-परिस्थितियोंवाला देश उन्नति-शील नहीं होसकता, क्योंकि उन्नति होती है लेन-देनसे, विचारोंका लेन-देन, वस्तुओंका लेन-देन, व्यापारका लेन-देन। हां, जिस देशके चारोंतरफ पहाड़ हों, परन्तु पहाड़ोंमें आने-जानेके दर्रे भी हों, नौकाओंके चलने के लिये दरिया हों, वहां आवागमन होता रहेगा, और वह देश कूप-मंडूकता नहीं धारण करेगा। कभी-कभी 'प्राकृतिक-परिस्थिति' किसी देशकी रक्षाका कारण बन उस देशकी समृद्धिका कारण भी बन सकती है। पहाड़, नदी, समुद्र, शत्रुको आसानीसे निकट नहीं आने देते। कोई समय था जब नील नदीके कारण मिस्रने महान् सभ्यताको जन्म दिया था, उसके खेतोंको दरिया सींचता था, हरे-हरे खेत लह-लहाते थे, और आर्थिक-समस्या से मुक्त होकर वहांके निवासी कला और साहित्यमें जीवन बिताते थे। वहांकी 'भौगोलिक-परिस्थिति' मिस्रकी सभ्यताकी, जंगली जातियों अथवा अन्य आक्रांताओं से रक्षा करती रही। वहां पहुंच पाना ही कठिन था। धीरे-धीरे जब यातायात-के साधन बढ़े, तब वहां आक्रान्ताओंने आक्रमण कर उस सभ्यताको नष्ट कर दिया।

४. 'राजनैतिक-सुव्यवस्था' (Political Order) पर 'भौगोलिक-प्रभाव'—

जो देश दुर्गम हो, और जहां मनुष्यका पेट भरनेकेलिये प्रकृतिका कोई भंडारा न खुला हो, वहां शासनकी सुव्यवस्था नहीं रहती। इसका कारण है। क्योंकि देश दुर्गम है, इसलिये वहां कोई आक्रान्ता तो आसानीसे पहुंच नहीं सकता, इसीलिये वहांके रहनेवालोंको अपनी सुरक्षाकी बहुत बड़ी आवश्यकता भी नहीं रहती— वे नहीं चाहते वहां पुलिस हो, फौज हो। इसीप्रकार जहां प्रकृतिका भंडारा नहीं खुला, कोई काम नहीं, कोई पैदावार नहीं, उनका गरीब होना भी स्वाभाविक है। गरीबीमें भी कोई नहीं चाहता कि उसपर कोई शासन करे, वह तो यही चाहता है कि उसे मौका मिले, और वह किसी को लूटे। इसके विपरीत जहां 'भौगोलिक-परिस्थिति' के कारण शत्रु आक्रमण कर सकता है, वहांके लोग चाहते हैं कि उनकी रक्षाकेलिये पुलिस हो, फौज भी हो जो उनकी रक्षा कर सके। जहां प्रकृतिका भंडारा खुला है, मिलें हैं, कारखाने हैं, व्यापार है, वहांके लोग सम्पन्न होते हैं, वे चाहते हैं कि उनकी सम्पत्ति को कोई छीन न ले, इसलिये वे राजनैतिक सुव्यवस्था में पूरा सहयोग देते हैं। पहाड़ों के रहनेवाले दुर्गमता तथा निर्धनताके कारण शासनकी सुव्यवस्थामें हाथ नहीं बंटाते, मैदानोंके रहनेवाले शत्रुके आने-जानेकी सुगमता के कारण उससे सुरक्षा तथा अपने धन-धान्यको बचानेकेलिये सुशासनमें पूरा सहयोग देते हैं।

५. 'शासन के प्रकार' (Form of Government) पर 'भौगोलिक-प्रभाव'—

मनुष्यकी कमाईके दो मुख्य साधन हैं—खेती तथा व्यापार। जब लोगोंके पास काफी जमीन थी, तब वे खेती करते थे, कृषिकार कहाते थे, भूमिके स्वामी थे। इन भूमिके स्वामियोंमें कुछ लोगोंकेपास ज्यादा भूमि थी, कुछकेपास कम थी। जबतक भूमि बिना मूल्यके मिलती थी तबतक तो ढर्रा ठीक चलता रहा, परन्तु जब जमीन कम होने लगी, तब उसका मूल्य पड़ने लगा। जिनके पास पहलेसे ही ज्यादा जमीन थी, वे अधिक रुपया देकर और जमीन खरीदने लगे, जिनके पास थोड़ी थी, और वह भी मुफ्त में आयी थी, वे उसका बढ़ता दाम देखकर उसे बेचने लगे। जिनकेपास वे जमीन बेचते थे, क्योंकि वे सारी जमीन को इकले नहीं बोसकते थे, इसलिये जमीन बेचनेवाले ही खरीदारोंके पास मजदूरी पर खेती करनेकेलिये काम करने लगे। इस प्रकार जमींदारों तथा मजदूरों का एक वर्ग पैदा होगया। कभी-कभी तो यह जमींदारी-प्रथा उक्तप्रकार विकसित होती है, किन्तु कभी-कभी कुछ हमलेवर आकर दूसरे मुल्कके लोगोंसे जमीनें छीनकर उनपर कब्जा कर लेते हैं। इन दोनों तरीकोंमेंसे किसी तरह भी जो जमींदार बनते हैं, उनकी एक अलग श्रेणी बन जाती है, यह 'कुलीन-श्रेणी' (Aristocracy) कहलाती है; दूसरोंको कृषक, मजदूर, किरायेदार तथा हीन-श्रेणीके लोग कहा जाता है। कुलीन-श्रेणीका आधार क्योंकि जमीन है, अतः वह बड़ी कठिनाईसे टूटती है, क्योंकि धन-सम्पत्ति जल्दी नष्ट होसकती है, जमीन पुश्त-दर-पुश्त चलती चली जाती है।

इस कुलीन-श्रेणीकी प्रथाको अगर कोई चीज तोड़ती है, तो वह व्यापार है। जो लोग खेतीसे आजीविका नहीं चलाते, वे ऐसी 'भौगोलिक-परिस्थितियों' में चले जाते हैं जहां वणिज-व्यापार होता है। वहां वे क्या देखते हैं? एक मजदूर देखते-देखते लखपति बन जाता है, लखपति देखते-देखते मजदूरी करने लगता है। व्यापार में लक्ष्मी उछल-उछलकर उधर-की-इधर और इधर-की-उधर छलांगें भरती है। यह देखकर मनुष्य सोचने लगता है, कौन 'कुलीन', और कौन 'अकुलीन', कौन 'बड़ा', और कौन 'छोटा'। यही विचार मनुष्यकी समानताके भावको पैदा कर देता है, और 'कुलीन-श्रेणीके राज्य' (Aristocratic form of Government) के स्थानमें 'प्रजा-तंत्र-शासन' (Democratic form of Government) की भावना उत्पन्न होजाती है। इसके अतिरिक्त हम पहले देख आये हैं कि जहां 'भौगोलिक-परिस्थिति' अनुकूल होती है, वहीं मनुष्योंकी घनी आबादी होती है, जहां 'भौगोलिक-परिस्थिति' अनुकूल होती है, वहीं व्यापार पनपता है। घनी आबादीमें जब व्यापारी लोग अधिक होते हैं, तब उन्हें हरसमय

अपने विचारोंका विनिमय करनेकी सुविधा रहती है। व्यापारी जव ऊंच-नीच का भेद मिटता देखता है, तव वह इस विचारको सारी घनी आवादीमें फैला देता है, इससे भी 'भौगोलिक-परिस्थिति' के कारण प्रजा-तंत्रके विचारका उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

६. 'रुचि' तथा 'सामाजिक-प्रथाओं' पर 'भौगोलिक-प्रभाव' (Tastes and Social Customs)

जहांकी जल-वायु गर्म होगी, वहां खुले वस्त्र धारण किये जायेंगे, धोती, शाल, दुपट्टा वहींके वस्त्र हैं; जहां सर्दी अधिक होगी, वहां कसेहुए वस्त्र पहने जायेंगे, कोट, पतलून सर्द देशोंके वस्त्र हैं। गर्म देशोंमें लोग चौड़े-चौड़े सेहन रखेंगे ताकि वाहर सो सकें, सर्द देशोंमें कपड़ोंकी तरह कमरे भी वन्द-से वनेंगे। इन्हीं सवसे वहांके लोगोंकी रुचियां वन जायेंगी। धोती पहननेवालोंको कोट-पतलूनसे रुचि नहीं होती, कोट-पतलूनवालोंको धोतीसे रुचि नहीं होती; सेहन रखने वालोंको वन्द कमरे पसन्द नहीं, वन्द कमरेवालोंको वड़े-वड़े सेहन पसन्द नहीं। रुचिके अनुसार सामाजिक-प्रथाओंपर भी जल-वायुका प्रभाव है। गर्म देशोंमें फुटवाल खेलनेकी प्रथा नहीं, नकलमें कुछ कर वैठना दूसरी वात है, प्रथा होना दूसरी वात है। गर्मी हो, और फुटवाल खेला जाय, तो परेशानी हो जाय। गर्म देशोंमें दोपहरको सोनेकी प्रथा है, सर्द देशोंमें दिनको कोई नहीं सोता। ये सव वातें देश की 'भौगोलिक-परिस्थिति' के ऊपर निर्भर रहती हैं।

७. 'सदाचार-सम्वन्धी विचारों' (Ethics) पर 'भौगोलिक-प्रभाव'—

हम पहले देख आये हैं कि 'भौगोलिक-परिस्थिति' का प्रभाव शासनके प्रकारके ऊपर पड़ता है। कृषि-प्रधान इलाकोंमें 'कुलीन-श्रेणी' (Aristocracy) पैदा हो जाती है, व्यापार-प्रधान इलाकोंमें 'प्रजा-तंत्र-भावना' (Spirit of Democracy) पैदा हो जाती है। कुलीन-श्रेणी के लोगों में अपने मालिक के हितकेलिये साथके दूसरे कुलीनको धोखा देना एक गुण समझा जा सकता है, प्रजा-तंत्रमें किसी विदेशी व्यापारीको भी धोखा देना पाप समझा जा सकता है। अमरीका में किसीसमय दास-प्रथा थी। इस प्रथाको आधार वनाकर उत्तरी तथा दक्षिणी अमरीका में घनघोर संग्राम हुआ। उत्तरी-अमरीका दास-प्रथाको पाप समझता था इसलिये इसे हटाना चाहता था, दक्षिणी-अमरीका इसे परमात्मा की देन समझता था इसलिये इसकेलिये जान लड़ा रहा था। ऐसी स्थिति क्यों उत्पन्न हुई? इसका भौगोलिक कारण यही था कि उत्तरी-अमरीका में इसप्रकार का व्यापार था जिसके लिये दासोंकी जरूरत नहीं थी, दक्षिणी-अमरीका को अपनी खेती आदिके-

लिये सस्ते और मुफ्तके मजदूरोंकी जरूरत थी, इसलिये वह दास-प्रथाको पाप नहीं समझता था। गर्म मुल्कोंमें जहां बिना मेहनत किये सब-कुछ मिल जाता है, मित-व्ययता, परिश्रम आदिका महत्व उतना नहीं समझा जाता जितना सर्द मुल्कोंमें समझा जाता है। सर्द मुल्कोंकी मितव्ययता गर्म मुल्कवालोंके लिये कंजूसी है, सर्द मुल्कवालोंका आजीविकाकेलिये हाथ-पैर मारना गर्म मुल्कवालोंकेलिये लालच है। पाप-पुण्य, सदाचार-दुराचारके विचार 'भौगोलिक-परिस्थिति' के परिणाम हैं।

८. 'धर्म' तथा 'धार्मिक-कथानकों' (Religions and Mythologies) पर 'भौगोलिक-प्रभाव'—

(क) जिसप्रकारकी 'भौगोलिक-परिस्थिति' में लोग रहते हैं उसीप्रकार का देवी-देवताओंका विचार वे खड़ा कर लेते हैं। खुले मैदानोंमें रहनेवाले, जिन्हें सूर्य और चन्द्रका सदा दर्शन होता है, सूर्य और चन्द्रको देवता मानने लगते हैं; पहाड़के रहनेवाले ऐसे देवताकी कल्पना करते हैं जिसका पर्वतोंमें वास है, जो बादलोंकी सवारी करता है, बिजलीके रूपमें दहाड़ता है; समुद्रके किनारे रहनेवाले समुद्रको, और नदीके किनारे रहनेवाले नदीको देवता मानकर उनकी पूजा करने लगते हैं। गर्म देशोंके रहनेवाले धधकतीहुई आगके नरककी कल्पना करते हैं, ठंडे देशोंके रहनेवाले झंझावात और ठंडी हवाओंवाले नरककी कल्पना करते हैं। इन सब विचारोंमें 'भौगोलिक-परिस्थिति' ही कारण है।

(ख) 'भौगोलिक-परिस्थिति' के कारण जिसप्रकारका व्यापार लोग करने लगते हैं, उसीप्रकारके देवी-देवताओंकी कल्पना कर लेते हैं। ऋतुके देवताओंकी पूजा इसीसे चली है। कोई गहूंको पूजता है, कोई नारियलको पूजता है। कृषि-सम्बन्धी देवताओंकी तरह व्यापारके देवता भी हैं, और उनकी भी पूजा होती है। प्रायः समझा जाता है कि ये देवता कृषि तथा व्यापारका नियंत्रण करते हैं, अतः इनको संतुष्ट रखनसे कृषि तथा व्यापारमें वृद्धि होगी।

(ग) 'भौगोलिक-परिस्थिति' शासन-व्यवस्थाके भिन्न-भिन्न प्रकारोंको जन्म देती है—यह हम देख आये हैं। कहीं 'स्वेच्छाचारी-शासन' (Despotism) हुआ, तो कहीं 'पितृ-शासन' (Patriarchal government) हुआ—ये-सब 'भौगोलिक-परिस्थिति' से ही होते हैं। जैसा शासन होगा वैसे देवी-देवताओंकी कल्पना होने लगती है। 'स्वेच्छाचारी-शासन' में ऐसे ही देवताकी कल्पना होती है, जो स्वेच्छाचारी शासककीतरह स्वेच्छाचारी है, खूनका प्यासा है। कोई उसपर बकरा चढ़ाता है, कोई अपनी सन्तान चढ़ाता है, कोई अपनेको ही चढ़ा देता है। 'भौगोलिक-परिस्थिति' से जहां 'पितृ-शासन' पनपता है वहां देवी-देवताको माता-

पिताके समान समझा जाने लगता है, लोग उनसे याचना करते हैं, उनकी मूर्तियां बनाते हैं, उनके सामने रोते-धोते हैं, पुत्रकीतरह देवी-देवतासे अपनी मनोकामना पूर्ण करनेकी याचना करते हैं।

९. 'भावना तथा मानसिक-प्रवृत्ति' (Moods and Psychic Tendencies) पर 'भौगोलिक-प्रभाव'—

मौसमका मनपर कितना भारी असर है, इसे कौन नहीं जानता। कड़-कड़ाती धूपमें जब बादल उमड़-उमड़कर आने लगते हैं, तब मनका मयूर नाच उठता है। दिसम्बरकी सर्दीमें अगर साथ बादल भी आ घिरें तो अंगीठीके सामनेसे उठने को जी नहीं करता, उसीसमय अगर बादल फट जांय, सूर्य चमक उठे, तो उछलने-को मन करने लगता है। ऋतुका मनुष्यकी मानसिक-प्रवृत्तियोंपर भारी असर है। शुरु-शुरुमें खुश्क और गर्म जगहपर, ऐसी जगह पर जहां प्रकृतिसे लड़ने-भिड़नेमें ही मनुष्य की सारी शक्ति व्यय नहीं हो जाती थी, प्राथमिक-सभ्यताका जन्म हुआ, क्योंकि वहां 'भौगोलिक-परिस्थितियों' के अनुकूल होनेके कारण मनुष्य खाने-पीनेकी बातको छोड़कर कोई ऊंची बातें भी सोच सकता था। उसके बाद मनुष्यकी प्रवृत्ति गर्मसे सर्द मुल्कमें जाकर रहनेकी हुई, क्योंकि वहांकी जल-वायु स्वास्थ्यकेलिये हितकर थी। पहले-पहल सर्द जल-वायुमें भौतिक-समस्याओंसे ही मनुष्य इतना उलझा रहता था कि ऊंची बातोंकीतरफ उसका ध्यान ही नहीं जासकता था, इसलिये ऊंची सभ्यताओंका विकास वहां पहले नहीं हुआ। योरुपको सभ्य हुए अभी थोड़ी ही शताब्दियां बीती हैं, जब कि ईजिप्ट, बैबीलोन, भारत, चीन आदि गर्म देशोंकी संस्कृतियां बहुत पुरानी हैं। मानसिक-विकासकेलिये सबसे अच्छी जल-वायु वहांकी समझी जाती है, जहां उतराव-चढ़ाव हो, एक-सी-ही मौसम न हो। जैसे दिनके पीछे रात आती है, दिनको हम परिश्रम करते हैं, रातको सोकर फिर तरोताजा हो जाते हैं, इसप्रकार जहां सर्दी-गर्मीका चक्र चले, वहां मनुष्य मेहनत करता है, मेहनत करनेके बाद आरामसे फिर मुस्तैद होजाता है। ऐसी जल-वायुमें मनका बहुत ऊंचा उड़ान होता है। मनके ऊपर मौसमका असर क्या होता है, इस विषयका अध्ययन भिन्न-भिन्न तरहसे हो रहा है। अपराधोंके विषयमें ऋतुको ध्यानमें रखतेहुए किये गये निरीक्षणोंसे पता चलता है कि गर्मीके दिनों मार-काट, तथा सर्दीके दिनोंमें चोरी-डकैती-लूट अधिक होते हैं। दिनके प्रकाशके बजाय रातके अन्धेरेमें ज्यादा अपराध होते हैं, यहांतक कि आत्मघात जिसका सम्बन्ध बहुत-कुछ व्यक्तिके मनसे है, खास-खास मौसममें अधिक होता पाया गया है। आत्मघात उन दिनोंमें इतना ज्यादा नहीं होता जिन दिनों सर्दी आदिके कारण लोग बेकार होते

हैं, और इसलिये जिन दिनों आत्मघात की ज्यादा संभावना होनी चाहिये, वल्कि आत्मघात प्रायः वसन्त ऋतुमें, या गर्मीमें अधिक होते देखे गये हैं।

१०. 'मानव-समूह' और 'संस्कृतिके विस्तार' (Diffusion of People and Cultures) पर 'भौगोलिक-प्रभाव'—

'मानव-समूह' एक देशसे दूसरे देशमें चला जाता है। कभी वड़ी संख्यामें 'मानव-समूह' का दूसरे देशसे 'आव्रजन' (Immigration) होता है, कभी 'निर्व्रजन' (Emigration) होता है। इसप्रकार 'मानव-समूह' की जन-संख्याका कुछ भाग कहीं, और कुछ भाग कहीं जावसता है। कोई समय था जब अंग्रेज लोग वड़ी संख्यामें अमरीका में जाकर वसे थे। कभी-कभी लड़ाईके समय भी एक वड़ी जन-संख्या दूसरे देशमें जावसती है। सिकन्दरने जब भारतपर आक्रमण किया, तो अनेक यवन यहींपर वस गये। व्यापार भी मानव-समूहके दूसरे देशोंमें जाकर वसनेका कारण होता है। अनेक भारतीय व्यापारके कारण वर्मा, लोलोन, मलाया आदिमें जावसे हैं। आव्रजन-निर्व्रजन-युद्ध-व्यापार—इनके कारण जो 'मानव-समूह' एक जगहसे दूसरी जगह जावसते हैं, उसका कारण भी 'भौगोलिक-परिस्थिति' है। जिन रास्तोंसे वे जाते हैं, वे प्रकृतिके वनायेहुए रास्ते हैं। कहीं नदी है तो नौकाकेद्वारा, कहीं पहाड़का दर्रा है तो ऊंटोंकेद्वारा, कहीं वन्दरगाह है तो जहाजकेद्वारा यह आना-जाना होता है। लोग इधर-से-उधर और उधर-से-इधर जाते भी क्यों हैं? इसीलिये कि कहीं कोयलेकी कान निकल आयी, कहीं मट्टीका तेल निकल आया, कहीं सोना, कहीं चांदी, कहीं लोहा निकला। प्रकृतिकी इन भौगोलिक देनोंका लाभ उठानेकेलिये सारा यातायात होता है, और इसप्रकार 'मानव-समूह' एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानको आया-जाया करता है।

मनुष्यकेसाथ मनुष्यकी संस्कृति चलती-फिरती रहती है। कभी-कभी मनुष्य नहीं चलता, परन्तु संस्कृति वड़ी लम्बी दौड़ लगाती है। विचारोंकी गति मनुष्यकी गतिसे तीव्र है, परन्तु क्योंकि पहले-पहल मनुष्य ही एक देशसे दूसरे देशमें जाता है, विचार मनुष्यके साथ जाते हैं, और मनुष्य 'भौगोलिक-परिस्थिति' के कारण अपना स्थान वदलता रहता है, इसलिये मनुष्यकेसाथ संस्कृति भी 'भौगोलिक-परिस्थिति' के कारण ही अपना स्थान वदलती रहती है।

२. 'भौगोलिक-वाद' कहाँ तक ठीक है?
(GEOGRAPHICAL SCHOOL EXAMINED)

समाज-शास्त्रकेलिये भौगोलिक-दृष्टिका महत्व यह है कि सामाजिक-परिवर्तन यूंही आप-से-आप नहीं हो जाते, ना ही ये मनुष्यके किये होते हैं। संसारमें

कार्य-कारणका नियम काम कर रहा है, और इन सामाजिक-परिवर्तनोंका कारण 'भौगोलिक-परिस्थिति' है। परन्तु प्रश्न होता है कि 'भौगोलिक-परिस्थितियों' से ही सब सामाजिक-परिवर्तन होते हैं, इन परिवर्तनोंका और कोई दूसरा कारण नहीं है—यह दृष्टि-कोण कहां तक ठीक है ?

(१) 'भौगोलिक-वाद' (Geographical school या Geographical determinism) का सबसे बड़ा दोष यह है कि मनुष्यकी अनेक परिस्थितियोंमेंसे यह केवल एकको चुन लेता है, और इसे सामाजिक-विकासके अनेक कारणोंमेंसे एक कारण कहनेके बजाय इसीको सब-कुछ कहने लगता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि अनेक परिवर्तन माता-पिताके कारण, वंशपरंपराके कारण, प्राणी-शास्त्रके नियमों (Biological laws) की वजहसे होते हैं। फिर, 'भौगोलिक-परिस्थिति' को ही एकमात्र कारण कैसे मान लिया जाय ? भौगोलिक-वादी ला प्ले का कहना है कि किसी परिवारका रूप वह होगा, जो उसकी आर्थिक-स्थिति उसे बना देगी, अमीर फैशनसे रहेगा, गरीब टूटा-फूटा रहेगा, किन्तु किसी परिवारकी आर्थिक-स्थिति वह होगी, जो वहां की 'भौगोलिक-परिस्थिति' उसका रूप बना देगी। परन्तु ला प्ले के पास इस बातका क्या उत्तर है कि एक ही 'भौगोलिक-परिस्थिति' में भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंकी भिन्न-भिन्न आर्थिक-स्थिति, और परिवारका भिन्न-भिन्न रूप क्यों होता है ? बकल महोदयका कहना है कि किसी स्थानकी सम्पत्ति वहांकी जमीन और जल-वायुके ऊपर निर्भर है। अगर जमीन अच्छी होगी, उपजाऊ होगी, जल-वायु स्वास्थ्यप्रद होगी, तो वहांके लोग सम्पत्तिशाली होंगे, बुरी जमीन होगी, तो लोग भी फटेहाल रहेंगे। परन्तु बकलके पास इस बातका क्या उत्तर है कि दलदलोंको सुखाकर भी मनुष्य कैसे वहां बड़े-बड़े भव्य-भवन खड़े कर देता है ? हंटिंगटन महोदय अपनी पुस्तक 'Civilization and Climate' में लिखते हैं कि सभ्यताके आगे-आगे कदम बढ़ानेका कारण अनुकूल 'भौगोलिक-परिस्थिति' है, परन्तु हंटिंगटनकेपास इस बातका क्या उत्तर है कि जिन देशोंमें अनुकूल भौगोलिक-परिस्थिति नहीं होती वे दूसरे देशोंकी सभ्यताको, वहांके विचारोंको कैसे अपना लेते हैं ? जापानकी जल-वायु, और योरुपकी जल-वायु में जमीन-आसमानका भेद है, फिर जापानने योरुपके विचार कैसे ले लिये ? हमें मानना पड़ेगा कि केवल 'भौगोलिक-परिस्थिति' मानव-समाजकी प्रगतिकी दिशाका निर्धारण नहीं करती, समाजके संचालनमें कई कारण हैं, जिनमेंसे, 'भौगोलिक-परिस्थिति' एक कारण है।

(२) हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि 'भौगोलिक-परिस्थिति' पहले-

पहल तो अवश्य मनुष्यकी प्रगतिकी दिशाका नियन्त्रण करती है, परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्यताके क्षेत्रमें पदार्पण करता जाता है, ज्यों-ज्यों उन्नत होता जाता है, त्यों-त्यों परिस्थितिसे नियन्त्रित होनेके स्थानमें परिस्थितिका नियन्त्रण करता जाता है। आज मनुष्य परिस्थितिका दास नहीं है। समय था जब 'भौगोलिक-परिस्थिति' के कारण कई स्थानोंका महत्व था। शुरू-शुरूमें वहां बड़े-बड़े शहर बने, सारी सुविधाएं वहां आजुटीं, परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्यने प्रकृतिपर विजय पाना शुरू किया, उन स्थानोंका महत्व घटने लगा, और जिन स्थानोंका 'भौगोलिक-दृष्टि'से कोई महत्व नहीं था, उन्हें मनुष्यने अपनी प्रतिभा और अध्यवसायसे अपने रहनेका केन्द्र बना लिया, प्रकृतिकी सब सुविधाओंको वहां ला जुटाया। शिमला, मसूरी आदि पर्वत इस बातके दृष्टांत हैं। पहले वहां क्या था, 'भौगोलिक-दृष्टि'से उन स्थानोंका क्या महत्व था? अब वहां क्या नहीं है, और कितने लोग हैं जो वहां जानेकेलिये नहीं तरसते। आने-जानेकी सुविधाके कारण दूरी मिट गई है, विज्ञानके आविष्कारोंके कारण सबतरहकी सामग्री हरजगह जुट सकती है, इसलिये आजकलके युगमें 'भौगोलिक-परिस्थिति' का वह महत्व नहीं रहा, जो संसारकी आदिकालीन सभ्यताओंके समय रहा होगा।

(३) सबसे बड़ा प्रश्न तो यह है कि क्या 'भौगोलिक-परिस्थिति' (Geographical environment) और 'सामाजिक-विकास' (Social evolution) का कारण-कार्य (Cause and Effect) का-सा सम्बन्ध है? 'भौगोलिक-परिस्थिति' और 'सामाजिक-विकास' में किसप्रकारका 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Correlation) है? 'भौगोलिक-वाद' (Geographical school) का तो अभिप्राय ही यह है कि 'भौगोलिक-परिस्थिति' कारण है, और 'सामाजिक-विकास' कार्य है। जिसप्रकारकी 'भौगोलिक-परिस्थिति' होगी उसीप्रकारका 'सामाजिक-विकास' होगा, अन्य किसीतरहका हो ही नहीं सकता। यह स्थापना बहुत बड़ी स्थापना है, और कोई कारण नहीं है जिससे 'भौगोलिक-परिस्थिति' को इतना बड़ा गौरवका स्थान दिया जाय।

प्रश्न

१. 'भौगोलिक-परिस्थिति' (Geographical environment) के दो प्रकार हैं—'नियन्त्रणके आधीन' और 'नियन्त्रणसे स्वतंत्र'। इन दोनोंकी व्याख्या कीजिये।

२. 'भौगोलिकवाद' (Geographical school या Geographical determinism) क्या है? यह कहांतक ठीक है—अपना मत लिखिये।

[७]

ग्रामीण तथा नागरिक जीवनमें भेद

(CONTRASTS OF RURAL AND URBAN LIFE)

मनुष्यकी आदिम और सर्वोपरि समस्या भोजन है। जब मनुष्य बिल्कुल प्रारंभिक अवस्थामें था, आग जलाना भी नहीं जानता था, तब जानवरोंके मांस और वृक्षोंके फलोंसे अपना गुज़र करता था। वह जहां चाहता था वहीं नहीं रह सकता था, जहां फलदार वृक्ष थे, जहां उसके शिकारके जानवर थे, वहीं रह सकता था। शिकार दूर चला जाता, तो वह भी शिकारकेसाथ-साथ अपनी जगह बदलता रहता था। यह अवस्था 'फिरंदर' (Nomadic) कहाती है। 'फिरंदर' हालतमें थोड़ी ज़मीनसे काम नहीं चलता। एक आदमीके हिस्सेमें २५ वर्ग-मील ज़मीन हो, तब जाकर भर-पेट शिकार और फल मिल सकते हैं। इसके अतिरिक्त सुरक्षाकी दृष्टिसे वह इकला तो रह ही नहीं सकता था, इसलिये दस-बीस व्यक्तियोंका समूह तो साथ रहता ही था। दस आदमियोंके एक समूहकेलिये कम-से-कम २५० वर्ग-मील ज़मीनका होना ज़रूरी था। परन्तु उससमय ज़मीनका कोई दाम न था, मनुष्यने खेती करना सीखा नहीं था, इसलिये इतनी ज़मीन हरेकके हिस्से पड़ जाती थी।

१. गांव कैसे बनते हैं ?

गांव क्यों, और कैसे बनते हैं—

जिस प्रकृतिने मनुष्यके भोजनकी समस्याको हल करनेकेलिये सब सामान उपस्थित किये हैं उसकी अपनी भी कुछ सीमा है। पहले-पहल तो खानेवाले थोड़े होते हैं, और शिकारके जानवर और फल-मूल बहुत ज्यादा होते हैं। धीरे-धीरे मनुष्योंकी संख्या बढ़ने लगती है, और वह अवस्था आजाती है जब खानेवाले इतने बढ़ जाते हैं कि जो-कुछ खाद्य-सामग्री है, वह जितने आदमी हैं, उतनोंकेलिये ही बस होती है। परन्तु जन-संख्याकी वृद्धि होती ही चली जाती है, और इतने मनुष्य हो जाते हैं कि खाद्य-सामग्री थोड़ी पड़ जाती है। ऐसी अवस्थामें प्रकृति 'ध्वंसात्मक' (Destructive) तथा 'रचनात्मक' (Constructive) दो उपायोंसे

काम लेती है। 'ध्वंसात्मक'-उपाय तो यह है कि लड़ाइयां शुरू होजाती हैं, बहुत-से लोग मारे जाते हैं, बीमारियां आजाती हैं, और जन-संख्या फिर गिर जाती है। 'रचनात्मक'-उपाय यह है कि ऐसे समयमें जीवनका एक नवीन प्रकार मनुष्यको सूझ जाता है, और इस नवीन प्रकारमें जमीनकी पहले जितनी जरूरत नहीं रहती, और खाद्य-सामग्री पहलेसे ज्यादा होने लगती है। जब 'फिरंदर'-जीवन बिताते-बिताते मानव-समाजके इतिहासमें ऐसा समय आ गया जब खाद्य-सामग्री थोड़ी पड़ गई, तब एक नया विचार उत्पन्न हुआ। वह विचार था जानवरोंको खानेके बजाय उन्हें पाल लिया जाय, उनके दूध-दही-मक्खनसे तथा फलोंसे गुजर किया जाय। इस अवस्थाका नाम 'पशु-पालनका जीवन' (Pastoral life) है। 'फिरंदर जीवन' में अगर एक व्यक्तिको २५ वर्गमील जमीनकी जरूरत थी, तो 'पशु-पालनके जीवन'में बहुत थोड़ी जमीनकी जरूरत रहगई। इस जीवनमें मनुष्यका जगह-जगह भटकना कम होगया। जहां चारा देखा वहां चले गये, और झोंपड़ी बनाकर रहने लगे। परन्तु इस जीवनमें भी एक अवसर ऐसा आया जब जमीन फिर थोड़ी पड़ने लगी। इस अवस्थामें मनुष्यको एक तीसरा विचार सूझा, और वह 'कृषि' का था। मनुष्य खेती करने लगा। यह तीसरी अवस्था 'कृषिके जीवन' (Agricultural life) की थी। अबतक तो मनुष्य पृथवीपर जोस्वयं उग आता था उससे गुजारा करता था, अब वह स्वयं बीज बोकर एकके अनेक बनाने लगा। जमीनकेसाथ बंध जानेके कारण अब उसका जगह-जगह फिरना समाप्त होगया, वह एक जगह अपनी झोंपड़ी बनाकर बैठ गया। इसप्रकार एक ही जगहपर कृषिसे अपना जीवन बितानेकेलिये जब लोग बैठ गये, तब संसारके सर्व-प्रथम गांवकी नींव पड़ गई।

गांव की रचना के दो प्राथमिक आधार—

(क) गांवमें दो बातें ध्यान देनेकी हैं। पहली तो यह कि इस गांवकी रचनासे पहले 'कुटुम्ब' (Family) का निर्माण हो चुका था। प्राचीन कुटुम्बमें जो लोग समूह बनाकर रहते थे, वे आपसमें अत्यन्त निकट-भावसे रहते थे। उन्हें इस बातकी आवश्यकता थी कि वे दूसरोंसे अपनी रक्षा करें। अपनी रक्षाकी इस प्रेरणासे वे अपने कुटुम्बको ही अपना सब-कुछ समझते थे। कुटुम्बके भीतर ही शादी-ब्याह करते-करते कई कुटुम्ब इतने बड़े हो जाते थे कि सारी बिरादरी एक ही कुटुम्बकी होती थी। चीनमें तो कई ऐसे कुटुम्ब पाये गये हैं जिनमें सौ-सौ व्यक्ति हैं, और सब इकट्ठे रहते हैं, कई-कई जगह एक ही मकानमें रहते हैं, और इसप्रकार रहते-रहते उन्हें कहीं सात और कहीं नौ पुश्तें बीत गई हैं।

(ख) संसारके गांवोंकी प्राथमिक-रचनाके सम्बन्धमें दूसरी ध्यान देनेकी बात

यह है कि शुरू-शुरू के गांव जमीनको सबकी एक-समान मानकर बने थे--जमीन सबकी साझेकी 'सामूहिक-सम्पत्ति' (Collective wealth) थी। कहीं-कहीं जमीन सारे समुदायकी साझी सम्पत्ति थी, कहीं-कहीं समुदायके भीतर जो भिन्न-भिन्न परिवारोंके समूह थे, उनमें भूमिको इसप्रकार बांट दिया गया था जिससे हरेक परिवारका गुज़ारा हो सके। हर हालतमें, जमीनपर किसी व्यक्ति-विशेषका अधिकार न था, यह समूहकी धरोहर थी। गांवमें रहने वालोंका आपसमें खूनका रिश्ता, और सबका जमीनपर एक-सा आधिपत्य---इन दो कारणोंसे गांवके सब लोगोंका जबर्दस्त एका होता था, सब अपनेको एक-दूसरेसे अभिन्न समझते थे।

गांवमें भू-स्वामी और भूमि-हीन वर्गोंकी उत्पत्ति—

पहले-पहल जमीन ज्यादा थी, आदमी कम थे, इसलिये जमीन मुफ्त बंटती थी। परन्तु जैसा हम पहले कह आये हैं, प्रकृति में एक नियम काम कर रहा है, और वह यह है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों-त्यों जन-संख्या बढ़ती जाती है, और बढ़ते-बढ़ते इतनी होजाती है कि जो जन-संख्या है उसकेलिये भी ज़मीन कम पड़ने लगती है---ऐसेसमयमें या तो लड़ाइयां, बीमारियां आकर जन-संख्या कम कर देती हैं, या मनुष्यकी सूझ-बूझसे पैदावारका कोई नया उपाय सामने आजाता है। पहले तो ज़मीन सबको मुफ्त मिलती थी क्योंकि जन-संख्यासे ज़मीन ज्यादा थी। परन्तु जब जन-संख्या इतनी बढ़गई कि सबको मुफ्त न दी जासकी, तो इसका दाम पड़ने लगा। प्रश्न था ज़मीनको कौन खरीदे, कौन न ख़रीदे ? ज़मीनके खरीदने-न-खरीदनेमें एक नियम काम करता है। वह नियम यह है कि जबतक ज़मीनका दाम इतना हो कि उसे खरीदनेकेलिये जो 'सरमाया' (Investment) लगे वह, और उस सरमायेपरका व्याज (Interest), उस ज़मीनकी पैदावारमेंसे निकल आये, तब तो कोई कृषिकी उस ज़मीनको खरीदेगा, नहीं तो नहीं ख़रीदेगा। जबतक ज़मीनकी पैदावार अच्छी रही, तबतक खेतीकी जमीनोंका लेना-देना, खरीदना-बेचना चलता रहा, परन्तु एक समय ऐसा भी आया जब ज़मीन उतनी पैदावार नहीं दे सकती थी जितनी उसपर लागत लगजाती थी। एसी अवस्थामें उस ज़मीनको कौन खरीदता ? जिनके पास पहलेसे ज़मीनें हैं, उनकेलिये तो कोई चारा नहीं, परन्तु जिनके पास नहीं हैं, वे ऐसी ज़मीन खरीदकर एक जंजालमें क्यों फंसें ? इस परिस्थितिका क्या परिणाम होता है ? इसका परिणाम यह होता है कि जिनके पास ज़मीनें हैं, उनकी एक श्रेणी बन जाती है, और जिनके पास नहीं है, उनकी एक दूसरी श्रेणी बन जाती है। जिनके पास ज़मीन नहीं उन्होंने भी तो अपनी आजीविका चलानी है। वे क्या करें ? वे ज़मीनवालोंकी ज़मीनें मज़दूरीपर जोतने-बोने लगते हैं, लगानपर लेने लगते

हैं, और इस प्रकार ज़मींदार (Landlord) और किसान—(Peasant), भू-स्वामी तथा भूमि-हीन, ये दो वर्ग उत्पन्न होजाते हैं। भूमिकी इस समस्याको तभी हल किया जासकता है, अगर भूमि-हीन किसानोंकी आर्थिक-स्थिति इसप्रकार की होजाय कि वे ज़मीन खरीद सकें। परन्तु वे क्यों ख़रीदेंगे? भूमिके क्रयपर जो 'सरमाया' (Investment) लगेगा, और उस सरमायेका जो 'व्याज' (Interest) देना होगा, उतना ज़मीनकी उपजसे प्राप्त नहीं होसकता। हां, एक तरीका होसकता है। वह यह कि जमींदारोंसे ज़मीन ज़बर्दस्ती छीनकर किसानोंमें बांट दी जाय, या ज़मींदारोंको कुछ मुआविज़ा देकर किसानोंको नाम-मात्रके दामपर उसका मालिक बना दिया जाय। समाजवादी तथा कम्यूनिस्ट तो यही कहते हैं कि मुआविज़ा बिना दिये ज़मींदारोंसे ज़मीन लेकर किसानोंको बांट देनी चाहिये, परन्तु भारतमें सबजगह मुआविजा देकर जमींदारोंका उन्मूलन किया गया है। पिछले दो-एक सालसे श्री विनोबा भावेने भू-दान-यज्ञका प्रारंभ किया है, और जबर्दस्ती भूमि छीननेकेबजाय स्वेच्छासे भूमि सबको बांटनेकी प्रेरणा दे रहे हैं। इन सब प्रगतियोंका आधार-भूत तत्व यह है कि खेती की ज़मीन जैसे सृष्टिके शुरूमें सबको मुफ़्त बंटी थी, वैसे अब भी किसी उपायसे मिल जाय, तब तो खेतीको एक धंधेकी दृष्टिसे सोचा जासकता है, नहीं तो ज़मीन ख़रीदकर यह काम करना नफ़ेका नहीं, नुक्सानका धंधा है।

'उत्पादनके क्रमिक-ह्रासका नियम' (Law of Diminishing Returns)—

भूमिके सम्बन्धमें 'ज़मींदार' और 'किसान'—इन दो वर्गोंके उत्पन्न होजानेपर, या किसानके ही भूमिका मालिक बनजानेपर भी समस्याका हल नहीं होता। कृषि-युगके बाद उद्योग-युग, गांव-युगके बाद नगर-युग आता ही है, और गांवके लोग देखने लगते हैं कि उनका गांवमें भूमिकेसाथ बंधे रहना बेकार है। यह अवस्था यों ही नहीं आती, आर्थिक-स्थिति ही ऐसी उत्पन्न होजाती है जिससे गांवके बाद शहर बनना लाज़मी होजाता है। वह क्यों? अर्थ-शास्त्रका एक नियम है कि जब हम किसी व्यापारमें 'सरमाया' (Investment) लगाते हैं, तो शुरू-शुरूमें बहुत लाभ होता है। लाभ होते-होते एक ऐसा समय आजाता है जब, और कितना ही सरमाया क्यों न लगा दिया जाय, जिस अनुपातमें पहले लाभ होता था उस अनुपातसे लाभ नहीं होता, और फिर धीरे-धीरे कम, और, और अधिक कम—इसतरह कम-कम होने लगता है। अर्थ-शास्त्रके इसी नियमको समाज-शास्त्री माल्थस (Malthus) ने जन-संख्यापर लगाया था। अर्थ-शास्त्रमें तो यह नियम 'सरमाये'-'पूंजी' (Investment) पर घटाकर दिखाया जाता है, समाज-शास्त्रमें इसी नियमको 'जन-संख्या' (Population) पर घटाते हैं।

समाज-शास्त्रके इस नियमको अगर किसानकी समस्यापर घटायें, तो हम देखेंगे कि पहले तो गांवोंकी जितनी जन-संख्या होती है उससे ज़मीन बहुत ज्यादा होती है। धीरे-धीरे जन-संख्या बढ़ने लगती है। बढ़ीहुई जन-संख्या और ज्यादा खेती करती है, और लोग पहलेसे भी ज्यादा खुशहाल होजाते हैं। परन्तु जन-संख्या बड़ी तेज़ीसे बढ़ती चली जाती है। बढ़ते-बढ़ते ऐसी हालत आजाती है कि जितना सब मिलकर पैदा करते हैं वह सबके खाने भरकेलिये काफ़ी होता है—इससे ज्यादा वे पैदा नहीं कर सकते। बढ़तीहुई जन-संख्या अभी और अधिक बढ़ती है, और इतनी बढ़जाती है कि जैसे अर्थ-शास्त्रमें हमने देखा था कि बढ़ीहुई पूंजी पहले-जितना लाभ नहीं उत्पन्न करसकती, वैसे बढ़ीहुई जन-संख्या ज़मीनसे पहले जितनी पैदावार नहीं करसकती। गांवकी जन-संख्या भूमिसे जितना तत्व-माल पहले खींच लेती थी, अब उतना नहीं खेंच पाती। 'जन-संख्या' और 'भूमिके उत्पादन' का 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Correlation) इसप्रकारका होजाता है कि अब कितनी भी जन-संख्या क्यों न बढ़े, भूमिका उत्पादन आगे नहीं बढ़ता। पहले जन-संख्याके बढ़नेकेसाथ उत्पत्ति भी बढ़ती थी। जिस समय वह बिन्दु आगया कि अब आगे जन-संख्या बढ़ी, किन्तु ज़मीनका उत्पादन नहीं बढ़ा, उसीसमय जन-संख्याकी दृष्टि से 'उत्पादन के क्रमिक-ह्रासका नियम' (Law of diminishing returns) शुरू होगया। परन्तु जन-संख्या तो अब भी बढ़ती जाती है, ज़मीनने ज्यादा पैदावार देना बन्द कर दिया तो क्या, मनुष्य तो संख्यामें बढ़ता ही जाता है। ऐसे समय या तो प्रकृति ही मनुष्यकी कांट-छांट करने लगती है—कुछ बीमारीसे, कुछ लड़ाईसे, कुछ अकालसे मरने लगते हैं, परन्तु यह तो प्रकृतिका उपाय हुआ, मनुष्य इस समस्याका क्या हल करता है? मनुष्य जब 'जन-संख्याका दबाव' (Pressure of population) इसप्रकार बढ़ते देखता है तब अपने-आप पहली जगह छोड़कर दूसरी किसी ऐसी जगहकी तलाशमें निकल पड़ता है जहां इसप्रकारका दबाव न हो। पिचकारीमें पानी भरा हो, और उसे दबाते चले जांय, तो वह धार बनकर निकल ही तो पड़ती है। इसीप्रकार गांवोंकी जन-संख्या के उस दबावसे, जिसमें ज़मीन सब खानेवालोंका पेट नहीं भर सकती, जो धारें बह निकलती हैं, उन्हींसे शहर बनते हैं। मालथसका यह 'उत्पादनके क्रमिक-ह्रासका नियम' (Law of diminishing returns) आजके विकसित वैज्ञानिक जगत्में, जिसमें वैज्ञानिक उपायोंसे उत्पादनके पदार्थोंकी सीमातीत वृद्धि कर ली गई है, काम कर रहा हो, या न कर रहा हो, परन्तु १७९८ में जब उसने इस नियमको जन-संख्यापर घटाया था, तब तो वह नियम काम कर ही रहा था, और तब गांवोंसे शहर बननेका कारण यही नियम था। ज़मींदार और किसानको जब धरतीकी

पैदावार दिनोंदिन कम होती नजर आती है, या जितनी जमीन है उसकी अपेक्षा जन-संख्या ज्यादा बढ़ जाती है, तब उनका ध्यान अपने-आप जमीनसे हटकर किसी दूसरी दिशाकीतरफ जाने लगता है। यह दूसरी दिशा उद्योग है, दस्तकारी है, कारीगरी है, वणिज है, व्यापार है। कृषिका तो एक ही धंधा है, व्यापार अनेक होसकते हैं। एक धंधे में इतने लोग नहीं खप सकते जितने अनेक धंधोंवाले व्यापारमें खप सकते हैं। इसके अतिरिक्त जबतक भूमि मनुष्यको बांधेहुए है, तबतक हमारे विचारका केन्द्र ग्राम बना रहता है, जब मनुष्यका जी भूमिसे उखड़ जाता है, तब या तो वही गांव शहर बनने लगता है, या किसी दूसरे शहरका सूत्र-पात हो जाता है। मनुष्यका मन भूमिसे उखड़ इसलिये जाता है कि वह समाज-शास्त्रके पंडितकी दृष्टिसे तो नहीं, परन्तु किसानकी सूक्ष्म-दृष्टिसे यह देख लेता है कि अब धरती माता ज्यादा देरतक उसका कल्याण नहीं करसकती। इसका यह मतलब नहीं है कि धरती चौपट ही होजाती है, कहनेका मतलब इतना ही है कि प्रकृतिके नियमोंको देखकर किसानको यह दीखने लगता है कि जमीनके भरोसे बैठ रहनेसे कुछ और काम देखना, जिसमें ज्यादा प्राप्ति हो, अधिक बुद्धिमत्ता की बात है।

२. शहर कैसे बनते हैं ?

हमने देखा कि गांव कैसे बनते हैं। छोटे-से समूह अपनी सुरक्षा तथा पेट भरनेके विचारसे इकठ्ठे रहने लगते हैं, उन सबमें एक खून होता है, सबकी एक साझी जमीन होती है, सबका एक स्वार्थ होता है, बस एक जगह रहनसे उनका गांव बन जाता है। जब जमीन धीरे-धीरे उनमेंसे कुछको जरूरियात पूरी करती नहीं दीखती, तो वे पेट भरनेके इससे अच्छे साधनोंकी तलाश करने लगते हैं, और शहरोंका सूत्र-पात हो जाता है। जैसे गांवोंका मुख्य धंधा 'कृषि' है, वैसे शहरोंका मुख्य धंधा कृषि नहीं, 'उद्योग' है। उद्योगमें कृषिकी अपेक्षा अधिक प्राप्ति है। कृषिसे अन्न पैदा होता है, किंतु प्रत्येक व्यक्ति कितना अन्न खासकता है? परन्तु उद्योगसे जरूरियातकी वस्तुएं तो बनती ही हैं, साथही ऐशो-आरामकी, विलासिताकी तथा अन्य उपभोगोंकी वस्तुएं भी बनती हैं। इन वस्तुओंपर कोई कितना खर्च करेगा इसकी कोई सीमा नहीं है। खानेपर ५० रुपया व्यय करनेवाले, उद्योगसे पैदा कीहुई वस्तुओंपर हजारों और लाखों रुपये व्यय कर देते हैं। कृषिसे जो उद्योगकीतरफ़ जायगा वह शीघ्र ही मालोमाल होसकता है। परन्तु उद्योगके-लिये ऐसे स्थान चाहियें जहां बिजली हो, रेल हो, जहां कारखाने लग सकें। इन चीजोंका जहां तांता बिछ जाता है वहीं उद्योग-धंधे, कल-कारखाने बन जाते हैं, इन उद्योग-धंधोंसे रुपया कमानेवाले सेठ-साहूकार वहां जमा हो जाते हैं, इन

कारखानोंमें मज़दूरी करके आजीविका चलानेवाले मज़दूर वहां पहुंच जाते हैं, मिलोंका माल गांव-गांवतक पहुंचानेवाले व्यापारी वहां दुकानें खोल देते हैं, इन स्थानोंके धनी-मानी लोग अधिक रुपया ख़र्चकर अपने बच्चोंको ऊंची शिक्षा देसकते हैं इसलिये स्कूल-कालिजोंकी वहां भरमार होजाती है, रुपया वहां पैदा होता है इसलिये उसे बांट खानेकेलिये सब पेशोंके लोग वहां जमा होजाते हैं। इसी जमघटको शहर कहते हैं। कृषिका उपाय मनुष्यकी पेट भरनेकी समस्याका हल है, परन्तु अगर सब लोग कृषिपर ही लगे रहें, तो एक समय ऐसा आजाता है जब जितने लोग खेती पर लगे होते हैं खेती-बाड़ी उन सबका पेट नहीं भर सकती, इसलिये कुछ लोगोंका खेती-बाड़ीसे निकलना ज़रूरी हो जाता है ताकि बचेहुए लोग खेती करते रहें—इसी प्रक्रियासे शहर बन जाते हैं।

गांवों की आबादी घट क्यों रही है, और शहरों की बढ़ क्यों रही है?—

संसारकी जितनी बड़ी-बड़ी सभ्यताएं हुई हैं सबमें गांवोंसे शहर जाने की प्रवृत्ति देखी गई है। असलमें, शहरोंके बड़े होनेका कारण ही इस प्रवृत्तिका होना है। 'भौगोलिक-परिस्थितियों' (Geographical environment) के कारण पहले लोग नदियोंके किनारे बसते हैं, वहां खेती-बाड़ी शुरू होती है, फिर अच्छी 'भौगोलिक-परिस्थिति' का यह स्थान सब लोगोंका केन्द्र बन जाता है, वहां जीविकोपार्जनकी सुविधाएं बढ़ जाती हैं, और यह आर्थिक कारण जन-संख्याको गांवसे शहरोंमें खींचकर ले आता है। जब 'कृषि-युग' (Agricultural age) से 'उद्योग-युग' (Industrial age) आता है, तब उद्योगके केन्द्र वे स्थान बनते हैं जहां उस उद्योग की सुविधाएं हों। तब नदी-नालेका ख्याल न करके जहां लोहा हो वहां लोहेके कारख़ाने, जहां गन्ना हो वहां गन्नेकी मिलें, जहां कपास हो वहां जिनिंग फैक्टरी बन जाती हैं। इन स्थानोंमें अर्थोपार्जनकी सुविधा अधिक रहती है, इसलिये मानव-समूह इसी स्थानपर उमड़ पड़ता है, और यही स्थान शहर कहलाने लगते हैं। ऐसा भी समय आता है जब शहरका निर्माण 'भौगोलिक-परिस्थितियों' से बंधा नहीं रहता, जहां नदी-नाले नहीं, जहां लोहे और कोयलेकी कानें नहीं, वहां भी मनुष्य रेल-ट्रक आदिसे माल ले आता है, और अपनी मर्ज़ीकी जगहपर कल-कारखाने-उद्योग-धंधे खड़े कर लेता है, जहां चाहे शहर बना लेता है, परन्तु मनुष्योंकी आबादी शहरमें इसीलिये आती है क्योंकि वहां उद्योग-धंधोंके कारण धन पैदा करनेकी सुविधाएं बढ़ जाती हैं। गावोंकी आबादी घटने और शहरोंकी आबादी बढ़नेके मुख्य-मुख्य कारण निम्न हैं :—

(१) 'अतिरिक्त-सम्पदा पर अधिकार' (Control over surplus resources)—हमने देखा था कि ज़मीन एक हदतक ही पैदावार देसकती है, उसके बाद मनुष्य-संख्या इतनी बढ़ जाती है कि जमीन थोड़ी पड़ जाती है, और जितनी हरेकके हिस्से आती है, वह भी लगातार उतनी पैदावार नहीं देती जितनी पहले देती थी। 'उत्पादनके क्रमिक-ह्रास का नियम' (Law of diminishing returns) पृथिवीकी पैदावारको कम कर देता है। ऐसी हालतमें मनुष्य किसी ऐसी 'सम्पदा' (Resources) की तलाश करने लगता है जिसमें जन-संख्या को दृष्टिमें रखतेहुए उत्पादन अधिक किया जासके। सबसे पहले तो उसका ध्यान ज़मीनपर ही जाता है। क्या ऐसा उपाय नहीं किया जासकता जिससे पृथिवीकी उत्पादन-शक्ति बढ़ा दी जाय? अबतक उसकी खेतीका साधन मनुष्यका श्रम था। मनुष्यमें जितनी शक्ति है उतना ही तो काम वह करेगा। खुद जितना वह करसकता था, करता था, कुछ दूसरोंसे कराता था। बहुत हुआ, जहां दास-प्रथा चल पड़ी, वहां कुछ काम मुफ्त का करा लेता था। भारतमें हरिजनोंसे बेगार ली जाती थी। परन्तु मनुष्यके मनुष्यपर प्रभुत्वसे वह इतना उत्पादन नहीं कर सका जितना वह चाहता था। जबसे मनुष्यके ऊपर प्रभुत्वके स्थानपर मनुष्यका प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व होगया है, तबसे उत्पादन बहुत बढ़ गया है, एकप्रकारकी 'कृषि-क्रांति' (Agricultural revolution) होगई है। मशीनसे मिलनेवाले श्रमपर मनुष्यका जबसे अधिकार होगया है तबसे 'उत्पादनके क्रमिक-ह्रासके नियम' (Law of diminishing returns) का मुकाबिला करनेकी मनुष्यमें सामर्थ्य आगई है। उसे यह दीखने लगा है कि पृथिवीके गर्भमें छिपी सम्पदा अपरिमित है, अभी इस 'अतिरिक्त-सम्पदा' (Surplus resources) को तो उसने छुआतक नहीं। अभीतक जो-कुछ वह पैदा करता था वह कुछ नहीं था, नवीन-साधनोंसे वह भंडारों-के-भंडार भर सकता है। इसका यह मतलब नहीं कि अब 'उत्पादनके क्रमिक-ह्रासका नियम' लागू नहीं होगा। नियम तो यही काम करेगा, परन्तु जिस बिन्दुपर आकर हम समझते थे कि अब पृथिवीकी वह सीमा आगई है जब कि आगे उत्पादनमें उत्तरोत्तर ह्रास होगा, वह सीमा इन वैज्ञानिक साधनोंने बहुत पीछे धकेल दी है। अब यह संभव होगया है कि कुछ थोड़े-से लोग खेती-बाड़ीमें लगे रहें, और कृषिके नवीनतम साधनों द्वारा संपूर्ण-मनुष्य-समाज की अनाजकी समस्याको हल करते रहें, और अधिक संख्या उद्योग-धन्धोंसे अपनी आजीविका का निर्वाह करे। यह हिसाब लगाया गया है कि पहले १४ आदमी जितना अनाज पैदा कर सकते थे, अब वैज्ञानिक-साधनोंसे ४ आदमी उतना अनाज पैदा कर लेते हैं। इंग्लैंडमें तो ९० प्रतिशत संख्या उद्योग-धन्धोंमें लगीहुई है, कुल

१० प्रतिशत ही खेती करते हैं। इसप्रकारके कृषिके नवीन साधनोंके निकल आनेसे अब पाश्चात्य-देशोंमें तो थोड़ी-सी जन-संख्या गांवोंमें रहकर खेतीका काम करती है, और अधिक जन-संख्या शहरोंमें जाकर उद्योग-धन्धोंमें लगकर अर्थोपार्जन करती है। अगर 'कृषि-क्रांति' के नवीन साधन—ट्रैक्टर, रासायनिक खाद, एक सालमें ही कई पैदावार (Intensive cultivation) आदि—न होते, तो मानव-समाज एक घोर विपत्तिमें पड़ जाता। कृषिसे लोग इसलिये भागने लगते क्योंकि ज़मीनकी पैदावार जन-संख्याके मुकाबिलेमें काफ़ी नहीं, और अगर सब शहरोंमें जमा होजाते, तो अनाज कौन पैदा करता—आख़िर, बिना खाये, कोयलेकी कानों और लोहेके कारखानोंमें कोयला और लोहा खाकर तो गुज़र नहीं होसकता। वर्तमान-युगमें पाश्चात्य-देशोंमें लोगोंके गांवोंसे शहरोंमें आनेका सबसे बड़ा कारण यह है कि वे गांव छोड़कर निश्चिन्ताईसे शहर आसकते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि पीछे गांवोंमें जो लोग रह जायेंगे, वे वर्तमान वैज्ञानिक साधनोंसे इतना पैदा कर देंगे कि पैसा देकर इन्हें भी खाने-पीनेको काफ़ी मिल जायगा।

(२) 'उद्योगीकरण तथा व्यापारीकरण' (Industrialization and Commercialization)—शहरोंकी जन-संख्या बढ़नेका दूसरा कारण 'उद्योगीकरण' तथा 'व्यापारीकरण' है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि शहरोंके बननेका मुख्य कारण है, 'अतिरिक्त-सम्पदा' (Surplus resources) का मिल जाना। 'अतिरिक्त-सम्पदा' सब पृथिवीके गर्भमें छिपी पड़ी है। सबसे पहली 'अतिरिक्त-सम्पदा' खेतीके रूपमें हमारे सामने आयी, उसे थोड़े आदमियोंके सुपुर्द कर देनेका परिणाम बचेहुए लोगोंका शहरोंकी तरफ मुंह करके चलदेना हुआ। शहरोंमें भी तो 'अतिरिक्त-सम्पदा' (Surplus resources) का कोई खज़ाना होना चाहिये।' अतिरिक्त-सम्पदा' का मतलब है, ऐसी 'सम्पदा' (Resources) जिसमें 'उत्पादन'के 'क्रमिक-ह्रासके नियम' (Law of diminishing returns) की सीमा बहुत देरमें काम करने लगे। ऐसी दूसरी 'सम्पदा' लोहेका कारख़ाना, कोयलेकी कानें, कपड़ेकी मिलें—और इसीप्रकारके उद्योग-धन्धे हैं। इनमें खेतीकी अपेक्षा पैसा ज्यादा कमाया जासकता है, कच्चा माल मिलता रहे, तो उत्पादन लगातार होता रहता है। इसकी अपनी कुछ समस्याएं नहीं—ऐसी बात नहीं है। उद्योगोंके अपने सिर-दर्दके मामले हैं, परन्तु क्योंकि इनमें विविधता है—सैंकड़ों, हज़ारों तरहके उद्योग हैं, इसलिये हरेकको कुछ-न-कुछ काम मिल ही जाता है। काम ढूंढनेकेलिये गांवके लोग शहर चल पड़ते हैं। विज्ञानके वर्तमान साधनोंसे उद्योगीकरण और अधिक आसान होगया है। गांवके लोग ज्यादा दौड़-

धूप पसन्द नहीं करते, घरसे खेत और खेतसे घर जाना-आना ही वे बहुत मानते हैं, परन्तु रेल, बस, ट्राम, मोटर आदि साधनोंके निकल आनेसे यातायातकी सुविधा होगई है, वे दूर-दूर जाने लगे हैं, और शहर खचाखच देहाती मजदूरोंसे भरने लगे हैं। 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) का यह परिणाम हुआ है कि इंग्लैंड, अमरीका तथा अन्य समुन्नत देशोंमें शहरोंकी संख्या और उनका परिमाण दिनोंदिन बढ़ता जारहा है, भारतमें भी अहमदाबाद, बम्बई, कलकत्ता आदि शहरोंमें उद्योगोंकी वृद्धि हो रही है, और जितना उद्योग बढ़ते जारहे हैं उतना शहर बढ़ते जारहे हैं।

'उद्योगीकरण' (Industrialization) तो इसी युगकी देन है, परन्तु शहरोंकी वृद्धि बड़े प्राचीन-कालसे होती चली आरही है। जिससमय बड़े-बड़े उद्योग नहीं चले थे, तब शहरोंमें छोटे-छोटे उद्योग होते थे, उनके द्वारा रोज़ी कमानेकेलिये लोग शहरोंमें आया-जाया करते थे, परन्तु उद्योगोंके अतिरिक्त व्यापारकेलिये तो सदासे मानव-समाज शहरोंका ही मुंह ताकता रहा है। 'व्यापार' उद्योगसे भी पहलेकी संस्था है, और शहरोंके इस 'व्यापारीकरण' (Commercialization) से शहरोंकी संख्या सदा बढ़ती रही है। जिस शहरका व्यापार मारा गया, वह शहर भी शहर नहीं रहा, गांवका-सा होगया। आजकल जो नये-नये व्यापार निकल आये हैं, व्यापारके नये साधन निकल आये हैं, बिना पूंजीके भी सट्टे आदिके व्यापार किये जाते हैं—इनसे भी शहरोंकी वृद्धि होने लगी है।

(३) 'जीवनका उच्च-स्तर' (Higher standard of living)—उद्योगोंसे नये-नये पदार्थ सस्ते बनने लगते हैं, क्योंकि एकदम भारी मात्रामें मशीनोंके ज़रिये उनकी उत्पत्ति होती है। हरेक उन्हें ख़रीदना चाहता है। इसके बाद लोगोंमें शौक पैदा होजाता है, उनकी नयी-नयी जरूरियात पैदा होजाती हैं, नयी-नयी फ़रमाइशें होने लगती हैं। यह चीज़ भी चाहिये, वह चीज़ भी चाहिये। अभीतक मट्टीके तेलका दिया जलाता था, पर अब बिजलीके लाटूके बिना कैसे काम चलेगा, छोटा-सा ही मकान क्यों न हो, पलंग चाहिये, मेज़ चाहिये, कुर्सी भी चाहिये। फिर रेडियो क्यों न चाहिये? औद्योगिक-युगमें धीरे-धीरे मनुष्यकी आवश्यकताएं बढ़ती जाती हैं, जीवनका स्तर ऊंचा होता जाता है। जीवनका स्तर ऊंचा होनेका मतलब है कि उन वस्तुओंकी मांग बढ़गई जिनसे स्तरका ऊंचा होना कहा जाता है। कृषिसे जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनकी मांग ऐसे नहीं बढ़ती जैसे औद्योगिक-पदार्थोंकी मांग बढ़ती है। खानेको कौन कितना खा जायगा, परन्तु आवश्यकताओंकी तो कोई सीमा नहीं। इन आवश्यकताओंको पूरा करने-

केलिये सैंकड़ों, हजारों, लाखों व्यक्तियोंके खपनेकी शहरोंमें जगह बनी रहती है, और इसप्रकार जीवनके उच्च-स्तर होते जानेके कारण शहर बढ़ते रहते हैं।

हमने देखा कि जिसप्रकार गांव या शहर बनते हैं, इनमें आर्थिक-नियम काम कर रहे होते हैं। इन्हीं आर्थिक-नियमोंके परिणाम-स्वरूप गांवोंकी आबादी घटती, और शहरोंकी बढ़ती जाती है। गांव और शहर बननेकी यह प्रक्रिया, गांवकी आबादी घटते और शहरोंकी बढ़ते जानेकी प्रक्रिया अपने-आप होती जाती है, आर्थिक-कारण इस सारी प्रक्रियाका संचालन करते हैं। हमारे हाथमें नहीं कि हम अपनी मर्ज़ीसे चाहे जहां रहें, हमारी आर्थिक-स्थिति हमें कहीं-का-कहीं लेजाकर पटक देती है। पश्चिमी-देशोंमें गांवोंकी आबादी शहरोंकी अपेक्षा कम होगई है। वहां इतना 'उद्योगीकरण' हुआ है कि गांव खाली होते जारहे हैं, शहर भरते जारहे हैं। फ्रांसमें ५२ प्रतिशत, और इंग्लैंडमें ८० प्रतिशत जन-संख्या शहरोंमें रहती है। भारतमें अभी 'उद्योगीकरण' नहीं हुआ। यहां ८६ प्रतिशत जन-संख्या गांवोंमें रहती है, १४ प्रतिशत शहरोंमें रहती है। १९२१ की गणनाके अनुसार ८८.७ प्रतिशत ग्रामीण तथा ११.३ प्रतिशत शहरोंकी जन-संख्या थी, १९३१ में ८७.९ प्रतिशत ग्रामीण तथा १२.१ प्रतिशत शहरी जन-संख्या होगई, १९४१ में ग्रामीण संख्या ८६.१ तथा शहरोंकी १३.९ थी। भारतमें ग्रामसे शहरकीतरफ़ गति है, परन्तु अत्यन्त मन्द। इसका यही कारण है कि इस देशगका 'उद्योगीकरण' अभी नहीं हुआ।

३. ग्रामीण तथा नागरिक जीवनकी तुलना

हमने देखा कि ग्राम क्या है, नगर क्या है, इन दोनोंकी उत्पत्ति क्यों, और कैसे होती है। हमने यह भी देखा कि मानव-समाजका प्रवाह ग्रामसे नगर की तरफ़ वह रहा है। अब हम ग्रामीण तथा नागरिक-जीवन की तुलना करेंगे :—

ग्रामीण-जीवन (Rural life)	नागरिक-जीवन (Urban life)
१. ग्रामीण-जीवनमें मनुष्य चारों तरफ़के संसारसे तो जुदा रहता है, परन्तु अपने 'परिवार' से अभिन्न तौरपर बंधा रहता है। सबका साथ-साथ खेती करना पारिवारिक बन्धनोंको और	१. नागरिक-जीवनमें मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकारके लोगोंसे घिरा होता है, अपने परिवारसे ही नहीं, समाजसे बंधा होता है। नये-नये लोगोंसे नित मिलता है, नये विचारोंको सुनता है, पुरातन

अधिक दृढ़ बना देता है। परिवारकी प्रथाएं, पुरातन-परम्परा व्यक्तिके जीवनको कसे रहती है। दूसरों से मिलने-जुलनेका उसे मौका नहीं होता इसलिए वह अपने परिवार में देखी और सुनी बातोंको ही ठीक मानता है। 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्'—उसका शासन करता है। फ़ैशन उसने देखे नहीं होते, पुराने ढंगसे रहना ही उसे ठीक लगता है। वह पीठ पीछे बात नहीं करता। छोटी-सी दुनियांमें तो वह रहता ही है, आमने-सामने बात करता है, लड़ता भी है तो सबके सामने, एकदम सारे गांवको पता चल जाता है कि किसकी किससे लड़ाई हुई।

उसका इतना प्रेम नहीं रहता। अपने दायरेको ही बातोंको दकियानूसी बातें कहने लगता है। फ़ैशन करता है, नये ढंगसे रहना चाहता है। सामने बात करनेसे कतराता है। वह कहता है कि किसीसे बेकार बिगाड़ क्यों किया जाय, न जाने कब किसीसे क्या काम पड़ जाय, परन्तु पीठ पीछे किसीकी आलोचना करने से नहीं चूकता।

२. ग्रामीण-जीवनमें क्योंकि परिवार मुख्य होता है, व्यक्ति नहीं, इसलिए इसमें बुजुर्गोंका शासन होता है—इसे 'पितृ-प्रधान व्यवस्था' (Patriarchal type of family) कहा जासकता है। परिवारके सब सदस्योंपर बुजुर्गोंका ही शासन रहता है। परिवार की सत्तामें व्यक्तिकी सत्ता विलीन होजाती है। परिवारका जितना ऊंचा स्थान है, व्यक्तिका भी उतना ही ऊंचा स्थान अपने-आप बन जाता है। इसमें संयुक्त-परिवार-प्रथा रहती

२. नागरिक-जीवनमें व्यक्ति परिवारके बन्धनमें इतना नहीं बंधा रहता, बुजुर्गोंसे दूर रहनेके कारण उनका डर भी जाता रहता है, व्यक्तिका व्यक्तित्व बन्धनसे निकलकर स्वतन्त्र होजाता है। परिवार या बुजुर्गोंका स्थान चारोंतरफ़का समाज ले लेता है। व्यक्तिकी सत्ता परिवारके बंधनोंसे तो मुक्त होजाती है, परंतु क्योंकि समाजका क्षेत्र बहुत बड़ा है इसलिये उसमें विलीन नहीं होपाती। स्वतन्त्र व्यक्तित्वकी भावना प्रबल होजाती है। माता-

हैं। सम्पत्ति किसी व्यक्ति-विशेष की नहीं, सारे परिवारकी समझी जाती है। व्याह-शादी भी परिवारकी दृष्टिसे ही होती हैं, परिवारके लोग ही तय करते हैं कि लड़केकी शादी कहां होनी चाहिये, लड़का नहीं तय करता। स्वाभाविक भी है, जब परिवार ही मुख्य है तब शादीकी बात तय करना परिवारका ही काम होजाता है। कौन क्या धर्म ग्रहण करेगा, क्या धंधा करेगा, किसप्रकार रहेगा, उसके राजनैतिक विचार क्या होंगे—यह सब परिवारको सामने रखकर ही चलता है। परम्पराको कोई तोड़ दे तो उसे बर्दाश्त नहीं किया जाता, बिरादरी ही दण्ड देदेती है। स्त्री-पुरुषके सम्बन्ध बिरादरीके दृष्टिकोणसे ही तय होते हैं, विवाह होते हैं, परन्तु प्रेम-विवाह नहीं होते, बिरादरीके भयसे, तलाककी इजाज़त होने पर भी तलाक बहुत कम होते हैं। परिवारका व्यक्ति पर अखंड शासन बना रहता है।

पिता तथा बुजुर्गोंकी जगह कचहरी, पुलिस आदिके शासनमें रहना आवश्यक होजाता है। अपराधोंका दण्ड बिरादरी नहीं देती, जज-साहब देते हैं। बिरादरी छोटी-छोटी बातोंमें भी कान पकड़ती थी, उससे व्यक्ति स्वतन्त्र हो जाता है। विवाह करनेके बन्धन भी उतने कड़े नहीं रहते। जाति-पांतिके विचार शिथिल पड़ जाते हैं, बिरादरीकी रोक-टोक न होनेके कारण आचार-व्यवहारमें भी ढील आजाती है। गांवमें तो केवल अपनी बिरादरी के लोगोंसे ही शादी-व्याहमें मिलना-जुलना होता था, शहरमें सबतरहके लोगोंसे, ख़ासकर एक-ही तरहके पेशे वालोंसे मिलना-जुलना, लेन-देन होता है, वे भिन्न-भिन्न सामाजिक-संगठनोंके होते हैं, अतः नागरिक-जीवनमें दृष्टिकी विशालता, सहिष्णुता आदिका आजाना स्वाभाविक है।

३. ग्रामीण-व्यक्ति ग्रामीण-परिस्थितिमें रहता है। वह मुख्य तौरपर खेती करेगा—जो-कुछ भी करेगा उसका स्थान प्रकृतिके बीचमें है, वह हरसमय प्रकृतिके निकट है। सर्दी, गर्मी, वर्षा—

३. ग्रामीण-व्यक्ति जैसे खेतीसे बंधा हुआ है, नागरिक वैसे किसी एक पेशेसे बंधा नहीं। वह नगरके अनेक पेशोंमेंसे किसीको चुन सकता है। परन्तु जिसे भी चुने उसमें उसे 'विशेष-निपुणता'

हरसमयका वह उस-उस मौसममें अनुभव करता है। उसे मालूम है, अब कौन-सी ऋतु आरही है क्योंकि उस ऋतुका अनाज पैदा करनेकेसाथ विशेष सम्बन्ध है। वह सूर्यकी रश्मियोंको फूटता देखकर उठता है, अन्धेरा होने पर सोजाता है, रातको उठे, तो तारोंको देखकर बता देता है कि कितनी रात बाकी है। वह चाहे स्वतन्त्र खेती करता हो, या किसीका खेत बोता हो, हरसमय उसे तैनात नहीं रहना होता, प्रकृतिके वर्षा, गर्मी, सर्दीके भिन्न-भिन्न समय उसके कार्यकी प्रणाली-को बांधते हैं। जब बोने-काटनेका समय नहीं है, तब उसे खेतमें यूं ही धक्के खानेकी जरूरत नहीं। इस दृष्टिसे वह अपने समयका मालिक है।

ग्रामीण-व्यक्ति धरतीको सब धनोंसे प्रधान समझता है। जो राजनैतिक-संस्था उसे भूमि का स्वामी बननेका प्रलोभन देती है, वह उसकेसाथ होजाता है, जो उससे भूमि छीननेका नाम लेती है, वह उससे भिड़ जाता है। कांग्रेसने इसप्रकार जमींदारी उन्मूलन करके, और किसानोंको भूमिधर बनाकर ग्रामीण-जनताकी दृष्टिमें बड़ा उपकार किया है और इस प्रकार उनकी सदिच्छा पा ली है।

(Specialization) प्राप्त करना जरूरी है। शहरमें तो 'प्रतियोगिता' (Competition) बेहद होती है, एक-से-एक लायक आदमी होते हैं, अतः शहरवालेके लिये प्रगति-शील होना आवश्यक होजाता है।

शहर में ऋतुओं की तरफ़ मनुष्य का ध्यान नहीं रहता। सर्दी हो, गर्मी हो, वर्षा हो— नागरिक को एक चाल से चलते चले जाना है, उसे आराम से बैठने का कोई समय नहीं है। वह मुर्गे की आवाज को सुन कर नहीं उठता, हर समय घड़ी लट-काये रखता है, और काम करते-करते उसकी तरफ़ देखता रहता है। नगरका मजदूर भी घड़ी नहीं रख सकता, तो मिलकी कूकको सुनकर चलता है, उधर कान लगाये रहता है। ग्रामके स्वाभा-विक जीवनके स्थानपर नगरका जीवन कृत्रिम है।

नगरमें व्यक्तिको पनपनेके अनेक मौके मिलते हैं, उन में कभी-कभी कोई एकदम मजदूरसे लख-पति, और कोई लखपतिसे मजदूर होजाता है। समाजमें ऐसे परि-वर्तन देखकर नागरिककी धारणा यह हो जाती है कि हम ग़रीब हैं तो क्या, हमें किस्मतका मुंह देखकर नहीं बैठे रहना।

४. ग्रामीण-व्यक्तिका एक ही पेशा है---खेती करना, परन्तु खेती करनेमें उसे अनेक छोटे-छोटे काम करने होते हैं, जिनमेंसे किसी एकमें भी वह निपुण नहीं होता। वह कुछ राजका, कुछ बढ़ईका, कुछ लोहारका काम भी जानता है, अपने बच्चोंको भी अपने साथ इन सब कामोंकी थोड़ी-थोड़ी शिक्षा देरहा होता है। उसकी स्त्री उसके साथ पूरा सहयोग देती है। गौओंको दूहना, बैलोंको चारा देना, खेत की नलाई करना, रोटी बनाना, कपड़े धोना, सीना---ये सब काम वह करती है।

काश्तकारीको करतेहुए वह यह कभी नहीं सोचता कि वह अपने धन्धेको कभी बदल भी सकता है। उसका स्वप्न यही रहता है कि जैसे वह खेती करता रहा है, वैसे उसकी सन्तति खेती-का ही काम आगे चलायेगी।

४. नागरिक-व्यक्तिका एक ही पेशा नहीं है। सब ग्रामोंके ग्रामीण खेती ही करते हैं, परन्तु सब नगरोंके नागरिक कोई एक ही उद्योग नहीं करते। कोई कुछ करता है, कोई कुछ। गांववालेको सब कामोंका कुछ-कुछ जानना होता है, नगरवालेको किसी एक कामका सब-कुछ जानना होता है, क्योंकि उसे तो नगरकी प्रति-योगिताके कारण किसी विशेष कार्यमें असाधारण निपुणता प्राप्त करनी है। नागरिकका साथ देना उसकी पत्नीकेलिये आवश्यक नहीं है। गांववाले स्त्री-पुरुष सब काम अपने-आप करते हैं, शहरवाले नौकरोंसे काम कराते हैं। स्वयं काम न करनेके कारण शहरोंकी स्त्रियां गांवकी स्त्रियोंसे स्वास्थ्य में गिर जाती है।

५. ग्रामका किसान खुशहाल तो होसकता है, परन्तु अपरिमित धनका स्वामी नहीं होसकता। बुरे दिन हों, तो उसपर कर्जा चढ़ जाता है, अच्छे दिन हों, तो पिछला कर्जा उतारने में लगा रहता है। इसकारण वह बड़ी बचतसे जीवनका निर्वाह करता है। उसे तरह-तरह के शौक नहीं

५. नागरिक अपरिमित धनका स्वामी भी हो सकता है। किसानकी तरह बचतसे नहीं रहता, फ़िज़ूलखर्चीके उसके पास ज्यादा मौके रहते हैं। तरह-तरहके लोगोंकेसाथ मिलनेके कारण तरह-तरहके शौक उसे लग जाते हैं। कोई शराबी, कोई कबाबी, कोई व्यभिचारी---हरतरहके कुसंगका परिणाम वह

लगते। इधर-उधर मिलने-जुलने से, भिन्न-भिन्न लोगोंकेसाथ सम्पर्कमें आनेसे जो व्यसन शहरीको लग जाते हैं, उनसे गांवका किसान बचा रहता है। व्यसनोंसे बचेहोने तथा प्राकृतिक-जीवन व्यतीत करनेके कारण उसका स्वास्थ्य शहरियोंके स्वास्थ्यसे अच्छा होता है।

भोग सकता है। नागरिकका जीवन अप्राकृतिक-जीवन होता है। देर रात गये सोता है, सूर्योदयके बहुत बाद उठता है, टीप-टापमें, फ़ैशनमें बहुत-सा धन और समय बिता देता है। अस्वाभाविक-जीवन बितानेके कारण तरह-तरहकी बीमारियोंका शिकार बना रहता है।

६. ग्राममें मनुष्य जो-कुछ नज़दीक है उससे, परिवारसे, परम्परासे, बुज़ुर्गोंसे बंधा रहता है, वह अपनेको उस वातावरणसे अलग करके अपने विषयमें एक पृथक् सत्ताके रूपमें सोच ही नहीं सकता। परिवार, परिवारके सदस्य, परिवारकी परम्परा जो-कुछ है, वह भी वही-कुछ है, इसलिए वह अपने विचारोंका पक्का होता है, उसका जो धर्म-कर्म-दर्शन-विचार-प्रणाली आदि हैं, उससे उसे कोई डिगा नहीं सकता। ग्रामवासियोंकी विचार-धाराका जो विरोध करता है, उसका सारा गांव विरोध करता है। इसीकारण गांवमें असहिष्णुता अधिक होती है।

६. नगरमें मनुष्य सब बन्धनोंसे छूटा होता है, न उसे परिवारकी परंपरा बांध सके, न बुज़ुर्गोंकी घुड़कियां। वह अपना विचारोंका सम्बन्ध जहां चाहे बना सकता है। अगर उसके पड़ोसके लोगोंके विचारोंसे उसके विचार मेल नहीं खाते, तो अपनी रहनेकी जगहसे बीस मील परेके लोगोंके साथ वह अपना मिलने-जुलनेका सम्बन्ध बना सकता है। उसका क्योंकि कई प्रकारके विचारके लोगोंसे सम्बध होजाता है, अतः वह अपने विचारोंमें बहुत कट्टर नहीं होता। मालके लेनदेनकीतरह वह विचारोंके लेन-देनका भी आदी होजाता है। वह कट्टर नहीं रहता, सहिष्णुतासे काम लेता है।

७. गांवमें 'हम' की भावना काम करती है, जो काम होता है वह गांववाले सब मिलकर करते हैं, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति समझता

७. शहरमें आते ही व्यक्तिकी 'हम' की भावना जाती रहती है। वह जो-कुछ करता है, वही उसका ज़िम्मेवार है—दूसरेको उससे

है कि उस कामका श्रेय या अपयश उसको भी है। अच्छा काम किया तो 'हम' ने किया, किसी गांववालेने बुरा काम किया तब भी 'हमारी नाक कट गई' की भावना गांव वालोंमें बनी रहती है। वह 'निजू' और 'सार्वजनिक' बातको एक समझता है।

८. ग्रामीण-संस्कृति प्रकृतिके अत्यन्त निकट सम्पर्कमें होती है। ग्रामीणों के कथा-कथानक, उनके नृत्य, उनके गीत, सबका उदय प्रकृतिके अथाह सागरसे होता है। ग्रामीण संस्कृतिमें कृत्रिमता नहीं होती, वे अपने स्वाभाविक-जीवनको अपनी संस्कृतिमें उंडेल देते हैं।

क्या मतलब? उसकी दृष्टिमें 'निजू-जीवन' और 'सार्वजनिक-जीवन' में बड़ा अन्तर है। निजू-तौरसे वह जो-कुछ करना चाहे करे, उसे रोकनेका किसीको अधिकार नहीं, अगर वह सार्वजनिकतौरपर कोई खराबी करता है तभी उसे टोका जा सकता है।

८. ग्रामोंकी संस्कृतिको लेकर नागरिक अपनी संस्कृतिका निर्माण करते हैं। संसारकी सब महान् संस्कृतियोंका उद्भव-स्थान प्रकृतिका स्वाभाविक रूप है। इस दृष्टिसे, गांवोंके प्राकृतिक वातावरणमें संस्कृति जन्म लेती है, और शहरों में उसका पालन-पोषण होता है। चित्रकार एक ग्वालेका चित्र बनाता है, भरेहुए थनोंमेंसे मटका लेकर वह दूध दूह रहा है—यह गांवकी संस्कृतिका चित्रण नहीं तो क्या है? कथाकार एक किसान के जीवनको आधार बनाकर एक उपन्यास लिखता है। यह सब ग्राममें जन्मी संस्कृतिपर अपना एक नया भवन खड़ा करना ही तो है।

ऊपर जो विवेचन किया गया है उसके आधार पर गांव तथा शहर की विशेषताओं का निम्न-प्रकार विवरण दिया जा सकता है:—

४. गांवकी विशेषताएँ

(१) गांवकी पहली विशेषता उसका प्रकृतिके निकट होना है। प्रकृतिके न्दर दृश्योंको जब अंकित किया जाता है तब उनका दाम सैकड़ों रुपया देनेको

है कि उस कामका श्रेय या अपयश उसको भी है । अच्छा काम किया तो 'हम' ने किया, किसी गांववालेने बुरा काम किया तब भी 'हमारी नाक कट गई' की भावना गांव वालोंमें बनी रहती है । वह 'निजू' और 'सार्वजनिक' बातको एक समझता है ।

८. ग्रामीण-संस्कृति प्रकृतिके अत्यन्त निकट सम्पर्कमें होती है । ग्रामीणों के कथा-कथानक, उनके नृत्य, उनके गीत, सबका उदय प्रकृतिके अथाह सागरसे होता है । ग्रामीण संस्कृतिमें कृत्रिमता नहीं होती, वे अपने स्वाभाविक-जीवनको अपनी संस्कृतिमें उंडेल देते हैं ।

क्या मतलब ? उसकी दृष्टिमें 'निजू-जीवन' और 'सार्वजनिक-जीवन' में बड़ा अन्तर हैं । निजू-तौरसे वह जो-कुछ करना चाहे करे, उसे रोकनेका किसीको अधिकार नहीं, अगर वह सार्वजनिकतौरपर कोई खराबी करता है तभी उसे टोका जा सकता है ।

८. ग्रामोंकी संस्कृतिको लेकर नागरिक अपनी संस्कृतिका निर्माण करते हैं । संसारकी सब महान् संस्कृतियोंका उद्भव-स्थान प्रकृतिका स्वाभाविक रूप है । इस दृष्टिसे, गांवोंके प्राकृतिक वातावरणमें संस्कृति जन्म लेती है, और शहरों में उसका पालन-पोषण होता है । चित्रकार एक ग्वालेका चित्र बनाता है, भरेहुए थनोंमेंसे मटका लेकर वह दूध दूह रहा है—यह गांवकी संस्कृतिका चित्रण नहीं तो क्या है ? कथाकार एक किसान के जीवनको आधार बनाकर एक उपन्यास लिखता है । यह सब ग्राममें जन्मी संस्कृतिपर अपना एक नया भवन खड़ा करना ही तो है ।

ऊपर जो विवेचन किया गया है उसके आधार पर गांव तथा शहर की विशेषताओं का निम्न-प्रकार विवरण दिया जा सकता है :—

४. गांवकी विशेषताएँ

(१) गांवकी पहली विशेषता उसका प्रकृतिके निकट होना है । प्रकृतिके सुन्दर दृश्योंको जब अंकित किया जाता है तब उनका दाम सैंकड़ों रुपया देनेको

लोग तैयार होजाते हैं, फिर जीती-जागती प्रकृतिमें रहनेका तो कुछ भी दाम चुकाया नहीं जासकता। गांवके प्रकृतिक-दृश्योंमें झोंपड़ेको भी पुष्प-लताओंसे ऐसे सजाकर रखा जासकता है कि महलको भी वैसा न रखा जासके। करोड़पति को भी उतनी खुली विस्तृत जगह नहीं मिल सकती जितनी एक ग़रीब किसानको अपने टूटे-फूटे झोंपड़ेकेलिये मिल जाती है। अगर मनुष्य चाहे तो गांवमें प्रकृतिके वरदानसे घरको स्वर्ग बना सकता है, परन्तु गांवके लोग जैसे रहते हैं उससे तो उन्होंने अपने हाथसे स्वर्गको नरक बनाया होता है।

(२) गांवकी परिस्थितिमें जीवन-रूपी वृत्तका केन्द्र घर तथा परिवार होता है। गांवके घरोंमें बच्चोंको खेलनेकेलिये मैदान मिलते हैं, जंगलोंमें वे घूम सकते हैं, तालाब-नदी-नालेकी सैर करसकते हैं, पालतू जानवरोंसे दिल बहला सकते हैं, प्रकृतिकी सब मौसमोंका आनन्द उठा सकते हैं।

(३) गांववाले जानते हैं कि पड़ौसी किसे कहते हैं। शहरमें रहनेवाला ऐसे व्यक्तियोंसे घिरा होता है जिन्हें वह जानता ही नहीं होता। गांवमें ऐसी बात नहीं होसकती। गांवका हर आदमी हरेक गांव-वासीको जानता है। इससे किसीकी कमज़ोरी दूसरेसे छिपी नहीं रहती। इसका लाभ भी है। लोकापवादके भयसे लोग बुरे कामसे बचे रहते हैं। क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिका सारे गांवसे निकटतम सम्बन्ध होता है इसलिये सुख-दुःखमें सब एक-दूसरेका साथ देते हैं। इसके विपरीत शहरका कोई व्यक्ति इकला पड़ा अपने दुःखमें मर भी जाय, तो उसे पूछनेवाला कोई नहीं होता। गांवमें दुश्मनी होती है, तो वह भी जबर्दस्त, दोस्ती होती है, तो उसका भी कोई ठिकाना नहीं। गांवमें मनुष्य एक छोटे-से समूहका हिस्सा होता है जिसमें सब सबको जानते हैं, इसलिये उच्च-कोटिके सब गुणोंको प्रकट करनेकी हरेककी इच्छा बनी रहती है, हरेक यह चाहता है कि ऐसा काम करे जिससे सारा गांव उसकी तारीफ़ करे।

(४) जो प्रतिभाशाली व्यक्ति होता है वह आसानीसे अपनी प्रतिभाका सिक्का गांवमें जमा लेता है। छोटा-सा मानव-समूह है, इसलिये सबकी उसकी तरफ नजर आसानीसे उठ जाती है। जो व्यक्ति अगर शहरमें हो तो मारा-मारा फिरता रहे, वह अगर गांव में हो तो अपने गुणोंके कारण गांवमें शीघ्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है।

५. शहर की विशेषताएँ

(१) शहरमें उद्योग-धन्धोंका प्राधान्य होता है—उद्योग-धन्धे, जिनमें 'श्रम' (Labour) और 'पूंजी' (Capital) काम करते हैं। ग्राममें जो स्थान 'ज़मीन'का है, शहरमें वह स्थान 'पूंजी' का है, ग्राममें जो स्थान 'कृषि 'का है,

है कि उस कामका श्रेय या अपयश उसको भी है। अच्छा काम किया तो 'हम' ने किया, किसी गांववालेने बुरा काम किया तब भी 'हमारी नाक कट गई' की भावना गांव वालोंमें बनी रहती है। वह 'निजू' और 'सार्वजनिक' बातको एक समझता है।

८. ग्रामीण-संस्कृति प्रकृतिके अत्यन्त निकट सम्पर्कमें होती है। ग्रामीणों के कथा-कथानक, उनके नृत्य, उनके गीत, सबका उदय प्रकृतिके अथाह सागरसे होता है। ग्रामीण संस्कृतिमें कृत्रिमता नहीं होती, वे अपने स्वाभाविक-जीवनको अपनी संस्कृतिमें उंडेल देते हैं।

क्या मतलब? उसकी दृष्टिमें 'निजू-जीवन' और 'सार्वजनिक-जीवन' में बड़ा अन्तर है। निजू-तौरसे वह जो-कुछ करना चाहे करे, उसे रोकनेका किसीको अधिकार नहीं, अगर वह सार्वजनिकतौरपर कोई खरावी करता है तभी उसे टोका जा सकता है।

८. ग्रामोंकी संस्कृतिको लेकर नागरिक अपनी संस्कृतिका निर्माण करते हैं। संसारकी सब महान् संस्कृ-तियोंका उद्भव-स्थान प्रकृतिका स्वाभाविक रूप है। इस दृष्टिसे, गांवोंके प्राकृतिक वातावरणमें संस्कृति जन्म लेती है, और शहरों में उसका पालन-पोषण होता है। चित्रकार एक ग्वालेका चित्र बनाता है, भरेहुए थनोंमेंसे मटका लेकर वह दूध दूह रहा है—यह गांवकी संस्कृतिका चित्रण नहीं तो क्या है? कथाकार एक किसान के जीवनको आधार बनाकर एक उपन्यास लिखता है। यह सब ग्राममें जन्मी संस्कृतिपर अपना एक नया भवन खड़ा करना ही तो है।

ऊपर जो विवेचन किया गया है उसके आधार पर गांव तथा शहर की विशेषताओं का निम्न-प्रकार विवरण दिया जा सकता है :—

४. गांवकी विशेषताएँ

(१) गांवकी पहली विशेषता उसका प्रकृतिके निकट होना है। प्रकृतिके सुन्दर दृश्योंको जब अंकित किया जाता है तब उनका दाम सैंकड़ों रुपया देनेको

है कि उस कामका श्रेय या अपयश उसको भी है। अच्छा काम किया तो 'हम' ने किया, किसी गांववालेने बुरा काम किया तब भी 'हमारी नाक कट गई' की भावना गांव वालोंमें बनी रहती है। वह 'निजू' और 'सार्वजनिक' बातको एक समझता है।	क्या मतलब ? उसकी दृष्टिमें 'निजू-जीवन' और 'सार्वजनिक-जीवन' में बड़ा अन्तर हैं। निजू-तौरसे वह जो-कुछ करना चाहे करे, उसे रोकनेका किसीको अधिकार नहीं, अगर वह सार्वजनिकतौरपर कोई खराबी करता है तभी उसे टोका जा सकता है।
८. ग्रामीण-संस्कृति प्रकृतिके अत्यन्त निकट सम्पर्कमें होती है। ग्रामीणों के कथा-कथानक, उनके नृत्य, उनके गीत, सबका उदय प्रकृतिके अथाह सागरसे होता है। ग्रामीण संस्कृतिमें कृत्रिमता नहीं होती, वे अपने स्वाभाविक-जीवनको अपनी संस्कृतिमें उंडेल देते हैं।	८. ग्रामोंकी संस्कृतिको लेकर नागरिक अपनी संस्कृतिका निर्माण करते हैं। संसारकी सब महान् संस्कृतियोंका उद्भव-स्थान प्रकृतिका स्वाभाविक रूप है। इस दृष्टिसे, गांवोंके प्राकृतिक वातावरणमें संस्कृति जन्म लेती है, और शहरों में उसका पालन-पोषण होता है। चित्रकार एक ग्वालेका चित्र बनाता है, भरेहुए थनोंमेंसे मटका लेकर वह दूध दूह रहा है—यह गांवकी संस्कृतिका चित्रण नहीं तो क्या है ? कथाकार एक किसान के जीवनको आधार बनाकर एक उपन्यास लिखता है। यह सब ग्राममें जन्मी संस्कृतिपर अपना एक नया भवन खड़ा करना ही तो है।

ऊपर जो विवेचन किया गया है उसके आधार पर गांव तथा शहर की ोषताओं का निम्न-प्रकार विवरण दिया जा सकता है:—

४. गांवकी विशेषताएँ

(१) गांवकी पहली विशेषता उसका प्रकृतिके निकट होना है। प्रकृतिके : दृश्योंको जब अंकित किया जाता है तब उनका दाम सैंकड़ों रुपया देनेको

लोग तैयार होजाते हैं, फिर जीती-जागती प्रकृतिमें रहनेका तो कुछ भी दाम चुकाया नहीं जासकता। गांवके प्रकृतिक-दृश्योंमें झोंपड़ेको भी पुष्प-लताओंसे ऐसे सजाकर रखा जासकता है कि महलको भी वैसा न रखा जासके। करोड़पति को भी उतनी खुली विस्तृत जगह नहीं मिल सकती जितनी एक ग़रीब किसानको अपने टूटे-फूटे झोंपड़ेकेलिये मिल जाती है। अगर मनुष्य चाहे तो गांवमें प्रकृतिके वरदानसे घरको स्वर्ग बना सकता है, परन्तु गांवके लोग जैसे रहते हैं उससे तो उन्होंने अपने हाथसे स्वर्गको नरक बनाया होता है।

(२) गांवकी परिस्थितिमें जीवन-रूपी वृत्तका केन्द्र घर तथा परिवार होता है। गांवके घरोंमें बच्चोंको खेलनेकेलिये मैदान मिलते हैं, जंगलोंमें वे घूम सकते हैं, तालाब-नदी-नालेकी सैर करसकते हैं, पालतू जानवरोंसे दिल बहला सकते हैं, प्रकृतिकी सब मौसमोंका आनन्द उठा सकते हैं।

(३) गांववाले जानते हैं कि पड़ौसी किसे कहते हैं। शहरमें रहनेवाला ऐसे व्यक्तियोंसे घिरा होता है जिन्हें वह जानता ही नहीं होता। गांवमें ऐसी बात नहीं होसकती। गांवका हर आदमी हरेक गांव-वासीको जानता है। इससे किसीकी कमज़ोरी दूसरेसे छिपी नहीं रहती। इसका लाभ भी है। लोकापवादके भयसे लोग बुरे कामसे बचे रहते हैं। क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिका सारे गांवसे निकटतम सम्बन्ध होता है इसलिये सुख-दुःखमें सब एक-दूसरेका साथ देते हैं। इसके विपरीत शहरका कोई व्यक्ति इकला पड़ा अपने दुःखमें मर भी जाय, तो उसे पूछनेवाला कोई नहीं होता। गांवमें दुश्मनी होती है, तो वह भी जबर्दस्त, दोस्ती होती है, तो उसका भी कोई ठिकाना नहीं। गांवमें मनुष्य एक छोटे-से समूहका हिस्सा होता है जिसमें सब सबको जानते हैं, इसलिये उच्च-कोटिके सब गुणोंको प्रकट करनेकी हरेककी इच्छा बनी रहती है, हरेक यह चाहता है कि ऐसा काम करे जिससे सारा गांव उसकी तारीफ़ करे।

(४) जो प्रतिभाशाली व्यक्ति होता है वह आसानीसे अपनी प्रतिभाका सिक्का गांवमें जमा लेता है। छोटा-सा मानव-समूह है, इसलिये सबकी उसकी तरफ नजर आसानीसे उठ जाती है। जो व्यक्ति अगर शहरमें हो तो मारा-मारा फिरता रहे, वह अगर गांव में हो तो अपने गुणोंके कारण गांवमें शीघ्र प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है।

५. शहर की विशेषताएँ

(१) शहरमें उद्योग-धन्धोंका प्राधान्य होता है—उद्योग-धन्धे, जिनमें 'श्रम' (Labour) और 'पूंजी' (Capital) काम करते हैं। ग्राममें जो स्थान 'ज़मीन'का है, शहरमें वह स्थान 'पूंजी' का है, ग्राममें जो स्थान 'कृषि 'का है,

शहरमें वह स्थान 'उद्योग' (Industry) तथा 'व्यापार' (Commerce) का है।

(२) अनेक नव-युवक शिक्षा प्राप्त करनेके अनन्तर आजीविकाके उपार्जन केलिये गांवसे शहर चले जाते हैं। हर शहरमें इस प्रकारके नव-युवकोंकी संख्या पर्याप्त होती है। क्योंकि वे नव-युवक होते हैं, इसलिये नव-यौवनके गुण—आशाका वातावरण, साहस, प्रगति-शीलता, विचारोंकी क्रान्ति—ये भावनाएं शहरी-जीवनको अनुप्राणित करती रहती हैं।

(३) गांवका कोई आदमी अपने घरके बाहर नहीं रहता। जैसे उसकी जड़ें एक विशाल-वृक्षकीतरह अपनी भूमिमें गड़ी हुई हैं, इसीप्रकार उसके विचार भी अपनी सीमित परिधिमें ही गड़े होते हैं। शहरका व्यक्ति पारिवारिक-बन्धनोंको पीछे छोड़कर आया होता है। सैंकड़ों, हजारों लोग शहरोंमें विना परिवारके बोर्डिंगोंमें, क्लबोंमें, या होटलोंमें रहते हैं। शहरमें अगर कोई परिवार है, तो उसमें भी चाय पीनेकेलिये तो सब इकट्ठे होते हैं, किन्तु फिर सब अलग-अलग अपने काम-धन्धोंपर चले जाते हैं। शहरका रहनेवाला आज एक मकानमें किरायेपर रहता है, तो कल दूसरेमें चला जाता है, उसे किसी खास स्थानसे लगाव नहीं रहता। बाग़-वग़ीचेकी सैर करनेके स्थानमें वह सिनेमा-क्लबमें जाकर अपना समय विताता है।

(४) शहरमें प्राकृतिक के स्थानमें कृत्रिमका राज्य है। जंगल कहीं देखनेको नहीं मिलता। कल-कारखानोंमें मज़दूर कृत्रिम वस्तुओंको और अधिक कृत्रिम वनानेमें दिन-रात लगे रहते हैं। किसान तो प्रकृतिमें खेलता रहता है, परन्तु शहरका मज़दूर एक बड़ी भारी इमारत में अपने जैसे लाखों मज़दूरोंकेसाथ कभी दिनको, कभी रातको बिजलीकी रोशनीमें आंखें गड़ा-गड़ाकर काम करता है। वह समझ रहा होता है कि वह प्रकृतिपर विजय पारहा है, उसके इसी घमंडको चूर करनेकेलिये कभी वीमारी, कभी मौत उसके सिर पर आ गरजती है। वह भौतिकवादको, रुपये-पैसेको ही जीवनका आदि और अन्त समझने लगता है, यह भूल जाता है कि प्रकृतिका वैभव साधन है, साध्य नहीं, किसी लक्ष्यतक पहुंचानेमें सहायक है, स्वयं लक्ष्य नहीं। परन्तु वह क्या करे, शहरका वातावरण ही ऐसा है कि यह बात उसके मस्तिष्कमें घर नहीं करती।

(५) शहरमें चारोंतरफ़से इन्द्रियोंको रस मिलता है। रूपके दीवाने सिनेमा-स्टारोंके पीछे भागते हैं, रसके दीवाने चटोरपनके पीछे भागते हैं, कोई कर्ण-रस, कोई दूसरे किसी रसमें दीवाना फिरता है क्योंकि हर इन्द्रियको उत्तेजना देनेवाले साधन शहरोंमें मौजूद रहते हैं। ऐसे वातावरणमें रहकर मनकी एक उथली-सी वृत्ति वन जाती है। इन्द्रियके विषयोंमें ही इन्सान भटकता फिरता है, किसी वस्तुकी गहराईमें जानेका प्रयत्न नहीं करता। गांवका किसान हर वातकी तहतक

पहुंचा होता है, शहरका नागरिक हर-वस्तुके ऊपर-ऊपर तैर रहा होता है। हर-वस्तु किसानकी इन्द्रियोंसे आगे बढ़कर उसके मनतक पहुंचती है, किन्तु वह शहरके नागरिककी इन्द्रियोंतक ही रहकर समाप्त होजाती है क्योंकि उसे चारों-तरफ इतना इन्द्रिय-रस दीख रहा होता है कि उससे ही उसे छुट्टी नहीं मिलती। शहरवालोंका हर-वातका ज्ञान उथला-उथला होता है—कुछ यह देखा, कुछ वह देखा, कुछ यह चखा, कुछ वह चखा—इसतरह उनकी चाल इन्द्रियोंके घेरेतक ही रह जाती है।

(६) शहरमें सवतरहकी अति पायी जाती है। करोड़पति हैं, तो दाने-दानेको तरसनेवाले भी हैं, मिलोंके मालिक हैं, तो मजदूर भी हैं, उच्च-से-उच्च प्रतिभावाले हैं, तो गुंडे, वदमाश भी हैं। शहरमें इस प्रकार भिन्न-भिन्न वृत्तिके लोग होते हैं इसलिये वहां किसी ऐसी लहरका चलाना कठिन होता है जो सारे शहरको हिला दे। हरेक हर-वातको अपने-अपने दृष्टि-कोणसे देखने लगता है। वम्बईमें शरावकी रोक-थाम कीगई, तो शराव पीनेवाले चिल्ला पड़े, शरावकी छूट दीगई, तो सुधारवादी आपत्ति करने लगे। शहरोंमें भिन्न-भिन्न संस्कृतियां पायी जाती हैं, किसीका किसीसे सन्तोष होता है, किसीका किसीसे। हरप्रकारके व्यक्तिको अपनी मनोकामना पूरी करनेकेलिये अपने अनुकूल क्षेत्र कहीं-न-कहीं मिल ही जाता है।

(७) शहरोंमें एक ही तरहके लोग इतने होते हैं कि उनकी अपनी-अपनी वस्तियां वस जाती हैं। कलकत्ता-वम्वईमें कहीं चीनी वसेहुए हैं, कहीं ईरानी, कहीं पंजावी, कहीं मद्रासी। व्यापारकी दृष्टिसे वैंक एक जगह हैं, तो विजलीकी दुकानें दूसरी जगह, कपड़ेकी दुकानें तीसरी जगह। इससे सारे शहरकी एकताकी जो भावना होनी चाहिये वह नहीं हो पाती, और कभी-कभी एक जगहके समूहके लोग किसी भी वातसे भड़क जाते हैं, और एकप्रकारका साम्प्रदायिक दंगा-सा मचा देते हैं। इसप्रकारकी वस्तियोंसे वह वर्ग-भावना, जिसे शहरी जीवन मिटा देता है, जागृत वनी रहती है।

(८) शहरोंका नागरिक अपने पड़ौसीकेसाथ वीस साल रहकर भी उसका नामतक न जानता हो—ऐसा हो सकता है। वह जीवन कैसा नीरस है जिसमें पड़ौसीकेसाथ भी मेल-जोल नहीं! कहां तो गांवका जीवन जिसमें हर-व्यक्ति हर-दूसरेको जानता है, और कहां शहरका जीवन जिसमें साथ-साथ रहतेहुए भी हम एक-दूसरेको नहीं जानते!

(९) शहरका नागरिक सव वातोंमें परावलम्वी है। गांवके किसानके घरमें अपना दीपक होता है, सड़कपर उसकी अपनी लालटैन होती है, वाजार जाने

केलिये अपनी बैलगाड़ी होती है, अपनी गाय, अपनी खेती, सब-कुछ अपना, आत्म-निर्भरताका किसान मानो प्रतीक होता है। नागरिकको हर-बातमें सरकारका मुंह ताकना पड़ता है। न वह रोशनीका बन्दोबस्त कर सकता है, न दूधका, न खाने-पीनेका, हर-बातमें उसे पर-मुखापेक्षी होना पड़ता है।

प्रश्न

१. गांव और शहर क्यों और कैसे बनते हैं? इनके विकासके क्रमपर प्रकाश डालिये।

२. 'उत्पादनके ह्रासका नियम' (Law of Diminishing Returns) क्या है? इसका जन-संख्या तथा पृथिवीकी उत्पादन-शक्तिकेसाथ क्या सम्बन्ध है? इस नियमका गांवोंकी आबादी घटने और शहरोंकी आबादी बढ़नेकेसाथ क्या सम्बन्ध है?

३. 'शहरीकरण' (Urbanization)—अर्थात्, गांवोंकी आबादीका शहरोंकीतरफ चल पड़नेका क्या कारण है? विस्तारसे समझाइये।

४. ग्रामीण तथा नागरिक जीवनकी तुलना कीजिये।

५. ग्रामकी क्या विशेषताएं हैं?

६. शहरकी क्या विशेषताएं हैं?

[८]

वंशानुसंक्रमण तथा परिस्थिति

(HEREDITY AND ENVIRONMENT)

१. वंशानुसंक्रमण तथा परिस्थितिके प्रश्नका स्वरूप क्या है ?

जीवनका आधार-भूत मूल-तत्व जिससे सब प्राणियोंका धीरे-धीरे विकास हुआ है, 'कलल-रस' (Protoplasm) कहाता है। इसे स्थूल आंखोंसे नहीं देख सकते, सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्रसे ही इसे देखा जासकता है। वृक्ष-वनस्पति भी इससे बने हैं, पशु-पक्षी-मनुष्य भी इससे बने हैं। जब 'कलल-रस' (Protoplasm) पौधे-वनस्पति-कीटाणुकी दिशामें विकसित होता है, तब पहले इसका जो रूप प्रकट होता है, उसे 'बैक्टीरिया' (Bacteria) कहते हैं, जब जीव-जन्तु-पशु-पक्षी-मनुष्य बननेकी दिशामें विकसित होता है, तब इसका पहले-पहल जो रूप प्रकट होता है, उसे 'अमीबा' (Amoeba) कहते हैं। इस दृष्टिसे 'बैक्टीरिया' और 'अमीबा' जीवनकी सबसे पहली इकाइयां हैं। क्योंकि हमारा प्राणी-जगत्से सम्बन्ध है, इसलिये हम 'बैक्टीरिया' की नहीं, 'अमीबा' की चर्चा करेंगे। 'अमीबा' 'कलल-रस' (Protoplasm) से बना असंख्य-जीवधारियोंमें सबसे पहला प्राणी (Organism) है। इसीका विकास होते-होते नाना प्राणी उत्पन्न होगये हैं। अगर 'अमीबा' पानीमें तैर रहा हो, और रक्तका एक बिन्दु पानीमें डाला जाय, तब वह रक्त पानीमें घुलकर 'अमीबा' तक पहुंचता है, और 'अमीबा' फौरन उसे अपने अन्दर लेनेकेलिये शरीरके हर-भाग चेष्टा करता है, और रक्त-बिन्दुके निकट जानेका प्रयत्न करता है; अगर पानीमें अम्ल (Acid) डाल दिया जाय, तो उसके असरसे बचनेकेलिये वह दूर भागता है। 'अमीबा' की इस दो प्रकारकी प्रतिक्रिया—'विस्तार तथा संकोचन' (Expansion and Contraction)—से जीवनका प्रारम्भ होता है। अगर वह रक्तमेंसे भोजनको अपने अन्दर लेनेकेलिये उसकीतरफ न भागे तब भी वह जिन्दा नहीं रह सकता, अगर खतरेसे बचनेकेलिये अम्लसे दूर न भागे तब भी जिन्दा नहीं रह सकता। इस प्रक्रियाको अगर एक शब्दमें कहना चाहें, तो 'परिस्थितिके प्रति प्रतिक्रिया' (Response to

environment) —इस शब्दसे कह सकते हैं। 'प्राणी' (Organism) अनुकूल तथा प्रतिकूल —इन दो तरह की परिस्थितियोंमें हो सकता है, उसका जीवन तभी बना रह सकता है जब अनुकूल परिस्थितिकी तरफ़ जाये, और प्रतिकूलसे परे हटे। 'अमीबा' में यह प्रक्रिया चल रही है, और 'अमीबा' की तरह हरेक जीव-धारीमें भी यही प्रक्रिया चल रही है। इससे यह स्पष्ट होगया कि जीव-धारणकेलिये दो बातोंकी आवश्यकता है—एक तो 'प्राणी' (Organism) तथा दूसरी 'परिस्थिति' (Environment) जिसमें प्राणी रहता है, और जिसके प्रति 'प्रतिक्रिया' करनेसे ही वह जीवन धारण करसकता है। जब प्राणीकी परिस्थितिके प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं होती तब उसे मृत कहा जाता है।

'परिस्थितिके प्रति प्रतिक्रिया' (Response to environment) से प्राणीका जीवन प्रारम्भ होता है। आगको बच्चेने देखा, कैसी चमकती है, लटपटाती है, झट-से उसे पकड़नेकेलिये उसमें हाथ डाल दिया। यह भी 'परिस्थिति के प्रति प्रतिक्रिया' है, परन्तु इससे हाथ जल गया। आगेसे बच्चा आगमें हाथ नहीं डालता। परिस्थितिके प्रति प्राणी जो प्रतिक्रिया करता है उसमें, अनुभवके आधारपर, जो प्रतिक्रियाएं जीवनकेलिये हितकर हैं, उन्हें चुन लेता है, जो अहितकर हैं, उन्हें छोड़ देता है—यही तो 'अमीबा' का रक्तके बिन्दुकेलिये उसकीतरफ़ जाना, और अम्लसे बचनेकेलिये उससे भागना है। भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थितियोंमें पड़कर प्राणी भिन्न-भिन्न अनुभव करता है, इन अनुभवोंसे सीखता है, जिन 'प्रतिक्रियाओं' (Responses) से जीवनको लाभ होता है, उन्हें अपनाता जाता है, जिनसे हानि होती है, उन्हें छोड़ता जाता है। जबतक एक प्राणी इसप्रकारका परिस्थितिमें अनुभव प्राप्त कर रहा होता है, तबतक 'वैय्यक्तिक' (Individual) जीवन-क्रम चल रहा होता है, जब एक नहीं अनेक, समुदाय-का-समुदाय ऐसे अनुभव कर रहा होता है, अनुकूल प्रतिक्रियाओंका संग्रह करता जाता है, प्रतिकूल प्रतिक्रियाओंको छोड़ता जाता है, तब 'सामाजिक' (Social) जीवन-क्रम चल पड़ता है।

प्रश्न यह है कि जो बातें हमने बड़े अनुभवसे सीखीं, यह सीखकर कि ताकतवर होनेसे ही जिन्दा रह सकते हैं, किसीने डंड-कसरत करके अपने पट्ठे मजबूत किये, किसीने खूब पढ़-लिखकर दिमागी उन्नति की—क्या हमारी अगली आनेवाली पीढ़ीको यह सब-कुछ फिर नये सिरेसे सीखना पड़ेगा, शारीरिक तथा मानसिक गुण नये सिरेसे उपार्जन करने पड़ेंगे, या जन्मसे ही उनके शरीर सुदृढ़ तथा मन उन्नत होने योग्य होंगे, उनको वे बातें जन्मसे ही मिल जायेंगी, जो हमें बड़ी मेहनतसे, बड़े अनुभवसे मिली हैं? जीवनकी समस्या 'परिस्थितिके प्रति

ठीक प्रतिक्रिया' (Right response to environment) की समस्या है, इसीको दूसरे शब्दोंमें 'सीखना' कहते हैं, और 'सीखने' की समस्या हमारे सामने यह प्रश्न खड़ा कर देती है कि क्या हर-प्राणीको सब-कुछ स्वयं सीखना पड़ता है, भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएं करके यह अनुभव प्राप्त करना होता है कि कौन-सी प्रतिक्रिया ठीक है, कौन-सी गलत, या जो इस प्रक्रियामेंसे गुजर चुके हैं, उन माता-पिताके रज-वीर्यसे हमें बीज-रूपमें सब-कुछ मिल जाता है ? यही प्रश्न 'परिस्थिति तथा वंशानुसंक्रमण' का प्रश्न है। जो लोग कहते हैं कि परिस्थितिसे ही सब-कुछ सीखना पड़ता है, माता-पितासे कुछ नहीं मिलता, वे 'परिस्थिति-वादी', तथा जो यह कहते हैं कि माता-पिताके रज-वीर्यकेद्वारा, वंशानुसंक्रमणसे सब-कुछ मिलता है, वे 'वंशानुसंक्रमण-वादी' कहे जा सकते हैं।

२. दो विचारधाराएँ, 'वंशानुसंक्रमणवादी' तथा 'परिस्थितिवादी'

कुछ लोगोंका विचार यह है कि क्योंकि सन्तानमें माता-पिताका रुधिर बहता है, इसलिये जैसे माता-पिता होंगे वैसी सन्तान होगी। माता-पिताको बहुत-कुछ अपने पूर्वजोंसे 'वंशसंक्रमण' (Heredity) द्वारा प्राप्त हुआ। पूर्वजोंने 'भय' (Fear) होनेपर 'पलायन' (Escape), 'क्रोध' (Anger) होनेपर 'लड़ना' (Fight), 'आश्चर्य' (Wonder) होनेपर 'जिज्ञासा' (Curiosity) आदि सीखा था। इन्हें सीखनेकेलिये उन्हें कई पीढ़ियां लगी थीं, परन्तु आज जो बच्चा पैदा होता है उसे इन्हें सीखना नहीं पड़ता, ये उसके स्वभावका अंग होते हैं, इसलिये डरके समय जान बचानेकेलिये भाग जाना, क्रोध आनेपर लड़ पड़ना तथा इसीप्रकारकी अन्य शक्तियोंको मनोविज्ञानकी परिभाषामें 'प्राकृतिक-शक्ति'-'नैसर्गिक-शक्ति'--'सहज-क्रिया' (Instincts)--इन नामोंसे कहा जाता है। इन्हें आजका बच्चा नहीं सीखता, परन्तु इन्हें मानव-समाजने कभी अनुभवकेद्वारा सीखा था, अब 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) से ये शक्तियां हमें प्राप्त होती हैं। प्रश्न यह है कि मनुष्य केवल 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) से ही तो नहीं बना। वह जन्म लेने के बाद बहुत-कुछ और भी सीखता है। एक आदमीने व्यापार सीखा, बड़ा सफल व्यापारी हुआ, दूसरा बड़ा कारीगर हुआ, तीसरेने कुछ-और सीखा। एक आदमी जन्मसे कमजोर है, परन्तु व्यायाम करके उसने अपने पुट्ठे बलिष्ठ बना लिये। इन-सबके ये गुण स्वाभाविक-गुण तो नहीं हैं, ये तो इन्होंने परिश्रमसे प्राप्त किये हैं, बहुत-सी बातें अनुभवसे सीखी हैं। इन गुणों को मनोविज्ञानमें 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) कहा जाता है। 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) तथा 'परि-

स्थिति' (Environment) का प्रश्न यह है कि 'प्राकृतिक-शक्तियां' (Instincts) तो 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) के नियमानुसार पितासे पुत्रको आती हैं; 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी आते हैं, या नहीं? 'प्राणीशास्त्र' (Biology) के पंडितोंका कहना है कि ये 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) 'वंशानुसंक्रान्त' (Inherit) होते हैं, नहीं तो एक जन्ममें प्राणियोंका 'अमीबा' से एकदम विकास नहीं होसकता। विकास हुआ है, तो धीरे-धीरे, लाखों, करोड़ों सालोंमें। यह विकास कैसे हुआ? 'प्राणी' (Organism) में 'परिस्थिति' (Environment) से परिवर्तन हुआ, यह परिवर्तन हर सन्ततिने अपने आगे आनेवाली सन्ततिको दिया। इसप्रकार होते-होते प्राणी शुरूमें कुछ था, परन्तु सदियोंके बाद कुछ-का-कुछ बन गया। ये लोग 'वंशानुसंक्रमण-वादी' कहाते हैं।

इस विचारका दूसरे लोग विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि अगर कुत्तेकी पूंछ लगातार काटी जाती रहे, सदियोंतक उसे काटते रहें, तब भी कटी पूंछके कुत्ते जन्मसे ही नहीं उत्पन्न होने लगेंगे। उनके मतमें 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) संक्रान्त नहीं होते। कई लोग कहते हैं कि स्वास्थ्य, बुद्धि आदि तो माता-पितासे आती हैं, आचार, रहन-सहन आदि परिस्थितिसे सीखे जाते हैं। अगर 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) माता-पिता से सन्तति में जाते भी हैं, तो सब गुण नहीं जाते—कोई जाते हैं, कोई नहीं जाते।

इन दो विचार-धाराओंमेंसे पुरानी विचार-धारा तो 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) का सिद्धान्त माननेवालों की ही है। इस संबंधमें जो अन्वेषण हुए हैं उनका सार निम्न है :—

३. वंशानुसंक्रमण-सम्बन्धी विचार-धारा की गवेषणाएँ

लैमार्क (Lamarck) ने १८०९ में, यह प्रतिपादित किया कि प्रत्येक प्राणी अपनी आवश्यकताके अनुसार अपनेको बदलनेका प्रयत्न करता है। 'सीखना' परिस्थितिके अनुसार अपनेको बदलने का ही दूसरा नाम है। जो नहीं बदलते वे जिन्दा नहीं रह सकते। इसप्रकार 'परिस्थितिके प्रति प्रतिक्रिया' (Response to environment) करनेसे प्राणी जो-कुछ सीखता है, अपनेमें जो परिवर्तन कर लेता है, वे परिवर्तन सन्ततिमें चले जाते हैं, 'वंशानुसंक्रान्त' (Inherit) हो जाते हैं। जीराफ़की गर्दन लंबी क्यों है? शुरू-शुरू में उसकी गर्दन छोटी थी, परन्तु ऊंचे वृक्षोंके पत्ते खानेकेलिये अपनी गर्दनको वह ऊंचा करता होगा। उसकी सन्ततिकी गर्दन उससे कुछ लम्बी हुई। होते-होते कई सन्ततियोंमें जाकर गर्दन बहुत लम्बी होगई। जितनी लम्बी होने की जरूरत थी उतनी लम्बी होकर वहां जा टिकी।

लम्बी ही होती चली जाती, तो अपनी जान बचानेकेलिये वह भाग भी न सकता। लेमार्कने कहा कि जो गुण प्राणी सम्पादित करता है, वे 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) कहाते हैं, और ये अगली संततिमें 'संक्रान्त' हो जाते हैं, इसीसे भिन्न-भिन्न नस्लें बन जाती हैं। विकास-वादके आविष्कर्ता डार्विन (Darwin) ने भी लेमार्कके इस मतकी पुष्टि की। उसने भी कहा कि 'अर्जित-गुण' (Acquired characters) सन्ततिसे सन्ततिमें जाते हैं, और इसीसे प्राणियोंमें अपने पूर्वजोंसे भिन्नता आजाती है।

इस प्रश्नका विशेष रूपसे अध्ययन फ्रांसिस गाल्टन (Francis Galton) तथा विज़मैन (Weismann) ने किया। अबतकके अन्वेषण वृक्षों-वनस्पतियोंपर थे, फ्रांसिस गाल्टनने १८७५ में इस प्रश्नपर विचार शुरू किया कि क्या कारण है, सन्तति केवल माता-पितासे ही नहीं मिलती, कहीं-कहीं माता-पितासे मिलनेके स्थानमें दादासे, कहीं परदादासे जा मिलती है ? इस समस्याका हल सोचते-सोचते उसने यह कल्पना की कि माता-पिताका रज-वीर्य जैसे-का-तैसा सन्ततिमें बना रहता होगा, इसप्रकार सन्ततिमें माता-पिताके रज-वीर्यका अंश ही नहीं, दादा-परदादाके रज-वीर्यका अंश भी आजाता होगा। तभी तो यह संभव होसकता है कि पुत्र पितासे मेल खानेके स्थानपर कहीं-कहीं परदादाके शारीरिक गठनसे मिलता है। गाल्टनने सोचा कि जिन 'अर्जित-गुणों' (Acquired characters) का रज-वीर्यपर असर पड़ जाता है, वे संक्रान्त होजाते हैं, सन्ततिमें आ जाते हैं, और इसप्रकार दादा-परदादा और उनसे भी पहले-के पूर्वजोंके गुण सन्ततिमें प्रकट होते दिखाई देते हैं। तब तो इस सिद्धान्तका यह मतलब हुआ कि माता-पितामें उनके पूर्वजोंका, और माता-पिताका अपनी आगे आनेवाली सन्ततिमें रज-वीर्य वैसे-का-वैसा बना रहता है। रज-वीर्यका मतलब है, 'उत्पादक-तत्व' (Germ plasm), वह तत्व जिससे शरीर उत्पन्न होता है। इस 'उत्पादक-तत्व' (Germ plasm) का सन्ततिसे सन्ततिमें जैसे-के-तैसे बने रहनेके सिद्धान्तको विज़मैनका 'उत्पादक-तत्वकी निरन्तरता' (Continuity of Germ plasm) का सिद्धान्त कहा जाता है। इस 'उत्पादक-तत्व' (Germ plasm) पर 'अर्जित-गुणों' (Acquired characters) का प्रभाव पड़ जाता है, और क्योंकि 'उत्पादक-तत्व' वैसे-का-वैसा बना रहता है, इसलिये 'अर्जित-गुण' उत्पादक-तत्वकी निरन्तरताके कारण 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) द्वारा सन्तानसे सन्तानमें चले जाते हैं।

फ्रांसिस गाल्टनने अपने अन्वेषणोंद्वारा यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया कि उत्कृष्ट प्रतिभाशाली (Genius) व्यक्ति अन्य घरानोंमें भी होसकते हैं,

परन्तु जो प्रतिभाशाली घराने होते हैं, उनमें ऐसे व्यक्ति ज्यादा दिखाई देते हैं। क्यों ज्यादा दिखाई देते हैं? इसका कारण सिवाय इसके क्या होसकता है कि प्रतिभाशाली माता-पिताके गुण सन्ततिमें संक्रान्त होते हैं। समाज-शास्त्रके प्रश्न, जैसा हम दूसरे अध्याय में देख आये हैं, समस्याओंके 'पारस्परिक-संवंध' (Correlation) के प्रश्न हैं। समाज-शास्त्रकी दृष्टि से वर्तमान समस्याका रूप यह है कि 'प्रतिभा और वंशानुसंक्रमणका पारस्परिक संवंध' (Correlation of Genius with Heredity) क्या है? क्या प्रतिभा, या इसी प्रकारके माता-पिताके अन्य गुण सन्ततिमें जाते हैं, या नहीं? फ्रांसिस गाल्टनकी विचार-धारा को कार्ल पीयरसन (Karl Pearson) ने और आगे वढ़ाया। उसने यह परिणाम निकाला कि मानव-समाजमें जो भिन्नता पायी जाती है, उसपर 'परिस्थिति' (Environment) का बहुत थोड़ा प्रभाव है, इस विविधताका मुख्य-कारण 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) है। पीयरसनने यहांतक कहा कि किसी व्यक्तिके निर्माणमें 'परिस्थिति' का और 'वंशानुसंक्रमण' का कहांतक असर है इसे मापा-तोला भी जासकता है। उसने कई ऐसे दृष्टान्त एकत्रित किये जिनसे सिद्ध होता था कि एक ही जातिके दो व्यक्तियोंपर परीक्षण किया जाय, तो 'परिस्थिति' की अपेक्षा 'वंशानुसंक्रमण' का असर सात गुना ज्यादा पाया जायगा।

पीयरसनके वाद उसीके पग-चिन्होंपर चलतेहुए अन्य अनेक विद्वानोंने इस विषयका अध्ययन किया है। इस अध्ययनको तीन श्रेणियोंमें बांटा जासकता है:—

(१) 'व्यवसायोंकी श्रेणीका अध्ययन' (Study of Class or Occupational Categories)—यह देखा गया है कि राजघरानोंमें ज्यादा प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा होते हैं; अमरीकामें पादरियोंके घरानोंमें ज्यादा प्रसिद्ध व्यक्ति उत्पन्न हुए हैं; अमरीकामें विज्ञानके पंडित किसानी घरानों में सवसे कम तथा अन्य व्यवसायों के घरानों में सवसे ज्यादा हुए हैं।

(२) 'जातियों या नस्लोंकी श्रेणी का अध्ययन (Study of National or Racial Categories)—यह देखा गया है कि अमरीकन वच्चे और नीग्रो वच्चेकी 'जन्म-जात-वुद्धि' में भेद है। 'जन्म-जात-वुद्धि' का क्या अर्थ है? वुद्धि दो तरहकी होती है। एक तो पढ़ने-लिखनेसे वुद्धि प्राप्त होती है; दूसरी विना-पढ़े-लिखे, जन्मसे, एकप्रकारकी वुद्धि हरेकमें पायी जाती है। पढ़ने-लिखनेसे प्राप्त होनेवाली वुद्धि घट-वढ़ सकती है, परन्तु जन्म-जात-वुद्धि वड़ी आयुमें भी उतनी-की-उतनी रहती है। जन्मसे मिली होनेसे इसे जन्म-जात कहते हैं। इस जन्म-जातको मापनेकेलिये मनोवैज्ञानिकोंने कई उपाय निकाले हैं जिन्हें

'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence tests) कहते हैं। 'बुद्धि-परीक्षा' के नियमोंसे देखा गया है कि भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न नस्लोंकी, एक ही 'परिस्थिति' में रहते हुए भी, बुद्धि भिन्न-भिन्न होती है। इसका यही अभिप्राय होसकता है कि यह बुद्धि उन्हें 'परिस्थिति' (Environment) से नहीं, 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) से प्राप्त हुई है।

(३) 'परिवारोंका अध्ययन' (Study of Family Groups)—कई परिवारोंकी लम्बी-चौड़ी वंश-परंपराका अध्ययन करनेसे ज्ञात होता है कि उनमें सब-के-सब उच्च-कोटिके महापुरुष हुए, या सब-के-सब चोर, जुआरी, व्यभिचारी हुए। उदाहरणार्थ, जोनाथन एडवर्ड्स (Jonathan Edwards) तथा जूक और कालीकाक-वंशों (Jukes and Kallikaks) के अध्ययनसे यह पता चलता है कि पहले ख़ानदानके सभी लोग उच्चकोटिके, और दूसरे ख़ानदानोंके सभी लोग नीचकोटिके हुए। इसमें कारण 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) ही होसकता है।

४. 'वंशानुसंक्रमण' के सिद्धान्त की आलोचना

'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) के जिस सिद्धान्तका हमने प्रतिपादन किया है, उसके सम्बन्धमें समाज-शास्त्रको बड़ी दिलचस्पी है। समाज-शास्त्र की इस सम्बन्धमें दिलचस्पीका कारण यह है कि अगर 'परिस्थिति' (Environment) का मनुष्यको बनानेमें बहुत ही थोड़ा हाथ है, वह जो-कुछ है माता-पिताके रज-वीर्यसे बना-बनाया आता है, तब तो मनुष्यके बनानेमें समाजका कुछ स्थान ही नहीं रहता। परन्तु क्या वास्तवमें यही स्थिति है? क्या मनुष्यके बनानेमें समाजका, अर्थात् 'परिस्थिति' (Environment) का बहुत थोड़ा हाथ है?

इस सम्बन्धमें अकबरका परीक्षण प्रसिद्ध है। उसने कुछ बच्चे जन्मसे ही मानव-सम्पर्कसे बिल्कुल अलग रखे। वह यह देखना चाहता था कि मनुष्य की स्वाभाविक भाषा क्या है? जब कुछ वर्षोंके बाद उन बच्चोंको लाया गया, तो वे गूंगोंकी तरह बोलते थे। ५वें अध्यायमें हम ईसाई पादरी श्री सिंहद्वारा भेड़ियों की कन्दराओंमें पकड़ीगई दो लड़कियोंका ज़िक्र कर आये हैं। वे भेड़ियोंकेसाथ रही थीं, उन्हींकी-सी आवाज़ निकालती थीं, उनमेंसे कमला लड़कीको मनुष्यकी वाणीके थोड़े-से शब्द सीखनेकेलिये साल, सवा-साल लगा। इसीप्रकारकाब र्णन एक और लड़केका पाया जाता है जो जंगल में मिला। उसका नाम कास्पर हाउसर (Kaspar Hauser) था। वह भी समाजसे अलग रहनेके कारण कुछ नहीं जानता था। ऐसे दृष्टांतोंको देखकर समाज-शास्त्रियोंका यह कहना स्वाभाविक है कि मनुष्य जो-कुछ सीखता है, उसमें 'परिस्थिति' (Environment)

का बहुत-कुछ हाथ है। ऐसी अवस्थामें जो वातें हम ऊपर लिख आये हैं उनका क्या समाधान है? हम क्रमशः एक-एक वातको लेकर उसकी आलोचना करेंगे।

(१) 'व्यवसायोंकी श्रेणीका अध्ययन' (Study of Class or Occupational Categories)—हमने पहले कहा था कि यह देखा गया है कि उच्च घराने के लोगोंके परिवारोंमें उच्च-श्रेणीके व्यक्ति पैदा होते हैं, राजा-महाराजा, पादरी, पंडितकी सन्तानकी जन्म-प्राप्त योग्यता ऊंची होती है। अमरीकामें कुछ व्यापारियोंके जीवनका अध्ययन किया गया। ५ लाख डालरसे अधिक आमदनीवाले व्यापारियोंके पास उनके जीवनके सम्बन्धमें प्रश्नावली भेजी गई जिससे पता चला कि ५६.७ प्रतिशत सफल व्यापारी सफल व्यापारियोंकी सन्तान थे। ऐसी वातोंसे यह परिणाम निकालनेका प्रयत्न किया गया है कि इन लोगोंको जो व्यापारके गुण 'वंश-परंपरा' से प्राप्त हुए थे, उनके कारण वे व्यापारमें सफल हुए। परन्तु यह विचार-प्रणाली गलत है। इन लोगोंके जीवनकी सफलताको 'वंश-परंपरा' से प्राप्त गुणोंके कारण क्यों माना जाय? क्यों न यह माना जाय कि जन्मते ही जिन 'परिस्थितियों' में इन लोगोंकी सन्तान रहती है उन 'परिस्थितियों' का उनके विकासपर प्रभाव पड़ता है। जो वालक वचपन से ही राज-घरानेमें रहेगा, पादरी या पंडितके घर विद्याके वातावरणसे घिरा रहेगा, वचपनसे ही व्यापारकी वातें देखेगा, वह दूसरोंकी अपेक्षा अपने कार्यमें क्यों चतुर न होगा? ऐसे दृष्टान्तोंसे अगर 'वंश-परंपरा' के पक्षमें कोई परिणाम निकलता है, तो 'परिस्थिति' के पक्षमें भी उतना ही जबर्दस्त परिणाम निकलता है।

(२) 'जातियों या नस्लोंका अध्ययन' (Study of National or Racial Categories)—'बुद्धि-परीक्षा' (Intelligence tests) के परीक्षणोंके आधारपर यह परिणाम निकाला गया है कि प्रथम महायुद्धमें अमरीकामें जो सिपाही फौजमें भर्ती हुए थे उनकी औसतन 'मानसिक-आयु' (Mental age) १०.४ वर्ष, तथा गोरे सिपाहियोंकी 'मानसिक-आयु' १३.१ वर्ष थी। मनुष्यकी दो प्रकारकी आयु होती है—एक तो 'शारीरिक-आयु', दूसरी 'मानसिक-आयु'। जो व्यक्ति २० वर्षका है, उसकी 'शारीरिक-आयु' तो वीस वर्ष ही है, परन्तु अगर वह रहन-सहनमें, समझमें, अक्लमें १० वर्षकी आयुके वालकके समान वरतता है, तो २० वर्षकी 'शारीरिक-आयु' के होतेहुए भी उसकी 'मानसिक-आयु' १० वर्ष ही है। इसप्रकारके 'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षणोंके आधारपर भिन्न-भिन्न नस्लोंकी 'मानसिक-आयु' (Mental age) में भेद पाया गया है। इसका अर्थ यह है कि अगर १५ वर्ष की 'शारीरिक-आयु' के १०० नीग्रो, और १०० ही गोरे लड़के लिये गये, तो तुलनामें नीग्रो नस्लके वालकोंकी 'मानसिक-आयु' गोरे लड़कोंकी

'मानसिक-आयु' से कम पायी गई है। इसका यह स्पष्ट मतलब है कि नीग्रोकी 'मानसिक-आयु' वंश-परंपरासे प्राप्त संस्कारोंके कारण कम है, और गोरे वालकों की 'मानसिक-आयु' वंश-परंपराके कारण नीग्रो वालकोंकी अपेक्षा ऊंची है।

परन्तु क्या इसप्रकारके परीक्षणोंसे हम किसी ठीक परिणामपर पहुंच सकते हैं? 'वुद्धि-परीक्षा' कहांतक मनुष्य की जन्म-सिद्ध शक्तियोंको माप सकती है? कई विशेषज्ञोंका विचार है कि 'वुद्धि-परीक्षा' के परीक्षण ज्यादातर वालकोंने जो-कुछ परिस्थितिसे सीखा होता है, उसका माप वतलाते हैं। इसके अतिरिक्त नीग्रो वालक तथा गोरी जातिके वालकके जीवनकी सम्पूर्ण पृष्ठ-भूमि अलग-अलग होती है। दोनोंकी परवरिश, उनका लालन-पालन अलग-अलग ढंगसे हुआ होता है, इसलिये उनकी जांचके आधारपर यह कह सकना कठिन है कि यह जांच उनके जन्म-सिद्ध गुणों की है, परिस्थितिसे पायेहुए गुणोंकी नहीं।

(३) 'परिवारों का अध्ययन' (Study of Family Groups)—वंशानुसंक्रमण-वादी कहते हैं कि उन्होंने कई परिवारोंका अध्ययन किया है जिससे सिद्ध होता है कि एक परिवारमें ऊँची-ही-ऊँची स्थितिके लोग उत्पन्न हुए हैं, दूसरेमें नीची-ही-नीची स्थितिके लोग हुए हैं। उदाहरणार्थ, जूक्स-वंश के सम्बन्धमें कहा जाता है कि १७२० में न्यूयार्क में कोई जूक (Juke) नामी व्यक्ति हुआ। १८७७ में उसके वंशके १२०० व्यक्तियोंका पता लगाया गया जिनमेंसे ४४० किसी-न-किसी शारीरिक-दोषसे ग्रस्त या रोगसे पीड़ित थे, ३१० भिखमंगे थे, ३०० अपाहिजघरों में मरे थे, १३० ने कोई-न-कोई अपराध किया था जिनमेंसे ७ ने कत्ल किये थे, और इनमें जितनी स्त्रियां थीं उनमेंसे आधी वेश्याएँ थीं। १९१५ में फिर इस वंशके लोगोंकी जांच-पड़ताल की गई जिसमें २८२० व्यक्तियोंका पता चला। इनमेंसे ६०० पागल थे। इसके विपरीत जोनाथन एडवर्ड्स (Jonathan Edwards) के वंशवरोंका १९०० में पता चलाया गया। इनमेंसे १३९४ का पता चला जिनमेंसे २९५ कालेजोंके ग्रेजुएट थे, और अधिक संख्या उच्च-कोटिके व्यापारियों तथा अन्य व्यवसायोंमें कार्य करनेवालोंकी थी। इनमेंसे १३ व्यक्ति कालेजोंके प्रेजीडेंट हुए, एक अमरीकाका वाइस-प्रेसीडेंट हुआ, और जहांतक पता चल सका कोई किसी अपराध में सजावार नहीं हुआ।

सरसरी तौरपर देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि इन दृष्टान्तोंसे वंशानुसंक्रमणके सिद्धान्तको वड़ी पुष्टि मिलती है, परन्तु गहराईसे विचार करनेपर प्रकट होगा कि इन दृष्टान्तों से भी यह सिद्ध नहीं होता कि वंशानुसंक्रमणके सिद्धान्तसे ही सन्ततियां आगे-आगे वढ़ती हैं। सवसे पहला प्रश्न तो यह है कि ८-१० वंशों के वाद जूक्स या एडवर्ड्स वंशके आज जो व्यक्ति हैं उन्हें इनके वंशवरोंकी सन्तान कैसे कहा

जा सकता है ? प्रत्येक वंशमें नया रुधिर आ मिलता है, फिर आठ-दस वंशों में तो न जाने कितने रुधिरोंका संगम हुआ होगा, दसवीं पीढ़ीमें जाकर जूक्स और एडवर्ड्सका ही खून तो अपना पट्टा लिखाकर नहीं बैठा होगा। इसके अतिरिक्त जूक्स वंशके सब लोगोंका तो नहीं पता चला। सिर्फ़ वे लोग नजरमें पड़ गये जो अपने कारनामोंसे काफ़ी बदनाम होचुके थे, न जाने इसी वंशके कितने व्यक्ति आंखोंके सामने ही नहीं आये, ऐसे जिन्होंने कोई बुरा काम किया ही नहीं। इसीप्रकार एडवर्ड्स वंश के उन्हीं लोगोंका पता चला जो प्रसिद्ध होगये, जो प्रसिद्ध नहीं हुए, शायद जिन्होंने कई अपराध भी किये हों, उनका पता ही कहां चला ? हमारे यह सब-कुछ कहनेका यह अभिप्राय नहीं है कि 'वंशानुसंक्रमण' का कोई असर ही नहीं होता। होता है, परन्तु वर्तमान 'सन्तति-शास्त्र' (Eugenics) जिस कदर इस असर पर जोर देता है, और जिस कदर 'परिस्थिति' को बिलकुल बेकार समझता है, वह बात ठीक नहीं है—यही हमारे कथनका अभिप्राय है।

५. वशीकृत-परीक्षण (CONTROLLED EXPERIMENTS)

ऊपर जितने दृष्टांत दिये गये हैं, उनमें यह कह सकना कठिन है कि 'वंशानु-संक्रमण' (Heredity) तथा 'परिस्थिति' (Environment)—इन दोनोंमेंसे किसका प्रभाव अधिक है। जिन बातोंको 'वंशानुसंक्रमण-वादी' अपने पक्षमें घटाते हैं, उन्हींको 'परिस्थिति-वादी' यह कहकर उड़ा देते हैं कि ये बातें 'परि-स्थिति' का परिणाम हैं, 'वंशानुसंक्रमण' का नहीं। ऐसी अवस्थामें ऐसे परीक्षणोंकी आवश्यकता है जिनमें, या तो 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) एक ही रहे, 'परिस्थिति' (Environment) बदलती रहे, या 'परिस्थिति' एक ही रहे, 'वंशानुसंक्रमण' बदलता रहे। तब पता चले कि जो चीज बदलती रही है, उसका व्यक्तिके ऊपर कैसा प्रभाव पड़ा है। ऐसे परीक्षणोंको 'वशीकृत-परीक्षण' (Controlled experiments) कहते हैं। वशी-कृत इसलिये क्योंकि इनमें 'वंशानुसंक्रमण' तथा 'परिस्थिति' मेंसे एक चीज हमारे वशमें, हमारे हाथ में, होती है। ऐसे परीक्षण निम्न-लिखित हैं :—

(१) 'जुड़वां बच्चे एक-ही परिस्थितिमें' (Twins in Identical Environment)—एक मां-बापके अलग-अलग बच्चोंमें कहा जासकता है कि उनका 'वंशानुसंक्रमण' भिन्न-भिन्न होता है, क्योंकि उनके भिन्न-भिन्न समयके रज-वीर्य से वे सन्तानें जन्मी होती हैं, परन्तु जुड़वां बच्चे तो एकही-समयके रज-वीर्यसे उत्पन्न होते हैं। जुड़वां बच्चोंकी भी दो किस्में हैं। एक तो वे जुड़वां बच्चे, जो एक ही समय में दो 'रजःकण' (Ovum) से उत्पन्न हुए—जिन्हें 'डाई-ज़ाइगोटिक'

(Di-zygotic) कहते हैं, दूसरे वे जुड़वां बच्चे जो माताके एक ही 'रजः कण' (Ovum) के दो टुकड़े होजानेके कारण होते हैं—जिन्हें 'मोनो-ज़ाइगो-टिक' (Mono-zygotic) कहते हैं। दो पृथक्-पृथक् 'रजःकण' (Ovum) के विषयमें भी कहा जा सकता है कि क्योंकि ये 'रजःकण' (Ovum) अलग-अलग हैं, इसलिये इनका 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) भी अलग-अलग होगा, परन्तु एक ही 'रजःकण' (Ovum) के अलग-अलग टुकड़े होजाने से जो जुड़वां बच्चे उत्पन्न हो जाते हैं, उनके सम्बन्धमें तो अलग-अलग 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) की बात नहीं कही जासकती।

इसप्रकारकी पांच बहनोंका एक परीक्षण मनोविज्ञानकी पुस्तकोंमें प्रसिद्ध है। श्री विलियम ई० ब्लेट्ज़ने १९३८ में 'पांच-बहनों' (The Five Sisters) नाम की एक पुस्तक लिखी थी जिसमें इन पांच बहनोंका वर्णन था। ये पांचों बहनें एक ही 'रजःकण' (Ovum) के पांच टुकड़े होजानेसे पांच बनी थीं, इसलिये इनके 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) के एक ही होनेमें कोई सन्देह नहीं था। ये डायोनी ख़ानदानकी पांच बहनें थीं, इसलिये इन्हें 'डायोनी-पंचक' (Dionne quintuplets) कहा जाता है। जब ये तीन वर्षकी थीं, तब मनोवैज्ञानिकोंने इनकी 'सामाजिक-सफलता' (Social success), 'सामाजिक लोकप्रियता' (Social popularity) तथा 'सामाजिक-रुचि' (Social interest)—इन तीन गुणोंकी परीक्षा ली। यह परीक्षा यह देखनेकेलिये थी कि 'वंशानुसंक्रमण' के बिल्कुल एक तथा 'परिस्थिति' के भी लगभग एक-से रहनेपर भी उनमें क्या भिन्नता थी। इन परीक्षाओंसे निम्न परिणाम निकला :—

डायोनी बहनोंकी परीक्षाका परिणाम

बहन का नाम	सामाजिक सफलता	सामाजिक लोक-प्रियता	सामाजिक रुचि
१. एनेट	१३० प्रतिशत	८० प्रतिशत	२७० प्रतिशत
२. सेसिल	१३० ,,	१२० ,,	१८० ,,
३. एमिली	९० ,,	१०० ,,	६० ,,
४. मेरी	९० ,,	७० ,,	४० ,,
५. यूनी	१८० ,,	१६० ,,	१०० ,,

इस परिणामसे स्पष्ट है कि 'सामाजिक-सफलता' में अगर 'मध्य-मान' (Average) १०० माना जाय, तो जहां एमिली और मेरी को ९० अंक मिले, वहां यूनीको उनसे दुगुने १८० अंक प्राप्त हुए, 'सामाजिक लोक-प्रियता' में जहां एनेटको ८० अंक मिले, वहां यूनीको १६० अंक मिले, 'सामाजिक-रुचि' में जहां

मेरीको ४० अंक मिले, वहां एनेटको २७० अंक प्राप्त हुए। इन वहनोंका ध्यानसे अध्ययन करनेवाले विशेषज्ञका कहना है कि इन वहनोंमेंसे एमिलीको गुस्सा बिल्कुल नहीं आता था, एनेट और मेरी गुस्सेकी पुतली थीं; एमिलीको उन वातोंसे डर नहीं लगता था जिनसे दूसरी बहनें डरती थीं। एमिली दूसरी वहनोंकेप्रति किसी प्रकारका राग-द्वेष नहीं प्रकट करती थी। इन सब कारणोंसे विशेषज्ञने एमिलीको आत्म-निर्भर तथा स्वतंत्र व्यक्तित्ववाली कन्याका नाम दिया। इन सब वहनोंमें मेरीमें सबसे अधिक वचपन दिखाई देता था, यूनी ऐसा वरतती थी जैसे सबकी वड़ी वहन हो। बिल्कुल एक 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) तथा लगभग एक-सी 'परिस्थिति' (Environment)में रहतेहुए इन वहनोंकी इतनी विषमता आश्चर्यमें डालने वाली वस्तु है। डायोना-वहनोंके परीक्षणसे हम क्या परिणाम निकाल सकते हैं? एक ही 'वंशानुसंक्रमण', एक ही 'परिस्थिति'—और फिर इतना भेद? यह समाज-शास्त्रकी पुस्तक है, दर्शन-शास्त्रकी नहीं, परन्तु कई विचारक इन भेदोंको पुनर्जन्मके, आत्माके भेद कह सकते हैं, परन्तु यह सब कल्पनाका क्षेत्र है। जो-कुछ हो, समाज-शास्त्रके पंडितोंका कहना है कि इन परीक्षणोंसे भी हम निश्चिततौरपर किसी परिणामपर नहीं पहुँच सकते, न यह कह सकते हैं कि ये परिवर्तन 'परिस्थिति' के कारण ही हैं, न यह कह सकते हैं कि ये परिवर्तन 'वंशानुसंक्रमण' के कारण ही हैं।

(२) 'जुड़वां वच्चे भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें' (Twins in Different Environments)—एक-ही-सी परिस्थितिमें जुड़वां वच्चोंके परीक्षणकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें जुड़वां वच्चोंके परीक्षणसे हम ज्यादा निश्चित परिणाम पर पहुँच सकते हैं, यह पता लगा सकते हैं कि जव 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) बिल्कुल एक-सी हो, तव भिन्न-भिन्न 'परिस्थिति' (Environment) का व्यक्तिके विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है। प्राणीशास्त्री न्यूमैन, मनोविज्ञानशास्त्री फ्रीमैन तथा गणनाशास्त्री हॉलजिगर ने जुड़वां वच्चों के १९ युगलका अध्ययनकरके कुछ परिणाम निकाले। इनको भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न घरोंमें रखा गया था। यह देखा गया कि इनकी मानसिक योग्यताओंमें वहुत-कुछ समानता थी, परन्तु इनमेंसे पांच, जिनकी परिस्थिति में वहुत भिन्नता थी, भिन्न-भिन्न मानसिक-स्तरके थे।

(३) 'भिन्न-भिन्न वंशके वच्चे एक-सी परिस्थितिमें', (Children of Different Heredity)—ऊपर हमने जो परीक्षण दिये, वे 'वंशानुसंक्रमण' को वशमें रखकर परीक्षण किये गये थे, परन्तु ठीक परिणामपर पहुंचनेकेलिये ऐसे परीक्षण करना भी आवश्यक है जिनमें 'परिस्थिति' को वशमें करके 'वंशानुसंक्रमण'

की भिन्नताका प्रभाव देखा जा सके, जिन परीक्षणोंमें 'परिस्थिति' तो एक-सी हो, परन्तु वंश भिन्न-भिन्न हो। ऐसे परीक्षणोंसे पता चलेगा कि अगर खून अलग-अलग है, और 'परिस्थिति' एक ही है, तो क्या अलग-अलग रज-वीर्य होनेसे व्यक्ति अलग-अलग ही विकसित होता है, या अलग-अलग रज-वीर्य होनेपर भी 'परिस्थिति' उन्हें एक-सा बना देती है? ये परीक्षण 'पालित-बच्चों' (Foster children) पर किये जाते हैं—ऐसे बच्चोंपर, जो सन्तान तो किसी और माता-पिताकी होती हैं, परन्तु जिन्हें पालन-पोषणकेलिये किन्हीं अन्य 'पोषण-गृहों' (Foster homes) में दे दिया जाता है। ऐसे परीक्षण कुछ मिस बी. एस. बर्क्स ने किये हैं, कुछ श्री एफ. एन. फ़्रीमैनने किये हैं। ध्यान देनेकी बात यह है कि दोनों अलग-अलग परिणामोंपर पहुँचे हैं। हम इन दोनोंके परीक्षणोंकी थोड़ी-थोड़ी चर्चा करेंगे:—

(क) मिस बर्क्सके परीक्षण—मिस बर्क्सने पोषित-गृहोंमें पालेजानेवाले पालित-बच्चोंपर जो परीक्षण किये, उनसे उसने यह परिणाम निकाला कि व्यक्ति के विकासमें ८० प्रतिशत 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) का, तथा १७ प्रतिशत 'परिस्थिति' (Environment) का असर होता है। मिस बर्क्सका कहना है कि अच्छे-से-अच्छे घरका वातावरण बालककी 'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence quotient) में ज्यादा-से-ज्यादा २० अंक बढ़ा सकता है, या बुरे-से-बुरा वातावरण २० अंक घटा सकता है। 'परिस्थिति' का इससे अधिक असर नहीं होता। मिस बर्क्स 'पालित-बच्चों' (Foster children) के अपने परीक्षणोंके आधारपर 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) को बहुत अधिक महत्व देती है।

(ख) फ़्रीमैन तथा आयोवा विश्व-विद्यालयके परीक्षण—'पालित-बच्चों' पर किये गये परीक्षणोंके आधारपर जो परिणाम मिस बर्क्सने निकाले हैं, फ़्रीमैनने ठीक उससे उल्टे परिणाम निकाले हैं। उसका कहना है कि जो 'पालित-बच्चे' (Foster children) छोटी आयुमें 'पोषण-गृहों' (Foster homes) में भर्ती कर दिये जाते हैं, उनका विकास उन बच्चोंकी अपेक्षा अधिक होजाता है जिन्हें देरमें ऐसे गृहोंमें भर्ती किया जाता है, इसके अतिरिक्त जिन 'पालित-बच्चों' (Foster children) को ऊंचे घरोंमें भर्ती किया जाता है उनका ऊंचा विकास होता है, जिन्हें नीचे घरोंमें भर्ती किया जाता है उनका नीचा विकास होता है।

अमरीकाके आयोवा विश्वविद्यालयकीतरफ़से १५० नाजायज बच्चोंपर परीक्षण किया गया। ये बच्चे ६ महीनेकी अवस्थामें 'पोषण-गृहों' (Foster homes) में रख दिये गये। इनकी समय-समय पर बुद्धि-परीक्षा होती रही, और इनके मानसिक-विकासको इनके माता-पिताके मानसिक-विकासकेसाथ तुलना

की जाती रही। इस तुलनासे यह परिणाम निकला कि मानसिक-विकास पर परिस्थितिका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, इतना प्रभाव जिसे अभीतक समझा नहीं जारहा । लोग यही समझते हैं कि जो-कुछ है, माता-पिताका, रज-वीर्यका ही प्रभाव है; परन्तु ऐसी बात नहीं है; परिस्थितिका प्रभाव बहुत अधिक पड़ता है। आयोवा विश्वविद्यालयके परीक्षणोंसे यह पता चला कि १६ बच्चे ऐसे थे जिनकी माताएँ हीन-बुद्धि (Feeble-minded) की कही जासकती थीं, उनकी 'बुद्धि-लब्धि' (IQ) ७१ थी, परन्तु उनके बच्चे 'पालित-गृहों' (Foster homes) में दो साल रहनेके बाद ११६ 'बुद्धि-लब्धि' (IQ.) तक पहुँच गये थे।

हमने ऊपर जो-कुछ लिखा उससे क्या परिणाम निकला ? न हम निश्चित तौरपर इस परिणामपर पहुँच सके कि 'वंशानुसंक्रमण' ही सब-कुछ है, न इस परिणाम पर ही पहुँच सके कि 'परिस्थिति' ही सब-कुछ है। इस विषयमें विद्वानोंने जो-कुछ सोचा है, उस पर शुरूसे आज-दिनतकके विचारोंका विश्लेषण किया जाय, तो यह स्पष्ट होजाता है कि यह विचार चार क्रमिक विचार-परंपरामेंसे गुज़रा है :—

६. वंशानुसंक्रमण तथा परिस्थिति की क्रमिक विचार-परंपरा

(१) 'बुद्धि-वादका प्रथम-क्रम' (Rational stage)—सत्तर-पचहत्तर साल पहले 'मनोविज्ञानशास्त्री' कहते थे कि पशु तथा मनुष्यमें यह भेद है कि पशु 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) से चलता है, मनुष्य 'बुद्धि' (Reason) से चलता है। जितने 'सामाजिक-विज्ञान' थे, सब इसी सिद्धान्तको मुख्य मानकर चलते थे । अर्थ-शास्त्र यह मानकर चलता था कि मनुष्य जो-कुछ करता है, सोच-समझकर करता है, जिस काममें उसे आर्थिक-लाभ हो वही काम करता है, दूसरा नहीं। परन्तु क्या मनुष्य ऐसे काम नहीं करता जिनमें उसे नुकसान हो ? जूएमें कितने लोग लाखों उड़ा देते हैं—जानते हैं इसमें चौपट हो जायेंगे, परन्तु रुक नहीं सकते। दुर्व्यसनोंमें लोग कितना रुपया फूक देते हैं ? इन कामोंमें बुद्धि कहां काम करती है ? राजनीति यह मानकर चलती थी कि जन-सत्ता-प्रणालीमें हरेक आदमी सोच-समझकर मत देगा, उसी व्यक्तिको मत देगा जिसके विषयमें समझ लेगा कि यह देशका भला करनेवाला है। परन्तु क्या ऐसा होता है ? हम आये-दिन क्या देखते हैं ? लोग मत उसको दे आते हैं जिसका खूब धूम-धड़क्का हो, जिसका ज़बर्दस्त इश्तिहार हो। मत-दान देते हुए बुद्धि कहां काम करती है ? नीति-शास्त्रमें यह समझा जाता था कि जब मनुष्यको समझा दिया गया कि इस बातमें उसका भला है, इसमें नुक्सान, तो वह नैतिक भलेका ही काम करेगा, बुराईका काम नहीं करेगा । परन्तु ऐसा होता तो नहीं। अनेक बार मनुष्य भलेको जानताहुआ भी उससे दूर चलता चला जाता है, बुरेको जानताहुआ उसकी तरफ़ खिचता आता है—'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति :

जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः'--यह प्रायः सभीका अनुभव है। यह सब देखकर मनोवैज्ञानिकोंने 'बुद्धि-वाद' के विचारको छोड़ दिया, यह कहना छोड़ दिया कि मनुष्य जो-कुछ करता है बुद्धिसे करता है, सोच-समझकर करता है।

(२) 'प्राकृतिक-शक्तिका द्वितीय-क्रम' (Instinctive stage)--बुद्धि-वादके बाद दूसरे विचारने जन्म लिया। वह विचार यह था कि पशु तथा मनुष्यमें कोई मौलिक भेद नहीं है। पशु भी 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) से काम करता है, मनुष्य भी 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) से प्रेरित होता है। प्रो० जेम्स विलियम्स ने ५१ 'प्राकृतिक-शक्तियों' (Instincts) की परिगणना की। प्रो० मैग्डू-गलने उसके बाद अनेक 'प्राकृतिक-शक्तियों (Instincts) का बहुत विस्तृत विवरण तय्यार किया। प्रो० थॉर्नडाइकने इनकी संख्या और अधिक बढ़ा दी। इससमय यह प्रश्न प्रबल वेगसे उठ खड़ा हुआ कि 'बुद्धि' तथा 'प्राकृतिक-शक्ति'--ये दोनों जो हमारे व्यवहारके आधार हैं--ये दोनों 'परिस्थिति' (Environment) से बदलते रहते हैं, या 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) से जैसे पीछेसे आरहे हैं, वैसे-के-वैसे बने रहते हैं? एक विचार यह था कि 'बुद्धि' (Reason) तथा 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) की स्वतंत्र-सत्ता कुछ नहीं, 'बुद्धि' तो 'परिस्थिति' के अनुसार बनती-बिगड़ती ही रहती है, 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) का भी जीवनके विकासमें कोई स्थान नहीं--मनुष्य जो-कुछ है, 'परिस्थिति' का ही परिणाम है। इसी विचारने 'परिस्थिति-वाद' के तृतीय-क्रमको जन्म दिया।

(३) 'परिस्थिति-वादका तृतीय-क्रम' (Environmental stage)--ऊपरकी विचार-प्रक्रियाका परिणाम यह तीसरी विचार-प्रक्रिया है। 'परिस्थिति-वादियों' (Environmentalists) का कहना है कि मनुष्यके सम्पूर्ण व्यवहारका आधार 'परिस्थिति' (Environment) है। वह कैसे? रशियाके श्री पवलवने कुछ परीक्षण किये। वह कुत्तेको जब भी भोजन देता था, तब भोजनके साथ-साथ घंटी बजाता था। कुछ देर बाद उसने क्या देखा कि जब-जब घंटी बजती थी तब-तब, भोजनके न होनेपर भी, कुत्तेके मुंहमें पानी आजाता था। पहले भोजन को देखकर कुत्तेके मुंहमें पानी आता था, अब भोजनकेसाथ 'संबद्ध' घंटीकी आवाज़को सुनकर मुंहमें पानी आने लगा। भोजन को देखकर मुंहमें पानी आजाना 'सहज-क्रिया' थी, घंटी क्योंकि भोजन के साथ-साथ बजती थी इसलिये घंटी और मुंहमें लार आनेका संबंध जुड़ गया। यह 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) का दृष्टांत हुआ। 'परि-स्थिति-वादियों' (Environmentalists) ने कहना शुरू किया कि हमारा संपूर्ण-व्यवहार 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) का

परिणाम है। बच्चा 'गाय' बोलना कैसे सीखता है? पहले जब गाय सामने होती है, और हम गाय बोलते हैं, तब गायको सामने देखकर वह 'गाय'-शब्द इसलिये बोलता है क्योंकि हमारे बोलनेका वह अनुकरण करता है, परन्तु पीछे हमारे 'गाय' न बोलनेपर भी, गायको सामने देखकर, वह 'गाय'-शब्द बोलने लगता है। 'गाय'-शब्द और 'गाय'-जानवरकेसाथ 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) की भावना पैदा होजाती है। हमारा सब ज्ञान, सारा व्यवहार इसीप्रकार सीखा जाता है। एक 'विषय' (Stimulus) के उपस्थित होनेपर एक खास प्रकारकी 'प्रतिक्रिया' (Response) हमारे भीतर होती है। 'विषय' (Stimulus) के उपस्थित होने पर हम जो 'प्रतिक्रिया' (Response) करते हैं, वह अगर हमें सुख-प्रद है, तो सुखकेसाथ 'सम्बद्ध' होनेके कारण वह सीख ली जाती है, अगर दुःख-प्रद है, तो उसे हम अपने व्यक्तित्वसे 'असंबद्ध' कर देते हैं, उसे नहीं सीखते। इसप्रकार हमारा सब सीखना 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' (Conditioned reflex) है। इस 'सम्बद्ध-सहज-क्रिया' का आधार 'परिस्थिति' (Environment) है। 'परिस्थिति' ही बचपनसे हमारे भीतर भिन्न-भिन्न प्रकारकी 'प्रतिक्रियाएं' (Responses) उत्पन्न करती रहती है—इन प्रतिक्रियाओंसे हम जो-कुछ हैं, वह बन जाते हैं। तो फिर हम क्या हैं? हम 'परिस्थिति' (Environment) की 'प्रतिक्रिया' (Response) हैं, और कुछ नहीं हैं। परिस्थिति जो-कुछ हमें बना दे, वही हम बन जाते हैं, और कुछ नहीं बनते। 'परिस्थिति-वादियों' का यह दृष्टि-कोण 'वंशानुसंक्रमण' को बिल्कुल नहीं मानता, 'परिस्थिति' को ही सब-कुछ मानता है। यह स्पष्ट है कि जहांतक यह दृष्टि-कोण 'परिस्थिति' पर बल देता है वहांतक ठीक है, जहां 'वंशानुसंक्रमण' का बिलकुल तिरस्कार करता है, वहांतक गलत है।

(४) 'समन्वय-वादका चतुर्थ-क्रम' (Synthetic stage)—सिर्फ 'परिस्थिति' ही प्राणीका निर्धारण करती है—यह बात गलत है। तो फिर सही दृष्टि-कोण क्या है? सही दृष्टि-कोण वह है जिसमें 'परिस्थिति' तथा 'वंशानुसंक्रमण' दोनोंको स्थान दिया जाता है। यह प्रश्न ही गलत है कि 'परिस्थिति' प्राणीके व्यक्तित्वका निर्धारण करती है, या 'वंशानुसंक्रमण'। ये दोनों एक-समान प्रभाव रखते हैं। हम ऐसी किसी स्थितिकी कल्पना नहीं कर सकते जिसमें सिर्फ 'परिस्थिति' काम कर रही हो, न ही ऐसी स्थितिकी कल्पना कर सकते हैं जिसमें सिर्फ 'वंशानुसंक्रमण' का सिद्धान्त काम कर रहा हो। जीवनमें ये दोनों इतने रले-मिले हैं कि इन्हें अलग कर सकना संभव नहीं है। 'वंशानुसंक्रमण' का भौतिक-[illegible]-वीर्य है, परन्तु रज-वीर्यका विकास 'परिस्थिति' के बिना नहीं होसकता।

निकृष्ट-कोटिके रज-वीर्यका उत्कृष्ट-कोटिकी परिस्थिति कुछ नहीं बना सकती, परन्तु उत्कृष्ट-कोटिका रज-वीर्य विना उत्कृष्ट-कोटिकी परिस्थितिके भी बेकार है। अगर कोई प्रतिभा-शाली बालक ऐसी परिस्थितिमें रख दिया जाय जिसमें उसे विकसित होनेका मौका ही न मिले, तो वह उत्तम खाद न मिलनेके कारण जैसे उत्तम पौधा मुरझा जाता है वैसे मुरझा जायगा। इस दृष्टिसे यह अत्यन्त आवश्यक है कि रज-वीर्य जितना उत्तम हो उसे उतनी ही उत्तम 'परिस्थिति' मिले ताकि उसमें निहित उत्कृष्ट गुण विकास पासकें। वर्तमान सामाजिक-विकासमें सब बच्चोंको विकासके अवसर देना इसीलिये अत्यन्त महत्वकी वस्तु है।

हमने देखा कि 'परिस्थिति' या 'वंशानुसंक्रमण' के विषयमें यह प्रश्न कि इन दोनोंमेंसे किसका स्थान ऊंचा है—एक निरर्थक प्रश्न है। फिर भी 'वंशानुसंक्रमण' के विषयमें कुछ प्रश्न तो ऐसे हैं जो प्रत्येक प्राणी-शास्त्रीके हृदयमें उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ, इस बातका क्या कारण है कि किसीकी जन्मते ही काली आंख होती है, किसीकी भूरी, कोई जन्मते ही लड़का होता है, कोई लड़की, कोई जन्मते ही एक बीमारी लेकर आता है, कोई बिल्कुल तन्दुरुस्त होता है? जन्मसे ही प्राणीमें जो शारीरिक भेद पाये जाते हैं, उनका भौतिक-आधार क्या है? इस सम्बन्धमें इस समय जो सर्व-मान्य सिद्धान्त है, उसे 'मेंडलका नियम' (Mendel's law) कहते हैं। हम इस प्रकरणको 'मेंडलका नियम' क्या है—यह बतलाकर समाप्त करेंगे।

७. मेंडलका नियम

'उत्पादक-कोष्ठके तत्वकी निरन्तरता' (Continuity of Germ-plasm) का सिद्धान्त—

हम इसी अध्यायके प्रारंभ में लिख आये हैं कि पहले-पहल गाल्टनने इस प्रश्नको उठाया कि सन्तति माता-पितासे ही नहीं मिलती, कभी-कभी पितामह, प्रपितामहसे भी मिलती है। इसका क्या कारण है? इस प्रश्नका समाधान करनेकेलिये उसने यह कल्पना की कि माता-पिताके रज-वीर्यका आधार-भूत-तत्व जिसे 'उत्पादक-कोष्ठों-का तत्व' (Germ-plasm) कह सकते हैं, और जिसके कारण ही सन्तानके रंग, रूप, आकृति आदिका निर्धारण होता है, बालकके शरीरमें ज्यों-का-त्यों बना रहता है, और अगली-अगली सन्तानमें चलता चला जाता है। तभी तो यह संभव है कि पुत्र पितासे न मिलकर दादा-पड़दादासे मिलता है। दादा-पड़दादाका कोई अंश इसमें पहुँचा होगा, तभी ऐसा होसका, नहीं तो ऐसा कैसे होता? गाल्टनके इस विचारको विजमैनने आगे बढ़ाया, और इसे एक सिद्धान्तका रूप दे दिया। विजमैनने कहा कि 'उत्पादक-कोष्ठोंका तत्व' (Germ-plasm) पितासे

पुत्र, और पुत्रसे आगे-आगेकी सन्ततिमें लगातार चलता चला जाता है, इसकी एक निरंतर शृङ्खला वनी रहती है। इस सिद्धांतको 'उत्पादक-कोष्ठके तत्वकी निरंतरता' (Continuity of germ-plasm) का नाम दिया गया।

'उत्पादक-कोष्ठके तत्वकी निरंतरता' (Continuity of germ-plasm) का अभिप्राय क्या है? विजमैनका कथन था कि प्रत्येक प्राणीका शरीर दो प्रकारके 'कोष्ठों' (Cells) से वना हुआ है। पहले प्रकारके 'कोष्ठों' (Cells) का नाम 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cells) है, दूसरे प्रकारके 'कोष्ठों' (Cells) का नाम 'शारीर-कोष्ठ' (Somatic cells) है। 'शारीर-कोष्ठों' को 'शारीर-कोष्ठ' इसलिये कहते हैं क्योंकि इनसे 'शरीर' के भिन्न-भिन्न अंग वनते हैं, वे 'शरीर' की रचना करते हैं, और अपनी आयु भुगतकर मर जाते हैं; परन्तु इन नश्वर 'शारीर-कोष्ठों' से वने शरीरके भीतर अविनश्वर 'उत्पादक-कोष्ठ' रहते हैं। 'शारीर-कोष्ठों' से वने शरीरका काम इन 'उत्पादक-कोष्ठों' की रक्षा करना, इन्हें संभालकर रखना है। नरके 'उत्पादक-कोष्ठों' को 'वीर्य-कण' (Sperms) तथा मादाके 'उत्पादक-कोष्ठों' को 'रजःकण' (Ova) कहते हैं। नरके 'उत्पादक-कोष्ठ'—'वीर्य-कण'—उसके शरीरमेंसे निकलकर मादाके गर्भाशयमें प्रविष्ट होकर उसके 'उत्पादक-कोष्ठों'—'रजःकण'—से मिल जाते हैं, और इसी प्रक्रियासे शिशुका जन्म होता है। शिशुके शरीरमें 'उत्पादक-कोष्ठ' अपने सदृश दूसरे 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generative cells) को तो उत्पन्न करते ही हैं, परन्तु साथ-ही-साथ 'शारीर-कोष्ठों' (Somatic cells) को भी उत्पन्न करते रहते हैं। 'उत्पादक-कोष्ठ' तो 'उत्पादक' तथा 'शारीर' दोनों प्रकारके 'कोष्ठों' (Cells) को उत्पन्न करते हैं, 'शारीर-कोष्ठ' सिर्फ शरीरके रूपमें विकसित होकर 'उत्पादक-कोष्ठों' की रक्षाका काम करते हैं। ये 'शारीर-कोष्ठ' शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंके रूपमें विकसित होते हैं, शरीरके आयु भोगलेनेपर स्वयं नष्ट होते रहते हैं, परन्तु 'उत्पादक-कोष्ठों' को नष्ट नहीं होने देते। 'उत्पादक-कोष्ठों' का तत्व नष्ट होनेके वजाय पितासे पुत्र, पुत्रसे पौत्र, और इसी-प्रकार संतानसे संतानमें चलता चला जाता है। यह मानो हमें धरोहरमें मिली सम्पत्ति है, हम इसे सुरक्षित रखते हैं। जिसप्रकार वैंकमें रुपया जमा रहता है, इसीप्रकार

यह मानो हमारे शरीरमें जमा रहता है। 'उत्पादक-कोष्ठों' के इसी तत्वके सन्तानसे सन्तानमें प्रवाहको 'उत्पादक-कोष्ठोंके तत्वकी निरन्तरता' (Continuity of germplasm) कहा जाता है।

जर्म-प्लाज्म, क्रोमोसोम्स, जेनीज़—

'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cell) तथा 'उत्पादक-तत्व' (Germplasm) में भेद है। 'उत्पादक-तत्व' वह 'तत्व'—'पदार्थ'—है, जो 'उत्पादक-कोष्ठ' में रहता है। 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generative cells) में विद्यमान 'उत्पादक-तत्व' (Generative plasm) ही पैत्रिक गुणोंके सन्ततिमें संक्रान्त होनेका भौतिक आधार है। इन 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generative cells) में एक कठोर गांठ-सी होती है जिसे 'न्यूक्लियस' (Nucleus) कहते हैं। इस 'न्यूक्लियस' में भी छोटे-छोटे रेशे-से होते हैं, जिन्हें आसानीसे गहरा रंग पकड़ सकने और रेशे-जैसा होने के कारण 'वर्ण-सूत्र', अर्थात् 'क्रोमोसोम्स' (Chromosomes) कहते हैं। विजमैनका कथन था कि यही 'वर्ण-सूत्र'—'क्रोमोसोम्स'—पैत्रिक गुणोंके 'वाहक' होते हैं। पीछे जाकर दूर-वीक्षण-यन्त्रके अधिक उन्नत होजानेपर नये परीक्षणोंसे पता चला कि 'वर्ण-सूत्रों'—'क्रोमोसोम्स'—की रचना अन्य छोटे-छोटे दानोंसे होती है, जिन्हें 'वाहकाणु'—'जेनीज़' (Genes)—कहते हैं। यही 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—ऊंचाई, लम्बाई, गोरापन, कालापन, नीली आंख, भूरी आंख आदि भिन्न-भिन्न गुणोंके 'वाहक' (Carriers या factors) होते हैं। एक 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—में एक ही गुण रह सकता है, दो नहीं। मनुष्यके एक 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cell) में २४ 'वर्ण-सूत्र'—'क्रोमोसोम्स'—होते हैं। ऐसा पता लगाया गया है कि इन २४ में से एक-एक 'वर्ण-सूत्र'—'क्रोमोसोम'—में कई-सौ 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—होते हैं।

'प्रभावक' (Dominant) तथा 'प्रभावित (Recessive)—

इन 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—में कोई प्रधान होजाता है, कोई गौण हो जाता है। जो प्रधान हो जाता है, उसके गुण सन्ततिमें प्रकट हो जाते हैं, जो गौण हो जाता है, उसके गुण सन्ततिमें दब जाते हैं। यह हो सकता है कि एक सन्ततिमें जो 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—प्रधान है, अगलीमें वही गौण हो जाय, परन्तु उससे अगली चौथी, पांचवीं या दसवीं किसी भी सन्ततिमें यह फिर प्रधान हो सकता है। 'प्रधान-वाहकाणु' (Genes) को 'प्रभावक' (Dominant) तथा 'गौण-वाहकाणु' (Genes) को 'प्रभावित' (Recessive) कहते हैं। जो वाहकाणु प्रभावशाली होगा वह सन्ततिमें प्रकट होजायगा, जो प्रभावित होगा वह शरीरमें रहता हुआ भी प्रकट नहीं होगा।

मेंडलका सिद्धान्त—

ऊपर जितनी बातें कही गई हैं इन सबको ध्यानमें रखकर मेंडलने १८६५ में मटरोंपर कुछ परीक्षण किये, और इस परिणामपर पहुँचा कि 'वाहकाणुओं' (Genes) में 'प्रभावक' (Dominant) तथा 'प्रभावित' (Recessive) होनेमें कोई नियम काम कर रहा है। उसने 'बड़े' (Tall) तथा 'छोटे' (Short) मटरोंपर परीक्षण किये। उसने तीन सालतक लगातार परिश्रम करके ऐसे मटरके बीज तय्यार किये, जो हर दृष्टिसे शुद्ध कहे जा सकते थे, अर्थात् जिन्हें संकर नहीं कहा जासकता था। ऐसे कुछ बीज शुद्ध बड़े मटरके थे, और कुछ बीज शुद्ध छोटे मटरके थे। शुद्ध बड़ेका मतलब है जिन बीजोंको बोते जांय, और छोटे मटरके फूलोंके संसर्गमें न आने दें, तो हर सन्ततिमें बड़े-ही-बड़े मटर पैदा हों, छोटा कोई न हो। इसीप्रकार शुद्ध छोटेका मतलब है कि उनके बीजोंसे जो बीज पैदा हो, हर सन्ततिमें वे छोटे ही मटर पैदा करें। इन शुद्ध बड़ों तथा शुद्ध छोटोंको उसने एक-साथ एक क्यारी में बो दिया। अब जो पौधे उगे, उनसे जो बीज बने, वे शुद्ध नहीं होसकते थे, क्योंकि बड़े तथा छोटे मटरोंके पास-पास होनेके कारण उनके फूलोंमें एक-दूसरेके पराग मिल गये। मेंडलने इसप्रकार बड़े तथा छोटे मटरोंके संयोगसे उत्पन्न हुए मटरके बीजोंसे यह देखना चाहा कि उसकी वंश-परंपरा कैसे चलती है। इन संकर-मटरोंकी पहली पीढ़ीमें एक ही प्रकारके मटरके बीजोंसे कुछ बड़े और कुछ छोटे मटर हुए। इस पहली पीढ़ीकी अगली जो पीढ़ी हुई, उसमें बड़ोंके बड़े ही मटर होते, और छोटोंके छोटे ही मटर होते—ऐसा नहीं देखा गया। उनमें एक खास नियम काम कर रहा था। वह नियम यह था कि बड़े मटरोंके संकर हो जाने के बाद, जो पहली पीढ़ी हुई, उसमें २५ प्रतिशत तो 'शुद्ध बड़े' थे, अर्थात् ये २५ प्रतिशत, अपनेसे अगली पीढ़ियोंमें बड़ोंको ही पैदा करते थे, छोटोंको नहीं; २५ प्रतिशत 'शुद्ध-छोटे' थे, अर्थात् ये २५ प्रतिशत, अपनेसे अगली पीढ़ियोंमें छोटोंको ही पैदा करते थे, बड़ोंको नहीं; बाकी ५० प्रतिशत मटर 'मिश्रित' थे, अर्थात् स्वयं बड़े होतेहुए भी अगली पीढ़ियोंमें बड़ोंको ही नहीं पैदा करते थे, परन्तु ऊपरके नियमके अनुसार ही वंश-परंपरा चलाते थे, अर्थात् स्वयं बड़े होतेहुए भी २५ प्रतिशत बड़ों, २५ प्रतिशत छोटों, और ५० प्रतिशत मिश्रित-मटरोंको उत्पन्न करते थे। मटरोंमें बड़ेपनके 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—'प्रभावक' (Dominant)—बन गये, छोटेपनके 'प्रभावित' (Recessive) बन गये, तो यह नियम चल पड़ा, इससे उल्टा होगया, तो उल्टा नियम चल पड़ा। बड़ेपनको 'प्रभावक' (Dominant), और छोटेपनको 'प्रभावित' (Recessive) मानकर मटरों के बीजोंका जो चित्र बनेगा वह इसप्रकार होगा—
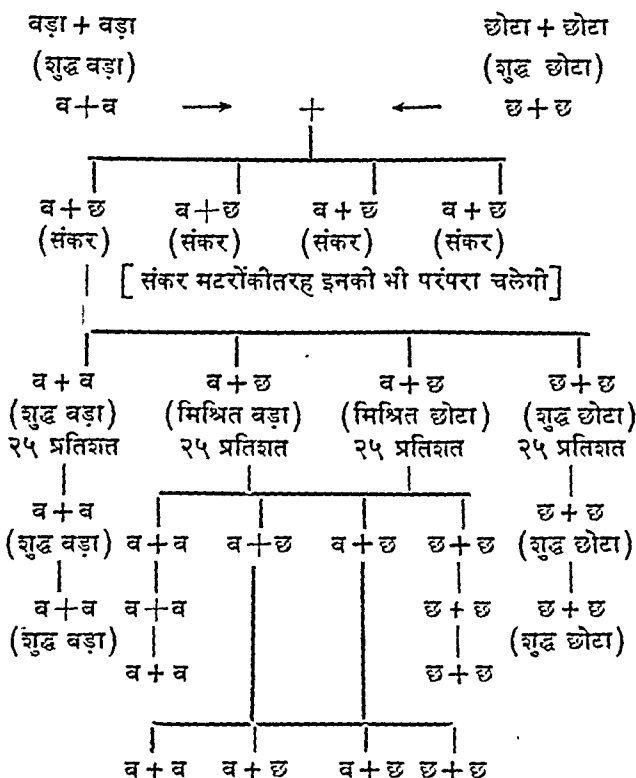
अर्थात्, 'शुद्ध बड़े' मटरके 'शुद्ध बड़े' के साथ संयोग होनेसे 'शुद्ध बड़े' (जिन्हें चित्रमें 'ब+ब' कहा गया है) उत्पन्न होंगे; 'शुद्ध छोटे' के 'शुद्ध छोटे' के साथ संयोगसे 'शुद्ध छोटे' (जिन्हें चित्र में 'छ+छ' कहा गया है) होंगे। 'शुद्ध बड़े' (ब+ब) के साथ 'शुद्ध-छोटे' (छ+छ) के संयोगसे 'संकर' होंगे, जिन्हें चित्रमें 'ब+छ' कहा गया है। इन 'ब+छ' में 'शुद्ध बड़ों' या 'शुद्ध-छोटों' को पैदा करनेकी शक्ति न होकर, बड़ों-छोटों दोनोंको पैदा करनेकी शक्ति होगी, परन्तु बड़े-छोटे बिना नियमके नहीं होंगे, उनमें एक नियम काम कर रहा होगा। मेंडलने यही पता लगाया कि यह नियम क्या है। वह नियम यह है कि 'ब+छ' से 'ब+छ' के संयोगसे, अर्थात् बड़े और छोटेके मिलनेसे जो बीज बना है, उसमें अगर बड़ेपनके 'वाहकाणु' — 'जेनीज़'—प्रधान हैं, तो उन बीजोंसे ३ हिस्से बड़े मटर होंगे, १ हिस्सा, अर्थात् २५ प्रतिशत 'शुद्ध-छोटा' मटर होगा। इन तीन हिस्से बड़े मटरोंमें भी १ हिस्सा,

अर्थात् २५ प्रतिशत 'शुद्ध बड़ा' होगा, अर्थात् उसकी अगली हरेक पीढ़ी बड़े मटरोंकी होगी, दो हिस्से, अर्थात् ५० प्रतिशत 'मिश्रित मटर' होंगे, अर्थात् होंगे तो बड़े, लेकिन अगली पीढ़ीमें बड़ों-छोटोंका वही ३ और १ हिस्सेका अनुपात रहेगा। यह चित्र बड़ेपनके 'वाहकाणुओं'—'जेनीज़'—को 'प्रभावक' (Dominant), और छोटेपनके 'वाहकाणुओं'—'जेनीज़'—को 'प्रभावित' (Recessive) मानकर बनाया गया है। ऐसा ही चित्र छोटोंको 'प्रभावक' (Dominant), और बड़ोंको 'प्रभावित' (Recessive) मानकर बनाया जा सकता है। बड़ेपनको प्रधान माननेकी अवस्थामें अनुपात होगा ३ हिस्से बड़े, और १ हिस्सा छोटा; छोटेपनके प्रधान होनेकी अवस्थामें अनुपात होगा ३ हिस्से छोटे, और १ हिस्सा बड़ा, अर्थात् पहलेसे उल्टा।

ये परीक्षण मटरोंपर किये गये हैं, मनुष्योंपर अभी इसप्रकारके कोई परीक्षण नहीं किये जासके। परन्तु इन परीक्षणोंसे यह स्पष्ट है कि मनुष्यमें जब भिन्न-भिन्न प्रकारके 'वाहकाणुओं'—'जेनीज़'—का सम्मिश्रण होता है, तब उनके संयोगसे भिन्न-भिन्न शारीरिक-गुण सन्तानमें आजाते हैं। अगर किसीके माता-पिता दोनों लम्बे हैं, परन्तु पिछला कोई पूर्वज छोटा था, तो हो सकता है कि अगली किसी पीढ़ीमें जाकर उस छोटे पूर्वजके 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—'प्रभावक' (Dominant) बन जांय, और लम्बे माता-पिताकी बौनी सन्तान होजाय। इसीप्रकार भूरी आंखवाले माता-पिताकी सन्तान काली आंखवाली होजाती है, क्योंकि माता-पिताकी आंखका रंग जिन 'वाहकाणुओं'—'जेनीज़'—में है, वे सन्तानमें जाकर 'प्रभावित' (Recessive) होजाते हैं। ऐसा क्यों होता है—इस विषयका अभीतक विज्ञानको कुछ पता नहीं है!

प्रश्न

१. 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) तथा 'परिस्थिति' (Environment) के प्रश्नका स्वरूप क्या है?
२. 'वंशानुसंक्रमण-वाद' तथा 'परिस्थिति-वाद' का क्या अर्थ है?
३. 'वंशानुसंक्रमण-वादी' विचार-धाराका संक्षिप्त इतिहास दीजिये।
४. 'वंशानुसंक्रमण' के सिद्धान्तकी आलोचना कीजिये।
५. 'वंशानुसंक्रमण' तथा 'परिस्थिति' को सामने रखतेहुए कुछ 'वशीकृत-परीक्षणों' (Controlled experiments) का उल्लेख कीजिये।
६. 'जर्म-प्लाज्म'—'जेनरेटिव सेल'—'सोमेटिक सेल'—'न्यूक्लियस'—'क्रोमोसोम'—'जेनीज़'—'डौमीनेन्ट'—'रिसेस्सिव'—शब्दोंका क्या अर्थ है?
७. मेंडलके परीक्षणको चित्र-सहित समझाइये।

[६]

प्राथमिक असभ्य-अवस्थासे वर्तमान सभ्य-अवस्था तक

(FROM PRIMITIVE TO CIVILIZED SOCIETY)

१. अति-प्राचीन युगोंके विकासका क्रम

पाश्चात्य भूगर्भ-शास्त्रके पंडितोंने पृथिवीकी आजतककी आयु २ अरबसे १ अरब वर्षतक निर्धारित की है। कितना वड़ा काल है यह। इस महान् कालके भीतर जो समय वीता है उसे भिन्न-भिन्न 'युगों' (Periods) में वांटा गया है। इस विशाल काल-गणनामें 'मनुष्य' का आगमन वहुत नवीन घटना है। सृष्टि के विकासमें वहुत-सा समय तो ऐसा वीता जव मनुष्यका नामोनिशानतक न था। अन्य जीव थे, परन्तु उनमें भी पहले-पहल अत्यन्त निम्न-कोटिके जीव थे। धीरे-धीरे उच्च विकसित-कोटिके जीव उत्पन्न होते गये, अन्तमें जाकर 'मनुष्य' प्रकट हुआ। जीवोंके विकासका जो क्रम भूगर्भ-शास्त्र तथा प्राणी-शास्त्रने तय किया है, वह निम्न है:—

(१) 'आदि-जीवीय युग' (Archeozoic Period)—यह सृष्टिका सवसे पहला युग है। इसे 'अति-अति-प्राथमिक युग' (Remotest Primary Period) कहा जासकता है। इस समय 'एक-कोशीय जीवन' (Unicellular life) था। हमारा शरीर कई 'कोशों' (Cells) से मिलकर वना है, परन्तु उस समय जीवनका प्रारंभ ही हुआ था, इसलिये जो भी जीवन था, वह 'अनेक-कोशों' से मिलकर नहीं वना था, सिर्फ़ एक 'कोश' (Cell) का जीवन था। भूगर्भ-शास्त्रियोंका कहना है कि पृथिवीकी आजतक की २ अरव आयुका ३० प्रतिशत समय इसी युगमें वीता। इस दीर्घ-कालतक 'एक-कोशीय जीवन' (Unicellular life) ही रहा।

(२) 'सु-पुरा जीवीय युग' (Proterozoic Period)—यह सृष्टिका अगला युग है। इसे 'अति प्राथमिक युग' (Remote Primary

Period) कहा जासकता है। इस समय 'एक-कोशीय जीवन' (Unicellular life) से 'अनेक-कोशीय जीवन' (Multicellular life) का प्रारंभ हुआ। 'अनेक कोशीय जीवन' में भी दो तरहके प्राणी होते हैं—रीढ़की हड्डीवाले, और बिना रीढ़की हड्डीवाले। इस युगमें बिना रीढ़की हड्डीवाला 'अनेक-कोशीय जीवन' विकसित हुआ। इसे 'अपृष्ठ-वंशीय-जीवन' (Invertebrate life) कहा जाता है। घोंघे, कीड़े आदि इसी समयकी उपज हैं। पृथिवीकी आजतककी आयुका २५ प्रतिशत समय इसी युगके विकासमें बीता।

(३) 'पुरा-जीवीय युग' (Paleozoic Period)—पहले युगको 'अति-अति प्राथमिक', दूसरे युगको 'अति प्राथमिक' तथा इस युगको 'प्राथमिक युग' (Primary Period) कहते हैं। इस समय 'अपृष्ठ-वंशीय' (Invertebrate) के स्थानमें 'पृष्ठ-वंशीय जीवन' (Vertebrate life) उत्पन्न हुआ। मछलियां, ग्राह, जल-थल-चारी, सरीसृप आदि इसी युगमें उत्पन्न हुए। इस युगके निर्माणमें पृथिवीकी आजतककी आयुका ३० प्रतिशत समय लग गया।

(४) 'मध्य-जीवीय युग' (Mesozoic Period)—'पुरा-जीवीय'-युग को 'प्राथमिक-युग', तो उसके बाद आनेवाले 'मध्य-जीवीय युग' को 'द्वितीय-युग' (Secondary Period) कहा जाता है। इस युगमें 'सरीसृप' (Reptiles)—रेंगकर चलनेवाले जानवर—तो हुए ही, साथ ही उड़नेवाली चिड़ियाएँ, और छोटे दर्जेके 'स्तनन्धय' (Mammals) भी इस समय प्रकट हुए। इस युगमें पृथ्वीकी आजतककी आयुका ११ प्रतिशत समय लगा।

(५) 'परवर्ती-युग' (Cainozoic Period)—भूगर्भ-शास्त्री इस युगको 'तृतीय तथा चतुर्थ युग' (Tertiary and Quarternary Period) भी कहते हैं। इस युगका प्रारंभ बड़े-बड़े 'स्तनन्धयों' (Mammals) से शुरू हुआ, और अन्त मनुष्यके विकाससे हुआ। छः करोड़ वर्षहुए, जब इस युगका श्रीगणेश होगया था। मनुष्यका प्राणि-जगत्में स्थान समझनेकेलिये इसी युगको समझना आवश्यक है।

२. 'परवर्ती-युग' में मनुष्यका प्रादुर्भाव

जैसा हमने अभी कहा, भूगर्भ-शास्त्री इस 'परवर्ती-युग'को दो भागोंमें बांटते हैं—'तृतीय-युग' (Tertiary Period) तथा 'चतुर्थ-युग' (Quarternary Period)। 'तृतीय-युग' में 'जेरवाले स्तनन्धय' (Placental mammals) उत्पन्न हुए, मनुष्य-जैसी शक्लके छोटे-छोटे बन्दर-सरीखे जानवर उत्पन्न हुए, और 'चतुर्थ-युग' में दो पांओंसे खड़े होकर चलनेवाले जानवर उत्पन्न

हुए, और होते-होते आजका मनुष्य प्रकट होगया। भूगर्भ-शास्त्रियोंने 'तृतीय-युग' तथा 'चतुर्थ-युग' को तीन-तीन हिस्सोंमें वांटा है—इसप्रकार इस सम्पूर्ण 'परवर्ती-युग' (Cainozoic Period) को उन्होंने निम्न छः हिस्सोंमें वांटा है :—

परवर्ती-युगसम्बन्धी तृतीय-युगके तीन हिस्से—

(क) 'प्रादि-नूतन युग' (Eocene Period)—इसमें 'जेरवाले स्तनन्धय' (Placental mammals) उत्पन्न हुए।

(ख) 'आदि-नूतन युग' (Oligocene Period)—इसमें मनुष्य-जैसी शक्लके छोटे-छोटे बन्दर सरीखे जानवर (First Small Anthropoid Apes) उत्पन्न हुए।

(ग) 'मध्य-नूतन युग' (Miocene Period)—इसमें वर्तमान बन्दरोंके पूर्वज (Ancestors of Present Great Apes) तथा मनुष्यकी-सी शक्ल (Humanoid forms) के जानवर उत्पन्न हुए। आजसे दो से चार करोड़ वर्ष पहले यह युग शुरू हुआ।

ये तीनों 'तृतीय-युग' (Tertiary Period) के विकास के क्रम हैं। 'चतुर्थ-युग' (Quarternary Period) के विकासके क्रम निम्न हैं :—

परवर्ती-युगसम्बन्धी चतुर्थ-युगके तीन हिस्से—

(क) 'अति-नूतन युग' (Pliocene Period)—इस कालमें पहले-पहल वह जानवर पैदा हुआ जो खड़ा होकर चल सकता था। भू-गर्भ-शास्त्र तथा प्राणी-शास्त्रमें उस जानवरको 'पियेकैन्थ्रोपस इरेक्टस' (Pithecanthropus erectus) कहा है। आजसे १० लाखसे २०लाख साल पहले यह युग समाप्त हुआ।

(ख) 'प्रति-नूतन युग' या 'हिम-युग' (Pleistocene or Glacial Period)—इस युगमें मनुष्य मनुष्यके रूपमें प्रकट हुआ। भूगर्भ-शास्त्रके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि इस युगमें कम-से-कम चार वार भूमिके उत्तरीय गोलार्ध में हिमका महापात और प्रवाह हुआ। इसी युगमें मनुष्यसे मिलते-जुलते किसी प्राणीके अवशेष उपलब्ध होते हैं।

इस युगमें मनुष्यके जो अवशेष उपलब्ध होते हैं उनसे प्रतीत होता है कि इस युगमें वह विकासकी तीन प्रक्रियाओंमेंसे गुजरा है। इन तीन प्रक्रियाओंके कारण उसके इससमय तीन वर्ग पाये जाते हैं:—

(i) 'भूमिवासी वानर-मानव' (Ground-dwelling Ape-man)—पहला वर्ग तो वह है जिसमें वह भूमिपर रहनेवाले बन्दर-के-से मनुष्यके रूपमें था। इससे पहले तो बन्दर वृक्षोंपर रहा करता था, परन्तु इस युगमें वृक्षोंके स्थानपर भूमिपर रहने लगा। ऐसे मनुष्योंके तीन प्रकार दक्षिणी अफ्रीकामें रहते थे जिन्हें

'ऑस्ट्रालोपीथेकस' (Australopithecus), 'प्लेसीएन्थ्रोपस' (Plesianthropus) तथा 'पेरेन्थ्रोपस' (Paranthropus) कहते हैं। ये प्राणी वन्दरोंसे इतने नहीं मिलते थे जितने मनुष्यसे मिलते थे। इनके मस्तिष्क मनुष्यसे वहुत छोटे थे। मनुष्यकीतरह ये भूमिपर, दो पाओंसे चलने लगे थे।

(ii) 'प्राचीन-मानव' (Ancient man)—दूसरा वर्ग वह है जिसमें उसका मस्तिष्क कुछ वड़ा पाया जाता है, और वह वर्तमान मनुष्यके कुछ अधिक निकट आगया है। ऐसे मनुष्य जावामें पाये गये हैं जिन्हें 'पिथेकैन्थ्रोपस' (Pithecanthropus) कहते हैं; पेकिंगके पास पाये गये हैं जिन्हें 'सिनैन्थ्रोपस' (Sinanthropus) कहते हैं, साउथ इंग्लैंडमें पाये गये हैं जिन्हें 'इओन्थ्रोपस' (Eonthropus) कहते हैं; पश्चिमी योरुप, सुदूर-पूर्व तथा तथा मध्य-रशियामें पाये गये हैं, जिन्हें 'निएन्डरथल-मानव'. (Neanderthal Man) कहते हैं। यह 'निएन्डरथल-मानव' वर्तमान-मानवके अत्यन्त निकट है, और ऐसा पता चलता है कि जहां-तहां यह मानव वर्तमान-मानवके संपर्कमें आया, इन दोनोंने आपसमें सन्तानोत्पत्ति की। भूगर्भ-शास्त्रियोंका कहना है कि 'प्रति-नूतन युग' (Pleistocene) के अंतिम भागमें पैलेस्टाइनके कारमल पर्वतके निकट 'निएन्डरथल-मानव' और 'वर्तमान-मानव' के मिल-जुलकर सन्तति उत्पन्नकरनेके अनेक प्रमाण मिलते हैं।

(iii) 'वर्तमान-मानव' (Modern Man)—वर्तमान-मानव जिस रूपमें दीख पड़ता है वह लगभग २५ हजार वर्ष पहले पश्चिमी योरुप तथा भूमध्य-सागरके प्रदेशमें प्रकट हुआ। इस मानवका प्रारंभिक-रूप जो भू-गर्भ-शास्त्रियोंको ज्ञात है, उसे क्रो-मैगनन (Cro-Magnon Man) कहते हैं, क्योंकि पहले-पहल उसके अवशेष क्रो-मैगनन स्थानपर ही पाये जाते हैं। यह मानव योरुपमें कहांसे आया, इस विषयमें अभीतक कुछ ज्ञात नहीं है, परन्तु इतना कहा जासकता है कि इसने क्षेत्रमें पदार्पण करनेके वाद 'निएन्डरथल-मानव' का स्थान ग्रहण कर लिया, और इससे पूर्व मानवके जो वर्ग थे, वे सव लुप्त होगये, और तवसे आजतक यही 'वर्तमान-मानव' संसारमें राज्य कर रहा है।

'वर्तमान-मानव' कहांसे आ टपका—इस सम्वन्धमें विकासवादने अभीतक अपना अन्तिम निर्णय नहीं दिया। इसमें सन्देह नहीं कि वन्दरसे मनुष्यकी शारीरिक-रचनाका वहुत साम्य है, फिर भी शरीर-रचना-शास्त्रियोंकी दृष्टिमें ही इनमें इतना भेद भी है कि वन्दरसे मनुष्यका विकास हुआ—यह नहीं कहा जासकता। ज्यादा-से-ज्यादा विकासवादी जो कह सकते हैं वह यही है कि कोई ऐसा प्राणी हुआ होगा जिससे वन्दर तथा मनुष्य—इन दोनोंका विकास हुआ, जिसे विकासकी शृंखलामें

'लुप्त कड़ी' (Missing Link) कहा जाता है। परन्तु यह प्राणी कब हुआ, कहां हुआ, हुआ भी या नहीं हुआ—इस विषयमें विज्ञान सर्वथा मौन है।

(ग) 'सर्व-नूतन युग' (Holocene Period)—यह वर्तमान-युग का दूसरा नाम है। जैसा हमने अभी कहा था, इस युगका प्रारंभ २५ हजार वर्ष पहले हुआ। अनुमान किया जाता है कि आजसे १० हजार वर्ष पूर्व मनुष्यने फिरन्दर जीवन छोड़कर पशु-पालन, कृषि करना, और छोटी-छोटी झोंपड़ियां बनाकर एक जगह रहना सीख लिया था। आजसे १० हजार से ५ हजार वर्ष पहले मनुष्यने पत्थरोंके औजार बनाने शुरू कर दिये थे, और 'नव-पाषाण युग' (Neolithic age) का सूत्रपात हो गया था। इसके बाद भिन्न-भिन्न पदार्थोंका उपयोग करना उसने सीखा। इन युगोंको 'पाषाण-युग' (Stone age), 'ब्रोंज-युग' (Bronze age), 'लौह-युग' (Iron age), 'कोयला-युग' (Coal age) आदि नाम दिये जाते हैं। वर्तमान-युगको 'अणु-युग' (Atomic age) कहा जासकता है—इसमें पहले युगोंकी भांति मनुष्य धातुओंकी अपेक्षा संभवतः अणु-शक्तिसे अधिक काम लेना शुरू करे। इसीप्रकार संसारकी अनेक सभ्यताओंने जन्म लिया—मैसे-पोटामिया, ईजिप्ट आदि की सभ्यताएँ हजारों वर्ष पुरानी हैं। होते-होते मनुष्यने अन्य अनेक सभ्यताओंका विकास किया, और विकसित होते-होते वर्तमान समय-पर आपहुँचा।

इस प्रकरणमें यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि हिंदुओंमें जो सृष्टि-संवत् चला आता है वह सन् १९५३ में १९७२९४९०५५ है—अर्थात् लगभग २ अरब वर्ष। यह संख्या वर्तमान भूगर्भ-शास्त्रियोंकी संख्यासे आश्चर्यजनकतौर पर मिलती है।*

---

*संसार कितने वर्ष रहेगा, इसका उत्तर अथर्ववेदमें देते हुए लिखा है—'शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः'—अर्थात्, ४,३,२—इन अंकोंके आगे दस लाख शून्य लगादेनेसे जो संख्या बनती है, वह सृष्टिका समय है—सृष्टि प्रारंभसे अंततक इतने समय रहेगी। यह संख्या ४३२००००००० (चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष) बनती है। इतने वर्ष सृष्टि रहती है, फिर इतने ही वर्ष प्रलय रहता है।

सृष्टिके ४ अरब बत्तीस करोड़ वर्ष होते हैं, परन्तु सृष्टि में १४ मन्वन्तर माने गये हैं, और, एक-एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युगी मानी गई हैं। चतुर्युगीका मतलब है—कलियुग, द्वापर, त्रेता, सत्ययुग। कलियुगके जितने वर्ष हैं, उससे दुगुने द्वापरके, तिगुने त्रेताके, चौगुने सत्ययुगके माने गये हैं। कलियुगका काल ४३२००० (चार लाख बत्तीस हजार वर्ष) माना गया है। इसप्रकार एक चतुर्युगीका समय हुआ, ४३२००० +८६४०००+१२९६०००+१७२८०००=४३२०००० (तिरतालीस लाख बीस हजार) वर्ष। क्योंकि ७१ चतुर्युगीका एक मन्वन्तर होता है, इसलिये एक

हमने अभी जीवनके विकासके जिस 'चतुर्थ-युग' (Quarternary Period) का वर्णन किया है उसका गहराईसे अध्ययन किया जाय, तो ज्ञात होगा कि कि इस युगमें मुख्यतौरपर दो बातें हुईं जिनसे मनुष्य सामाजिक-विकासके मार्गपर चल पड़ा। पहली बात तो यह हुई कि अबतक प्राणीके शरीरकी रचना कुछ इस ढंगकी थी कि वह सामाजिक-विकास कर ही नहीं सकता था, परन्तु इस युगमें प्राणीके शरीरका विकास ऐसी दिशामें चल पड़ा जिससे वह सामाजिक-विकास कर सकता था। अबतक प्राणी हाथका उपयोग नहीं कर सकता था, वाणीका उपयोग नहीं कर सकता था—इस युगमें ये दो नवीन बातें उत्पन्न होगईं। इनके परिणाम असाधारण हुए। प्राणीके शारीरिक-परिवर्तनोंके परिणाम-स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकारकी सभ्यताओंका उदय होगया। अभीतक प्राणी अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिकेलिये अपने शरीरके साधनोंका ही उपयोग कर सकता था। नखोंसे चीरता-फाड़ता, दांतोंसे काटता था, परन्तु अब अन्य साधनोंका भी वह प्रयोग करने लगा। उसने पत्थरके हथियार बनाये, धनुष-बाणका प्रयोग प्रारंभ किया, दूसरे पशुओंको पालना सीखा, खेती करने लगा, और इस मार्गपर चलते-चलते संसारकी बड़ी-बड़ी सभ्यताओंको जन्म दिया, यहांतक कि आजकी बीसवीं सदीमें तो मनुष्य अपने कामोंको देखकर स्वयं आश्चर्य करने लगा है, विशेषकर जब वह अपनी अपने उस पूर्वजसे तुलना करने लगता है जो कभी जंगलोंमें असहाय अवस्थामें रहा करता था।

मन्वन्तरका समय हुआ ४३२०००० × ७१ = ३०६७२०००० (तीस करोड़ सरसठ लाख बीस हजार) वर्ष।

एक सृष्टिमें १४ मन्वन्तर होते हैं, अतः १४ मन्वन्तरोंका समय हुआ, ३०६७२०००० × १४ = ४२९४०८०००० (४ अरब, २९ करोड़, ४० लाख, ८० हजार) वर्ष।

परन्तु एक-एक मन्वन्तरके बाद एक-एक सन्धिकाल आता है, और सृष्टिके प्रारंभमें भी एक सन्धिकाल होता है। इस हिसाबसे १४ मन्वन्तर हैं, तो १४ सन्धिकाल हुए, और एक सन्धिकाल है सृष्टिके प्रारंभका। कुल १५ सन्धिकाल होगये। एक-एक सन्धिकालका समय एक सत्ययुगका समय माना गया है। सत्य-युगका समय है—कलियुग से ४ गुणा—अर्थात्, १७२८००० वर्ष। इसप्रकार सृष्टिमें १५ सन्धिकालोंका कुल समय हुआ १७२८००० × १५ = २५९२०००० (दो करोड़, उनसठ लाख, बीस हजार) वर्ष।

इस हिसाबसे सृष्टिका कुल समय निम्न प्रकार हुआ :—

१४ मन्वन्तरोंका समय—	४२९४०८०००० वर्ष
१५ सन्धिकालोंका समय—	२५९२०००० वर्ष
कुल	४३२००००००० वर्ष

मनुष्यके विकासके सम्बन्धमें जिन परिवर्तनोंका वर्णन हमने किया उनमेंसे मनुष्यके शरीरका विकास महत्वपूर्ण है। मनुष्यसे पहले जो प्राणी थे उनमें तथा मनुष्यके शरीरकी रचनामें कुछ मौलिक भेद उत्पन्न होगये जिनके कारण वह इस योग्य होगया कि सामाजिक-विकास कर सके। ये भेद न उत्पन्न होते, तो मनुष्य जंगली-का-जंगली रह जाता। ये मौलिक भेद थे—

(क) 'बृहत्-मस्तिष्क' (Cerebrum)—मनुष्य तथा मनुष्यसे मिलते-जुलते वन-मानुस (Anthropoid ape) के मस्तिष्कमें तिगुनेका फर्क है। वन-मानुसकी खोपड़ीमें अगर ५०० क्यूबिक सन्टीमीटर मस्तिष्क-तत्व आता है, तो मनुष्यकी खोपड़ी में १४५० क्यूबिक सेन्टीमीटर मस्तिष्क-तत्व आता है। मनुष्यका मस्तिष्क वन-मानुसके मस्तिष्कसे परिमाणमें ही बड़ा नहीं, गुणोंमें भी बड़ा है। मस्तिष्कमें मानसिक-प्रक्रियाका आधार 'बृहत्-मस्तिष्क' (Cerebrum) माना जाता है, यह मनुष्यमें जितना विकसित है इतना और किसी

हिन्दू-गणनाके अनुसार इससमय तक ६ मन्वन्तर बीत चुके हैं, और ७ वें मन्वन्तरकी २७ चतुर्युगियां बीत चुकी हैं। २८ वीं चतुर्युगीके ३ युग बीत गये, और कलियुग चल रहा है। इस हिसाबसे सृष्टिको उत्पन्नहुए जो वर्ष बीते हैं उनका हिसाब निम्न है:—

(१) छः मन्वन्तरोंके बीते वर्ष ३०६७२०००० × ६ = १८४०३२००००

(२) २७ चतुर्युगियोंके बीते वर्ष ४३२०००० × २७ = ११६६४००००

(३) २८ वीं चतुर्युगीके ३ युगोंके बीते वर्ष — एक चतुर्युगीमें से कलियुग के वर्ष घटा दिये = ३८८८०००

(४) छः मन्वन्तरोंके सन्धिकाल
(५) तथा ७वां प्रारंभिक संधिकाल } = १७२८००० × ७ = १२०९६०००

(६) प्रचलनके अनुसार पिछले बीते वर्ष २०१० तक ५०५५

अबतकका सृष्टिका समय = १९७२९४९०५५

यह संख्या २ अरब वर्ष के लगभग आ पहुंचती है, जो वर्तमान भू-गर्भ-शास्त्रियों की संख्यासे मिलती है।

ऊपर के हिसाबमें जो प्रचलनके अनुसार ५०५५ वर्ष हमने जोड़े हैं, वह प्रचलन है—"द्वितीय परार्द्धे वैवस्वत मन्वन्तरे अष्टाविंशति कलौयुगे ५०५५ गताब्दे जम्बु द्वीपे भरत खंडे....."—इत्यादि। यह संकल्प प्रत्येक हिंदू अपने संस्कार कराता हुआ पढ़ता है।

ऊपर जो १४ मन्वन्तरोंका वर्णन किया गया है वे हैं—१. स्वायंभुव, २. स्वारोचिष, ३. औतमि, ४. तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष, ७. वैवस्वत, ८. सावर्णि, ९. दक्ष सावर्णि, १०. ब्रह्म सावर्णि, ११. धर्म सावर्णि, १२. इन्द्रपुत्र, १३. रौच्य तथा १४. भौत्य।

प्राणीमें नहीं है। इसीके आधारपर मनुष्य नाना-प्रकारका व्यवहार करता है जो किसी अन्य प्राणीकेलिये संभव नहीं है ।

(ख) 'ऊर्ध्व-स्थिति' (Upright Posture)—मनुष्य तथा अन्य जानवरोंमें दूसरा भेद यह है कि मनुष्य दो पांवोंपर खड़ा होसकता है, अन्य पशु दोनों हाथोंसे भी पाओं का काम लेते हैं। इस विकासका मनुष्यके सामाजिक-जीवनपर बड़ा भारी असर पड़ा। उसे अपनी परिस्थितिके साथ संपर्क स्थापित करनेकेलिये मानो दो नये हथियार मिल गये। पशुके हाथ नहीं होते, वह सूंघकर, काटकर, अपनी आवश्यकताओं को पूरा करता है, मनुष्य हरेक वस्तुकेलिये हाथका उपयोग करने लगा। वनमानुस तक आदतन दो टांगोंपर नहीं चलते, मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जिसे दो हाथोंका हथियार मिला जिससे वह आगे-ही-आगे उन्नति करता गया।

(ग) 'बोलनेकी शक्ति' (Ability to Speak)—मनुष्य तथा अन्य जानवरोंमें तीसरा भेद यह है कि मनुष्यके शरीरकी रचना ऐसी बनी है जिससे वह अनेक प्रकारकी आवाजें निकाल सकता है, पशु अनेक प्रकारकी आवाजें नहीं निकाल सकता। पशु क्योंकि हाथसे काम नहीं लेसकता इसलिये उसकी थूथनी लम्बी रहती है, बाहर निकली रहती है ताकि वह थूथनीसे चख सके, सूंघ सके और जो जानकारी चाहे प्राप्त कर सके। इस लम्बी थूथनीके कारण मुखमें जीभ स्वतन्त्रतासे इधर-उधर नहीं फिर सकती, और इसीलिये पशु कुछ इनी-गिनी थोड़ी ही आवाजें निकाल सकता है। मनुष्यको ज्ञान प्राप्त करनेकेलिये थूथनीसे काम नहीं लेना होता, यह काम वह हाथसे लेता है, इसलिये उसकी थूथनी लम्बी न होकर छोटी, गोलाई लियेहुए है, जिसमें जीभ चारोंतरफ आजादीसे फिर सकती है, और भिन्न-भिन्न आवाजें निकाल सकती है। मुखकी इसी रचनासे भाषाका विकास हुआ है।

२. मनुष्य द्वारा भिन्न-भिन्न सभ्यताओंका विकास

मनुष्यके शरीरकी रचना अन्य जीव-धारियोंसे भिन्न है, और इस भिन्नताके कारण मनुष्य सामाजिक-विकास करनेमें समर्थ हुआ—यह बात हमने देखी। इस सामाजिक-विकासको लानेमें मुख्य बात यह हुई कि मनुष्य नख, दांत, पंजे आदिसे काम लेनेके स्थानमें भिन्न-भिन्न साधनोंका, उपकरणोंका आविष्कार करने लगा जिससे अनेक सभ्यताओंको जन्म मिला। उनमेंसे मुख्य-मुख्य सभ्यताएं निम्न हैं:—

(क) 'फिरन्दर-जीवन' (Nomadic Life)—मनुष्यने मनुष्य रूपसे जब पहले-पहल जीवन शुरु किया तब वह शिकार खेलकर जीवन-निर्वाह करता था। अभी उसने यातायातके साधनोंका आविष्कार नहीं किया था, अतः जहां

शिकार मिलता था वहीं वह भी चला-फिरा करता था, शिकारके पीछे-पीछे घूमता था। इसप्रकार 'फिरन्दर-जीवन' से उसकी सर्व-प्रथम सभ्यता का प्रारंभ हुआ। जब शिकार नहीं मिलता था तब वनके फल-मूल-कन्दपर वह निर्वाह करता था, परन्तु इन चीजोंको जमा करके रखना वह अभी नहीं सीखा था, इसलिये जहां शिकार मिलता, जहां फल-मूल-कन्द मिलते, वहीं वह जा पहुँचता था। भ्रमण का उसका जीवन था। इस भ्रमणके जीवनमें यह नहीं कि मनुष्य आगे-ही-आगे बढ़ता चला जाता था। जहां एक मौसम काटी, जहांकी बहार खत्म होगई, वह आगे बढ़गया, अगले जंगलोंकी बहारपर निर्वाह करने लगा, परन्तु फिर छोड़ेहुए जंगलोंमें अपनी मौसममें फिर बहार आगई, तो वह भी अपने पुराने जंगलोंको लौट आया—इसप्रकार एक सीमित स्थानका वह चक्कर लगाया करता था, और इसीप्रकार घूम-फिरकर अपना जीवन बिता देता था; हां, जो ऐसी जगह रहता था जहां खानेके फल या मछली आदिका शिकार लगातार एक ही जगह मिलता रहता था, वह दूसरोंकी अपेक्षा कम फिरन्दरी जीवन व्यतीत करता था। यह जीवन खतरेका जीवन था, मारनेवालेको मरनेकेलिये भी तय्यार रहना होता है। इससमय जन-संख्या भी बहुत कम थी। १० से १०० आदमियोंके समूहमें लोग रहते थे, और क्योंकि यह जरूरी नहीं कि जंगलमें शिकार भरे ही पड़े हों, इसलिये इन लोगोंको अपने जीवन-निर्वाहकेलिये बहुत अधिक जमीनकी आवश्यकता होती थी। होसकता है १० मीलमें एक ही शिकार मिले, इसलिये यह हिसाब लगाया गया है कि उससमय एक आदमीके लिये २५ वर्गमील जमीनकी आवश्यकता थी। इस जीवनमें बहुत अधिक संगठन या व्यवस्थाकी गुंजाइश नहीं थी। वैसे तो उस समय नाममात्रके झोंपड़े होते थे, परन्तु जब भी जंगली लोग झोंपड़े बनाकर रहते थे, तब मुखियाका झोंपड़ा सबके केंद्रमें, और दूसरे लोगोंके, उन-उनकी हैसियतके अनुसार मुखियाके इर्द-गिर्द होते थे।

(ख) 'चरवाहा-जीवन' (Pastoral life)—'फिरन्दर-जीवन' के बाद 'चरवाहे-जीवन' का विकास हुआ। शिकारियोंकी अपेक्षा इस जीवनमें इकट्ठे रहनेवाले व्यक्तियोंकी संख्या अधिक होती है। शिकारी-जीवनमें शिकार हाथ आना आसान नहीं होता, इसलिये थोड़े-थोड़े लोगोंके समूह इकट्ठे रहते हैं, बहुत ज्यादा लोग इकट्ठे रहने लगें तो सबका पेट ही न भर सके। 'चरवाहे-जीवन' में कुछ जानवर पाल लिये जाते हैं, उन्हें चराते हैं, पालते-पोसते हैं, उनका दूध-दही-मक्खन खाते हैं, और जरूरत पड़नेपर उन्हें मारकर खा-पी भी जाते हैं। इसप्रकार पशुओंको पालकर उनसे जीवन-निर्वाह करनेमें अधिक व्यक्तियोंकी संख्या भी अपना गुजारा कर सकती है, इसलिये 'चरवाहे-जीवन' में मनुष्य-समाजकी संख्या

फिरन्दरोंकी अपेक्षा वढ़ जाती है। इस जीवनमें समुदायके टूटकर अलग होनेकी संभावना भी कम होजाती है क्योंकि शिकारी-जीवनकी अपेक्षा इसमें कम जमीनसे काम चल जाता है, साथ ही समुदायको वार-वार स्थान बदलनेकी उतनी आवश्यकता नहीं रहती जितनी फिरन्दर-जीवनमें रहती थी। 'चरवाहा' (Pastoral) तथा 'फिरन्दर' (Nomadic) जीवन की तुलना की जाय, तो कहा जा सकता है कि चारवाहेका जीवन फिरन्दरके जीवनसे ज्यादा उन्नत, ज्यादा संगठित तथा ज्यादा स्थिर है।

(ग) 'कृषि-जीवन' (Agricultural life)—जीवन-निर्वाहके साधनों की तलाशमें जव वह समय आजाता है जव प्रकृतिमें इधर-उधर विखर रहे भोजन को ढूंढ़नेके स्थानमें मनुष्य खेती करके, स्वयं वोकर अनाज उत्पन्न करने लगता है, तव जीवनकी स्थिरता का सूत्रपात होजाता है, तव जन-संख्याके मर्यादित रूपमें वढ़नेकी मानो शुरूआत होजाती है। अभीतक तो जीवनकी कोई बात स्थिर ही नहीं थी। कलका भोजन मिलेगा या नहीं मिलेगा—यह भी तो निश्चित नहीं था, सव-कुछ प्रकृतिका खेल था; परन्तु खेती जूएका खेल नहीं थी, अव मनुष्यके हाथ एक ऐसा साधन आगया था जिससे वह निश्चिन्त होकर अपनी भोजनकी समस्याको हल कर सकता था। खेतीके आविष्कारसे मानवीय-समाजको स्थिरताका एक वड़ा भारी आधार मिल गया, और जन-संख्याके वढ़नेका उपक्रम शुरू होगया। कृषिकी सभ्यताके विकसित होनेसे पूर्व मनुष्य जंगल-जंगल भटकता फिरता था, जहां शिकार मिलता, जहां चरागाह होते, वहां खानावदोशोंका जीवन विताता फिरता था। कृषिके आविष्कारके वाद उसका इसप्रकार भटकना वन्द होगया, जहां उपजाऊ भूमि मिली, नदी-नाला-दरिया हुआ, खेती-वाड़ीकेलिये पानीकी सुविधा हुई, वहां गांव बसाकर वह रहने लगा, और इसप्रकार मनुष्यके अस्थिर जीवनमें स्थिरताका प्रवेश हुआ।

(घ) 'औद्योगिक-जीवन' (Industrial life)—कृषिके वाद मनुष्यके विकासने औद्योगिक-जीवनका आविष्कार किया। कृषि कुछ देरतक मनुष्यका पेट भरती है, परन्तु एक समय आजाता है जव वढ़ती हुई जन-संख्याका कृषिद्वारा भरण-पोषण नहीं होपाता। ऐसे समयमें उद्योगोंका आविष्कार हुआ। जो स्थान उद्योगोंके केंद्र होगये, उन्हींको शहर कहा जाता है। कृषि छोड़कर उद्योगकी तरफ मानव-समाजकी प्रगतिके कारण गांवोंकी जन-संख्या कम होने लगी, शहरोंकी वढ़ने लगी।

१८वीं सदीमें अनेक ऐसे आविष्कार हुए जिनसे उद्योगोंके विस्तारको वहुत सहायता मिली। १९वीं तथा २०वीं सदीमें भी इसप्रकारके आविष्कारोंकी

प्रगति जारी है, और वर्तमान-युग औद्योगिक-युग कहा जा सकता है। सबसे पहले इंग्लैंडमें 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) हुई जिससे मनुष्यका जीवन ही बिल्कुल बदल गया। इंग्लैंडके बाद यह क्रांति अन्य देशोंमें भी फैल गई। इस औद्योगिक-युगमें ऐसे-ऐसे आविष्कार हुए जिनसे श्रमकी बहुत बड़ी बचत हुई। सन् १७६७ में जेम्स हरग्रीव-नामक एक अंग्रेज कारीगरने ऐसे चरखेका निर्माण किया जिससे एकके स्थानमें इकट्ठे आठ-दस सूत काते जासकते थे। १७६८ में रिचर्ड आर्कराइट-नामक एक दूसरे अंग्रेज कारीगरने ऐसे बेलनोंका आविष्कार किया जो हाथके बजाय यान्त्रिक-शक्ति से चलते थे। धीरे-धीरे ऐसे यन्त्र निकले जिनसे एक-साथ दो-सौ सूत काते जासकते थे, जिसका अभिप्राय यह था कि दो-सौ मजदूरोंका काम एक मजदूर कर सकता था। १७८४ में कार्टराइट-नामक कारीगरने एक ऐसी खड्डी बनायी जो पानीसे चलती थी, और जिसपर एक पंद्रह वर्षका बालक उतना काम कर सकता था जितना पहले दस कारीगर करते थे।

१७५० में पत्थरके कोयलेका पता लगा। अबतक भट्टियोंमें लकड़ीका कोयला काम आता था, उसमें इतनी गर्मी न थी जितनी पत्थरके कोयलेकी आगमें थी। इससे लोहेको गलानेमें बहुत सुविधा होगई, और लोहेकी मशीनें धड़ाधड़ बनने लगीं।

१७८५ में स्टीम ऐंजिनका प्रयोग हुआ। अबतक मनुष्य छोटी-छोटी मशीनोंको हाथसे चलाता था, या घोड़े-बैलसे चलाता था। अब कोयले और भापके ज़रिये वह बड़ी-बड़ी मशीनें चलाने लगा। १८०२ में जहाजोंको भी चप्पुओंसे चलानेके स्थानमें स्टीम ऐंजिनसे चलाया जाने लगा। छोटे-छोटे जहाजोंकी जगह बड़े-बड़े जहाज बनने लगे। १८१४ में जार्ज स्टीवनसनने भापसे सबसे पहली रेलगाड़ी बनायी।

आज अणु-शक्ति पर परीक्षण होरहे हैं, और स्वप्न लिया जारहा है कि जो कार्य भाप-विद्युत् आदि शक्तियां करती रही हैं, वह आगामी युगमें अणु-शक्तिद्वारा होगा, और इस शक्तिके प्रयोगसे मनुष्यकी अपरिमित-शक्तिको किसी उच्च उद्देश्य की सिद्धि के लिये बचाया जासकेगा, यद्यपि उपहासकी बात यह है कि मनुष्यको अभीतक यह नहीं मालूम कि वह उच्च उद्देश्य क्या होगा ?

सृष्टिके प्रारम्भसे आजतक संसार विकासके जिन-जिन युगोंमेंसे गुज़रा है, उन सब युगोंका एक-दृष्टिमें निरीक्षण करनेकेलिये अगले पृष्ठमें एक चित्र दिया जारहा है जिससे यह स्पष्ट होजायगा कि सृष्टि किस-किस क्रममेंसे गुज़री है, और आज कहां आकर खड़ी हुई है :—

इस चित्रमें पृथिवीकी आयु दो अरब वर्ष मानी गई है

१. आदि-जीवीय काल (Archeozoic p.)	अति-अति प्राथमिक काल (Remotest Primary p.)	...	इस युग में पृथ्वी की आयु का ३०प्रतिशत समय लगा	इस युग म एक-कोषीय-जीव (Unicellular life) थे
२. सु-पुरा-जीवीय काल (Proterozoic p.)	अति-प्राथमिक काल (Remote Primary p.)	...	इसमें २५ प्रतिशत	अपृष्ठ-वंशीय जीव (Invertebrate)
३. पुरा-जीवीय काल (Paleozoic p.)	प्राथमिक काल (Primary period)	...	इसमें ३० प्रतिशत	पृष्ठ-वंशीय जीव (Vertebrate)
४. मध्य-जीवीय काल (Mesozoic p.)	द्वितीय काल (Secondary period)	...	इसमें ११ प्रतिशत	सरीसृप (Reptiles)
५. पर-वर्ती काल (Cainozoic p.)	तृतीय काल (Tertiary period)	आदि नूतन काल (Eocene p.)	यह युग ६ करोड़ वर्ष पहले शुरु हुआ	जेर वाले स्तनन्धय (Placental mammals)
		आदि नूतन काल (Oligocene p.)	...	छोटे मानव-सदृश वानर (Small Anthropoid Apes)
		मध्य नूतन काल (Miocene p.)	यह युग २ से ४ करोड़ वर्ष पहले शुरु हुआ	महा-वानर के पूर्वज (Ancestors of Great Epes)
	चतुर्थ काल (Quarternary p.)	अति नूतन काल (Pliocene p.)	...	सीधे खड़ होने वाले वानर (Pithecanthropus Arectus)
		प्राति नूतन या हिम काल (Pleistocene or Glacial p.)	यह युग १० से २० लाख वर्ष पहले शुरु हुआ	१. अति प्राचीन मानव २. प्राचीन मानव ३. वर्तमान मानव
		सव-नूतन काल (Holocene p.)	यह युग २५ हजार वर्ष पहले शुरु हुआ	१. फिरन्दर मानव २. चरवाहा मानव ३. कृषक मानव

४. मनुष्यद्वारा समाजमें ऐक्य-भावनाके विकासके चार क्रम

हमने समाजके विकासका सृष्टिके प्रारंभसे आजतकका जो चित्र खींचा है, उसमें बहुत पहले से विकासकी प्रक्रियाको लेकर हम चले हैं। अगर सिर्फ वर्तमान-युग ही को लें, तो हमारे समाजके निम्न विकास-क्रम कहे जा सकते हैं:—

(१) 'ग्राम' की सामूहिक-भावना (Village Community)—हम संसारके अतीतकालके इतिहासमें किसी एक बिंदुपर अंगुली रखकर नहीं कह सकते कि यहांसे समाज शुरू हुआ, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि सर्व-प्रथम समाज तब शुरू हुआ जब 'परिवार' (Family) का प्रारंभ हुआ। परिवारमें पारस्परिक रुधिरके सम्बन्धवालोंकी 'बिरादरी' बनी, बिरादरी से 'कबीले' (Tribe) बने। इस एक 'कबीले' के लोग अजीविकाकेलिये जहां बसगये, वह 'गांव' कहलाया।

गांवमें जो सबका रक्षक था वह मुखिया कहलाया, बाकी सब उसकी आज्ञा का पालन करने लगे। हरेक व्यक्ति हर काम कर लेता था, गांवकी अवस्थामें श्रम-विभागका सिद्धांत अभी अपने विस्तृत रूपमें प्रकट नहीं हुआ था। एक-एक बिरादरी अपना अलग-अलग गांव बसाकर रहती थी, इसलिये एक गांवका दूसरेसे कोई विशेष सम्पर्क न था, हर गांव अपनी हर आवश्यकताको अपने यहां ही पूरा करनेका प्रयत्न करता था। यातायातके साधन नहीं थे—अगर किसी गांवमें ज्यादा अन्न होगया, तो वहीं सड़ जाता था, अगर कम होगया, तो दूसरे गांवोंमें ज्यादा अन्न होने पर भी कम अन्नके गांववाले भूखे मरते थे।

(२) 'नगर' की सामूहिक-भावना (City Community)—ज्यों-ज्यों यातायातके साधन बढ़ने लगे, त्यों-त्यों परस्पर सहयोग की भावना भी बढ़ी, जिनसे अबतक मिलना-जुलना नहीं होता था उनसे मेल-मुलाकात बढ़ी, एकताकी भावना जागी, व्यापार बढ़े। वह छोटा गांव, जहां अन्योंकी अपेक्षा उत्तम साधन थे, बढ़ने लगा, बढ़ते-बढ़ते वही शहर बन गया, जिसमें उत्तम साधन नहीं थे, वह गांव-का-गांव रह गया। जहां बन्दरगाह बन गये, सड़कें खुल गईं, जहां हिफ़ाजतकेलिये इर्द-गिर्द दीवारें बन गईं, व्यापारियोंको व्यापार तथा रक्षाकी सुविधा होगई, वे शहर कहलाने लगे। अभी तक गांवके लोग खूनके रिश्तेसे बन्धे थे, अब नागरिकता के रिश्तेसे बंधने लगे, जैसे गांवमें घर व्यक्तिके आनन्दका, उल्लासका केंद्र था, वैसे अब नगरका वातावरण उसके आनन्दका, उल्लासका केंद्र होगया।

(३) 'सामन्तशाही' की सामूहिक-भावना (Feudal Community)—गांवसे शहरका विकास हुआ, परन्तु साथही गांवसे एक और समुदायका जन्म हुआ जिसे सामन्तशाही कहा जाता है। योरुपके गांवोंमें जो मुखिया लोग थे, वे धीरे-धीरे

गांवके मालिक होगये, बाकी के किसान उनके दास होगये। मुखिया एकप्रकारका 'सामन्त' (Feudal lord) बन गया, ठीक ऐसा जैसे भारतमें 'जमींदार' था। जमींदारके सामने किसानकी हैसियत एक दाससे बढ़कर न थी, ऐसे ही योरुप के सामन्तके सामने किसानकी हैसियत दासकी थी। परन्तु शहरोंमें नागरिकताकी भावना भी साथ-साथ बढ़ रही थी, इस भावनासे मनुष्यको अपने अधिकारोंका ज्ञान हो रहा था। योरुपने सदियोंकी कश्मकशके बाद इस सामन्तशाहीका अन्त किया, भारतने भी स्वतंत्रता प्राप्तिके बाद जमींदारी-प्रथाको समाप्त कर दिया। इसके बाद मनुष्यके समान अधिकारों का युग आया, वह युग जो आज हम सब देख रहे हैं।

(४) 'एक-जातीयता' की सामूहिकभावना (Nation Community)—मनुष्यने रुधिरके सम्बन्धसे एक-दूसरेको अपना कहना शरू किया था, परन्तु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों वह विकसित होता गया, मनुष्य-मनुष्यको अपना निकटका, सम्बन्धी-सा समझने लगा। अभी तक वह दूसरेको दूसरा समझता था, परन्तु सदियोंके इतिहासमेंसे गुजरनेके बाद वह सम्पूर्ण मानव-समाजमें एकताके सूत्रको देखने लगा। अभी मनुष्य मानव-समाजकी एकताको अनुभव करनेके रास्ते पर है, कब वह मानव-जातिकी आधार-भूत सामूहिक एकताको जीवनमें उतार लेगा, यह अभी नहीं कहा जासकता।

५. प्राथमिक तथा वर्तमान समाजमें आधार-भूत भेद

हमने इस अध्यायमें यह जाननेका प्रयत्न किया कि जबसे पृथिवीपर जीवन प्रारंभ हुआ है, तब से विकासके किन-किन क्रमोंमेंसे जीवनको गुज़रना पड़ा। साथ ही हमने यह भी देखा कि मानव-जीवनके विकासका क्या क्रम रहा। किसप्रकार पहले-पहल मनुष्यके अंग-प्रत्यंगका विकास हुआ, किसप्रकार वह पहले-पहल शिकारी जीवन व्यतीत करता था, किसप्रकार शिकारी-जीवनसे निकलकर वह पशु पालने लगा, फिर कृषि, और फिर आज वह नाना-प्रकारके उद्योग-धन्धे करने लगा है।

यह सारा विकास यूं ही नहीं होगया। इस विकासतक पहुंचनेकेलिये मनुष्यको नाना-प्रकारके संगठन बनाने पड़े। किसी समय उसने परिवार बनाया, घर बनाया, किसी समय छोटे-छोटे समूह बनाये, वर्ग बनाये, मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न श्रेणियां बनायीं, भिन्न-भिन्न सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक संगठन बनाये। इन संगठनोंको बनाकर, इनकी सहायतासे मनुष्य विकासकी उस मंजिलपर पहुंचा है जहां आज हम उसे देखते हैं। अगर वह समय-समयपर भिन्न-भिन्न प्रकारके सामाजिक-संगठन न बनाता और अन्य मनुष्योंको अपने साथ न लेता, तो इकला आज वहां न पहुंच पाता जहां वह आज पहुंच गया है। जहां से मनुष्य चला है, और जहां

पहुंच गया है, वहां पहुंचने तक समाज-शास्त्रकी 'केन्द्री-करण से विकेन्द्री-करण' की प्रक्रिया काम करती रही है। हम शेष अध्याय में यही देखनेका प्रयत्न करेंगे कि वह 'केन्द्रीकरण'से विकेन्द्रीकरण'की प्रक्रिया क्या है ?

६. केन्द्री-करणसे विकेन्द्री-करणकी तरफ़
(FROM FUSION TO DIFFERENTIATION)

१. 'प्राणी-शास्त्रीय पहलू' में विकेन्द्री-करण—

प्रारंभके समाजकी रचनामें और आजके समाजकी रचनामें भेद है। शुरू-शुरूमें समाजकी रचना किसप्रकार हुई ? समाजका प्रारंभ अनेक व्यक्तियोंके साथ-साथ रहनेसे हुआ, परन्तु कौन लोग साथ-साथ रहते थे ? साथ-साथ वही लोग रहते थे जो एक ही 'रुधिर'के थे, एक-दूसरेके रिश्तेदार थे, सगे-सम्बन्धी थे। समाजका यही 'प्राणि-शास्त्रीय पहलू' (Biological Side) है। जिन लोगोंका एक-दूसरेकेसाथ रुधिरका सम्बन्ध नहीं था, वे क्यों साथ-साथ रहते ? हां, एक स्थिति ऐसी जरूर थी जिसमें रुधिरका सम्बन्ध न होतेहुए भी लोग साथ-साथ रहसकते थे, और समाजका निर्माण करसकते थे। ऐसी स्थिति तब उत्पन्न होती थी, जब कुछ लोग एक ही 'जमीन' को शिकार, चरागाह या खेतीकेलिये अपना आधार बनाते थे। इस स्थितिमें भी अधिकतर एक रुधिरके लोग ही मिलकर एक समाज बनाते थे, परन्तु हां, ऐसे समुदाय में एक रुधिरके न होतेहुए भी साथ-साथ रहनेकी, और एक समाज बनानेकी सम्भावना होसकती थी। इस दृष्टिसे प्रारंभिक सामाजिक-रचनाका आधार 'एक रुधिर तथा एक जमीन' (Common blood and Common land) कहा जासकता है। एक रुधिर तथा एक जमीनमें जिनलोगोंका स्वार्थ केंद्रित था, उनके एक-साथ रहनेसे प्रारंभिक-समाज का जन्म हुआ।

वह समाज बहुत छोटा-सा था, उस समाजमें व्यक्तिको कोई स्वतन्त्रता न थी, यह नहीं समझा जाता था कि व्यक्तिकी परिवारसे, जात-बिरादरीसे, अपने घराने से, घरके लोगोंसे कोई स्वतन्त्र सत्ता भी होसकती है। परिवार, जात-बिरादरी जो सोचें वही उसे सोचना होता था, जो करें वही उसे करना होता था, परिवार, जात-बिरादरीका जो धर्म हो, वही उसका धर्म था, जो उनकी मान्यताएं थीं, वही उसकी मान्यताएं थीं, 'महाजनो येन गतः स पन्था'—उसके जीवनका मार्ग-निदर्शक था, रुधिरका सम्बन्ध ही उसके समाजका मुख्य आधार था क्योंकि जात-बिरादरीका मतलब ही रुधिरके सम्बन्धसे था। अगर कोई व्यक्ति किसी बिरादरीका है, तो इसका यह स्वयं-सिद्ध अर्थ था कि बिरादरीके रीति-रिवाज, संस्कार, प्रथाएं, उसका उचित-अनुचितका माप-दंड, उसका धर्म, विश्वास—ये सब-कुछ उस व्यक्तिके

लिये बिना ननु-नचके मानना आवश्यक था। बिरादरीने जिस बातकेलिये 'हां' करदी उसकेलिये वह 'न' नहीं कर सकता था, जिस बातकेलिये 'न' करदी, उसकेलिये वह 'हां' नहीं करसकता था। समाजकी इस प्रारंभिक-अवस्थामें व्यक्तिके सब स्वार्थ एक ही जगह केंद्रित थे—एक रुधिरपर आश्रित बिरादरी ही उसकी सर्व-सर्वा थी, वह बिरादरीसे अलग अपनी सत्ताको सोच ही नहीं सकता था। बिरादरीका रंज उसका रंज था, बिरादरीकी खुशी उसकी खुशी थी। इसप्रकारका संगठन उसको बिरादरीसें इसप्रकार बांधेहुए था जैसे शरीरके साथ अंग-प्रत्यंग बंधेहुए हैं। बिरादरी से अलग होकर वह ऐसे अनुभव करता था, जैसे शरीरका कोई अंग जिस्मसे कटकर अलग होजाय। उससमय भिन्न-भिन्न प्रकारके सामाजिक-संगठन नहीं बने थे, जात-बिरादरी ही उसकेलिये सबसे बड़ा संगठन था। बिरादरी ही शासन करती थी, बिरादरी ही शिक्षाका प्रबन्ध करती थी, बिरादरी ही न्याय करती थी, और बिरादरी ही अपराधीको दंड देती थी। शासन, शिक्षा-दीक्षा, न्याय, धर्म, शांति, व्यवस्था तथा मनुष्यकी अन्य आवश्यकताओंकेलिये आजकलकी तरह के भिन्न-भिन्न संगठन नहीं बने थे। ऐसा नहीं था कि हुकूमतकेलिये एक शासन-व्यवस्था बनी हुई है, शिक्षा-दीक्षाकेलिये स्कूल-कालेज खुलेहुए हैं, अपराधियोंको दण्ड देनेकेलिये न्याय-विभाग खुला हुआ है, धर्म-कर्मकेलिये मन्दिर-मस्जिद-गिर्जे बनेहुए हैं, शान्ति स्थापित करनेकेलिये पुलिसका प्रबन्ध है। उस समय ये सब काम, और इस जैसे अन्य सैंकड़ों काम, एकही संगठनद्वारा होता था। बिरादरी ही ये सब व्यवस्था कर देती थी—बिरादरी ही अपराधीको दंड देकर न्यायालयका काम करती थी, बिरादरी ही ब्राह्मण देवताके खाने-पीनेका बन्दोबस्त कर उसे बच्चोंको पढ़ानेके काममें लगाकर स्कूलोंका काम कर देती थी, बिरादरी ही अपने आन्तरिक नियम बनाकर शासनका तथा पुलिसका काम भी कर देती थी।

परन्तु ज्यों-ज्यों समाज अधिकाधिक विकसित होता गया, त्यों-त्यों 'एक रुधिर तथा एक जमीन' से बंधे रहना कठिन होता गया। जबतक जन-संख्या थोड़ी थी, तबतक तो एक रुधिरके, एक जात-बिरादरीके लोग एक जगहपर रह सकते थे, परन्तु ज्यों-ज्यों जन-संख्या बढ़ने लगी, त्यों-त्यों सबका एक ही जगहपर सीमित रहना कठिन होगया। इसके अतिरिक्त भूमिका बन्धन भी ढीला होने लगा। भूमि कबतक, कितनोंको खपा सकती है? जब एक ही जमीनसे ज्यादा लोगोंका गुजारा न होसका, तो वे भूमि छोड़कर तितर-बितर होने लगे—कृषि छोड़कर उद्योग-धंधोंकी तरफ़ मनुष्यका जाना स्वाभाविक होगया। इन सब बातोंका स्वाभिविक परिणाम यह हुआ कि जो बातें अबतक जात-बिरादरीमें ही केन्द्रित थीं, वे उससे एक-एक करके अलग होने लगीं। जब लोग आजीविकाकेलिये जात-बिरादरीसे

दूर-दूर जाकर रहने लगे, तो उनकी आवश्यकताओंको जात-बिरादरी तो पूरा नहीं कर सकती थी। जहां वे रहेंगे, वहींका सामाजिक-संगठन ही तो उनकी आवश्यकताओंको पूर्ण कर सकेगा। इसप्रकार सामाजिक-संगठनकी जो-जो बातें सिर्फ जात-बिरादरीमें केन्द्रित थीं, वे जात-बिरादरीमेंसे टूट-टूटकर अलग होने लगीं, और समाजके विकासके साथ-साथ, हरबातकेलिये अलग-अलग सामाजिक-संगठन बनने लगे। न्यायकेलिये न्यायालयोंके स्वतन्त्र सामाजिक-संगठनका निर्माण हुआ, शिक्षाकेलिये स्कूलों-कालेजोंकी नींव पड़ी, व्यवस्था तथा शान्ति-स्थापना के लिये पुलिसका विभाग बना, अपराधियोंसे समाजको बचानेकेलिये जेलखाने बने—भिन्न-भिन्न बातोंकेलिये भिन्न-भिन्न सामाजिक-संगठन जन्म लेने लगे। इसप्रकार प्रारंभिक असंगठित-समाजसे —उस समाजसे जिसमें लगभग जात-बिरादरीका एक ही संगठन था जो व्यक्तिकी हर आकांक्षाको पूरा करता था—एक संगठित-समाज का जन्म हुआ, उस समाजका जन्म हुआ जिसमें एककी जगह अनेक संगठन थे, और इन अनेक संगठनोंमें हर संगठन दूसरेसे सम्बद्ध होताहुआ भी उससे लगभग स्वतन्त्र था। समाजके विकासकी यह दिशा संगठनके केन्द्रीकरणसे विकन्द्रीकरणकी तरफ बढ़नेकी दिशा थी।

२. 'यांत्रिक तथा सांस्कृतिक-पहलू' का एक-दूसरेसे विकेन्द्रीकरण—

हमने अभीतक सामाजिक-विकासके जिस पहलूपर प्रकाश डाला है वह 'प्राणि-शास्त्रीय पहलू' (Biological factor) कहा जासकता है। रुधिरका संबंध, जात-बिरादरीका संबंध 'प्राणि-शास्त्रीय-तत्व' (Biological factor) ही तो है। हमने देखा कि प्राथमिक-अवस्थासे सभ्य-अवस्थाकी तरफ़ विकसित होताहुआ समाज 'केन्द्री-करण' से 'विकेन्द्री-करण' की तरफ़ जाता है, परन्तु यह समझ लेना जरूरी है कि इस प्रक्रियाका असर समाजके केवल 'प्राणि-शास्त्रीय पहलू' पर ही नहीं होता, समाजके अन्य पहलुओंपर भी यही विकन्द्री-करणका नियम काम करता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि सामाजिक-परिवर्तनोंके तीन कारण हैं। 'प्राणि-शास्त्रीय-तत्व' (Biological factors), 'यान्त्रिक-तत्व' (Technological factors)तथा 'सांस्कृतिक-तत्व' (Cultural factors)। 'प्राणि-शास्त्रीय-तत्व' जात-बिरादरी है। इनके विषयमें हम देख चुके कि ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता जाता है, समाजके भिन्न-भिन्न कार्य, एक व्यक्ति या एक संगठनमें केन्द्रित होनेके स्थानमें, अलग-अलग, स्वतन्त्र रूप धारण करने लगते हैं। यही विकेन्द्रीकरणकी प्रक्रिया 'यान्त्रिक' तथा 'सांस्कृतिक' तत्वोंके विषयमें लागू होती है। 'यान्त्रिक-तत्व'(Technological factor) का अर्थ है—'सभ्यता' (Civilization)।

रेडियो, मोटर, तार—यही तो 'यान्त्रिक-तत्व' हैं, इन्हींको 'सभ्यता' कहा जाता है। इन तत्वोंकी यह विशेषता है कि ये मनुष्यकेलिये अपने उद्देश्यको प्राप्त करनमें 'साधन' हैं। इनका अपना मूल्य कुछ नहीं। मकानका क्या मूल्य है, अगर उसमें कोई रह नहीं सकता, रेडियोका क्या मूल्य है, अगर उससे सुना नहीं जासकता, मोटरका क्या मूल्य है, अगर उसकेद्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुंचा नहीं जासकता ? जितने 'यान्त्रिक-तत्व' हैं, उन्हींको हम 'सभ्यता' (Civilization) कहते हैं, और इनका अपना कोई मूल्य नहीं, इनका मूल्य 'संस्कृति' (Culture) निर्धारित करती है। 'रेडियो' निष्पक्ष-भावसे पड़ा है, उससे कोई गन्दे, अश्लील गाने सुनना चाहे, तो वह सुन सकता है, ईश्वर-भक्तिके गीत सुनना चाहे, तो वह सुन सकता है; यन्त्र नहीं कहता, मैं यही सुनाऊंगा, वह नहीं सुनाऊंगा। यन्त्र तो एक उपयोगी चीज़ है, इसका सदुपयोग होगा, या दुरुपयोग होगा—यह यन्त्रके हाथकी वात नहीं है। यन्त्र, अर्थात् 'सभ्यता' (Civilization) का अच्छा या वुरा उपयोग करना 'संस्कृति' (Culture) का काम है। परन्तु समाजकी प्रारंभिक-अवस्थामें 'सभ्यता' (Civilization) तथा 'संस्कृति' (Culture) का भेद स्पष्ट नहीं होता। समाजकी प्रारंभिक-अवस्थामें जो वस्तु 'सभ्यता' की है, उसीपर 'संस्कृति' भी केन्द्रित होजाती है। प्रारंभिक-समाजमें अगर हल उनकी 'सभ्यता' (Civilization) का एक अंग था, तो उस समाजकी 'संस्कृति' (Culture) भी उसी हल के इर्द-गिर्द केन्द्रित थी। उसको वे सजाते थे, उसकी पूजा करते थे, हल चलानेवाले वैलोंके तिलक लगाते थे, अपनी सम्पूर्ण सांस्कृतिक-कला हल और वैल पर उंडेल देते थे। अगर शिकारकेलिये धनुष-वाणका उपयोग करते थे, तो इन अस्त्रोंके सामने वे सिर भी झुकाते थे। खानेकेलिये अगर किसी जानवरको मारते थे, तो उसे पहले देवतापर चढ़ाते भी थे, उसके गिर्द नाचते-कूदते भी थे। अगर मछलियां पकड़नेकेलिये एक नौकाको लेकर समुद्रमें जाते थे, तो उसे फूल-मालासे सजाते भी थे, चलते समय मन्त्र भी पढ़ते थे। समाजकी उस प्राथमिक-अवस्थामें 'सभ्यता' (Civilization) तथा 'संस्कृति' (Culture) दोनों रले-मिले थे, उनके जो यन्त्र थे, वे निरे यन्त्र न थे, निरे उपयोगी उपकरण न थे, वे यन्त्र उनके लिये जीवनका सर्वस्व थे। आजके विकसित समाजमें 'सभ्यता' (Civilization) तथा 'संस्कृति' (Culture)—इन दोनोंका एक-दूसरेमें 'केन्द्रीकरण' हटता चला जारहा है, आज 'सभ्यता' के जितने साधन हैं, जितने उपकरण और यंत्र हैं, उन्हें सिर्फ़ 'उपयोगिता' (Utility) की दृष्टिसे देखा जाता है, 'संस्कृति' (Culture) की दृष्टिसे नहीं देखा जाता। आज कोई मिलोंपर

मालाएँ नहीं चढ़ाता, उनकी पूजा नहीं करता, मिलको काम करते देखकर नाचने-कूदने नहीं लगता। मिल सिर्फ़ कपड़ा पैदा करनेका साधन है, इसकी इतनी ही उपयोगिता है। वर्तमान विकसित-समाजमें 'साधन' और 'साध्य'—'सभ्यता' और 'संस्कृति' के भेद को समझा जारहा है—इन दोनोंका एक-दूसरेमें 'केन्द्रीकरण' होनेके स्थान में 'विकेन्द्रीकरण' हो रहा है। क्योंकि यह समझा जाने लगा है कि 'साधन' की विशेषता उसकी उपयोगितामें ही है, किसी और बातमें नहीं, इसलिये 'साधनों' की उपयोगिता बढ़ानेके दिनोंदिन प्रयत्न भी हो रहे हैं। मोटरको ही लीजिये। यह यातायातका साधन है। इसकी उपयोगिता बढ़ानेकेलिये हर-साल परीक्षण होरहे हैं, और हर-साल मोटरोंके नये-नये नमूने बन रहे हैं। प्रारंभिक-समाजमें जो 'साधन' थे, उन्हें 'साधन' ही नहीं समझा जाता था, जीवनका सर्वे-सर्वा समझा जाता था, इसलिये उनके 'साधनों' में सदियां गुज़र जानेपर भी परिवर्तन नहीं होसका। बैलगाड़ी वैसी-की-वैसी हज़ारों सालोंसे चलती रही, उसमें परिवर्तन नहीं हुआ। ऐसी ही अन्य साधनोंकी बात है। परन्तु ज्यों-ज्यों समाजका विकास हुआ, ज्यों-ज्यों समझा जाने लगा कि 'उपयोगिता' (Utility) दूसरी चीज है वस्तुका 'मूल्य' (Value) दूसरी चीज है, 'सभ्यता' दूसरी चीज है 'संस्कृति' दूसरी चीज है, 'सभ्यता' का काम 'उपयोगिता' निर्धारण करना है 'संस्कृति' का काम 'मूल्य' निर्धारण करना है, 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' अलग-अलग रह सकती हैं, त्यों-त्यों समाजमें 'विकेन्द्रीकरण' की प्रक्रिया प्रकट होती गई, और समाज प्राथमिक-अवस्थासे निकलकर वर्तमान अवस्थाकीतरफ़ बढ़ता गया। हम अगले तीन अध्यायोंमें 'प्राणि-शास्त्रीय तत्वों' (Biological factors), 'यान्त्रिक-तत्वों' (Technological factors) तथा 'सांस्कृतिक-तत्वों' (Cultural factors) का इसी दृष्टिसे वर्णन भी करेंगे। इस प्रकरणमें हमने देखा कि समाज ज्यों-ज्यों प्राथमिक-अवस्थासे वर्तमान सभ्य-अवस्थामें आता जाता है, त्यों-त्यों ये तत्व किसप्रकार 'केन्द्री-करण' की प्रक्रियामेंसे 'विकेन्द्री-करण' की तरफ़ समाजको लाते जाते हैं।

३. विकेन्द्रीकरण से हानि—

जबतक समाज प्रारंभिक-अवस्थामें था, तबतक सामाजिक-संगठनमें 'केन्द्रीकरण' की प्रवृत्ति थी, ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता गया, वर्तमान सभ्यताकी तरफ़ पग बढ़ाता गया, त्यों-त्यों सामाजिक-संगठनमें 'विकेन्द्रीकरण' की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इसका व्यक्तिके जीवनपर एक गहरा प्रभाव दीखने लगा। जबतक व्यक्तिका जीवन बिरादरीमें ओत-प्रोत था, तबतक वह बिरादरीकी हर-बातमें ज्यादा-से-ज्यादा भाग लेता था, तब भाई-भाईके ज्यादा नजदीक था, रिश्तेदारीको बहुत महत्व देता

था। आज भी ऐसे परिवार हैं जो घरसे तीन पैसेकी चिट्ठी आनेपर कि उनका कोई सगा-सम्बन्धी बीमार है, कलकत्ते या बम्बईसे फ़ैजाबादकेलिये नौकरी-नाकरी छोड़कर चल देते हैं, उन्हें अपने रिश्तेदारोंका दुःख अपना दुःख अनुभव होता है—इसलिये अनुभव होता है क्योंकि वे जात-बिरादरीके सूत्रमें अपनेको मालामें मनकेकी तरह पिरोयाहुआ अनुभव करते हैं। इसके मुकाबिलेमें ऐसे भी लोग हैं जो भाई के मरजानेकी तार पाकर भी यह सोचकर सब्र कर लेते हैं कि आखिर मरना तो सबको है ही, अब गांवमें घर जानसे क्या फ़ायदा, वे अपने घर बैठे चिट्ठी लिखकर ही अपनी सान्त्वना प्रकट कर देना काफ़ी समझते हैं। जीवन उथला होता चला जा रहा है, एक-दूसरेकेसाथ प्रेम-सूत्रमें बांधनेवाले बन्धन शिथिल होते जारहे हैं, जबानी जमा-खर्च बढ़ता जारहा है। कोई रिश्तेदार भी बीमार हो, तो हम टैलीफ़ोनपर उसका हाल-चाल पूछना काफी समझते हैं, बीमारीका हाल देरमें पता चले, तो दिखानेको कहते हैं कि पता क्यों नहीं दिया, ठीक वक्तपर पता चल जाय, तो कोई बहाना करके टल जानेका प्रयत्न करते हैं। किसीकी किसीकेलिये हमदर्दी नहीं रही—इतना विकन्द्रीकरण होगया है कि हरेक अपने लिये होगया है।

४. सामाजिक-विकासमें विकेन्द्रीं-करणकी स्थिति आती ही है—

यह स्थिति, कितनी ही अरुचिकर क्यों न हो, 'केन्द्रीभूत' प्राथमिक असभ्य सामाजिक-संगठनसे, 'अकेन्द्री-भूत' वर्तमान सभ्य सामाजिक-संगठन की तरफ आनमें आती ही है—इसलिये आती है क्योंकि समाजके उत्तरोत्तर विकासमें मनुष्य जात-बिरादरीमें ही बंधाहुआ नहीं रहसकता। आजीविकाकेलिये ही 'रुधिर तथा भूमि'के सम्बन्धका सूत्रपात हुआ था, जब ये सम्बन्ध आजीविकाके प्रश्नको हल करनमें असमर्थ होजाते हैं, तब मनुष्य इन सम्बन्धोंको तोड़कर अलग हो जाता है, अपने जीवनके क्षेत्रको विस्तृत करने लगता है, उसकेलिये जात-बिरादरी के संकुचित दायरेमेंसे निकलना और विस्तृत-क्षेत्रकेसाथ अपना संबंध स्थापित करना आवश्यक होजाता है—सामाजिक-विकासकी इस दिशाको वह चाहे भी तो नहीं रोक सकता, आजीविकाके प्रश्नसे विवश होकर वर्तमान सभ्य-मनुष्यको अपने जीवनकी दिशा बदलनी ही पड़ती है।

५. विकेन्द्रीकरण से लाभ—

जात-बिरादरीमें ही हर-बातके केन्द्रित न रहने से लाभ भी है। अबतक बिरादरीका भूत इसप्रकार व्यक्तिपर सवार रहता था कि उसकी स्वतन्त्र सत्ता ही शून्यके समान थी। बिरादरीका हुक्का-पानी बन्द कर देना, रोटी-बेटीका रिश्ता तोड़ देना एक ऐसी धमकी थी जिसके सामने मनुष्यका व्यक्तित्व पनपने नहीं पाता था। यह जरूरी नहीं कि मनुष्य वही-कुछ सोचे जो बिरादरी सोचती है, वही माने

जो विरादरी मानती है, उसी वातपर विश्वास करे जो विरादरीका विश्वास है, उसी धर्मपर आस्था रखे जिसपर विरादरीकी आस्था है। यह होसकता है कि विरादरी एक रास्तेपर चले, और वह गलत रास्ता हो, व्यक्ति दूसरे रास्तेपर चले, और वह सही रास्ता हो। अगर यह वात सम्भव है, तो व्यक्तिको विरादरीसे स्वतन्त्र होकर सोचने और करनेका मौका क्यों न मिले? क्या हम देखते नहीं कि हिंदू-समाजमें ही किसी समय विदेश-यात्राको पाप समझा जाता था, जो समुद्र पार होआता था, उसे जाति-च्युत कर दिया जाता था, उसका हुक्का-पानी वन्द कर दिया जाता था, उसके साथ रोटी-वेटीका संवंध तोड़ दिया जाता था। मूर्ख लोगोंका विरादरीपर राज्य था, वे किसीको दूसरे रास्ते से चलने ही नहीं देते थे—ऐसी अवस्थाको अभीष्ट नहीं कहा जासकता।

परन्तु जैसा हमने देखा, सामाजिक-विकासमें यह अवस्था टिकती नहीं है। समाजके विकासकी दिशा ही केन्द्रीकरणकी जगह विकेन्द्रीकरणकी तरफ है। यह विकेन्द्रीकरण हमारे किये नहीं होरहा, आप-से-आप होरहा है, समाजका जिन सिद्धान्तोंसे विकास होता है, उन सिद्धान्तोंसे यह विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया स्वतः होती चली जारही है। हमारे समाजमेंसे अछूतपन मिट रहा है। क्यों मिट रहा है? इसलिये, क्योंकि सामाजिक-विकास जिस दिशामें जारहा है, उसमें यह टिक ही नहीं सकता। जात-पातके वन्धन भी टूटते जारहे हैं, इसीलिये टूटते जारहे हैं क्योंकि वे भी सामाजिक-विकासके सामने ठहर नहीं सकते। ये संगठन तव वने थे, जव रुधिरका सम्वन्ध समाजकी रचनाका आधार-भूत सम्वन्ध था। जो अपने रुधिरका है वह अपना, दूसरे रुधिरवाला दूसरा है, पराया है, उससे अपनेको वचानेकी आवश्यकता है। जव जात-विरादरीको वनानेवाला रुधिर का वन्धन जाता रहा, तव इन भेद भावोंका धीरे-धीरे मिटते जाना अनिवार्य होगया। इस प्रक्रियामें समाज-सुधारक उतना काम नहीं करता जितना सामाजिक-विकासके आन्तरिक नियम काम करते हैं, तो भी समाज-सुधारकोंका इस प्रक्रियाको वेग देनेमें वड़ा भारी हाथ रहता है।

विकेन्द्रीकरणकी प्रक्रिया व्यक्तिको जात-विरादरीके वन्धनोंसे मुक्त कर देती है, उसके स्वतन्त्र-व्यक्तित्वको पनपनेका अवसर देती है, वह विरादरी के दाकयानूसी न्यायसे शासित होनेके वजाय एक संगठित न्याय-व्यवस्थासे शासित होने लगता है, विरादरीके संकुचित-क्षेत्रमें पलनेके वजाय विशाल-समाजके विस्तृत क्षेत्रमें पलने लगता है, उसमें शिक्षा-दीक्षा लेने लगता है, उसका व्यक्तित्व उभरने लगता है। सामाजिक-विकासकी यही दिशा है। आधुनिक-युगमें इस दिशाको कई लोगोंने पलटनेका यत्न किया। हिटलर और मुसोलोनीने व्यक्तिको विकासका

अवसर देनेके स्थानमें फिर जात-बिरादरीके भूतको खड़ा किया—मेरी जाति, मेरे खूनके लोग, हमारी बिरादरी ! बिरादरीके सांचेमें ढालकर व्यक्तिके दृष्टि-कोणको फिर उन्होंने संकुचित बनाने का प्रयत्न किया, उसे छोटे क्षेत्र से विशाल-क्षेत्रमें ले जानेके बजाय फिरसे विशाल-क्षेत्रसे छोटे क्षेत्रमें लानेका प्रयत्न किया, परन्तु ये प्रयास सामाजिक-विकासकी प्रक्रियाकेसाथ ठीक नहीं बैठे, अतः सफल नहीं हुए।

७. प्राथमिकसे वर्तमानतक सामाजिक-विकासकी प्रक्रिया

सामाजिक-विकासकी जिस प्रक्रियाका हमने उल्लेख किया है, उसे संक्षेपमें कहना चाहें तो हम कह सकते है कि:—

(१) पहले-पहल प्राथमिक-समाजमें राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, रीति-रिवाज, प्रथा आदि सबका केन्द्र सिर्फ एक संगठन होता है। वह संगठन 'एक रुधिर तथा एक भूमि'के कारण उत्पन्न होता है, व्यक्ति उस संगठन का अभिन्न अंग होता है। वह जात-बिरादरीका संगठन होता है ।

(२) 'रुधिर तथा भूमि'का संबंध भी आजीविकाको आधार बनाकर खड़ा हुआ होता है, इसलिये जब रुधिर तथा भूमिका संबंध आजीविकाके प्रश्नको हल नहीं कर सकता, तब व्यक्ति धीरे-धीरे रुधिर और भूमिके संबंधको छोड़ने लगता है, बिरादरीसे अपने व्यक्तित्वको पृथक् करने लगता है । व्यक्तिके बिरादरीमें मिट जानेकी प्रक्रिया 'केन्द्री-करण' (Fusion) की प्रक्रिया है, व्यक्तिके बिरादरीसे अपनेको पृथक् करलेनेकी प्रक्रिया 'विकेन्द्री-करण' (Differentiation) की प्रक्रिया है। जहां व्यक्ति बिरादरीसे अलग हुआ, वहां राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, रीति-रिवाज, प्रथा आदि सब, जो बिरादरीमें केन्द्रित थे, अब बिरादरीमें केन्द्रित नहीं रहते, इनका अलग-अलग विकास होने लगता है, विकेन्द्रीकरण होने लगता है। अलग-अलग विकास क्यों होने लगता है ? इसलिये, क्योंकि पहले बिरादरी जो-कुछ करती थी, अपनी संकुचित-दृष्टिसे करती थी, इस बातमें बिरादरीका भला है, इसमें नुक्सान है—इसलिये यह ठीक, और यह गलत ! परन्तु जब व्यक्ति बिरादरीसे अपनेको भिन्न अनुभव करने लगा, तब बिरादरीका भला सोचनेके स्थानमें व्यक्तिकी भलाई सोचनेका प्रश्न मुख्य होगया, यह दृष्टि सामने आगई कि व्यक्तियोंका भला करके ही समाजका भला होसकता है। इस दृष्टिके सामने आते ही राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, रीति-रिवाज, प्रथा आदिके सम्बन्धमें भी दृष्टि बदल गई। इनका संगठन बिरादरीके संकुचित दृष्टि-कोणसे न होकर, हर-व्यक्तिको समाजकी स्वतन्त्र इकाई मानकर होने लगा, यह सोचकर होने लगा कि मनुष्यने अपनी जात-बिरादरीसे ही नहीं बंधे

रहना, संसारकी विशाल बिरादरीमें, जिसमें खूनका, जात-पातका, रंगका—किसी प्रकारका भेद नहीं है, उस बिरादरी से बंधे रहना है।

(३) जब यह विशाल दृष्टि आयी तब भिन्न-भिन्न प्रकारके संगठनोंका निर्माण हुआ। राज्य-व्य वस्था कायम हुई, आर्थिक-संगठन अलग-अलग बनने लगे, धार्मिक भावनाको मूर्त-रूप देनेकेलिये मन्दिर-मस्जिद-गिर्जे बने, शिक्षाकेलिये स्कूल-कालेज खुले। समाजके विकासकी प्रारंभिक अवस्थामें यह दृष्टि नहीं थी। तब व्यक्तिकी स्वतंत्र सत्ता ही नहीं थी। तब तो व्यक्ति बिरादरीका अंग-मात्र था। जब वह आजीविकाकी तलाश करताहुआ एक-रुधिरका संबंध माननेवाली बिरादरीसे टूटा, तब उसकी देख-भाल कौन करता? एक दृष्टिसे तो वह एक संकुचित बिरादरीसे निकलकर एक बड़ी बिरादरी बनानेके मार्गपर चल पड़ा। पहले तो उसके साथके दरवाजेवाले ही उसके अपने थे, सगे-सम्बन्धी थे, जिनसे उसके विचार नहीं मिलते थे उनकेसाथ भी जबर्दस्ती उसे भाई-चारा रखना होता था, इसके सिवाय कोई रास्ता ही नहीं था, परन्तु अब बिरादरीसे हटकर वह स्वतन्त्र-विचार रखता हुआ दूसरोंसे संपर्क स्थापित कर सकता था, सैंकड़ों मील दूर रहनेवाले व्यक्तियों के साथ, एक-समान विचार होनेके कारण, खूनका रिश्ता न होनेपर भी एकताका अनुभव कर सकता था। इस नवीन विशाल-जीवनकेलिये पहली बिरादरीमें केन्द्रित राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था काम नहीं दे सकती थी, इसलिये एक नवीनप्रकारकी व्यवस्थाकी आवश्यकता पड़ी—ऐसी व्यवस्था, जो बिरादरीके संकुचित बन्धनोंसे बंधी न हो, जो स्वतंत्र तथा निष्पक्ष-दृष्टिसे वैय्यक्तिक भलेको मुख्यता देसकती हो। इसप्रकार जब वर्तमान-समाजका आविर्भाव हुआ, तब राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक आदि संगठन बिरादरीके बन्धनोंसे मुक्त होगये, इन्हें स्वतंत्र-विकासका अवसर मिला, इनका मानो 'विकेन्द्रीकरण' हुआ।

समाजमें 'विकेन्द्रीकरण' की यह प्रक्रिया अभी चल ही रही है। कोई समय था, जब परिवारकी बिरादरीसे पृथक् कोई सत्ता नहीं थी। माता-पिता जहां चाहें वहां शादीकेलिये 'हां' कर देना लड़के-लड़कीका धर्म था। आज भी लगभग यही व्यवस्था जारी है। धीरे-धीरे यह अनुभव किया जारहा है कि विवाहमें लड़के-लड़की की रजामन्दी भी जरूरी है। पहले इस बात पर लोग हंसते थे, इसलिये हंसते थे क्योंकि उससमय परिवारकी स्वतंत्र सत्ता नहीं थी, परिवार बिरादरीमें ही केन्द्रित था, इसका 'विकेन्द्रीकरण' नहीं हुआ था। 'विकेन्द्रीकरण' का सूत्र-पात तो व्यक्तिकी स्वतन्त्र-सत्ताको माननेका परिणाम है। प्रायमिक-अवस्थाके मानव-समाजमें अब भी परिवारकी बिरादरीसे पृथक् सत्ता नहीं है। यह बात धर्मके सम्बन्ध में भी कही जासकती है। अभी हमारे समाजमें धर्मका भी समाजसे 'विकेन्द्रीकरण'

नहीं हुआ, जिस हदतक नहीं हुआ, उस हदतक हम सामाजिक-विकासकी प्राथमिक-अवस्थामें हैं। जैसे विरादरीके युगमें यह समझा जाता है कि विरादरी जो बात कहे वह प्रमाण है, बिरादरीसे अलग कोई आवाज़ उठा ही नहीं सकता, वैसे हममेंसे अनेक लोग यह समझते हैं कि हम सव लोग एक धर्मकी ही वात कर सकते हैं, किसीने दूसरे धर्मकी वात की नहीं कि हमने उसे चीरा-फाड़ा नहीं। हिन्दू चाहता है, सव हिन्दू होकर रहें, मुसलमान चाहता है, सव मुसलमान होकर रहें, ईसाई चाहता है सब ईसाई होकर रहें। परन्तु यह होसकने-जैसी वात नहीं है। समाजकी प्राथमिक-अवस्थामें तो यह बात ठीक थी—विरादरीका ही धर्म हर-व्यक्तिका धर्म था, परन्तु सामाजिक-विकासमें एक अवस्था आती है जब हरेक संगठन 'विकेन्द्रित' होजाता है, और यही 'विकेन्द्रीकरण' जव धर्मके क्षेत्रमें आयेगा, तब किसी धर्मका वाधित रूपसे माना जाना संभव नहीं होसकेगा। इस दृष्टिसे स्पष्ट है कि जो समाज धर्मकेलिये जबर्दस्ती करते हैं, वे 'विकेन्द्रीकरण' की प्रक्रियामेंसे नहीं गुज़रे, अभी विकासकी प्राथमिक-अवस्थामें ही हैं अतः विकासके मार्गपर चल रहे समाजकी धर्मके विषयमें दृष्टि 'धर्म-निरपेक्ष-राज्य' (Secular State) की ही हो सकती है।

ज्यों-ज्यों व्यक्ति विरादरीके वंधनसे मुक्त होता जारहा है, त्यों-त्यों, अवतक विरादरीके वन्धनमें वंधेहुए, उसमें केन्द्रित, जो भिन्न-भिन्न राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक संगठन थे, वे भी विरादरीके नियन्त्रणसे अलग अपनी स्वतंत्र सत्ता वनाते चले जा रहे हैं—इसलिये स्वतंत्र सत्ता वनाते चले जारहे हैं क्योंकि अव व्यक्तिको उन संगठनोंकी आवश्यकता है जो विरादरीके वन्धनोंसे स्वतंत्र हों, और जो संसारके असंख्य स्वतंत्र व्यक्तियोंकी समस्याको हल कर सकें।

प्रश्न

१. जीवनके विकासके पांचों युगोंका चित्र द्वारा वर्णन कीजिये।
२. 'परवर्ती युग' (Cainozoic period) के 'तृतीय' तथा 'चतुर्थ' कालका वर्णन करतेहुए इन युगोंमें मनुष्यका विकास कव हुआ यह वतलाइये।
३. मनष्यके शरीरमें कौन-से परिवर्तन हुए जिनसे सामाजिक-विकास हुआ?
४. मानवके विकासमें कौन-कौन-सी सभ्यताओंने जन्म लिया?
५. प्राथमिक तथा वर्तमान सभ्य-समाजका आधारभूत भेद क्या है?
६. सामाजिक-विकासकी प्रक्रिया 'केन्द्रीकरण' से 'विकेन्द्रीकरण' कीतरफ (From Fusion to Differentiation) है—इसका क्या अर्थ है?
७. विकेन्द्रीकरणके क्या-क्या लाभ हैं, और इसकी क्या-क्या हानियां हैं?
८. यह दर्शाइये कि प्रारंभिक-समाजसे विकसित-समाजका जव निर्माण होता है तव 'प्राणि-शास्त्रीय-तत्वों' तथा 'यान्त्रिक' एवं 'सांस्कृतिक-तत्वों' में 'केन्द्रीकरणसे विकेन्द्रीकरण' की प्रक्रिया काम करती है।
९. 'धर्म-निरपेक्ष-राज्य' (Secular State) के प्रश्नपर प्रकाश डालिये।

[१०]

सामाजिक-परिवर्तनों पर प्राणि-शास्त्रीय प्रभाव

(BIOLOGICAL FACTORS AFFECTING SOCIAL CHANGE)

आज हमारा समाज जो-कुछ है, वह एक हजार वर्ष पहले वैसा नहीं था, आज से एक हजार वर्ष पीछे भी उसका रूप कुछ और ही होजायगा। यह तो दूरकी बात हुई। हमारे देखते-देखते इतने भारी परिवर्तन होगये जिनकी किसीको स्वप्नमें भी कल्पना नहीं थी। चालीस वर्ष पहले रूस क्या था, और आज क्या होगया? १९१४ के प्रथम विश्व-युद्धसे पूर्व और उसके बादके विश्वमें जमीन-आसमानका अन्तर होगया है। भारत १९४७ में स्वतंत्र हुआ। इससे पहले और बादके भारतमें कितना परिवर्तन आता जारहा है। दूसरे विज्ञान जिन घटनाओं का अध्ययन करते हैं, उनमें भी परिवर्तन होता रहता है, परन्तु जितना परिवर्तन समाजमें होता है, उतना तो कहीं दीखता ही नहीं। ज्योतिष्-शास्त्र जिन तारोंका अध्ययन करता है, भौतिकी-शास्त्र जिन पार्थिव-तत्वोंका अध्ययन करता है उनमें परिवर्तन आया, परन्तु फिर भी ये तारे वही तारे हैं, ये पृथिवी, ये जल, ये वायु वही-के-वही हैं, इनमें परिवर्तनका आना न आनेके बराबर है, इसलिये इन शास्त्रोंका अध्ययन उतना कठिन और दुर्गम नहीं जितना समाज-शास्त्रका अध्ययन है। समाज-शास्त्र जिस समाजका अध्ययन करता है, वह अध्ययन करते-करते ही बदलता चला जाता है। आज समाजकी जो रचना है वह कल नहीं, जो कल है वह परसों नहीं। इसीलिये अन्य शास्त्रोंमें भविष्यद्-वाणियां हो सकती हैं, यह कहा जासकता है कि कब चन्द्र-ग्रहण होगा, कब सूर्य-ग्रहण होगा, उनके आधार-भूत तत्व स्थिर हैं, इन स्थिर-तत्वोंके आधारपर आगे और पीछेकी बातें कही जा सकती हैं, परन्तु समाज-शास्त्र का आधार अस्थिर है, समाज हरसमय बदलता रहता है, इसलिये समाज-शास्त्री निश्चिततौरपर नहीं कह सकता, आगे क्या होगा, और क्या नहीं होगा। समाजमें इतने परिवर्तन कहांसे आजाते हैं, इन परिवर्तनोंके क्या कारण हैं?

समाजके इन परिवर्तनोंके दो कारण हैं—एक वे कारण जिनपर मनुष्यका कोई अधिकार नहीं, दूसरे वे कारण जिनपर मनुष्यका अधिकार है। जिन कारणों पर मनुष्यका कोई अधिकार नहीं, अगर है तो बहुत थोड़ा, जो मनुष्यके बसकी बात नहीं, वे उस परिस्थितिसे संबंध रखते हैं जो प्रकृतिकी तरफ़ से पैदा किये गये ह; जिन कारणोंपर मनुष्यका अधिकार है, जो मनुष्यके बसकी बात है, वे उस परिस्थितिसे सम्बन्ध रखते हैं जो प्रकृतिकीतरफ़से नहीं, मनुष्यकीतरफ़से पैदा किये गये हैं।

प्रकृतिकीतरफ़से पैदा कियेहुए ऐसे कारण जो सामाजिक-परिवर्तनों को प्रभावित करते हैं, दो तरह के हैं—'भौतिक' (Physical) तथा 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological)। मनुष्यकीतरफ़से पैदा कियेहुए कारण भी दो तरहके हैं—'कला-कौशल-सम्बन्धी' (Technological) तथा 'सांस्कृतिक' (Cultural)। हम इस अध्यायमें 'भौतिक' (Physical) तथा 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) कारणोंका, तथा अगले अध्यायोंमें 'कलाकौशल-सम्बन्धी' (Technological) एवं 'सांस्कृतिक' (Cultural) कारणोंका विवेचन करेंगे।

१. सामाजिक-परिवर्तनोंपर भौतिक-कारणोंका प्रभाव

जिस 'भौतिक-परिस्थिति' (Physical environment) में हम हैं, उसमें लगातार परिवर्तन होरहे हैं, हरसमय उथल-पुथल मच रही है। कुछ परिवर्तन तो प्रकृतिमें धीरे-धीरे, क्रमशः होरहे हैं। पहले पृथिवी गर्म थी, धीरे-धीरे ठंडी हुई। पहले यहांकी गर्मीके कारण किसीप्रकारका जीवन रह ही नहीं सकता था, ज्यों-ज्यों भूमिका पृष्ठ-भाग शीतल होता गया, त्यों-त्यों ऐसी अवस्थाएं उत्पन्न होने लगीं जिनमें जीवन रह सकता था। परन्तु इन धीरे-धीरे होनेवाले भौतिक-परिवर्तनों के अलावा कई भौतिक-परिवर्तन आकस्मिक भी होते हैं। कभी तूफ़ान आया, कभी भूचाल आया, कभी बाढ़ आगई, वर्षाका प्रचंड प्रकोप, सूका, बरफ़ पड़जाना—ये-सब आकस्मिक परिवर्तन हैं। इन सब धीरे-धीरे तथा आकस्मिकतौरपर होने वाले मनुष्यके अनुकूल तथा प्रतिकूल भौतिक-परिवर्तनोंमें मनुष्यका कोई हाथ नहीं, ये प्रकृतिकी देन हैं। मनुष्य इन परिवर्तनोंकेसाथ अपना साम्य स्थापित कर सका, अपनेमें इनके अनुकूल परिवर्तन लासका, तो इनकी मार सह गया, इनको सहनेयोग्य अपनेमें परिवर्तन न कर सका, तो इनकी मार खागया। ये परिवर्तन इकतरफ़ा थे, सिर्फ प्रकृतिकीतरफ़से थे, मनुष्य केवल हाथ-पर-हाथ धरकर निस्सहाय हो इनको देख भर सकता था।

परन्तु 'भौतिक-परिस्थिति' (Physical environment) में कुछ

परिवर्तन ऐसे भी हैं जिनको लानेमें मनुष्यका हाथ है। एकजगह कोयलेकी कान है, पैट्रोलके कुएँ हैं। वहां शहर वस गये, फैक्टरियां खड़ी होगई, मकानोंपर मकानोंका तांता बन्ध गया। मनुष्यने कोयला सब निकाल लिया, पैट्रोल खींचकर कुओंको सुका दिया। अब वही जगह जहां शहर वस गये थे वीरान होने लगी, मकानोंमें उल्लू बोलने लगे। इन जगहोंके सामाजिक-विकासमें भी 'भौतिक-परिस्थिति' (Physical environment) के कारण परिवर्तन आया, परन्तु यह तूफ़ान, भूचाल आदिकी तरह इकतरफ़ा परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। इस परिवर्तनमें जहां प्रकृतिका हाथ है, वहां मनुष्यका भी हाथ है। इन परिवर्तनोंको मनुष्य और प्रकृति दोनोंने उत्पन्न किया, परन्तु होसकता था कि अगर पैट्रोल सूक जाता, कोयला खत्म हो ज़ाता, तो मनुष्य हाथ-पर-हाथ धर कर बैठजाता। परन्तु नहीं, विज्ञानकी दिनोंदिनकी उन्नतिसे इस परिस्थितिपर भी मनुष्य काबू पाता जा-रहा है। ज्यों-ज्यों मनुष्य उन्नति करता जारहा है, त्यों-त्यों परिस्थितिका खिलौना बने रहनेके स्थानमें परिस्थितिपर अधिकार प्राप्त करता जारहा है। कोयला, पैट्रोल खत्म होजाएगा, तो वह अणु-शक्तिकीतरफ़ आशाभरी निगाहसे देखने लगेगा। अगर अणु-शक्तिका औद्योगिक-क्षेत्रमें प्रयोग होने लगा, तो १८ वीं शताब्दीमें जो 'औद्योगिक-क्रांति' हुई थी, उससे भी जबर्दस्त 'औद्योगिक-क्रांति' का युग इस बीसवीं सदीमें प्रारंभ होगा। इस सबसे यह स्पष्ट है कि 'भौतिक-परिस्थिति' (Physical environment) का, जिसमेंसे कुछ मनुष्यके हाथमें है, कुछ उसके हाथमें नहीं है परन्तु धीरे-धीरे आती जारही है, सामाजिक-विकासपर भारी प्रभाव पड़ा और पड़ रहा है।

२. 'प्राकृतिक-चुनाव' का प्राणि-शास्त्रीय नियम
(Biological Law of Natural Selection)

जीवनके विकासपर 'प्राणी-शास्त्रके नियमों' (Biological laws) का भी प्रभाव पड़ा है, इससे कोई इन्कार नहीं करसकता। जीवनके विकासके सम्बन्धमें 'प्राणी-शास्त्र' का मुख्य-नियम 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) का नियम है। वह नियम क्या है ?

प्राणी-शास्त्रका प्राकृतिक-चुनावका नियम (Biological law of natural selection)—

(१) जीवनके विकासके सम्बन्धमें प्राणी-शास्त्रके नियमका प्रतिपादन डार्विन ने किया। उसका कथन था कि 'परिस्थिति' (Environment) प्राणीमें 'परिवर्तन' (Variation) उत्पन्न करती है, और वह 'परिवर्तन'

'अनुसंक्रान्त' (Inherit) हो जाता है। परन्तु 'परिस्थिति' प्राणीमें 'परिवर्तन' कैसे उत्पन्न करती है? इसी सम्बन्धमें डार्विनने एक नवीन कल्पनाको जन्म दिया। उसने कहा कि प्रकृतिमें वहुत अधिक उत्पादन होरहा है। एक वृक्षके हजारों, लाखों वीज होते हैं, और सब उगकर जंगल-का-जंगल खड़ा कर सकते हैं। छोटे-छोटे जानवर बड़ी भारी संख्यामें सन्तान उत्पन्न करते हैं। एक कुतिया एक सालमें दो बार बच्चे देती है, और एक-एक बारमें आठ-आठ पिल्लोंको जन्म दे डालती है। प्रकृति इतनी उदारतासे जो उत्पादन करती है उसकी इतनी ही उदारतासे रक्षा नहीं करती। अगर जितने प्राणी पैदा हुए हैं सब बचे रहें, तो संसारमें एक प्राणीसे ही सारी सृष्टि भर जाय। तो फिर क्या होता है ?

(२) इन प्राणियोंमें अपनी प्राण-रक्षाकी होड़ चल पड़ती है। इनके पास भोजनकी मात्रा भी परिमित होती है, उसी परिमित भोजनपर सबको निर्वाह करना होता है, बस छीना-झपटी चल पड़ती है। इस छीना-झपटी का नाम ही 'मत्स्य-न्याय' या 'जीवन-संग्राम' (Struggle for Existence) है। जो ताकतवर होता है वह दूसरेके मुंहका टुकड़ा दबा नोचता है, जो कमजोर होता है वह मार खाजाता है, जीवन-संग्राममें टिक नहीं सकता, मर जाता है। परन्तु अब प्रश्न है--ताकतवर किसे कहते हैं ?

(३) ताकतवर उसे कहते हैं जो विषम परिस्थितिकेसाथ अपनेको अनुकूल बना लेता है। परिस्थिति प्रतिकूल है, और प्राणी अपनेको उसके अनुकूल नहीं बना सका, तो वह टिक थोड़े ही सकता है। परिस्थितिकेसाथ प्राणी अपनेको अनुकूल कैसे बनाता है? जंगलमें चारा बिल्कुल नहीं है, ऊंचे-ऊंचे वृक्ष हैं, ऊंची गर्दन करके ही भोज्य-पदार्थ प्राप्त किया जासकता है। इस परिस्थितिमें जो प्राणी ऊंची गर्दन करके पेड़ोंतक पहुँच सकेंगे वे जीवित रहेंगे, बाकी मर जायेंगे। यह प्रक्रिया एक सन्ततिमें चली, दूसरीमें चली, होते-होते इस प्राणीकी सन्ततिकी गर्दन लम्बी होने लगी। इसप्रकार विषम परिस्थितिकेप्रति अपनेको अनुकूल बना लेनेको प्राणी-शास्त्रकी परिभाषामें 'अनुकूलन' (Adaptation) कहते हैं। यह 'अनुकूलन' दो तरह से होता है। एक तो परिस्थितिके अनुसार धीरे-धीरे प्राणीमें परिवर्तन होता जाता है, चारा ऊंचाई पर मिलनेसे जीराफ़की गर्दन लम्बी हो गई, डरके मारे भागनेसे हरिणकी टांगें पतली-पतली होगईं। विकासवादकी परिभाषामें इसप्रकारके 'अनुकूलन' (Adaptation) से प्राणीमें जो 'परिवर्तन' आता है, उसे 'क्रमिक-परिवर्तन' (Continuous Variation or Modification) कहते हैं क्योंकि यह 'परिवर्तन' क्रमसे, धीरे-धीरे आता है। दूसरे प्रकारका

'अनुकूलन' (Adaptation) धीरे-धीरे नहीं होता, क्रमसे नहीं होता, वह 'आकस्मिक' होता है, इस 'अनुकूलन' को 'आकस्मिक-परिवर्तन' (Discontinuous Variation or Mutation) कहते हैं। 'क्रमिक-परिवर्तन' (Modification) का अभिप्राय तो यह है कि वह धीरे-धीरे हुआ, कुछ इस संततिमें हुआ, कुछ अगलीमें हुआ, होता-होता आखीरी सन्ततिमें बहुत अधिक बढ़ गया। 'आकस्मिक-परिवर्तन' (Mutation) से अभिप्राय ऐसे परिवर्तनसे है, जो एकदम होगया, उसका क्रमिक-विकास नहीं हुआ। वह एकदम कैसे होगया इसका कुछ कारण नहीं पता चलता। जो लोग मानते हैं कि सृष्टिमें शुरू-शुरूमें एकदम भिन्न-भिन्न योनियां पैदा हुईं, वे विकासवादियोंसे कह सकते हैं कि भिन्न-भिन्न 'योनियां' पैदा होनेमें और 'आकस्मिक-परिवर्तन' में कोई आधार-भूत भेद नहीं है। खैर, इसप्रकार जिन प्राणियोंमें विषम-परिस्थितियोंका मुकाबिला करनेके 'परिवर्तन' (Modification and Mutation) होजाते हैं, वही बलवान समझे जाते हैं, बाकी निर्बल समझे जाते हैं।

(४) जो प्राणी बलवान हैं, वे प्रकृतिमें चुन लिये जाते हैं, बाकी नष्ट होजाते हैं। अगर सभी चुन लिये जाते तब तो सृष्टि कीड़े-मकौड़ोंसे भर जाती। बलशालीका चुनाव और निर्बलका परित्याग प्रकृतिका नियम है। बलशाली प्राणियोंमें जो 'परिवर्तन' (Modifications and Mutations) आये, वे अगली-से-अगली सन्ततिमें 'अनुसंक्रान्त' (Inherit) होते चले गये, और ऐसे प्राणियों को प्रकृतिने छांट लिया, बाकी जीवन-संग्राम में नष्ट होगये। कुछ भोजन न मिलने से समाप्त होगये, कुछ बीमारीसे मर गये, कुछ आपसकी कश्मकशमें, मार-धाड़में राम-नाम-सत्त होगये। यह प्रक्रिया 'बलशालीका बचरहना' (Survival of the fittest) या 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) कहाती है। बलशाली प्राणीके चुनावका अर्थ है, निर्बलका निर्यास—इसलिये इसे 'निर्यसनकी प्रक्रिया' (Process of elimination) भी कहा जासकता है।

३. मालथस ने प्राणि-शास्त्रीय नियमको मनुष्य समाजपर घटाया

हमने देखा कि प्राणी-शास्त्रका मुख्य नियम 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) का नियम है। हमने यह भी देखा कि इसमें प्रकृतिका असीम उत्पादन, असीम उत्पादन तथा भोजन-सामग्रीकी कमीसे जीवन-संग्राम, जीवन-संग्राममें बलशालीका बच रहना, निर्बलका मार-काट, भूख, बीमारीसे समाप्त होजाना—ये सब प्रक्रियाएँ चलती हैं। इन-सब प्राणि-शास्त्रीय नियमोंको मनुष्य-

समाजपर भी घटाया जा सकता है। यह आश्चर्यकी बात है कि डार्विनद्वारा इन नियमों को प्राणियोंपर घटाये जानेसे पहले इंग्लैंडके ईसाई पादरी मालथस (Malthus) ने इन नियमोंको १७९८ में मनुष्य-समाजपर घटाया था। उसने अपना नाम बिना दिये एक पुस्तक प्रकाशित की थी जिसका नाम था—'Essay on the Principle of Population as it affects the future improvement of Society'। इस ग्रन्थमें मालथस जिन तीन परिणामोंपर पहुंचा वे निम्न थे :—

(१) जन-संख्याकी वृद्धि जीवन-यापनके साधनोंद्वारा सीमित है,

(२) जन-संख्याकी प्रवृत्ति जीवन-यापन के साधनोंकी अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़नेकी ओर होती है। इसे प्रकृति 'निश्चित निरोध' (Positive checks) के नियमोंद्वारा रोकती है। मानव-समाज में 'निश्चित निरोध' (Positive checks) के प्राकृतिक-नियम के अलावा मनुष्य 'प्रतिबन्धक-निरोध' (Preventive checks) का उपयोग कर सकता है।

(३) भूत-कालमें जो नियम जन-संख्याकी वृद्धिको रोकता रहा है, भविष्यमें भी वही लगेगा। भूत-कालमें प्रकृति 'निश्चित-निरोधों' (Positive checks) द्वारा—युद्ध, बीमारी, अकाल, भुखमरी, शिशु-हत्या आदिद्वारा—जन-संख्या और जीवन-यापनके साधनोंमें समता स्थापित करती रही है, परन्तु ये उपाय दुःख पहुंचानेवाले हैं, अतः मनुष्यको अपनी वुद्धिका प्रयोग करके 'प्रतिबन्धक-निरोधों' (Preventive checks) द्वारा जनसंख्याका नियंत्रण करना चाहिये।

४. मालथस के सिद्धान्तकी आलोचना

हमने देखा कि प्राणी-शास्त्रके जिन नियमोंको हम प्रकृतिमें काम करताहुआ देखते हैं, उन्हीं नियमोंको मालथसने मनुष्य-समाजमें काम करता हुआ देखा, और खतरेकी घंटी बजायी। उसने कहा कि अगर जन-संख्याकी बढ़तीको न रोका गया, तो जैसे निम्न प्राणि-जगत्में संख्या के बढ़जाने और जीवन-यापनके साधनोंके कम होने के कारण जीवन-संग्राम चल रहा है, कोई किसीको मार रहा है, कोई बीमारी और भूखसे मर रहा है, वैसे मनुष्य-समाजका भी यही हाल होगा। हमने देखना है कि मालथसकी ये बातें मनुष्य-समाज पर कहांतक लागू होती हैं। हम मालथसके तीनों निष्कर्षोंको क्रमशः लेकर उनकी परीक्षा करेंगे।

मालथस का पहला निष्कर्ष—

मालथसका पहला निष्कर्ष यह है कि जन-संख्याकी वृद्धि जीवन-यापनके साधनोंद्वारा सीमित है। उदाहरणार्थ, हमारे पास १० आदमियोंके खानेलायक

भोजन है, और १० ही खानेवाले आदमी हैं। अगर हमारी जन-संख्या १० से २० होजाती है, और भोजन उतना ही रहता है, तो स्पष्ट है, अगर सब भरपेट खाना खाना चाहेंगे, तो केवल १० ही खासकेंगे, बाकी १० भूखे मर जायेंगे, या सब आधा-आधा खायेंगे, और सभी कमजोर हो जायेंगे। पशुओं, वनस्पतियोंमें ऐसा ही होता है, जंगली जातियोंमें भी बच्चे-बूढ़े-कमजोर भूखसे मर जाते हैं। अगर बढ़ती हुई जन-संख्याको मरनेसे बचाना है, तो जीवन-यापनके साधनोंको बढ़ाना होगा। किसीतरहसे भी बढ़ायें, यह मानना पड़ेगा कि जन-संख्या उपलब्ध खाद्य-सामग्रीसे आगे नहीं बढ़ सकती, बढ़ेगी तो मुसीबतमें फंस जायगी। सिद्धान्त रूपसे मालथसका पहला निष्कर्ष ठीक जान पड़ता है। प्रकृतिमें भी यह 'प्राणि-शास्त्रीय नियम' (Biological law) काम करता है, मनुष्य समाजमें भी काम करता है।

मालथस का दूसरा निष्कर्ष—

मालथसका दूसरा निष्कर्ष यह है, कि जन-संख्या जीवन-यापनके साधनोंकी अपेक्षा अधिक तेजीसे बढ़ती है। मालथसने इस नियमको गणितके अंकोंमें रख दिया है। वह कहता है कि अगर जन-संख्या की वृद्धिपर किसीप्रकारकी रोक न लगायी जाय, तो जनसंख्या 'गुणात्मक-क्रम' (Geometric Progression) से बढ़ती है, जीवन-यापन के साधन 'अंक-गणितीय-क्रम' (Arithmetical Progression) से बढ़ते हैं। अगर यह जानना चाहें कि पच्चीस-पच्चीस वर्षके अन्तरके बाद जन-संख्या कितनी बढ़ जायगी, और उसके साथ-साथ भोजन-सामग्री कितनी बढ़ती जायगी, तो 'गुणात्मक' तथा 'अंक-गणितीय'-क्रम निम्न-प्रकार काम करेगा :—

(i) जन-संख्याको 'क' मान लिया जाय, तो 'क' २५-२५ सालके बाद '२क'—'४क'—'१६क'—'३२क'—'६४क'—इसप्रकार जन-संख्या बढ़ेगी।

(ii) भोजन-सामग्रीको 'ख' मानलिया जाय, तो 'ख' २५-२५ सालके बाद '२ख'-'३ख'—'४ख'—'५ख'—'६ख'—इसप्रकार भोजनकी वृद्धि होगी।

इसका यह अभिप्राय हुआ कि पहले २५ वर्षके बाद जन-संख्या 'क' से '२क' होगई, भोजन-सामग्री भी 'ख' से '२ख' होगई, परन्तु अगले २५ सालके बाद जन-संख्या '२क' से '४क' होगई, परन्तु भोजन-सामग्री '२ख' से केवल '३ख' हुई। इससे आगे जन-संख्या '४क' से '८क' होगई, भोजन-सामग्री '३ ख' से केवल '४ख' हुई! ज्यों-ज्यों समय बढ़ता जाता है, जन-संख्या तथा भोजन-सामग्रीमें अन्तर भी बढ़ता जाता है। परन्तु पहले हम देख आये हैं कि जन-संख्याकी वृद्धि जीवन-यापनके साधनोंद्वारा सीमित रहती है। यह सीमित कैसे रहती है? इसका उपाय मालथस ने यही बतलाया है कि जब जन-संख्या

बहुत बढ़ने लगती है, तब प्रकृति अपने हथियार तेज़कर जन-संख्याका ह्रास करने लगती है, और उसे उसी सीमामें लेआती है जिसमें भोजन-सामग्री होती है। प्रकृतिके ये हथियार 'निश्चित-निरोध' (Positive checks) हैं, 'निश्चित' इसलिये क्योंकि इनसे जन-संख्याका कम होजाना निश्चित होजाता है। वे 'निश्चित-निरोध' (Positive checks) क्या हैं? वे हैं—युद्ध, बीमारी तथा दुर्भिक्ष। जब जन-संख्या बहुत बढ़ जाती है, तब लड़ाइयां शुरू होजाती हैं जिनमें लाखों आदमी मारे जाते हैं। पिछले १९१४ के विश्व-व्यापी युद्धके बाद इतना जबर्दस्त इन्फ्लुएैन्जा फैला था जिससे करोड़ों मौतके घाट उतर गये। १९५३ में बंगालमें दुर्भिक्ष पड़ा, उसमें न जाने कितने स्त्री-पुरुष कालके ग्रास हुए। प्रकृतिमें जब खानेवालोंकी संख्या सीमा का उल्लंघन कर जाती है तब युद्ध, बीमारी, दुर्भिक्ष आकर इस समस्याका हल कर देते हैं। मालथस का कहना था कि यह ज़रूरी नहीं कि युद्ध, बीमारी, दुर्भिक्षसे ही जन-संख्या कम हो। ये तो अन्धी प्रकृतिके हथियार हैं। मनुष्यकेपास बुद्धि है। वह अपनी बुद्धिसे ऐसे साधनोंका प्रयोग कर सकता है जिनसे जन-संख्या सीमाका उल्लंघन ही न करे। ये उपाय 'प्रति-बन्धक-निरोध' (Preventive checks) के हैं। छोटी आयुमें शादी न की जाय, संयमसे रहा जाय, कम बच्चे पैदा किये जांय, और विवाह तबतक न किया जाय जबतक बच्चोंके भरण-पोषण योग्य काफ़ी आमदनी न हो। इन 'प्रति-बन्धक' उपायोंमें आजकल 'परिवार-नियमन' (Family planning) की योजनाएँ भी बनायी जारही हैं जिनमें 'प्रति-बन्धक' निरोधके उपायोंका सहारा लेकर स्त्री-पुरुष सन्तानको नियन्त्रित करते हैं। मालथसका कहना था कि २५ सालके अर्सेमें जनसंख्या पहलेसे दुगुनी होजाती है, भोज्य-सामग्री दुगुनी नहीं होती—इसलिये युद्ध, बीमारी, भुखमरी न फैलें, इसकेलिये जन-संख्याको रोकनेके कृत्रिम उपायोंका इस्तेमाल करना आवश्यक है, नहीं तो मानव-समाजको भयंकर विपत्तियां आघेरती हैं।

हमने विचार करना है कि मालथसका उक्त 'प्राणिशास्त्रीय-नियम' (Biological law) मानव-समाज पर घटता है, या नहीं? इस नियम की जान इस बातमें है कि भोजन-सामग्री उस अनुपातमें नहीं बढ़ती जिस अनुपातमें जन-संख्या बढ़ती है। परन्तु क्या यह बात ठीक है? हम देख चुके हैं कि पशु-पक्षी-वनस्पति भी अपरिमित मात्रा में बढ़ते हैं। मनुष्य तो पशु-पक्षी-वनस्पति सब-कुछ खाता है। जब ये अपरिमित मात्रा में बढ़ते हैं, तब कैसे कहा जासकता है कि भोज्य-सामग्री सीमित रहती है? मछलियों, मुर्गियोंके बढ़नेकी कोई सीमा है? अगर ये बेतहाशा बढ़ती हैं, तो मनुष्यको भोजनकी क्या कमी रह सकती है? इसके अतिरिक्त

मालथसने जब अपने नियमका प्रतिपादन किया था, तब इंगलैंडको जन-संख्या बहुत बढ़ रही थी, और खानेको इतना नहीं मिल रहा था। परन्तु उसे नहीं पता था कि उसीके समयमें इंगलैंडमें जो 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) हो रही थी, उसके फल-स्वरूप उत्पत्तिके साधन भी बढ़ रहे थे, और उनके बढ़नेके साथ-साथ भोज्य-सामग्री की वृद्धि की संभावनाएं भी बढ़ रही थीं। 'औद्योगिक-क्रांति' से कृषिके संबंधमें जो-जो नवीन आविष्कार हुए उनसे भोज्य-पदार्थोंकी मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई। कई-कई देश तो इतना उत्पादन करने लगे कि उन्हें समझ ही नहीं पड़ा कि वे अपनी अतिरिक्त-उत्पत्तिका क्या करें। यातायातके साधनोंसे, जहां उत्पत्ति कम हुई वहां अनाज भेज दिया गया, परन्तु भेजनेके बाद भी इतना बच रहा जिसे पड़े-पड़े सड़ना पड़ा। ब्रिटिश-साम्राज्य में १८९१ से १९३२ तक जन-संख्यामें जितनी वृद्धि हुई, भोज्य-सामग्रीमें उससे तिगुनी-चौगुनी वृद्धि हुई। १८९१ से १९२१ तक मनुष्योंकी जन-संख्याकी वृद्धिकी अपेक्षा चौगुने पशु उत्पन्न हुए। ये पशु खाद्य-सामग्री ही तो थे। १९३५ के लगभग लाखों टन मछलियां समुद्रमें फेंक दी गईं और लाखों टन काफ़ी तथा अनाज जला दिया गया। आज खाद्य-पदार्थोंके उत्पादनपर प्रतिबन्ध लगाये जारहे हैं। चाय और काफ़ीकी उपज पहलेसे १५ फ़ीसदी कम की जाय—इसप्रकारके नियम बनते हैं। ये सब क्यों हो रहा है? इसीलिए, क्योंकि यद्यपि जन-संख्याकी वृद्धिके सम्बन्धमें मालथसका नियम ठीक था, यह बात ठीक थी कि अगर कोई प्रतिबन्ध न आपड़े, तो २५ सालमें किसी देशकी जन-संख्या लगभग दुगुनी होजाती है, तो भी खाद्य-सामग्रीके विषयमें उसका 'अङ्क-गणितीय-नियम' (Law of Arithmetical Progression) ठीक नहीं था—इसलिये ठीक नहीं था क्योंकि औद्योगिक-क्रांति तथा विज्ञानने उत्पादनके जो नये साधन जुटा दिये उनकीतरफ़ मालथसका ध्यान नहीं गया था।

मालथसका तीसरा निष्कर्ष—

मालथसका तीसरा निष्कर्ष यह था कि प्राणी-जगत्का 'जीवन-संग्राम' का नियम जैसे अबतक मनुष्य-समाजमें काम करता रहा है, इसीतरह आगे भी काम करता रहेगा। प्राकृतिक-नियम यह है कि जन-संख्याकी बढ़ती को प्रकृति युद्ध, रोग, दुर्भिक्ष आदि साधनोंसे रोकती रहती है। अभीतक तो जन-संख्या इतनी नहीं बढ़ी, परन्तु आगे-आगे इसके भयंकर तौरसे बढ़नेकी संभावना है, और ज्यों-ज्यों यह बढ़ेगी, त्यों-त्यों महा-भयंकर प्रलयंकारी संग्राम होंगे, शहरों-के-शहर तबाह करनेवाली महामारियां फैलेंगी, लोग भूखसे तड़प-तड़पकर मरेंगे। ज्यों-ज्यों जन-संख्या बढ़ेगी, त्यों-त्यों मृत्यु-संख्या भी बढ़ेगी—भले ही वह लड़ाईसे हो, बीमारीसे हो, या दुर्भिक्ष से हो। संक्षेप में, मालथसका तीसरा निष्कर्ष यह था कि जितनी जन्म-दर

(Birth rate) बढ़ेगी, उतनी मृत्यु-दर (Death rate) भी बढ़ेगी—पीछे ऐसा होता चला आया है, आगे ऐसा होता रहेगा। यह प्रकृतिका प्राणि-शास्त्रीय नियम है, प्राणि-शास्त्रीय इसलिए कि पशु-पक्षी-वनस्पति में यह काम कर रहा है, मनुष्यमें भी यह काम करता है, इसलिये हमारा यह परम कर्तव्य है कि हम 'प्रतिबंधक-निरोधों' (Preventive checks) द्वारा जन्म-दरको कम कर दें। प्रकृति और मनुष्यके साधनों में क्या भेद है? प्रकृति तो मृत्यु-दर बढ़ाकर जन्म-दर कम कर देती है, मनुष्य जन्मपर प्रतिरोध लगाकर जन्म-दर कम कर सकता है। मृत्यु बढ़ाकर जन-संख्या कम करनेकी अपेक्षा जन्मपर प्रतिरोध लगाकर जन-संख्या कम करनेका उपाय निस्सन्देह कम दुःख देनेवाला है।

मालयसके समय ऐसे लोग मौजूद थे जो उससमय के विज्ञानके चमत्कारोंको देखकर भविष्यद्वाणियां करने लगे थे कि अब मानव-समाजके सुखका समय आनेवालाहै, दुःखके दिन दूर होनेवाले हैं, वह दिन दूर नहीं जब सबको भरपेट खाने को मिलेगा, आरामसे रहनेको मिलेगा। ऐसे ही भविष्यद्वक्ताओंमें गौडविन (Godwin) तथा कनडौरसेट (Condorcet) थे। मालयसने कहा कि विज्ञान भले ही कितनी उन्नति क्यों न करले, भूमिमें उत्पादनकी शक्ति परिमित है, और अगर जन-संख्याको किसी सजग प्रयत्नसे न रोका गया, तो ऐसा दिन आये बग़ैर नहीं रहेगा, जब मनुष्यको खानेको पर्याप्त नहीं मिलेगा, वह सुखका नहीं, दुःखका दिन होगा। परन्तु मालयस की यह बात कि पीछे जो-कुछ हुआ है वही आगे होनेवाला है, ग़लत साबित हुई। पीछे जन-संख्या बढ़ती रही और युद्ध, बीमारी और दुर्भिक्ष से बढ़ी हुई जन-संख्याको प्रकृति खत्म करती रही, परन्तु आगे जन-संख्या तो बढ़ेगी, परन्तु यह जरूरी नहीं कि युद्ध, बीमारी और दुर्भिक्ष के शस्त्रोंका ही प्रयोग हो। हम देख रहे हैं कि युद्धको सदाके लिये समाप्त करनेकेलिये संयुक्त-राष्ट्र-संघकी स्थापना होचुकी है, धीरे-धीरे मनुष्य इसी ध्येयकीतरफ़ एक-एक कदम आगे बढ़ा रहा है। बीमारीका मनुष्य काफ़ी मुकाबिला कर रहा है। पहले कभी हर राज्यमें युद्ध-सचिव हुआ करते थे, स्वास्थ्य-सचिव नहीं होते थे, परन्तु आज हर राज्य में स्वास्थ्य-विभाग खुल गया है। कभी चिकित्साका अभिप्राय जादू-टोना होता था, आज उच्च-कोटिकी चिकित्साकी शिक्षा हर देशमें दी जा रही है। पहले घर-घर टाय-फ़ायड, चेचक, हैजेसे लोग मरा करते थे, आज इन बीमारियोंसे कोई इना-गिना ही मरता है। सुमेरियाकी सभ्यताका विनाश मलेरियाके कारण हुआ, आज ऐसे स्थानोंमें जहां मलेरियाका राज्य था, मच्छरोंका बीज-नाश कर दिया गया है। ऐसी हालतमें मालयसका डर निराधार सिद्ध हुआ है। आज युद्ध होते भी हैं, तो उनमें मनुष्योंकी संख्या उतनी नहीं मरती जितनी पहले-के आमने-सामनेके युद्धोंमें मरती

थी, युद्धोंकी एक नई विद्या उत्पन्न होगई है—युद्ध हों, और थोड़े-से-थोड़े आदमी मरें—यह नई विद्या निकल आयी है। बीमारीके विषयमें भी रोगका इलाज करनेकेबजाय रोगको पैदा न होनेंदेनेकीतरफ़ ध्यान बढ़ता जारहा है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि मालयसका कथन सर्वथा ग़लत था। जो पिछड़े हुए देश हैं उनमें मालयसके नियम ही काम कर रहे हैं। एशियाके देशोंमें अब भी जन-संख्या खूब बढ़ रही है, साथ ही मृत्यु-संख्या भी खूब बढ़ रही है। प्राणी-शास्त्र का नियम —खूब पैदा करो और खूब मरो—भारत, चीन आदि निम्न-स्तरके देशोंमें पूरा-पूरा घट रहा है। ज्यों-ज्यों ये देश सभ्यताकी दृष्टिसे उन्नति करते जायेंगे, ज्यों-ज्यों बीमारियोंपर विजय पाते जायेंगे, कृषिके वैज्ञानिक साधनोंका प्रयोग करते जायेंगे, अनाजका अधिक उत्पादन करने लगेंगे, त्यों-त्यों ये भी प्रकृतिके क्रूर पंजेसे छूटते जायेंगे, त्यों-त्यों इन देशोंकी भी मृत्यु-संख्या कम होती जायगी।

मालयसने कहा था कि अगर मनुष्य प्रकृतिके कठोर प्रहारोंसे—युद्ध, बीमारी, भुखमरीसे—बचना चाहता है, तो उसे जन-संख्याको रोकने के 'प्रतिबन्धक निरोधों' (Preventive checks) का प्रयोग करना पड़ेगा। मनुष्यने इन कृत्रिम-निरोधोंका प्रयोग किया। योरुप-अमरीकामें जीवनका स्तर इतना ऊंचा हो गया कि हरेक आदमी सोच-समझकर शादी करने लगा, बड़ी उम्रमें शादी करने लगा, थोड़ी सन्तान पैदा करने लगा ताकि जो सन्तान हो उसकी अच्छी देख-भाल होसके, उसको अच्छा खानेको मिले, अच्छा रहनेको मिले। इससे स्वभावतः 'जन्म-दर' (Birth rate) कम होगई। इसके साथ ही आधुनिक चिकित्साके उपायोंसे मनुष्य पहलेसे ज्यादा स्वस्थ रहने लगा, बीमारियोंका सफल इलाज करने लगा, 'मृत्यु-दर' (Death rate) भी स्वभावतः कम होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि जन-संख्याके सम्बन्धमें अबतक जो 'प्राणि-शास्त्रीय-नियम' (Biological law) काम कर रहा था, उसकी जगह एक दूसरा नियम काम करने लगा। अभीतक जन-संख्याके नियन्त्रणमें 'उच्च जन्म-दर' तथा 'उच्च मृत्यु-दर' (High birth rate and high death rate) का नियम काम कर रहा था, इसीसे जन-संख्या बहुत ज्यादा नहीं बढ़ पाती थी, अब 'कृत्रिम-निरोधों' के कारण जन-संख्याका नियन्त्रण 'न्यून जन्म-दर और न्यून मृत्यु-दर' (Low birth rate and low death rate) द्वारा होने लगा। यद्यपि यह दूसरा नियम मालयसके 'प्रतिबन्धक-निरोधों' (Preventive checks) के सिद्धान्तका ही परिणाम था फिर भी इस नियमका प्रतिपादन मालयसने नहीं किया था।

४. न्यून 'जन्म-दर' तथा न्यून 'मृत्यु-दर'का सिद्धान्त

इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृति में जो नियम काम कर रहा था, वनस्पति-पशु-पक्षीमें जो नियम काम कर रहा था, वह था—खूब उत्पत्ति और खूब विनाश। एक पौधेसे कितने ही पौधे पैदा होते हैं, और जिसतरह बाढ़कीतरह वे पैदा होते हैं उसीतरह बाढ़कीतरह ही वे नष्ट भी होजाते हैं। छोटे-छोटे कीट-पतंग-पशु लार-की-लार पैदा करते हैं, परन्तु उनमेंसे कितने बचते हैं? मनुष्यकी भी यही हालत है। इसीहालतको देखकर मालथसने कहा था कि प्रकृतिका जन-संख्याको नियंत्रित करनेका नियम है—'उच्च जन्म-दर परन्तु साथ ही उच्च मृत्यु-दर'!

परन्तु ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता गया, मनुष्य प्राथमिक-अवस्थासे आगे बढ़ने लगा, पशु-स्तरसे मनुष्य-स्तरकीतरफ़ जाने लगा, त्यों-त्यों यह नियम भी पलटने लगा। असभ्य, अशिक्षित, निम्न-स्तरके मनुष्योंमें तो प्रकृतिका नियम ही काम करता है। उनमें खूब बच्चे पैदा होते हैं, परन्तु बच्चोंकी रक्षाके साधन उनके पास नहीं होते इसलिये इन बच्चोंमेंसे थोड़े ही बच पाते हैं, जो बच जाते हैं उन्हें जब बीमारियां आघेरती हैं, तब चिकित्साके उत्तम साधन न होनेके कारण वे बीमारियोंके शिकार होजाते हैं, उनमेंसे भी थोड़े ही बचते हैं। निम्न-स्तरके मानव-समाजमें, 'अधिक-उत्पत्ति और अधिक-विनाश' का प्राणि-शास्त्रीय नियम, वही नियम जिसे 'बलशालीका बच रहना, निर्बलका मर मिटना' (Survival of the fittest) कहते हैं, जिसे दूसरे शब्दों में 'प्रकृतिद्वारा बलशालीका चुनाव'—'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) कहते हैं, जिसे 'निर्बलका निर्यसन' (Elimination of the weak) कहते हैं, काम करता है, इसी नियमको मालथसने मनुष्य-समाजमें काम करताहुआ देखा था। परन्तु विकसित मानव-समाजमें यह नियम काम नहीं करता। विकसित मानव-समाज धीरे-धीरे प्रकृतिपर विजय पाने लगता है, उसमें 'प्राकृतिक-नियमों' (Natural laws) के स्थानमें 'सामाजिक नियम' (Social laws) काम करने लगते हैं, उसमें मालथसके बतायेहुए 'निश्चित-निरोधों' (Positive checks) की जगह मालथसके ही बतायेहुए 'प्रतिबन्धक-निरोध' (Preventive checks) काम करने लगते हैं, उसमें प्रकृति जैसा चाहती है वैसा चुनाव—'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection)—नहीं होता, उसमें मनुष्य जैसा चाहता है वैसा चुनाव—'सामाजिक-चुनाव' (Social selection)—होता है। निम्न-स्तरके प्राणियोंमें बल-शाली बच रहता है, निर्बल मर जाता है, परन्तु मनुष्यके क्षेत्रमें यह प्राणि-शास्त्रीय नियम उस निर्दयता और क्रूरतासे काम नहीं करता। इस क्षेत्रमें व्यक्ति

अपनेको समाजके ऊपर छोड़ देता है, इसलिये व्यक्ति-रूपसे कमजोर होताहुआ भी समाजके बलको पाकर कमजोर भी जिन्दा रहता है। प्रकृतिमें परस्पर-सहयोगकी भावना काम नहीं करती, परन्तु मनुष्यके क्षेत्रमें परस्पर-सहयोगकी, एक-दूसरेकी सहायताकी, एक-दूसरेकी रक्षाकी सामाजिक-भावना पैदा होजाती है। व्यक्तिकी रक्षाका काम हर व्यक्तिका अलग-अलग न होकर समाजका होजाता है, इसलिये विकसित-मानव-समाजमें मालथसका 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर' का नियम काम करनेके स्थानमें, इससे उलटा, 'निम्न जन्म-दर और निम्न मृत्यु-दर' का नियम काम करने लगता है।

जब पहले-पहल जन-गणना करनेपर पता चला कि उच्च जन्म-दरके स्थानमें निम्न जन्म-दर होने लगी है, तब कई देशोंमें आतंक छा गया। कहां तो मालथसको यह डर था कि भविष्यमें जन-संख्या सीमातीत होजायगी, इतनी होजायगी जिसे खिला सकना असंभव होजायगा, कहां उल्टी गंगा बहने लगी, यह डर लगने लगा कि अगर इसी अनुपात में जन्म-दर गिरने लगी, तो जन-संख्या समाप्त होजायगी। इन देशोंने जन-संख्याके 'प्रतिबन्धक-निरोधों' (Preventive checks) के विरुद्ध आवाज उठायी। उन्होंने कहना शुरू किया कि छोटी आयुमें शादी करनी चाहिये, हरेक व्यक्ति को देशके हितमें शादी करनी चाहिये, अधिक-से-अधिक सन्तान उत्पन्न करनी चाहिये, जो ज्यादा बच्चे पैदा करे उसे इनाम देना चाहिये। उन्होंने कहा कि अगर इसप्रकार जातिमें उत्पत्ति-दर कम होने लगी, तो जाति 'आत्म-घात' (Racial suicide) कर बैठेगी। परन्तु इन लोगोंका यह डर एक भ्रम था। जन-गणनाके साथ-साथ यह भी पता लगा कि जहां-जहां जन्म-दर कम होरही थी, वहां-वहां मृत्यु-दर भी कम होरही थी। अगर जन्म-दर कम होनेके बाद मृत्यु-दर पहले जैसी ऊंची बनी रहती, तब तो जातिके नष्ट होजाने का डर होसकता था, परन्तु जन्म-दरके साथ-साथ मृत्यु-दर भी घटने लगी--इसका परिणाम यह हुआ कि जन-संख्या पहलेकी तरह ही बढ़ती रही, परन्तु प्रकृतिके भयंकर थपेड़े खानेसे मनुष्य-समाज बच गया। भिन्न-भिन्न देशोंकी मनुष्य-गणनाओं को देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसप्रकार जन्म-दरके घटनेके साथ-साथ मृत्यु-दर भी घटने लगी। १८७१ से लेकर १९३३ तक की पश्चिमीय-योरुपकी जन्म-दर प्रति हजार व्यक्ति प्रतिवर्ष जो पहले २५ तथा ३८ के बीचमें थी वह २० तथा १४ के बीच रहगई। इसी अर्सेमें मृत्यु-दर भी जो पहले १८ और २८ के बीच थी गिरकर १० और १६ होगई। इसप्रकार जन्म-दर और मृत्यु-दरके एक-साथ गिरनेका परिणाम यह हुआ कि जन-संख्या कम होनेके स्थानमें १९१४ के विश्व-युद्ध से पहलेकी शताब्दीमें पहलेसे लगभग दुगुनी होगई। गत ७०-८० वर्षों

966

की जन-गणनाके आधारपर एक बिल्कुल नवीन नियम सामने आया। पहले-पहल फ़्रांसमें इस बातको अनुभव किया गया कि जन्म-दर कम होरही है। फिर एकदम १८७८ में इंग्लैंडमेंभी अनुभव किया जाने लगा कि जन्म-दर घट रही है। धीरे-धीरे स्वीडन, डेनमार्क, हालैंड तथा आस्ट्रियामें भी यह पता चला कि जन्म-दर कम होती चली जारही है। कहनेका मतलब यह कि जहां-जहां पाश्चात्य-सभ्यताकी पहुँच थी, सब जगह जन्म-दर कम होरही थी। यह एक अभूत-पूर्व घटना थी। अबतक प्रकृतिमें जन्म-दर अधिक देखी गई थी, परन्तु अब अचानक जन्म-दर गिरती दीख पड़ी। इससे सब जगह त्रास छागया, परन्तु, जन-गणनाका और अधिक अध्ययन करने पर पता चला कि गिरती जन्म-दरकेसाथ एक दूसरी अभूत-पूर्व घटना घट रही थी। वह घटना थी मृत्यु-दरके भी गिरने की, खास कर जितनी संख्यामें बच्चे पहले मरा करते थे उतनी संख्यामें अब वे नहीं मर रहे थे। १९४३ की गणनासे पता चला कि ब्रिटेनमें बच्चोंकी मृत्यु-दर १५४ प्रति हजारसे गिरकर ४९ प्रति हजार रह गई थी, अमरिकामें ५० प्रति हजार और न्यूजीलेंडमें ३५ प्रति हजार रह गई थी। जिन-जिन देशोंकी जन्म-दर गिरती जारही है, उनकी गणनाका अध्ययन करनेपर पता चलता है कि उनकी मृत्यु-दर भी गिरती जारही है। इसके विपरीत जिन देशोंकी मृत्यु-दर बढ़ी हुई है, उनकी जन्म-दर मृत्यु-दर की अपेक्षा बढ़ी हुई है। १८९१-१९०० में हंगरीकी मृत्यु-दर २९.९ प्रति हजार थी, तो जन्म-दर ४०.६ प्रति हजार थी; १९०१–०५ में फ़्रांसकी मृत्यु-दर २५.८ प्रति हजार थी, तो जन्म-दर ३५.३ प्रति हजार थी; १९०१–०५ में डेनमार्ककी मृत्यु-दर १४.८ थी, तो जन्म-दर २९.० प्रति हजार थी; इसीसमय संयुक्त-राष्ट्रकी मृत्यु-दर १५.६ प्रति हजार थी, तो जन्म-दर २७.७ प्रति हजार थी। १९५१ की जन-गणनाके अनुसार भारतमें १९४१-५० में जन्म-दर ५० प्रति हजार प्रतिवर्ष थी, तो मृत्य-दर २७ प्रति हजार थी, मृत्यु-दरसे जन्म-दर १३ प्रति हजार प्रतिवर्ष ज्यादा थी। कहनेका मतलब यह है कि जन्म-दर और मृत्यु-दर का पारस्परिक-संबंध है। जन्म-दर बढ़ती है, तो मृत्यु-दर भी बढ़ जाती है, जन्म-दर घटती है, तो मृत्यु-दर भी घट जाती है। जब प्रकृतिके 'निश्चित-निरोधों' (Positive checks) से जन-संख्याका नियन्त्रण होता है, तब जन्म-दर बढ़ने और मृत्यु-दर के भी बढ़नेका नियम काम करता है, जब मनुष्यद्वारा 'प्रतिवन्धक–निरोधों' (Preventive checks) से जन-संख्याका नियन्त्रण होता है, तब जन्म-दरके घटने और उसके साथ ही मृत्यु-दरके भी घटनेका नियम काम करने लगता है। असलमें, जन-संख्याका सदा सन्तुलन रहता है। पहले जब मनुष्यका अधिक विकास नहीं हुआ था, तब सन्तुलनके इस कार्यको प्रकृति करती थी, अधिक उत्पत्ति होती थी, वह बहुत ज्यादा न हो जाय इसलिये युद्ध, बीमारी,

भुखमरी इस उत्पत्तिको सीमाका उल्लंघन करनेसे रोकते थे, परन्तु जन्म-दर मृत्यु-दर से सदा अधिक रहती थी जिससे जन-संख्या बढ़ती ही जाती थी। बादको मनुष्य जब अधिक उन्नत होगया, प्रकृतिपर विजय पाने लगा, तब जन्म-दर कम होने लगी, और इसकेसाथ-साथ मृत्यु-दर भी कम होने लगी, और फिर भी जन-संख्याकी वृद्धि ही होती गई। इसप्रकार 'न्यून जन्म-दर तथा न्यून मृत्यु-दर' के सिद्धान्त से भी जन-संख्याका नियन्त्रण वैसे-का-वैसा बना रहा जैसा 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर' के समय था—भेद इतना होगया कि अब मानव-समाज पहलेके-से संकटोंका सामना करनेसे बच गया।

जन्म-दर तथा मृत्यु-दर न्यून होने के लाभ—

हमने देखा कि जन्म-दर तथा मृत्यु-दर कम क्यों होती हैं। जब मनुष्य-समाज यह समझ जाता है कि प्रकृतिके हाथका खिलौना बने रहनेसे आपत्तियोंका, संकटका सामना करना पड़ता है, तब जन-संख्याके निरोधके प्राकृतिक-साधनोंकी अपेक्षा सामाजिक-साधनोंका प्रयोग शुरू कर देता है, वैज्ञानिक उपायोंसे, स्वास्थ्य-रक्षा, सफाई, चिकित्सा आदिकेद्वारा रोगोंपर रोक-थाम लगा देता है, और इसप्रकार जन्म-दर और मृत्यु-दर दोनोंको कम कर देता है। इसका लाभ यह है कि जीवनका स्तर ऊंचा होजाता है, स्त्रियोंको बच्चे जननेमें ही अपना जन्म नहीं बिता देना होता, उन्हें आजादी मिलने लगती है, वे घरके काम-काजमें ही लगे रहनेके स्थानमें अपनी तथा समाजकी उन्नतिमें भी हिस्सा लेसकती हैं, बच्चों की पहलेसे ज्यादा देख-रेख होसकती है, उनको खाने-पहननेको अच्छा मिलने लगता है, उनकी पढ़ाईका पहलेसे अच्छा प्रबन्ध होसकता है, मनुष्यके मूल्यको ज्यादा समझा जाने लगता है, पहले जब जन-संख्या अधिक थी तब मनुष्यका क्या मूल्य समझा जाता ?

जन्म-दर तथा मृत्यु-दर न्यून होने की हानि—

इस नियमकी एक हानि भी है। यह नियम वहां-वहां घटता हुआ नजर आता है जहां-जहां पाश्चात्य-सभ्यता पहुँची है, जो देश उन्नत होगये हैं। इस सभ्यताका आधार 'उद्योगीकरण' (Industrialization) है। उद्योगीकरणसे नवीन-नवीन आविष्कार जन्म ले रहे हैं, और इन आविष्कारोंसे अधिकाधिक उद्योगीकरण होरहा है। इन्हीं आविष्कारोंमें वे आविष्कार भी हैं जिनसे किसी देशका मृत्यु-दर कम होजाता है। नवीन-नवीन औषधियोंसे वर्तमान सभ्यताने मृत्युपर विजय प्राप्त किया है। पाश्चात्य-सभ्यता तो आज संसारके कोने-कोने में पहुँच रही है। कोई देश इसके संपर्क से बचा नहीं। जब किसी निम्न-स्तरके देशमें उद्योगीकरणकी हवा पहुंचती है, तब शुरू-शुरू में उसमें नवीन आविष्कारोंकी सहायतासे मृत्यु-दर तो कम होने लगती है, परन्तु जन्म-दर कम नहीं होता।

उस देशमें उद्योगीकरणके साधनों से काफी अनाज पैदा कर लिया जाता है, नवीन आविष्कारोंकी सहायतासे मृत्यु-दर भी कम कर ली जाती है, परन्तु जन्म-दर पर अभी कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता। जन्म-दर तो तब कम हो, अगर लोग बड़ी उम्रमें शादी करें, कृत्रिम-निरोधके उपायोंका अवलम्बन करें। परन्तु ऐसा-कुछ वे नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि अन्य सभ्य देशोंकी अपेक्षा इन पिछड़ेहुए देशोंको जन-संख्याकी दृष्टिसे बहुत लाभ पहुंच जाता है। उदाहरणार्थ, योरुपके अन्य देशोंमें तो मृत्यु-दर कम हुआ, जन्म-दर भी कम हुआ, परन्तु रशियामें मृत्यु-दर तो कम होगया, जन्म-दर कम नहीं हुआ। बढ़ीहुई जन-संख्याको रशिया अपने उत्पादनके वैज्ञानिक साधनोंसे खूब अच्छी तरह खिला-पिला सकता है, इसलिये जन-संख्याकी इस वृद्धिसे उसे कोई घरेलू संकटका सामना भी नहीं करना पड़ा। यही हाल भारत और चीनका होनेवाला है। इन देशोंमें वैज्ञानिक उपायोंसे मृत्यु-दर कम होती जायगी, परन्तु फ़िलहाल जन्म-दर कम नहीं होगी। इसका नतीजा यह होगा कि पूर्वीय देशोंकी जन-संख्या पश्चिमी-सभ्यताके सब वैज्ञानिक साधनोंका लाभ उठाकर मृत्यु-दरको कम कर लेगी और जन-संख्यामें पश्चिमी देशोंसे बहुत आगे निकल जायगी। परन्तु धीरे-धीरे वही प्रक्रिया जो पश्चिमके अन्य देशोंमें चली इन देशोंमें भी चलेगी, और इनकी भी जन्म-दर कम होती चली जायगी। परन्तु फिलहाल भारत तथा चीनकी परिस्थिति एशियासे भी भिन्न रहेगी। यहां तो अभी यही अनुभव किया जारहा है कि आज जो सन्तति होरही है वह पहले की अपेक्षा दिनोंदिन कमजोर हो रही है। जन-संख्या बढ़ रही है, लोगोंको खानेको नहीं मिल रहा, लोग बीमारी तथा भूखसे मर रहे हैं। इन देशोंमें यह अवस्था इसलिये है क्योंकि यहां अभी प्रकृतिका 'निश्चित-निरोधों' (Positive checks) का नियम काम कर रहा है। इन देशोंमें अभी 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर' ही चल रही है, अभी मालथसका नियम अपना चक्र चला रहा है। ज्यों-ज्यों इन देशों में वर्तमान सभ्यताके विचार फैलेंगे, जन-संख्याका नियन्त्रण प्रकृतिद्वारा न होकर मनुष्यद्वारा, सोच-समझ से होने लगेगा, त्यों-त्यों यहां भी पहले रशिया की-सी 'उच्च जन्म-दर और न्यून मृत्यु-दर' की अवस्था आयेगी, उसके बाद योरुप की-सी 'न्यून जन्म-दर और न्यून मृत्यु-दर' की अवस्था आजायेगी।

६. जन-संख्याका स्वरूप

(Composition of Population)

जन-संख्याके 'परिमाण' (Size or Quality) के सम्बन्ध में हमने देखा कि वर्तमान उन्नत समाजमें 'न्यून जन्म-दर' और 'न्यून मृत्यु-दर'का सिद्धान्त

काम कर रहा है। जब किसी समाजकी जन-संख्या 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर' द्वारा नियन्त्रित न होकर 'न्यून जन्म-दर और न्यून मृत्यु-दर' के सिद्धान्तसे नियन्त्रित होती है, तब उसका 'स्वरूप' (Composition or quality) भी बदल जाता है। जब जन्म-दर बढ़ी होती है तब अधिक बच्चे पैदा होते हैं। अधिक बच्चे पैदा होनेके कारण ऐसे समाजमें नव-युवकोंकी संख्या भी अधिक होती है। १८२० में संयुक्त-राज्य अमरीकामें जन्म-दर बढ़ी हुई थी, उससमय उस देशमें जितने नव-युवक थे, उनकी औसत आयु १६.७ वर्ष थी, १९३० में जन्म-दर पहलेसे बहुत घट गई, उससमय वहां जितने युवक थे उनकी औसत आयु २६.४ थी। अमरीका में ही १९२०-१९३० में ४५ से ६२ वर्षकी आयुवाले व्यक्तियोंकी संख्या पहलेसे एक-तिहाई बढ़ गई। इसका मतलब यह हुआ कि जन्म-दर अधिक होने पर उस समाजमें नव-युवकोंकी संख्या ज्यादा होजाती है, जन्म-दर कम होनेपर बड़ी आयुवाले व्यक्तियोंकी, बुड्ढोंकी संख्या ज्यादा होजाती है। इसका एक और भी परिणाम होता है। क्योंकि ऐसे समाजमें अधिक आयुवाले व्यक्तियोंकी संख्या बढ़ जाती है इसलिये उसमें जन्म-दर और कम होने लगती है, इसलिये कम होने लगती है क्योंकि वृद्धावस्थामें सन्तानोत्पत्तिकी ज्यादा गुंजाइश नहीं रहती। इसके अतिरिक्त ऐसे समाजमें अविवाहित लड़के-लड़कियोंकी संख्या बढ़ती जाती है। इस समाज के लोग यही सोचते रहते हैं कि जब अच्छी आमदनी होने लगेगी, मकान खरीद सकेंगे, मोटर रख सकेंगे, बच्चोंकी देख-भालकेलायक रुपया होगा, तब शादी करेंगे, और इन चीजोंकी तलाशमें इतना समय लग जाता है कि या तो उनकी शादी ही नहीं होपाती, या तब होपाती है जब जीवनका रसका समय निकल जाता है। ऐसे समाजमें वृद्ध लोगोंकी संख्या ज्यादा होती है अतः उसके विचार उस समाजकी अपेक्षा अधिक परिपक्व और मंजेहुए होते हैं जिसमें अधिक जन्म-दर और अधिक मृत्यु-दरके कारण नव-युवकोंकी संख्या ज्यादा होती है। इसप्रकार हमने देखा कि अगर जन-संख्या का नियन्त्रण प्रकृतिद्वारा हुआ है, तो समाज का स्वरूप औरतरह का होजाता है, अगर जन-संख्या का नियन्त्रण मनुष्यद्वारा, सोचे-समझे उपायोंद्वारा हुआ है, तो उसका स्वरूप, उसकीरचना औरतरहकी होजाती है।

जन-संख्याके स्वरूपपर विचार करतेहुए एक और बातपर भी ध्यान देना आवश्यक है। अभीतक हम प्रकृतिद्वारा ही जन-संख्याका निर्धारण होने देरहे थे, परन्तु जब जन-संख्या का निर्धारण मनुष्य करने लगता है, 'निश्चित-निरोधों' (Positive checks)की जगह 'प्रतिबन्धक-निरोधों' (Preventive checks) से काम लेने लगता है तब उसकेलिये यह भी आवश्यक होजाता है कि समाजमें किस-प्रकारकी सन्ततिको उत्पन्न होने दे, किसप्रकार की सन्ततिको न उत्पन्न होने दे—

इसे 'सन्तति-नियमन शास्त्र' (Eugenics) कहा जाता है। 'सन्तति-नियमन शास्त्र' द्वारा अयोग्य माता-पिताको सन्तान उत्पन्न करनेसे रोका जाता है, योग्य माता-पिताको सन्तान उत्पन्न करनेकेलिये प्रोत्साहित किया जाता है। कई देशोंमें ऐसे नियम हैं जिनके अनुसार विवाह करनेसे पहले स्त्री-पुरुषको यह सर्टीफ़िकेट लेना पड़ता है कि वे बिल्कुल स्वस्थ हैं, कोई ऐसा रोग तो उन्हें नहीं है जो सन्ततिमें संक्रान्त होसकता है। ऐसे स्त्री-पुरुष अगर शादी करना चाहें, तो उन्हें 'निर्वीज' (Sterilize) कर दिया जाता है ताकि वे सन्तान उत्पन्न कर ही न सकें। 'सन्तति-नियमन शास्त्र' (Eugenics) दो प्रकारसे सन्ततिका नियमन कर सकता है। 'विधि-पूर्वक' (Positive) उपायोंसे, तथा 'निषेध-पूर्वक' (Negative) उपायोंसे। 'विधि-पूर्वक'-उपाय है—उत्तम, स्वस्थ व्यक्तियोंको अधिक सन्तान उत्पन्न करनेकेलिये प्रेरित करना, 'निषेध-पूर्वक'-उपाय हैं—अस्वस्थ व्यक्तियोंको निर्वीज कर देना। यह काम राज्य का है। अभी हमारे देशमें ऐसा नहीं होपाया, परन्तु उत्तम, स्वस्थ सन्ततिकेलिये ऐसा करना आवश्यक है। प्राचीन-भारतमें उत्तम सन्ततिकेलिये संस्कारोंकी प्रथा चलाई गई थी जो हिंदुओंमें आज भी है।

६. जन्म-दरपर अन्य बातों का प्रभाव

पीछे हम जो-कुछ लिख आये हैं उससे स्पष्ट है कि जन्म-दरपर मृत्यु-दरका प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त जन्म-दरपर जिन अन्य बातोंका प्रभाव पड़ता है वे निम्न हैं:—

(१) जन्म-दरपर भिन्न-भिन्न स्थानोंका भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। १९२० की अमरीकाकी जन-गणना से ज्ञात हुआ कि कैलीफोर्नियाकी जो जन्म-दर थी उससे ऊटाहकी जन्म-दर दुगुनी थी। अर्थात्, शहरोंकी अपेक्षा गांवोंकी जन्म-दर अधिक थी।

(२) भिन्न-भिन्न पेशोंमें और सामाजिक-स्तरोंमें जन्म-दर भिन्न-भिन्न पायी जाती है। जिन पेशोंमें स्त्री-पुरुष दोनों काम करते हैं उनमें अधिक आमदनी वाले पेशोंमें जन्म-दर दूसरे पेशेवालोंसे कम होती है। उदाहरणार्थ :—

(क) कपड़ेकी मिलोंमें काम करनेवाले स्त्री-पुरुषमें जन्म-दर अपने ही समान-स्तरके अन्य पेशेवालोंकी अपेक्षा बहुत कम पायी जाती है।

(ख) जो लोग अपनी आजीविकाकेलिये जगह-जगह फिरते रहते हैं, कभी इस स्थानपर, कभी उस स्थानपर, उनमें अपने ही जैसे आर्थिक-स्तरके लोगों की अपेक्षा जन्म-दर कम होती है। उदाहरणार्थ, नाटकोंमें काम करने वालों, जल-सेना तथा स्थल-सेना में काम करनेवालोंमें जन्म-दर बहुत कम होती है।

(ग) हाथसे काम करनेवालोंकी अपेक्षा दिमागसे काम करनेवालों में, और दिमाग से काम करनेवालोंमें भी जिन व्यवसायोंमें तय्यारीकेलिये अधिक समय लगता है उनमें जन्म-दर दूसरोंसे कम होती है। डाक्टरी, वकालत आदि के पेशोंमें व्यवसायकेलिये पूर्ण योग्यता प्राप्त करनेमें अन्य व्यवसायोंकी अपेक्षा अधिक समय लगता है, इसलिये इनमें जन्म-दर बहुत न्यून है ।

(घ) शारीरिक-परिश्रम करनेवालोंकी जन्म-दर अन्य व्यवसायके लोगों से ज्यादा होती हैं ।

(ङ) जिनको अपने व्यवसायमें उच्च-स्तरके लोगोंके सम्पर्कमें रहना पड़ता है, उनमें जन्म-दर अपने सरीखे अन्य लोगोंसे कम होती है । उदाहरणार्थ, घरेलू नौकरों, चपरासियों आदिमें जन्म-दर अपने-जैसे अन्य लोगोंसे कम पायी जाती है ।

(च) पतिके स्थानकी जो जन्म-दर है उसका, इस विवाहित पति-पत्नीकी जन्म-दर पर प्रभाव अधिक पड़ता है, पत्नीके स्थानकी जन्म-दरका नहीं । उदाहरणार्थ, अगर पति शहरका रहनेवाला है, पत्नी गांवकी रहनेवाली है, तो क्योंकि शहरोंकी जन्म-दर गांवोंसे कम होती है, इसलिये कहा जा सकता है कि पति ऐसे स्थानका रहनेवाला है जहां जन्म-दर कम होती है, पत्नी ऐसे स्थानकी रहने वाली है जहां जन्म-दर अधिक होती है। अब विवाहके बाद अगर पति गांवमें जा बसे, तो जन्म-दरपर पतिका ही प्रभाव पड़ेगा, पत्नीका नहीं। ऐसे पति-पत्नीकी जन्मदर गांवमें रहनेपर भी कम होगी क्योंकि पति कम जन्म-दर की जगह का रहनेवाला हैं। इसीप्रकार अगर पति गांवका रहनेवाला है, पत्नी शहरकी रहनेवाली है, और शादीके बाद पति गांवसे शहरमें जा बसा है, तो उस पति-पत्नीकी जन्म-दर अधिक होगी क्योंकि पति ऐसे स्थानका रहनेवाला है जहांकी जन्मदर अधिक है ।

(३) जो व्यक्ति जिस देशमें पैदा हुआ है उसी देशमें उसकी जन्म-दर कम रहती है, वही स्त्री-पुरुष अगर विदेशमें चले जांय तो, उनकी जन्म-दर बढ़ जाती है। भिन्न-भिन्न देशके स्त्री-पुरुषके संयोग से जन्मदर कम होजाती है । एक ही देशमें रहतेहुए जो लोग उस देशके सांस्कृतिक-प्रभावसे अपने को अलग रखते हैं, वे उस देशके रहनेवाले अन्य लोगोंकी अपेक्षा ज्यादा सन्तान पैदा करते हैं। अमरीकाके हब्शियों में जो अमरीकाकी संस्कृतिमें रल-मिल गये हैं वही जन्म-दर है जो वहां-के गोरोंमें है ।

७. जन-संख्याका सामाजिक विचार-धारापर प्रभाव

जन-संख्या कितनी है, अर्थात् थोड़ी है या बहुत, जन्म-दर अधिक होनेसे बढ़ी है या मृत्यु-दर कम होनेसे बढ़ी है, और किसप्रकारकी है, अर्थात् उसमें युवा

अधिक हैं या वृद्ध, धनी अधिक हैं या निर्धन, गांवमें रहनेवाले ज्यादा हैं, या शहरमें रहनेवाले ज्यादा, दिमागी काम करनेवाले ज्यादा हैं या हाथसे काम करनेवाले ज्यादा —इन सब बातोंका समाजके रीति-रिवाजों, समाजकी विचार-धाराओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जिस देशमें स्त्रियोंकी संख्या पुरुषोंसे ज्यादा होती है वहां बहु-पत्नी विवाह, जिसमें पुरुषोंकी संख्या स्त्रियोंसे ज्यादा होती है वहां बहु-पति विवाह चल पड़ता है। जिस देशमें जन-संख्या बढ़ रही होती है, खाद्य-सामग्री कम होती है, वहां साम्राज्य-वाद तथा सैन्यी-करण की विचार-धाराएं उठ खड़ी होती हैं। इंग्लैंडमें साम्राज्यवाद इसलिये पैदा हुआ क्योंकि वहांकी बढ़तीहुई जन-संख्या और घटतीहुई खाद्य-सामग्री का इसके अतिरिक्त कोई हल नहीं था। इटलीमें मुसोलिनी ने साम्राज्यवादकी रागिनी इसीलिये अलापनी शुरू की थी क्योंकि वहां भी जन-संख्या बढ़ रही थी, खाद्य-सामग्री उसी अनुपात में नहीं बढ़ रही थी। १९ वीं शताब्दी में जब जन-संख्या बहुत अधिक बढ़ रही थी तब चार्ल्स ब्रेडला (Charles Bradlaugh) तथा एनी बीसेंट (Annie Besant) ने 'सन्तति-निरोध' पर एक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक की ७०० प्रतियां प्रति-वर्ष बिक रही थीं। इस बीचमें पुस्तकको अश्लील कहकर इन दोनों पर मुकदमा चल पड़ा। मुकदमेके दौरान में तीन महीनेमें इस पुस्तककी १ लाख २५ हज़ार प्रतियां बिकीं। परिणाम यह हुआ कि जहां पहले जन्म-दर बढ़ रही थी वहां इस पुस्तकके विचारोंके प्रभावसे जन्म-दर एक दम गिर गयी। उससमय सन्तति-निरोधके विचारोंको अश्लील समझा जाता था, परन्तु धीरे-धीरे ये विचार सारे योरुपमें फैल गये, और अब तो भारतमें भी इन विचारोंका लगातार प्रचार होरहा है। जन-संख्याके कम होनेसे परिवारके हर पहलूपर प्रभाव पड़ने लगा है। पति-पत्नीका आपसका संबंध, माता-पिताका सन्तानकेसाथ संबंध, बच्चोंके लालन-पालनके तरीके, स्त्रीका परिवारमें स्थान, परिवारकी आर्थिक आत्म-निर्भरता—इन सबपर जन-संख्या का और इन सबका जन-संख्यापर प्रभाव पड़ रहा है।

८. 'प्राकृतिक-चुनाव' तथा 'सामाजिक-चुनाव'
(NATURAL SELECTION AND SOCIAL SELECTION)

'प्राणि-शास्त्रीय-नियम' (Biological law) यह है कि संसारमें प्राणियोंकी बेतहाशा उत्पत्ति होरही है, उनकेलिये खाद्य-सामग्री उसी रफ्तारमें नहीं हो रही, इसलिये उनमें जीवन-मरणका एक संग्राम छिड़ जाता है, इस संग्राममें जो बलशाली हैं, उन्हें प्रकृति छांट लेती है, जो कमजोर हैं उन्हें समाप्त कर देती है। प्रकृतिद्वारा इस छांटको 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection)

कहते हैं। जो लोग कहते हैं कि 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) का नियम ही मनुष्य-समाज पर लगता है, उनका कहना है कि जैसे प्रकृति ज्यादा पैदा करती है, और ज्यादा ही मार देती है, बचे हुओंको छांट लेती है, वैसे मानव-समाजमें भी भरपूर उत्पत्ति होरही है, भरपूर ही मरण भी होरहा है, जो ताकतवर होते हैं, वे छंट जाते हैं, बाकी नष्ट होजाते हैं। प्रकृतिमें मृत्युकी अपेक्षा उत्पत्ति अधिक है, वैसे ही मनुष्यमें भी मृत्युकी अपेक्षा उत्पत्ति अधिक है। यह उत्पत्ति बड़ी तेजी से बढ़ रही है। अगर प्रकृति अपनी छांटके उपायोंका प्रयोग न करे, युद्ध, बीमारी, भुखमरी, शिशु-हत्याका प्रयोग न करे, तो हर २५ सालमें मनुष्य-समाज पहले से दुगुना होजाय, और संसारमें जन-संख्याका संकट हमारे देखते-देखते उपस्थित हो जाय। 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) होता रहता है, कमजोर मरते रहते हैं, ताकतवरोंकी छांट होती रहती है, इसलिये संसारकी जन-संख्या खाद्य-सामग्रीसे ज्यादा नहीं बढ़ पाती।

परन्तु इस अध्याय में हम देख आये हैं कि 'प्राकृतिक-चुनाव' का नियम मनुष्य-समाजमें काम नहीं कर रहा है। 'प्राकृतिक-चुनाव' में तो कमजोर मर जाते हैं, बलशाली बच रहते हैं, मनुष्य-समाजमें तो ऐसा नहीं होता। जब जीवन-संग्राम अपने नग्न-रूपमें काम करने लगता है, भयंकर संग्राम छिड़ जाते हैं, तब जो ज्यादा-से-ज्यादा ताकतवर होते हैं, वे रण-चंडीकी भेंट होजाते हैं, कमजोर पुरुष-स्त्री, बालक, वृद्ध बच रहते हैं। यह 'प्राकृतिक-चुनाव' कहां हुआ ? यहां तो बलशालीकी जगह कमजोर बच रहा। 'प्राकृतिक-चुनाव' में हर प्राणी अपने-अपने रोटीके टुकड़ेकेलिये जानकी बाजी लगा देता है। वहां बड़ी मछली छोटीको निगल जाती है, उससे बड़ी उसको निगल जाती है—'मत्स्य-न्यायाभिभूतं जगत्'—'मत्स्य-न्याय' का प्रकृतिमें राज्य है, वहां जीवनकी लड़ाई व्यक्ति स्वयं लड़ रहा है। मनुष्य-समाजमें तो ऐसा नहीं होता। मनुष्य तो अपनेसे बड़े समूहकेप्रति अपनेको समर्पित कर देता है, वहां हरेक व्यक्ति व्यक्तिरूप से जीवनकी लड़ाई नहीं लड़ता, समूह-का-समूह जीवन संग्राम करता है। स्त्री-बालक-वृद्ध अपनी जीविकाकेलिये युवा-पुरुषोंपर अपनेको छोड़ देते हैं, और उनके कमजोर होते हुए भी उनका भरण-पोषण होता है। मनुष्य-समाजमें कमजोरोंकी, बीमारोंकी सेवा होती है, वहां संघर्षके स्थानपर सहयोगका नियम काम करने लगता है। तब क्या कहा जाय ? क्या यह कहा जाय कि मनुष्य-समाजमें प्रकृति जिसे चाहती है, उसे छांटकर बचा लेती है, या मनुष्य जिसे चाहता है, उसे छांटकर बचा लेता है। मनुष्य-समाज का अध्ययन करनेसे तो यही जान पड़ता है कि वहां 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) की जगह 'सामाजिक-चुनाव' (Social selection) का नियम काम

करता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य प्राणी-जगत्के निम्न-स्तरमेंसे निकलता आता है, त्यों-त्यों प्रकृतिके रुधिरसे रंजित नाखूनों और दांतोंके प्रहारसे छूटता जाता है, प्रकृति पर अपना आधिपत्य जमाता जाता है, और जिसप्रकार स्वयं चाहता है उसप्रकार समाजका विकास करता है। 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) तथा 'सामाजिक-चुनाव' (Social selection) के नियमोंमें निम्न भेद है :—

प्राकृतिक-चुनाव (Natural selection)	सामाजिक-चुनाव (Social selection)
१. 'प्राकृतिक-चुनाव' में प्रकृतिके 'निश्चित-निरोध' (Positive checks) काम करते हैं।	१. 'सामाजिक-चुनाव' में मनुष्यके 'प्रति-बन्धक-निरोध' (Preventive checks) काम करते हैं।
२. 'प्राकृतिक-चुनाव' में 'उच्च जन्म-दर तथा उच्च मृत्यु-दर' होती है। यह प्रकृतिका अपव्ययका, दुःख और संकट का मार्ग है।	२. 'सामाजिक-चुनाव' में 'निम्न जन्म-दर और निम्न मृत्यु-दर' होती है। यह मनुष्यका अपव्ययको रोकनेका, सुख और शांतिका मार्ग है।
३. 'प्राकृतिक-चुनाव' निम्न प्राणियों तथा निम्न-स्तरके मनुष्य-समाजमें पाया जाता है।	३. 'सामाजिक-चुनाव' विकसित, सभ्य समाजमें पाया जाता है। ज्यों-ज्यों समाज उन्नत होता जाता है उसमें 'प्राकृतिक-चुनाव' की जगह 'सामाजिक-चुनाव' लेता जाता है।
४. 'प्राकृतिक-चुनाव' सिर्फ मृत्यु-दरको बढ़ाकर जन-संख्याका नियन्त्रण करता है।	४. 'सामाजिक-चुनाव' मृत्यु-दरको तो घटाता है, पर साथ ही किसप्रकारके लोग शादी करें, किस प्रकारके न करें, कौन कितनी उत्पत्ति करें—इधर भी विशेष बल देता है।
५ 'प्राकृतिक-चुनाव' स्पर्धा और संग्राम का मार्ग है।	५. 'सामाजिक-चुनाव' सहयोगका मार्ग है।

प्रश्न

१. सामाजिक-परिवर्तन पर भौतिक कारणोंका क्या प्रभाव पड़ता है ?

२. 'प्राकृतिक-चुनाव' का प्राणि-शास्त्रीय नियम क्या है ?

३. मालथसने डार्विनसे भी पहले प्राणी-शास्त्रके 'प्राकृतिक-चुनाव' के नियमको मनुष्य-समाजपर किसप्रकार घटाया था ?

४. जन-संख्याके सम्बन्धमें मालथसके तीनों नियमोंकी व्याख्या करतेहुए

यह स्पष्ट कीजिये कि आजकल वे नियम कहांतक मानव-समाजपर लागू होते हैं ?

५. प्राणी-शास्त्रकी दृष्टिसे मालथसके वतायेहुए 'निश्चित-निरोधों' (Positive checks) तथा 'प्रतिवन्धक-निरोधों' (Preventive checks) की व्याख्या कीजिये ।

६. 'उच्च जन्म-दर तथा उच्च मृत्यु-दर' की 'निम्न जन्म-दर और निम्न मृत्यु-दर' से तुलना कीजिये । इन नियमोंको प्रकृति तथा मनुष्यमें घटाकर दिखाइये ।

७. 'निम्न जन्म-दर तथा निम्न मृत्यु-दर' के क्या लाभ और क्या हानियां हैं ?

८. 'निम्न जन्म-दर तथा निम्न मृत्यु-दर' से जिसप्रकारकी जन-संख्या पैदा होने लगती है उसकी 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर' की जन-संख्यासे तुलना कीजिये ।

९. जन-संख्याका सामाजिक विचार-धारापर क्या प्रभाव पड़ता है ?

१०. 'प्राकृतिक-चुनाव' तथा 'सामाजिक-चुनाव' की तुलना कीजिये ।

[११]

सामाजिक-परिवर्तनों पर यान्त्रिक-प्रभाव

(TECHNOLOGICAL FACTORS AFFECTING SOCIAL CHANGE)

१. 'यान्त्रिक'-आविष्कार

यह युग आविष्कारोंका युग है। रोज-रोज नये-नये आविष्कार होरहे हैं, और उनके आधार पर नये-नये यन्त्र बन रहे हैं। समय था जब लोग बैल-गाड़ी की सवारी किया करते थे, अब वे रेल, मोटर और हवाई जहाजमें चलने लगे हैं; समय था जब व्याख्याता गला फाड़-फाड़कर चिल्लाया करता था, अब ध्वनि-निक्षेपक यन्त्रोंद्वारा व्याख्याता आरामसे बोलता जाता है, और लाखोंकी जनता दूर-दूर बैठीहुई आरामसे सब-कुछ सुनती जाती है। इन्हीं सब बातोंसे इस युगको 'विज्ञानका युग'—'आविष्कारोंका युग'—'बिजली-भाफका युग'—'यन्त्रोंका युग'—एक शब्दमें 'यन्त्री-करणका युग' ((Age of Mechanization) कहा जासकता है। जैसे पिछले अध्यायमें हमने देखा था कि 'प्राणि-शास्त्रीय-तत्वों' (Biological Factors) का समाज पर क्या प्रभाव पड़ता है, वैसे इस अध्यायमें हम यह देखनेका प्रयत्न करेंगे कि यह 'यन्त्री-करण' (Mechanization), ये 'यान्त्रिक-तत्व' (Technological factors) समाजको किसप्रकार प्रभावित करते हैं।

१. एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' दूसरे 'यान्त्रिक-आविष्कार' को जन्म देता है—

'यान्त्रिक-आविष्कारों' (Technological inventions) का प्रभाव दूसरे 'यान्त्रिक-आविष्कारों' पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, पहले मिलों की भट्टियोंमें बेलचेसे एक मजदूर कोयला डालता था। एक मजदूर थोड़ा कोयला डाल सकता था इसलिये बेलचा भी छोटा था, भट्टी भी छोटी थी। बादको बेलचा बिजलीसे चलने लगा, इसलिये ज्यादा काम होसकता था, परिणाम-स्वरूप बड़ी भट्टियोंका आविष्कार हुआ। इस समय रेलगाड़ी तो बन चुकी थी, परन्तु एँजिनकी भट्टी छोटी थी, इसलिये एँजिन भी छोटा था, उसकी कार्य-शक्ति भी थोड़ी थी, उसकेसाथ डब्बे भी थोड़े जुड़ते थे। बड़ी भट्टीके आविष्कारसे एँजिनकी भट्टी

भी बड़ी बनने लगी, ऐंजिन भी बड़ा बनने लगा, बड़ा ऐंजिन ज्यादा माल ढो सकता था, रेल-गाड़ियोंमें दो-दो फर्लांगतक डब्बे जुड़ने लगे। एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' ने दूसरेको जन्म दिया, दूसरे ने तीसरेको, और तीसरेने चौथेको, सिलसिला बढ़गया।

२. 'यान्त्रिक-अविष्कार' सामाजिक-परिवर्तन को भी जन्म देता है—

'यान्त्रिक-आविष्कार' जहां दूसरे 'यान्त्रिक-आविष्कारों' को प्रभावित करते हैं, वहां सामाजिक-परिवर्तनोंको भी जन्म देते हैं। उदाहरणार्थ—

(१) जब पहले-पहल मोटर चली तब मोटरके सामने खड़े होकर हैंडल को ज़ोरसे घुमाते थे, इससे बैटरी गर्म होती थी, और मोटर चलती थी। पुरुष तो जोरका हैंडल घुमा सकते थे, स्त्रियोंकेलिये यह कठिन कार्य था। उससमय स्त्रियां मोटर कम चलाती थीं। जबसे हैंडल घुमानेकीजगह सेल्फ़-स्टार्टरका आविष्कार हुआ है, तबसे स्त्रियां खूब मोटर चलाने लगी हैं। सेल्फ़-स्टार्टरके 'यान्त्रिक-आविष्कार' से स्त्रियोंके मोटर चलानेके सामाजिक-परिवर्तनका जन्म हुआ।

(२) पहले लोग सूईसे कपड़ा सीते थे, अभी मशीनसे कपड़ा सीनेका आविष्कार नहीं हुआ था। उससमय यह काम ज्यादा स्त्रियां ही करती थीं। जबसे मशीनका 'यान्त्रिक-आविष्कार' हुआ है, तबसे पुरुष कपड़ा सीनेकी दुकानें लगाकर बैठ गये हैं, जो काम स्त्रियां छोटे पैमानेपर करती थीं, वह काम पुरुष बड़े पैमानेपर करने लगे हैं, 'टेलरिंग-हाउस' खुल गये हैं। सीनेकी मशीनके 'यान्त्रिक-आविष्कार' से स्त्रियोंकी जगह पुरुषोंके 'टेलरिंग हाउसों' के सामाजिक-परिवर्तनका जन्म हुआ।

३. 'यान्त्रिक-आविष्कारों' का जीवन पर चौमुख प्रभाव पड़ रहा है—

यान्त्रिक-आविष्कारोंका अन्य यन्त्रों तथा समाजके भिन्न-भिन्न पहलुओं पर भारी प्रभाव पड़ रहा है। समाजके जीवनका कोई क्षेत्र इनके प्रभावसे अछूता नहीं बचा। उदाहरणार्थ, रेडियोका जो सर्व-व्यापी और चौमुखा प्रभाव पड़ रहा है वह निम्न है—

(१) रेडियो एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' है। इसका अन्य 'यान्त्रिक-आविष्कारों' पर असीम प्रभाव पड़ा है। रेडियोने ही टैलीवीयनके आविष्कार को जन्म दिया। रेडियोके आविष्कारके बाद ग्रामोफ़ोनमें कई परिवर्तन हुए। रेडियोकी दो प्रकारकी लहरें मानी गई हैं—छोटी तथा बड़ी—रेडियोकी छोटी लहरोंके प्रयोगसे दूधको खराबहोनेसे बचानेकी प्रक्रियाको जन्म मिला है, इन्हीं लहरोंसे कृमि-नाशके परीक्षण भी सफल हुए हैं। इससे स्पष्ट है कि रेडियोका अन्य यन्त्रोंपर प्रभाव पड़ रहा है।

(२) रेडियोका सामाजिक-परिवर्तनोंके हरपहलूपर प्रभाव दीखता है। शिक्षाके क्षेत्रमें आजकल पश्चात्य-देशोंमें विश्व-विद्यालय अध्यापकोंके व्याख्यानोंको

रेडियोसे प्रसारित करते हैं, रेडियोसे प्रौढ़-शिक्षाका प्रचार किया जा रहा हैं, भिन्न-भिन्न भाषाओंको रेडियोसे लिखवा दिया जाता है, रेडियो द्वारा स्वास्थ्यके सम्बन्धमें व्याख्यान दिये जाते हैं, आसन-प्राणायामतक इससे सिखाया जारहा है। यातायातके क्षेत्रमें रेडियोसे हवाई जहाजको ठीक मार्ग बतलाया जाता है, रास्ते में कहीं धुंध ज्यादा हो, उसकी सूचना दी जाती है, कहां उतरना, कहां नहीं उतरना—यह-सब बतलाया जाता है। जब कोई जहाज़ समुद्र में मुसीबतमें फंस जाय, तो वह बाहरके संसारतक अपनी विपत्तिकी आवाज़ पहुंचाकर सहायता मांग सकता है। जहाजों तथा वायु-यानोंमें रेडियोद्वारा संबंध स्थापित किया जाता है। सामाजिक एकताके क्षेत्र में रेडियोद्वारा भिन्न-भिन्न संस्कृति तथा सभ्यता एवं भिन्न-भिन्न देशोंके लोग निकट आने लगते हैं, एक दिशा में सोचने लगते हैं। ग्राम तथा शहरके लोग एक-सी बातें और एक-से गीत सुनते हैं, इन सबकी रुचि एक-सी होने लगी है, इनका विचारों तथा रुचियोंका भेद मिटने लगा है। मनोरंजनके क्षेत्रमें रेडियो एक बिल्कुल नवीन प्रकारके मनोरंजनके रूपमें प्रकट हुआ है। अबतक बड़े-बड़े समारोह होते थे, लोग दूर-दूरसे जलसों में जाया करते थे, मनोरंजन बहुत व्यय-साध्य था, अब घर बैठे अच्छे-से-अच्छा व्याख्यान और अच्छे-से-अच्छा संगीत सुना जासकता है। वाक़फ़ियतके क्षेत्रमें दुनियांकी दूर-से-दूरकी घटना घटनेके साथ ही हमतक पहुंच जाती है। इन सब सामाजिक-परिवर्तनों का श्री गणेश 'यान्त्रिक-आविष्कारों' (Technological inventions) से हुआ है।

४. एक 'यान्त्रिक-आविष्कार'के 'प्रत्यक्ष' तथा 'अप्रत्यक्ष'—अनेक सामाजिक-फल हो सकते हैं—

हमने रेडियोके दृष्टान्तसे देखा कि एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' का अनेक प्रकारका यान्त्रिक तथा अनेक प्रकारका सामाजिक प्रभाव पड़ता है। हमें यहां 'यान्त्रिक-आविष्कार' के यान्त्रिक-प्रभावकी चर्चा नहीं करनी, 'यान्त्रिक-आविष्कार' के सामाजिक-प्रभाव की चर्चा करनी है क्योंकि हमारा विषय 'समाज-शास्त्र' है। 'यान्त्रिक-आविष्कार' से जो समाजके नये व्यवहार चल पड़ते हैं, यह जरूरी नहीं कि वे सब 'यान्त्रिक-आविष्कार' के प्रत्यक्ष-फल हों। यह होसकता है कि किसी 'यान्त्रिक-आविष्कार' का फल एक 'प्रत्यक्ष' सामाजिक-व्यवहार हो, और अनेक 'अप्रत्यक्ष' सामाजिक-व्यवहार हों। उदाहरणार्थ, अमरीकामें कपासकी मिलें लगीं, यह एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' था। इसका प्रत्यक्ष सामाजिक-परिणाम यह हुआ कि अमरीकामें कपासकी पैदावार बढ़ने लगी। बेलनसे उतनी कपास नहीं साफ़ होसकती थी जितनी मशीनके ज़रिये होसकती थी, इसलिये यदि पहले ज्यादा कपास पैदा की जाती,

तो बेकार पड़ी रहती। अब बिनौले मशीनकेद्वारा जल्दी और आसानी से अलग किये जा सकते थे, ज्यादा कपास साफ़ की जा सकती थी, इसलिये कपासकी पैदावार बढ़ गई! परन्तु इस 'प्रत्यक्ष' सामाजिक परिणामके अतिरिक्त कई 'अप्रत्यक्ष' सामाजिक-परिणाम भी हुए। ज्यादा पैदावार बिना ज्यादा मजदूरोंके नहीं होसकती थी। ज्यादा मजदूर कहां से आते? इसके लिये आफ्रीकासे हबशियोंका व्यापार शुरू होगया और दास-प्रथाका खूब बोलबाला हुआ। दक्षिणी-अमरीका में खेती ज्यादा होती थी, वहीं दासोंकी ज्यादा आवश्यकता थी, इसलिये दक्षिणी-अमरीका में दास-प्रथा ज्यादा चली, उत्तरीमें इतनी नहीं चली। अन्तमें जाकर दास-प्रथाके प्रश्नपर ही दक्षिणी तथा उत्तरी अमरीकामें गृह-युद्ध हुआ। उत्तरी-अमरीका दास-प्रथा को मिटाना चाहता था, दक्षिणी-अमरीकाकी इसीपर आजीविका चलती थी, अतः वह इसे कायम रखना चाहता था। कपासकी मिल खुलनेंका 'प्रत्यक्ष'-सामाजिक-फल, कपासकी खेती बढ़ना था, 'अप्रत्यक्ष'-फल कई थे, जिनमेंसे पहला दास-प्रथा थी, और उसके बाद दूसरा अमरीकाका गृह-युद्ध था। 'यान्त्रिक आविष्कारों'का 'प्रत्यक्ष-सामाजिक-फल' (Direct social effect) एक होता है, 'अप्रत्यक्ष-सामाजिक-फल' (Indirect social effects) अनेक होसकते हैं। इन 'अप्रत्यक्ष-सामाजिक-फलों' में जो फल पहले होगा, वह 'प्रथम अप्रत्यक्ष-सामाजिक-फल' (First indirect social effect) कहलायेगा, जो दूसरे नम्बरपर होगा, वह 'द्वितीय अप्रत्यक्ष-सामाजिक-फल' (Second indirect social effect) कहलायेगा। कपासकी मिलोंका कपास की खेती 'प्रत्यक्ष समाजिक-फल' (Direct social effect) है, दास-प्रथा 'प्रथम अप्रत्यक्ष-सामाजिक-फल' (First Indirect social effect) है, गृह-युद्ध 'द्वितीय अप्रत्यक्ष-सामाजिक-फल' (Second Indirect social effect) है। इसीप्रकार यह शृंखला आगे-आगे चलती जाती है, परन्तु ज्यों-ज्यों सामाजिक-परिवर्तनोंका सिलसिला प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष, और अप्रत्यक्षसे प्रथम-फल, द्वितीय-फल, तृतीय-फलकीतरफ़ बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों आगे-आगे फल उत्पन्न करनेका वेग कम होता जाता है, ठीक इसतरह जैसे एक तालाबमें पत्थरके पड़नेसे जो लहरें उत्पन्न होती हैं, वे शुरू-शुरू में तेज और आगे-आगे मध्यम पड़ती जाती हैं, अन्तमें उनका वेग बिल्कुल समाप्त होजाता है।

५. अनेक 'यान्त्रिक-आविष्कारों' का एक सामाजिक-फल—

हमने देखा कि एक 'यान्त्रिक-आविष्कार'के अनेक प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष—सामाजिक-परिणाम हो जाते हैं, इसीप्रकार कभी-कभी अनेक 'यान्त्रिक-आविष्कार', अलग-अलग, वह सामाजिक-परिणाम नहीं उत्पन्न कर सकते, जो अनेक आविष्कार, मिलकर, एक सामाजिक-परिणाम उत्पन्न कर देते हैं। मोटर, रेल, बस, टेलीफ़ोन,

रेडियो, सिनेमा—इन सवके मिलनेसे एक ऐसी स्थिति उत्पन्न होजाती है कि शहरोंसे वाहर 'उप-नगर' (Suburbs) वनने लगते हैं, लोग व्यापारके लिये शहर चले जाते हैं, रहनेकेलिये शहरके वाहर चले आते हैं। ये सव अलग-अलग हों, जहां मोटर आ सके वहां टैलीफ़ोन न लग सके, जहां टैलीफ़ोन लग सके वहां सिनेमाघर न वन सके, तो उप-नगरोंका निर्माण भी संभव न हो सके। इसीलिये शहर (City) का निर्माण भी अनेक 'यान्त्रिक-आविष्कारों' का एक सामाजिक-परिणाम है। यातायात के आविष्कार, व्यापारकी सुविधाके आविष्कार, उद्योगके आविष्कार—ये सव एक जगह केंद्रित होजानेपर शहर वन जाते हैं—ये सव अलग-पड़े रहें, तो शहर भी न वन सकें। जैसे हमने एक यन्त्र के संवंध में उसके प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सामाजिक-फल देखे थे, वैसे अनेक यन्त्रोंके भी प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष सामाजिक-परिणाम होते हैं। उदाहरणार्थ, अनेक यन्त्रोंका प्रत्यक्ष-फल शहरका वन जाना है, परन्तु शहर वननेके कारण यन्त्रोंके अप्रत्यक्ष-फल कई उत्पन्न होजाते हैं। शहर में चोरी, डकैती, दुराचार तथा सव तरहके अपराध वढ़ जाते हैं, पारिवारिक-जीवन क्षीण होने लगता है, सरकारका हर वात में अधिकाधिक हस्त-क्षेप दीखने लगता है—ये सव शहर वननेके तो प्रत्यक्ष-फल हैं, परन्तु जिन-'यान्त्रिक-आविष्कारों' से शहर वने हैं, उन आविष्कारों के ये अप्रत्यक्ष-फल हैं।

२. 'सामाजिक'-आविष्कार

हमने देखा कि 'यान्त्रिक-आविष्कार' से सामाजिक-परिवर्तन होते हैं। कभी-कभी ये परिवर्तन साधारण होते हैं, छोटे-छोटे होते हैं, कभी-कभी 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से होनेवाले सामाजिक-परिवर्तन वहुत वड़े होते हैं। उस अवस्थामें उन्हें केवल 'सामाजिक-परिवर्तन' (Social change) न कह कर 'सामाजिक-आविष्कार' (Social invention) कहा जाता है। वैसे तो 'आविष्कार' शव्दका प्रयोग भौतिक-विज्ञानके क्षेत्रमें किया जाता है, परन्तु क्योंकि ये परिवर्तन एक विल्कुल नई चीज़को पैदा कर देते हैं, इसलिये इन वड़े-वड़े परिवर्तनोंकेलिये 'परिवर्तन'-शव्दका प्रयोग न करके 'आविष्कार'-शव्दका प्रयोग किया जाता है। यह ध्यान देनेकी वात है कि 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से 'सामाजिक-आविष्कार' होते हैं, परन्तु यह ज़रूरी नहीं कि विना 'यान्त्रिक-आविष्कारों' के 'सामाजिक-आविष्कार' न होसकें। मोटर, रेल, टैलीफ़ोन, सिनेमा आदि 'यान्त्रिक-आविष्कार' हैं, इनसे 'उप-नगरों' (Suburbs) को वसानेकी प्रक्रियाका प्रारंभ होगया, जो एक 'सामाजिक-आविष्कार' है, परन्तु वॉयकाट (Boycott) तथा 'स्त्रियोंका मतदान' (Women's Suffrage) ऐसे 'सामाजिक-आविष्कार' हैं, जिनका किसी

'यान्त्रिक-आविष्कार' के साथ सम्बन्ध नहीं हैं। ये 'सामाजिक-आविष्कार' मनुष्य के दिमागकी उपज हैं, यान्त्रिक-उपज नहीं हैं।

'सामाजिक-आविष्कार' द्वारा सामाजिक-परिवर्तन—

हमने पहले देखा था कि 'यान्त्रिक-आविष्कार' का प्रभाव सामाजिक-परिवर्तनपर पड़ता है। मोटरके स्टार्टरके आविष्कारसे स्त्रियोंने पहलेसे अधिक संख्यामें मोटरें चलाना शुरू कर दिया। इसीप्रकार 'सामाजिक-आविष्कार' का भी प्रभाव सामाजिक-परिवर्तनपर पड़ता है। एक नया 'सामाजिक-आविष्कार' हुआ, उससे समाजमें नये-नये परिवर्तन होने लगते हैं, नई-नई सामाजिक लहरें उठ खड़ी होती हैं। 'मृत्यु-कर' (Death duty) एक 'सामाजिक-आविष्कार' है, इस आमदनीसे अगर सरकार नहर या बांध बनानेकी योजनाएँ चालू करे, तो किसानोंको पानी न मिलनेकी समस्या हल होसकती है। यह 'सामाजिक-आविष्कार' से सामाजिक-परिवर्तन का दृष्टांत है। जैसे एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' से अनेक सामाजिक-परिवर्तन होजाते हैं, वैसे एक 'सामाजिक-आविष्कार' से अनेक सामाजिक-परिवर्तन हो सकते हैं; जैसे अनेक 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से एक सामाजिक-परिवर्तन होजाता है, वैसे अनेक 'सामाजिक-आविष्कारों' से एक सामाजिक-परिवर्तन होसकता है। जैसे 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से सामाजिक-परिवर्तन और सामाजिक-आविष्कार होजाते हैं, वैसे 'सामाजिक-आविष्कारों' से यान्त्रिक-परिवर्तन और यान्त्रिक-आविष्कार होजाते हैं। इस प्रकरणमें 'परिवर्तन' और 'आविष्कार' में भेद मात्रा का है। साधारण परिवर्तनको हमने सिर्फ़ 'परिवर्तन' कहा है, असाधारण परि-वर्तन को 'आविष्कार' कह दिया है। संक्षेपमें, हम कह सकते हैं :—

(क) 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से दूसरे 'यान्त्रिक-आविष्कार' होसकते हैं,
(ख) 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से 'सामाजिक-आविष्कार' होसकते हैं,
(ग) 'सामाजिक-आविष्कारों' से दूसरे 'सामाजिक-आविष्कार' होसकते हैं,
(घ) 'सामाजिक-आविष्कारों से 'यान्त्रिक-आविष्कार' होसकते हैं।

३. 'आर्थिक' तथा 'यांत्रिक' भाग्य-निर्णयका सिद्धांत (ECONOMIC AND TECHNOLOGICAL DETERMINISM)

हमने देखा कि 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से 'सामाजिक-आविष्कार' तथा 'सामाजिक-आविष्कारों' से 'यान्त्रिक-आविष्कार' होते हैं। इस स्थानपर एक प्रश्न उठ खड़ा होता है : वह प्रश्न यह है कि इन दोनोंमेंसे कौन पहले है, कौन पीछे, कौन कारण है, कौन कार्य? आजकल ऐसे विचारकोंकी संख्या बढ़ती जारही है जिनका कहना है कि हर 'सामाजिक-परिवर्तन' अथवा 'सामाजिक-आविष्कार' का कारण

कोई-न-कोई 'यान्त्रिक-परिवर्तन' या 'यान्त्रिक-आविष्कार' होता है। दूसरे शब्दोंमें, उनका कहना यह है कि 'यान्त्रिक-आविष्कार' ही यह निर्णय करता है कि समाजमें कौन-सा परिवर्तन होगा। समाज जो-कुछ बन रहा है, वह 'यान्त्रिक-परिवर्तनों', 'यान्त्रिक-आविष्कारों' तथा 'यान्त्रिक-प्रभावों' के कारण बन रहा है, इन कारणोंके कारण समाज जो-कुछ बन रहा है, वह वही-कुछ बन सकता है, और कुछ बन ही नहीं सकता, बनना चाहे भी तो नहीं बन सकता, क्योंकि जैसा 'कारण' होगा, 'कार्य' का वैसा बनना लाज़मी होगा। यान्त्रिक-कारण ही समाजके भाग्यका निर्णय करता है, सब सामाजिक-परिवर्तनोंका आधार यान्त्रिक-कारण है—इसलिये इस सिद्धान्त को 'यान्त्रिक भाग्य-निर्णय-वाद' (Technological determinism) कहते हैं। समाज-शास्त्रमें इस विचारके समर्थक कई व्यक्ति हैं, जिनमेंसे हम कार्ल-मार्क्स (Karl Marx) तथा अमरीकन समाज-शास्त्री थौर्सटीन वेबलन (Thorstien Veblen)—इन दो के विचारोंकी समीक्षा करेंगे।

१. कार्ल-मार्क्स के तथा वेबलन के विचारों का मनोवैज्ञानिक आधार—

कार्ल-मार्क्स तथा वेबलनका कथन है कि 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक'-कारण समाजको जो-कुछ बनाते हैं, समाज वही-कुछ बनता है। इस विचारका आधार मनोविज्ञानका 'व्यवहारवाद' (Behaviorism) का सिद्धान्त है। 'व्यवहार-वाद' (Behaviorism) क्या है? इस वादका अभिप्राय यह है कि हमारे सामने जैसी 'परिस्थिति' आती है, वैसा हम 'व्यवहार' करने लगते हैं—हमारा सारा 'व्यवहार' 'परिस्थिति' द्वारा निर्धारित होता है। कठोर-परिस्थितियोंमें व्यक्ति और तरहका बन जाता है, आसान-परिस्थितियोंमें और तरहका बनता है। 'व्यव-हारवाद' (Behaviorism) का भी आधार एक दूसरा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है जिसे 'विषय-प्रतिक्रिया-वाद' (Stimulus-response theory) कहते हैं। हम जंगलमें जारहे थे, सामनेसे शेर आताहुआ दिखाई दिया, हम भाग खड़े हुए; हम शहरमें जारहे थे, सामनेसे एक दोस्त आताहुआ दिखाई दिया, हम आगे बढ़कर उससे हाथ मिलाने लगे। शेरको देखकर हम उससे हाथ मिलानेको आगे नहीं बढ़ते, मित्रको देखकर हम भाग नहीं खड़े होते। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिये होता है क्योंकि जैसा 'विषय' (Stimulus) हमारे सामने आता है, वैसी ही हम 'प्रतिक्रिया' (Response) करते हैं। हमारा सारा व्यवहार 'विषय-प्रतिक्रियाके सिद्धान्त' (Stimulus-response theory) के आधारपर चलता है। जो बात व्यक्तिके व्यवहारपर लागू है, वही समाजपर लागू होनी चाहिये। अगर व्यक्ति जो-कुछ है, जैसी प्रतिक्रिया करता है, जैसा व्यवहार करता है, उसका आधार

बाहर की 'परिस्थिति' है, तो समाज भी जो-कुछ है, जैसी प्रतिक्रिया करता है, जैसा व्यवहार करता है, उसका निर्णय बाहरकी 'परिस्थिति' द्वारा ही मानना पड़ेगा। समाजके सामने बाहरकी 'परिस्थिति' क्या है ? एक 'आर्थिक' परिस्थिति उत्पन्न होती है, एक 'यान्त्रिक-आविष्कार' होता है, समाजपर एकदम उस 'आर्थिक'-परिस्थिति तथा उस 'यान्त्रिक' आविष्कारका प्रभाव पड़ता है—'आर्थिक-परिस्थिति' अथवा 'यान्त्रिक-आविष्कार' के रूपमें एक 'विषय' (Stimulus) समाजके सामने आया, समाज झटसे 'सामाजिक-परिवर्तन' के रूपमें 'प्रतिक्रिया' (Response) करता है, इसलिये मानना पड़ता है कि 'आर्थिक-परिस्थिति' तथा 'यान्त्रिक-आविष्कार' समाजके भाग्यके 'निर्णायक' (Determinant) हैं।

२. कार्ल-मार्क्स के विचार—

मार्क्स का कथन था कि 'सामाजिक-रचना' (Social structure) का आधार 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक' कारण (Economic and Technical) हैं। हरेक आदमी जो-कुछ कर रहा है, पेट पालनेकेलिये कर रहा है। एक मजदूर मजदूर है, दूसरा ठेकेदार, एक काम कर रहा है, दूसरा करा रहा है, परन्तु जो व्यक्ति कर रहा है उसका उस कामको करनेसे, और जो करा रहा है उसका उस कामको करानेसे पेट भरता है, इसलिये एक मजदूरी कर रहा है, दूसरा ठेकेदारी कर रहा है। दूसरे शब्दोंमें, हम कह सकते हैं कि हमारे समाजका आधार 'आर्थिक' है। जिस काममें हमें आर्थिक-लाभ हो, वह हम करते हैं, जिसमें न हो वह नहीं करते। परन्तु ये 'आर्थिक-कारण' बहुत मन्द-गतिसे चल रहे हैं। 'यान्त्रिक-आविष्कारों' (Technical inventions) का यह परिणाम हुआ कि 'आर्थिक-कारण' समाज को जिस दिशामें ले जारहे थे, समाज उधर वेगसे चलने लगा। 'आर्थिक-कारणों' से कुछ लोग अमीर होरहे थे, कुछ गरीब होरहे थे, परन्तु 'यान्त्रिक-आविष्कारों' का यह परिणाम हुआ कि अमीर बहुत तेजीसे अमीर होने लगे, गरीब बहुत तेजीसे गरीब होने लगे ? किसी समय समाज कृषिके स्तरपर था, उससमय भी समाजमें अमीर और गरीब थे, परन्तु उससमय अमीर और गरीबका अन्तर इतना अधिक नहीं था। जबसे 'यान्त्रिक-आविष्कार' शुरू हुए तबसे यह भेद बड़े वेगसे बढ़ने लगा। क्यों बढ़ने लगा ? इसलिये बढ़ने लगा क्योंकि जो काम पहले पचास आदमी करते थे, उन्हें यन्त्रोंकी सहायतासे अब एक आदमी करने लगा। पहले पचास आदमियों को मजदूरी देनी पड़ती थी, अब एक आदमीको देनी पड़ी, उनचास आदमियोंकी मजदूरी मालिकको खर्च नहीं करनी पड़ी। यन्त्रोंके उपयोगका यह परिणाम हुआ कि किसी भी पदार्थकी उत्पत्तिमें श्रम-जन्य व्यय बहुत घट गया। इसके अतिरिक्त

जब हम यन्त्रकी सहायतासे या बिना यन्त्रकी सहायतासे, किसी मजदूरसे कोई काम कराते हैं, तब हम उसे कुछ घंटे काम करनेकी कुछ निश्चित मजदूरी देते हैं। कल्पना कीजिये, हमने ८ घंटे काम करनेकी २ रुपया मजदूरी दी। अगर ८ घंटेमें वह सिर्फ २ रुपयेका ही काम करे, तो क्यों कोई किसीसे मजदूरी कराये। करानेवालेको भी तो कुछ लाभ होना चाहिये। होता यह है कि मजदूर ८ घंटेमें १६ रुपयेका काम कर देता है, जिसमेंसे २ रुपये मालिकने उसे दिये, १४ रुपये अपने पास रख लिये। परन्तु यह २ रुपयेका काम तो उसने १ घंटे में कर लिया था—तभी तो उसने ८ घंटे में १६ रुपयेका काम किया था। इसका मतलब यह हुआ कि ८ घंटोंमेंसे १ घंटेकी मजदूरीका दाम तो मजदूरको मिला, ७ घंटे उसने मुफ्तमें काम किया। यह ७ घंटेका श्रम उसका 'अतिरिक्त-श्रम' (Surplus labour) है, और इस श्रमका मूल्य 'अतिरिक्त-मूल्य' (Surplus value) है। यह 'अतिरिक्त-मूल्य' (Surplus value) जो वास्तव में मजदूरने पैदा किया है, मजदूरकी जेबमें न न जाकर, मालिककी जेबमें चला जाता है, और इसप्रकार मालिक दिनोंदिन अमीर होता जाता है। पहले जब यन्त्रोंसे काम नहीं होता था, तब मजदूर लोग ८ घंटेका काम १ घंटेमें नहीं कर सकते थे, ६ या ७ घंटेमें करते होंगे। उस समय भी उनके 'अतिरिक्त-श्रम' का लाभ मालिकको होता था, परन्तु यन्त्रोंके आविष्कारके बाद तो यह लाभ बहुत अधिक बढ़ने लगा, इसलिये बढ़ने लगा क्योंकि यन्त्रोंसे पहले मजदूरको देरतक काम करना पड़ता था इसलिये उसका 'अतिरिक्त-श्रम' बहुत थोड़ा था, अब यन्त्र निकलनेके बाद 'अतिरिक्त-श्रम' बहुत अधिक बढ़ गया। पहले मजदूरके एक-दो घंटे मालिकको मुफ्तके मिलते थे, अब ५-६ घंटे मुफ्त मिलने लगे। इसप्रकार 'यान्त्रिक-आविष्कारों' (Technical inventions) ने क्या किया ? 'आर्थिक-कारणों' (Economic factors) के कारण समाज जिधर जारहा था, उसमें 'यान्त्रिक-आविष्कारों' ने तेजी कर दी। 'आर्थिक-कारणों' से कुछ लोग अमीर होरहे थे, कुछ गरीब होरहे थे। 'यान्त्रिक-आविष्कारों' ने इस प्रक्रियाको एकदम तेज कर दिया, समाजके सामने दो वर्ग बनकर उठ खड़े हुए, 'धनी-वर्ग' तथा 'निर्धन-वर्ग'। 'यान्त्रिक-आविष्कार' न होते, तो यह प्रक्रिया धीरे-धीरे होती, 'यान्त्रिक-आविष्कार' होगये, तो यह प्रक्रिया तेजीसे होगई, परन्तु यह निश्चित रूपसे कहा जासकता है कि 'आर्थिक-कारण' (Economic factors) जो समाजकी रचनाके आधार हैं, देरमें या जल्दी, समाजको वहीं लाकर खड़ा कर देते हैं जहां समाज आज आकर अमीर और गरीब—इन दो वर्गोंमें बंटकर खड़ा होगया है। इन वर्गोंमें समाजके बंटनेका कारण समाजका 'आर्थिक' आधार है——'यान्त्रिक-आविष्कारों' का काम सिर्फ इस आर्थिक-आधारमें तेजी लादेना है,

जैसे आग जल रही हो, तो हवाका काम आगको तेज़ कर देना है। जब अमीर और ग़रीबका भेद अत्यन्त उग्र होउठा, तब इनमें संघर्ष छिड़ जाना स्वाभाविक था—अमीर-ग़रीबके इस संघर्षको कार्ल-मार्क्स 'श्रेणी-युद्ध' (Class-war) का नाम देता है। 'श्रेणी-युद्ध' (Class-war) का उद्देश्य अमीर-ग़रीबके भेदको सदाकेलिये मिटा देना है। अगर निर्धन-वर्ग धनी-वर्गसे सम्पत्ति छीन ले, तब तो फिर अमीर ग़रीब बन जांय, ग़रीब अमीर बन जांय, यह संघर्ष वैसे-का-वैसा बना रहे। परन्तु ऐसा नहीं होता। यह संघर्ष तो भिन्न-भिन्न वर्गोंके बनजानेका परिणाम है, अतः इस संघर्षका परिणाम यह होना स्वाभाविक है कि सम्पत्ति किसी एक वर्गकी न रहकर पूरे समाजकी होजाय। उत्पादनके साधनोंपर जबतक व्यक्तियोंका अधिकार रहेगा, तबतक धनी-निर्धन—ये वर्ग भी बने ही रहेंगे, अतः इन वर्गोंको, इन श्रेणियोंको, और 'श्रेणी-युद्ध' को मिटानेकेलिये उत्पत्तिके साधनोंपर समाजका अधिकार होजाना आवश्यक है। जबतक समाज वैधानिक उपायोंसे सम्पत्तिके उत्पादक-साधनोंपर आधिपत्य जमानेका प्रयत्न करता है, तबतक इस प्रक्रियाको 'समाजवाद' (Socialism) कहते हैं, जब वैधानिक उपायोंको छोड़कर, अवैधानिक उपायोंसे, ज़ोर-जब्रसे इन साधनोंपर अधिकार किया जाता है, तब इसे 'कम्यूनिज्म' (Communism) कहते हैं। कार्ल-मार्क्सका कहना यह है कि 'श्रेणी-युद्ध' (Class-war) का काम 'वर्ग-युत्' समाजको 'वर्ग-हीन' समाज बनाना है। यह सारी प्रक्रिया अवश्यंभावी प्रक्रिया है। जैसी परिस्थिति हो वैसा मनुष्य बनता है, उससे भिन्न वह बन ही नहीं सकता, परिस्थिति ही मनुष्यका निर्माण करती है। इसीप्रकार जैसी परिस्थिति हो वैसा ही समाज बनता है, उससे भिन्न नहीं बन सकता। समाजकी रचनाके आधारमें जो 'आर्थिक'-कारण काम कर रहे थे उनका परिणाम अमीर-ग़रीबके भेदका उत्पन्न होजाना होना ही था, इसे कोई शक्ति नहीं रोक सकती थी। ये भेद धीरे-धीरे प्रकट हों, या तेजीसे प्रकट हों—यही सोचनेकी बात रह जाती थी। 'यान्त्रिक'-कारणोंने इन भेदोंको वेग दे दिया। ये भेद जबसे मनुष्य-समाज बना तभी से चले आ रहे हैं। 'यान्त्रिक'-कारणोंने इन भेदोंको उत्पन्न नहीं किया, इन कारणोंसे तो ये भेद अत्यन्त अधिक स्पष्ट होकर 'पूंजीवाद' (Capitalism) के रूपमें प्रकट होगये हैं, परन्तु यह समझना भूल है कि 'पूंजीवाद' एकदम आज उत्पन्न होगया। यह धीरे-धीरे उत्पन्न होरहा था, समाजकी हर प्रारंभिक रचनामें जो आर्थिक-विषमता थी, वह इसीकी छाया थी। हां, जैसे 'पूंजीवाद' उत्पन्न होरहा था, वैसे इसके विनाशके बीज भी इसके साथ-ही-साथ पनप रहे थे। आज 'पूंजीवाद' समाजके अवश्यंभावी आर्थिक-कारणोंसे उग्र रूपमें प्रकट हो गया है, साथ ही इसके विनाश की शक्तियां भी, जो इसके साथ-साथ पनप रही थीं,

उग्र रूप धारण कर गई हैं। इस संघर्षका परिणाम 'पूंजीवाद' का नाश होगा, वर्ण-हीन समाजकी स्थापना होगी, और तव यह संघर्ष जो 'आर्थिक'-कारणोंसे उत्पन्न हुआ है, 'यान्त्रिक'-कारणोंसे उग्र हुआ है, अपने-आप मिट जायगा, और तव आर्थिक-कारणोंसे उत्पन्नहोनेवाली सामाजिक-विषमता भी समाप्त होजायगी। कार्ल-मार्क्सका कहना है कि यह सारी प्रक्रिया एक अवश्यंभावी प्रक्रिया है, समाजमें जो-जो कारण उत्पन्न हुए हैं, उनका 'समाजवाद' अवश्यंभावी परिणाम है। 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक'-कारण समाजके भाग्यका इसीप्रकार निर्णय कर सकते हैं, दूसरी तरह नहीं, इसलिये इस दृष्टि-कोण को 'आर्थिक या यांत्रिक भाग्य-निर्णय का सिद्धांत' (Economic or Technological Determinism) कहते हैं।

३. वेवलन के विचार—

जैसे कार्ल-मार्क्स आर्थिक अथवा यांत्रिक 'भाग्य-निर्णय' (Determinism) के सिद्धान्तके आधारपर कहता है कि समाज-वाद एक ऐसी घटना है जिसे कोई शक्ति रोक नहीं सकती, यह कार्य-कारणकी शृंखलाका अवश्यंभावी परिणाम है, वैसे ही अन्य भी अनेक लेखक हैं जो समाजके वर्तमान रूपको आर्थिक-कारणोंका अवश्यंभावी परिणाम मानते हैं। अमरीकाका समाजवादी थौरस्टीन वेवलन (Thorstein Veblen) इसीप्रकारका विचारक है। उसका कहना है कि मनुष्य 'आदतों' (Habits) के सिवाय क्या है? मैं जो-कुछ हूं, वही हूं जो मेरी आदतों ने मुझे वना दिया है। एक सिपाही मशीनकी तरह राइट-लेफ्ट करताहुआ चला जाता है, कोई पाससे जाताहुआ भी 'हॉल्ट' कह दे, तो वह खट-से खड़ा हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिये होता है क्योंकि एक ही परिस्थितिमें वार-वार रहने से उसकी वैसी प्रतिक्रिया, वैसी आदत वन गई है। प्रत्येक व्यक्ति जो-कुछ है, अपनी परिस्थितिका अवश्यंभावी परिणाम है। खासकर, 'आदतों का पड़ जाना' (Habituation) इस वातका जीता-जागता प्रमाण है कि परिस्थिति ही मनुष्यको वनाती है। 'प्राकृतिक-शक्तियां' (Instincts) तो सवमें एक-सी हैं, फिर हरेकको अलग-अलग 'आदत' (Habit) क्यों वन जाती है? 'संचय' (Acquisition) की 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) है, परन्तु एक आदमी धनका संचय करने लगता है, दूसरा पुस्तकोंका, तीसरा टिकटोंका। ऐसा क्यों होता है? सभी धनका, या सभी पुस्तकोंका, या सभी टिकटोंका संग्रह क्यों नहीं करने लगते? इसलिये नहीं करने लगते क्योंकि सव भिन्न-भिन्न परिस्थितियोंमें पले हैं, सवकी 'आदतें' (Habits) उन-उन परिस्थितियोंके अनुसार वनी हैं। इसीप्रकार एक व्यक्तिको पहले एकप्रकारकी परिस्थितिमें रखा जाय, तो उसकी एक खास प्रकारकी 'आदतें' (Habits) वनती हैं, अगर वादको उसे दूसरे प्रकारकी परिस्थितिमें रख दिया

जाय, तो उसकी पहली आदतें हटती जाती हैं, दूसरेप्रकारकी आदतें, जो परिवर्तित परिस्थितिका परिणाम होती हैं, पड़ती जाती हैं। परिस्थितिकेप्रति व्यक्ति जो प्रतिक्रिया करता है उसकेअनुसार वह कभी कुछ और कभी कुछ बन जाता है। इसका यह स्पष्ट मतलब हुआ कि मनुष्य जो-कुछ है, परिस्थितिसे उसका निर्णय होता है। ठीक इसीतरह समाज जो-कुछ है, उसका निर्णय भी परिस्थिति करती है। वेबलनका कथन है कि समाजकी आधारभूत परिस्थिति 'आर्थिक' (Economic) है, इसलिये यह आर्थिक-परिस्थिति ही समाजको वह बना देती है, जो-कुछ समाज हमें दीखता है। वेबलनका यह विचार 'आर्थिक भाग्य-निर्णय' (Economic determination) का सिद्धान्त है, और क्योंकि 'आर्थिक-कारण' और 'यान्त्रिक-कारण' मिले-जुले हैं, अतः इसे 'यान्त्रिक भाग्य-निर्णय' (Technological determination) भी कहा जासकता है।

वेबलन तथा मार्क्सके विचारोंका आधार एक ही है, इन दोनोंके विचारोंमें भेद इतना ही है कि वेबलन तो प्रत्येक सामाजिक-परिवर्तनका कारण 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक' बतलाता है, इससे अधिक वह आगे नहीं बढ़ता, मार्क्स भी सामाजिक-परिवर्तनका कारण 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक' बतलाता है, परन्तु वह कहता है कि इन परिवर्तनोंकी दिशा समाजमें दो वर्ग--धनी तथा निर्धन--बनानेकीतरफ़ है। जहांतक इन दोनोंके विचारोंका आधार एक ही है वहांतक दोनों 'आर्थिक' अथवा 'यान्त्रिक'-भाग्य-निर्णय-वादी (Determinists) हैं।

४. आर्थिक तथा यांत्रिक भाग्य-निर्णय के सिद्धान्त की समीक्षा

तो क्या यह बात ठीक है कि आर्थिक तथा यान्त्रिक कारणही सामाजिक-परिवर्तनोंका अन्तिम तौरपर निर्णय कर देते हैं, सामाजिक-परिवर्तनोंकी स्वतन्त्र-रूपमें कोई सत्ता नहीं है, आर्थिक तथा यान्त्रिक-परिवर्तन पहले होते हैं, सामाजिक-परिवर्तन बादको होते हैं, पहले परिवर्तन 'कारण' हैं, दूसरे परिवर्तन 'कार्य' हैं?

(१) यह तो माना जा सकता है कि आर्थिक तथा यान्त्रिक परिवर्तन बहुत महत्वपूर्ण हैं, परन्तु ये 'कारण' हैं, और सामाजिक-परिवर्तन 'कार्य' हैं—यह तो हमने ऊपर जो-कुछ लिखा, उसमेंसे किसी बात से सिद्ध नहीं होता। यह ठीक है कि इन दोनोंका 'पारस्परिक-सम्बन्ध' (Correlation) है, समाजमें ये एक-साथ काम करतेहुए दीखते हैं, परन्तु वह संबंध 'कार्य-कारण-संबंध' (Causal relation) है, 'सम-सत्ताक-संबंध' (Concomitant) नहीं—इसमें क्या युक्ति है? उदाहरणार्थ, 'सेल्फ़ स्टारटर' के यान्त्रिक-आविष्कारके बाद स्त्रियोंने मोटर चलाना शुरू शुरू कर

दिया—यह हम देख चुके हैं। यह कहना कि 'सेल्फ़ स्टारटर' का आविष्कार स्त्रियोंके मोटर चलाना सीखनेमें कारण है, ग़लत है। कारण तो यह तब होता अगर हम सिद्ध कर सकते कि अगर यह आविष्कार न होता, तो स्त्रियां मोटर चलाती ही नहीं। पर ऐसी बात कौन कह सकता है? स्त्रियोंमें एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेकी, मेल-जोलकी जो प्रबल भावना है उससे वे हेंडल चलाना ही शुरू कर देतीं, या और कोई उपाय निकाल लेतीं। इसके अतिरिक्त, यह क्यों न माना जाय कि जल्दी-जल्दी जगह-से-जगह जानेकी सामाजिक-इच्छाने 'सेल्फ़ स्टार्टर' को जन्म दिया? इस दृष्टिसे आर्थिक एवं यान्त्रिक आविष्कारों तथा सामाजिक-परिवर्तनोंका आपसका सम्बन्ध 'कारण-कार्य' (Cause and effect) का सम्बन्ध माननेकी अपेक्षा यह मानना अधिक युक्ति-युक्त है कि इन दोनोंकी सत्ता एक कालमें दीख पड़ती है, इनका 'सम-सत्ताक-संबंध' (Concomitant relation) है, 'सम-सत्ताक', अर्थात् जिन दो बातोंकी एक ही समयमें साथ-साथ सत्ता हो, जो आगे-पीछे नहीं, एक-साथ हों।

(२) यह ठीक है कि 'आदतोंका पड़ना' (Habituations) सिद्ध करता है कि मनुष्य जो-कुछ बनेगा उसका निर्णय परिस्थिति करती है, इसीप्रकार समाज जो-कुछ बनेगा उसका भी निर्णय आर्थिक तथा यान्त्रिक परिस्थिति करती है। परन्तु आजकल तो वर्तमान पाश्चात्य-सभ्यताके प्रभावके कारण सब जगह एक-सी आर्थिक तथा यान्त्रिक-परिस्थिति उत्पन्न होगई है, फिर सब जगहका समाज भिन्न-भिन्न क्यों है? अगर परिस्थिति ही समाजकी रचना का निर्णय करती है, तो अब तो इस सभ्यताने सारे संसारमें एक-सी ही परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। एक-ही-से रेल, तार, मोटर, हवाई जहाज़, एक-ही-से अमीर-ग़रीब के भेद, फिर एक समाज दूसरेको धरतीपरसे मलियामेट करनेके मनसूबे क्यों बांधने लगता है? जातियोंके उत्थान और पतनमें, उनके सोचने और विचारनेमें, जातियोंकी आवश्यकतामें आर्थिक और यान्त्रिक कारण होते हैं, इससे इंकार नहीं किया जासकता, परन्तु इन कारणोंके अतिरिक्त दूसरे भी कई कारण होते हैं, इससे भी तो इन्कार नहीं किया जासकता। ऐसे भी देश हैं जिनकी सभ्यता परार्थवादी रही है, पारलौकिक रही है। भारतका दृष्टिकोण सदा पारलौकिक दृष्टि-कोण रहा है। यह सब सिद्ध करता है कि समाजके परिवर्तनोंका निर्णय आर्थिक और यान्त्रिक कारणोंसे ही नहीं होता, समाज स्वयं भी अपने भाग्यका निर्णय किया करता है।

(३) यह कहना कि परिस्थिति ही समाज को बनाती है उतना ही ग़लत है जितना यह कहना कि समाज परिस्थितिको बनाता है। सत्य यह है कि परिस्थिति का समाजकी रचनापर प्रभाव पड़ता है, और समाजकी रचनाका परिस्थितिपर

प्रभाव पड़ता है। हम नहीं कह सकते कि एक कारण ह, दूसरा कार्य है, यही कहना युक्तियुक्त है कि दोनों एक-साथ हैं। यह ठीक है कि अच्छी ज़मीन होगी, तो अच्छा पेड़ उगेगा, परन्तु बीजकी भी अपनी कोई हस्ती है, या नहीं? बीज अपनेमें स्वयं एक संसार है, उसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है, उसकी अपनी वंश-परंपरा है। आमके बीजसे जामन नहीं पैदा होगा--परिस्थिति कितना ही ज़ोर मार ले, ऐसा नहीं होगा। बीज और ज़मीन इन दोनोंमेंसे मुख्य कौन-सा तत्व है? बीज या ज़मीन? असली चीज़ तो बीज है--फिर इसके विषयमें यह कहना कि परिस्थिति ही इसे जो-कुछ बनायेगी वह वही-कुछ बनेगा, कहां-तक ठीक है? ऐसा क्यों न कहा जाय कि बीजकी अपनी जो स्वतंत्र सत्ता है उसीको लक्ष्यमें रखकर यह परिस्थितिके प्रति प्रतिक्रिया करता है। संसारकी हरेक वस्तुका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है। पृथिवी बाहरके प्रभावोंसे ही नहीं, अपने व्यक्तित्व के कारण, अन्दरसे, अपने-आप भी बदल रही है, आस्मानके तारे, चन्द्र, सूर्य--इन सबपर बाहरका, परिस्थितिका प्रभाव पड़ रहा है, परन्तु इनके भीतरसे भी इनके अपने-अपने परिवर्तन हो रहे हैं। तो फिर कैसे मान लिया जाय कि मानव-समाजको सिर्फ़ बाहरके, परिस्थितिके परिवर्तन ही प्रभावित कर रहे हैं, इसके अपने भीतरसे कोई परिवर्तन नहीं उठ रहे? समाज-शास्त्रमें, 'परिस्थिति ही समाजका भाग्य-निर्णय करती है'—यह कहनेवाले जैसे 'भाग्य-निर्णय-वादी' (Determinists) हैं, वैसे 'परिस्थिति नहीं, समाज अपने-आप अपना भाग्य-निर्णय करता है'—ऐसा कहनेवाले 'पुरुषार्थ निर्णय-वादी' (Anti-determinists) भी हैं। उनका कहना है कि ग्रीस सभ्यताके शिखरपर पहुँचा, कौन-सी भौतिक परिस्थिति थी जिससे वह इतने उन्नत विचारोंको जन्म दे सका? ग्रीसके विद्वान् परिस्थितिके परिणाम नहीं थे, अपनी प्रतिभा लेकर पैदा हुए थे।

जैसा हमने देखा, इन दोनों दृष्टियोंमें समन्वयात्मक-दृष्टि ही सही दृष्टि है। न यह कहना ठीक है कि आविष्कार ही सब-कुछ हैं, न यह कहना ठीक है कि समाज ही सब-कुछ है। बीज और ज़मीनके मेलसे वृक्ष उगता है, आविष्कारोंकी ज़मीन और समाजकी अन्तःप्रेरणाओंके बीजसे ही सामाजिक-परिवर्तनोंमेंसे गुज़रता हुआ समाज-रूपी विशाल-वृक्ष खड़ा होता है—यही सत्य दृष्टि है।

प्रश्न

१. यान्त्रिक-आविष्कारोंका सामाजिक-परिवर्तनों और सामाजिक-परिवर्तनों का यान्त्रिक-आविष्कारोंपर क्या प्रभाव है, यह दृष्टांत देकर समझाइये।

२. एक यान्त्रिक-आविष्कारके अनेक सामाजिक-परिणाम और अनेक

यान्त्रिक-आविष्कारोंके एक सामाजिक-परिणामका दृष्टांत दीजिये ।

३. 'यान्त्रिक-आविष्कार' (Technological inventions) तथा 'सामाजिक-आविष्कार' (Social inventions) का अर्थ समझाइये ।

४. 'आर्थिक' एवं 'यान्त्रिक'—भाग्य-निर्णयके सिद्धान्त (Economic or Technological Determinism) का क्या अर्थ है ?

५. कार्ल-मार्क्स तथा वेवलनके 'भाग्य-निर्णय-वाद' (Determinism) का मनो-वैज्ञानिक आधार क्या है ?

६. कार्ल-मार्क्स ने 'आर्थिक-भाग्य-निर्णय' के सिद्धान्त को अपनी विचार-धारामें कैसे प्रकट किया है ?

७. 'आर्थिक-कारण' समाज को किस प्रकार प्रवाहित करते हैं । 'आर्थिक-कारणों' को 'यान्त्रिक-आविष्कार' क्या सहायता पहुंचाते हैं ?

८. वेवलनका कथन है कि 'आदतोंका पड़ जाना' (Habituation) —यह सिद्ध करता है कि मनुष्य परिस्थितिका ही परिणाम है । इस कथनको स्पष्ट कीजिये ।

९. 'कार्य-कारण-संवंध' (Causal relation) तथा 'सम-सत्ताक-संवंध' (Concomitant relation) का अर्थ समझाते हुए यह वतलाइये कि आर्थिक एवं यान्त्रिक-परिवर्तनोंका सामाजिक-परिवर्तनोंके साथ इन दोनोंमेंसे कौन-सा संवंध है ?

१०. 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक'-भाग्य-निर्णय-वाद (Determinism) की समीक्षा करतेहुए 'पुरुषार्थ-निर्णय-वादियों' (Anti-determinists) का क्या कथन है —यह भी स्पष्ट कीजिये ।

[१२]

सामाजिक-परिवर्तनोंपर सांस्कृतिक-प्रभाव

(CULTURAL FACTORS AFFECTING SOCIAL CHANGE)

हमने देखा कि सामाजिक-परिवर्तनोंको लानेमें 'प्राणि-शास्त्रीय-तत्वों' (Biological factors) का क्या प्रभाव है, हमने यह भी देखा कि इन्हें लानेमें 'यान्त्रिक-तत्वों' (Technological factors) का क्या प्रभाव है, इस अध्यायमें हम यह देखनेका प्रयत्न करेंगे कि समाजमें जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें लानेमें 'संस्कृतिके तत्वों' (Cultural factors) का क्या प्रभाव है ? इससे पहले कि हम सीधा इस विषयपर आयें, यह जान लेना आवश्यक है कि 'संस्कृति' (Culture) क्या है, एवं 'संस्कृति' (Culture) तथा 'सभ्यता' (Civilization) में क्या भेद है ?

१. 'संस्कृति' क्या है ?

मनुष्य इकला नहीं रहता। इसके दो कारण हैं। एक है—'परिस्थिति' (Environment), दूसरा है—'वंशानुसंक्रमण' (Heredity)। 'परिस्थिति' के कठोर थपेड़ोंका यह इकला मुकाबिला नहीं कर सकता। कभी खानेको मिलता है, कभी नहीं मिलता, कभी भयंकर सर्दी है, कभी भयंकर गर्मी। खाना पैदा करनेके लिये, सर्दी-गर्मीसे रक्षाकेहेतु झोंपड़ी-मकान बनानेकेलिये उसे दूसरोंकी सहायताकी जरूरत पड़ती है। 'परिस्थिति' के अतिरिक्त 'वंशानुसंक्रमण' की अनेक बातोंके कारण भी वह इकला नहीं रहसकता। कोई व्यक्ति पैदाइशसे ही कमजोर है, कोई बलवान, कोई असमर्थ है, कोई समर्थ। कमज़ोर बलवानके सहारे अपनी जीवन-रक्षा करता है, असमर्थ समर्थसे सहायता पाकर जीवित रहता है। जब इन दोनों कारणोंसे मनुष्य इकला नहीं रहसकता, तो वह 'समूह' (Group) बनाता है। 'समूह' बनानेके बाद प्रत्येक मनुष्य दूसरे 'मनुष्य' तथा 'समूह' के साथ यूं-ही, ऊट-पटांग नहीं बरतता, किन्तु एक खास ढंगसे बरतता है। अगर कोई व्यक्ति हमसे मिलता है, तो हम उसकी चोटी पकड़कर नहीं खींचने लगते, उससे हाथ मिलाते हैं, कुछ मुस्कराते हैं, उसका हाल-चाल पूछते हैं। अगर हम किसी समूहमें जाते हैं,

तो सब वैठेहुए हों तो सवकेसाथ जाकर वैठ जाते हैं, खड़े हुए हों, तो सवकेसाथ खड़े होजाते हैं। सव खड़ेहुए हों और हम जाकर वैठ जांय, सव वैठे हों और हम जाकर खड़े हो जांय--ऐसा नहीं करते। समाजमें रहते-रहते प्रत्येक व्यक्ति वैसा व्यवहार करने लगता है जैसा व्यवहार समाजसे उसने सीखा होता है। माता, पिता, गुरु--ये सव समाजके ही अंग हैं। इनसे हम पढ़ना, लिखना, वोलना, गाना तथा अन्य सब व्यवहार सीखते हैं। यह-सब व्यवहार हमने प्रकृतिसे नहीं सीखा होता, अपने साथके दूसरे व्यक्तियोंसे सीखा होता है। 'व्यक्ति' का 'व्यक्ति' के साथ, 'व्यक्ति' का 'समूह' के साथ, जो समाजमें रहकर सीखाहुआ व्यवहार है, उसीको --'संस्कृति' (Culture)--कहा जाता है। उदाहरणार्थ, पिता, माता, वच्चे--ये 'व्यक्ति हैं, इनके मिलनेसे 'परिवार' एक प्रकारका 'समाज' वनता है। इस समाजमें पिताका माताकेसाथ, वच्चोंका पिता तथा माताकेसाथ--हर व्यक्तिके-साथ जो व्यवहार है, वह 'संस्कृति' कहाता है। इनमेंसे एक-एक व्यक्तिका सारे परिवारकेसाथ भी एकप्रकारका व्यवहार वनता है--यह भी 'संस्कृति' है। संसारमें भिन्न-भिन्न प्रकारके समाज तथा समुदाय हैं, परन्तु 'परिवार' सव समुदायोंमें पाया जाता है। जंगली जातियोंमें भी परिवार' है, सभ्य जातियोंमें भी 'परिवार' है। किसी समाजके परिवारमें पुरुष-स्त्रीको अपने पैरकी जूती समझता है, किसीमें पुरुष और स्त्रीके अधिकार वरावर समझे जाते हैं, किसी समाजके परिवारमें लड़की को पैदा होते ही मार दिया जाता है, किसीमें मारनेवालेको जेल होजाती है। 'परिवार' तो एक ही वस्तु है, संसारके सभी परिवारोंमें माताएं हैं, पिता हैं, वच्चे हैं, परन्तु एक समाजमें 'परिवार' की प्रथाएं, उसका वर्ताव, उसका व्यवहार एक तरहका है, दूसरे समाजमें दूसरीतरहका। 'परिवार' की रचना संसारभरमें एक ही तरहकी होते हुए भी जिस वस्तुके कारण सव परिवारोंका व्यवहार भिन्न-भिन्न-तरहका होता है वही उस-उस समाज की 'संस्कृति' (Culture) है। 'संस्कृति' सीखाहुआ व्यवहार है, प्रकृतिसे मनुष्यको मिलाहुआ व्यवहार नहीं। सांस लेना, हाथोंसे पकड़ना, पैरोंसे चलना --ये सव सीखाहुआ व्यवहार नहीं है, प्रकृतिसे मनुष्यको मिला हुआ व्यवहार है। इसे 'संस्कृति' नहीं कहा जाता। हां, प्राणायाम, हाथों और पैरोंके आसन तथा व्यायाम सीखाहुआ व्यवहार है, अतः सांस लेना तो 'संस्कृति' नहीं, परन्तु प्राणायाम 'संस्कृति' है, हाथ-पैर चलाना तो 'संस्कृति' नहीं, आसन तथा व्यायाम 'संस्कृति' है क्योंकि ये सीखीहुई वातें हैं।

'संस्कृति' को पूरीतरह समझनेकेलिये हमें 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pattern), 'संस्कृति-संकुल' (Culture complex) तथा 'संस्कृतिका विशिष्ट-गुण' (Culture trait)--इन तीनको समझ लेना आवश्यक है।

१. 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pattern)—

हमने अभी कहा था कि 'परिवार' की रचना संसारभरमें एक-सी है, परन्तु भिन्न-भिन्न समुदायोंमें 'परिवार' का व्यवहार भिन्न-भिन्न होता है। भारतके 'परिवार' में स्त्री दवीहुई रहती है, रसोई-चौका-चूल्हा ही अपना क्षेत्र समझती है, अमेरिकाके 'परिवार' में वह दफ्तरमें काम करती है, पुरुषके हर-क्षेत्रको अपना क्षेत्र समझती है। यह भिन्नता क्यों है ? यह भिन्नता इसलिये है क्योंकि भारतकी 'संस्कृति' का अपना एक धुंधला-सा 'आदर्श-नक्शा', एक 'मान', एक 'नमूना' बना हुआ है, वंश-परंपराद्वारा सदियोंसे वह 'आदर्श-नक्शा', वह 'मान,' वह 'नमूना' चलता चला आ रहा है। शास्त्रोंको न जानताहुआ भी प्रत्येक हिंदू यह जानता है कि उसकी 'संस्कृति' इस-इस तरहकी है, इसके अनुकूल चलना और इसके प्रतिकूल न चलना ही उसकेलिये उचित है। संस्कृतिकी इसी 'आदर्श-कल्पना' को, इसी 'मान' को, इसी 'नमूने' को जिसकी तुलनामें हम अपने व्यवहारको ठीक या गलत कहते हैं, 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pattern) कहा जाता है। 'प्रतिमान' (Pattren) का अर्थ है मापनेका वह पैमाना जिसके द्वारा हम अपने व्यवहारको सही या गलत कहा करते हैं, इसीके द्वारा हर वस्तुका मूल्य ठहराया करते हैं, इसको तो हम सही मानकर चलते हैं, दूसरी चीजोंको इसके अनुकूल होनेपर सही और प्रतिकूल होनेपर गलत कहा करते हैं।

२. 'संस्कृति-संकुल' (Culture complex)—

प्रत्येक वस्तुके कुछ हिस्से होते हैं, उन हिस्सोंके मिलनेसे ही वह वस्तु बनती है। 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pattern) के भी अपने हिस्से हैं, इन हिस्सों को 'संस्कृति-संकुल' (Culture complex) कहते हैं। 'अश्वारोही-सेना' का निर्माण एक 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pattern) है, परन्तु इसमें घोड़ोंकी शिक्षा, अच्छे घोड़ोंकी नस्ल पैदा करना आदि उस 'प्रतिमान' (Pattern) के हिस्से हैं। ये हिस्से कई हैं, अलग-अलग हैं, और सब मिलकर संस्कृतिके 'प्रतिमान' (Pattern) को बनाते हैं।

३. 'संस्कृतिके विशिष्ट-गुण' (Culture traits)—

जैसे हरेक वस्तुके हिस्से, और हिस्सोंके अन्य छोटे-छोटे हिस्से होते हैं, वैसे 'संस्कृति' के 'प्रतिमान' (Pattern) के हिस्सोंको 'संकुल' (Complex) और 'संकुल' के हिस्सोंको 'विशिष्ट-गुण' (Traits) कहते हैं। 'अश्वारोही-सेना' को 'संस्कृति-प्रतिमान' कह सकते हैं, लड़ाईकेलिये घोड़ोंको साधनेको 'संस्कृति-संकुल' कह सकते हैं, घोड़ेकी नाल, घोड़ेकी चाबुक, घोड़ेकी लगाम—इन सबको,

अलग-अलग, 'संस्कृतिका विशिष्ट-गुण' कह सकते हैं। ये 'विशिष्ट-गुण' (Traits) 'संस्कृति' की इकाइयां हैं। 'विशिष्ट-गुणों' (Traits) के मिलनेसे 'संकुल', और 'संकुलों' (Complexes) के मिलनेसे 'प्रतिमान' (Pattern) बनते हैं।

जब हम कहते हैं कि 'सांस्कृतिक-तत्वों' (Cultural factors) का सामाजिक-परिवर्तनोंपर प्रभाव पड़ता है, तब हमारा अभिप्राय यह होता है कि 'संस्कृतिके विशिष्ट-गुण' (Culture traits) 'संस्कृति-संकुल' (Culture complexes) को प्रभावित करते हैं, 'संस्कृति-संकुल' (Culture complexes) 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pattern) को प्रभावित करते हैं, और 'संस्कृति-प्रतिमान' समाजके अन्य सभी परिवर्तनोंको प्रभावित करते हैं।

२. 'सभ्यता' क्या है ?

'संस्कृति' (Culture) तथा 'सभ्यता' (Civilization)—इन शब्दोंके प्रयोगमें अक्सर गड़बड़ होजाती है, अतः इन दोनोंके भेदको समझनेकेलिये यह भी जान लेना आवश्यक है कि 'सभ्यता' क्या है ?

हमने देखा कि 'संस्कृति' एक ऐसी वस्तु है जिसके मूल्यका निर्धारण हम नहीं करते, जिसका अपना ही मूल्य है। यह हमारे जीवनके सारे व्यवहारको बनाती रहती है। 'संस्कृति' के सम्बन्ध में हम यह नहीं सोचते कि यह स्वयं ठीक है, या ग़लत। यह जो-कुछ भी है, ठीक या ग़लत, यह हमारे जीवनके प्रवाहका उद्गम-स्रोत है। अच्छी है, बुरी है, या कैसी भी है, यह हमारी है। यह तो हमारे सामने एक 'प्रतिमान' (Pattern) उपस्थित कर देती है, एकतरहका हमारे हाथमें पैमाना दे देती है, हम जो-कुछ भी करते हैं, इस पैमानेसे, 'प्रतिमान' (Pattern) से मापकर देख लेते हैं, जो व्यवहार इसके अनुकूल बैठता है वह ठीक, जो अनुकूल नहीं बैठता, वह ग़लत। जिस देशकी कोई 'संस्कृति' होती है, वह देश उस 'संस्कृति' का संस्कृतिके तौरसे मूल्यांकन नहीं करता। दूसरे लोग भले ही बहस करते रहें कि वह संस्कृति अच्छी है या बुरी, वह देश स्वयं तो इस बातको मानकर चलता है कि उसकी 'संस्कृति' आदर्श है, वह देश अपने अन्य सारे व्यवहारकी परख, अपने सारे व्यवहार का मूल्य, इस 'संस्कृति' के द्वारा आंकता है, ठीक इसतरह जैसे एक दर्जी फुटे को तो एक पैमाना मानकर चलता है, उसके विषयमें बहस नहीं करता, परन्तु जिस कपड़े को भी मापता है उसे फुटेकेद्वारा मापता है, अगर कपड़ा उस मापसे ठीक बैठता है, तो ठीक, नहीं बैठता, तो ग़लत। 'संस्कृति' किसी वस्तुकेलिये 'साधन' (Means) नहीं, वह स्वयं तो 'साध्य' (End) है, साधनका मूल्य आंका जाता है, वह ठीक है या ग़लत, यह देखा जाता है, साध्यका मूल्य नहीं आंका जाता। 'संस्कृ-

ति' की तुलना में 'सभ्यता' स्वयं साध्य नहीं, साधन है, इसलिये 'सभ्यता' के विषय में सोचा जाता है कि संस्कृतिके पैमानेको सामने रखतेहुए इसका कोई मूल्य है या नहीं? 'संस्कृति' का अपना मूल्य है, 'सभ्यता' का संस्कृतिकेद्वारा मूल्य है, अपना कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं। सभ्यताका स्वतंत्र 'मूल्य' नहीं होता, इसकी तो स्वतंत्र 'उपयोगिता' होती है। टाइप राइटर, प्रेस, फैक्टरी, कुर्सी, मेज, मकान, गाड़ी, मोटर,—ये सब साध्य नहीं, साधन हैं, 'संस्कृति' के नहीं, 'सभ्यता' के निदर्शक हैं, इनका मूल्य अपने में कुछ नहीं, जहांतक इनकी उपयोगिता है वहींतक इनका मूल्य है, जहां इनकी उपयोगिता नहीं रही, वहां इनका मूल्य कुछ नहीं रहता। अच्छी-से-अच्छी मोटर जहां कामकी न रहे वहां उसे मट्टीके भाव भी कोई लेनेको तय्यार नहीं होता। इसीलिये हम कहते हैं कि 'सभ्यता' को 'उपयोगिता' (Utility) से परखा जाता हैं, जब कोई वस्तु उपयोगी नहीं रहती तब वह 'सभ्यता' के क्षेत्रमें भी नहीं रहती, बेकार होजाती है।

३. 'संस्कृति' तथा 'सभ्यता' की तुलना

अभी हमने जो-कुछ विचार किया उस दृष्टिसे 'संस्कृति' (Culture) तथा 'सभ्यता' (Civilization) की तुलनाके संबंधमें निम्न बातें कही जासकती हैं:-

(१) 'सभ्यता' किसी उद्देश्यको प्राप्त करनेका 'साधन' है, इसलिये इसे मापा जासकता है। बैलगाड़ी के द्वारा हम एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुंचते हैं, मोटर के द्वारा भी हम एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचते हैं। बैलगाड़ी तथा मोटर दोनों किसी लक्ष्य तक पहुंचनेके 'साधन' हैं। बैलगाड़ीकेद्वारा हम जहां जाना हो वहां देरमें पहुंचते हैं, मोटर द्वारा जल्दी—इस दृष्टिसे मोटर बैलगाड़ीकी अपेक्षा ज्यादा कार्य-क्षमता, ज्यादा उपयोगितावाली है। गति और चाल के पैमानेसे हम बैल-गाड़ी और मोटर दोनों की कार्य-क्षमता और उपयोगिता को माप सकते हैं। अगर बैलगाड़ी घंटेमें ६ मील और मोटर ३० मील की रफतारसे चलती है, तो हम यह कह सकते हैं कि मोटर बैलगाड़ीसे ५ गुणा अधिक उपयोगी और कार्य-क्षम है। 'सभ्यता' की वस्तुओंमें 'साधन' का माप-तोलकी दृष्टि से विचार हो सकता है। परन्तु 'साधन' (Means) जिस 'साध्य' (End) को पूरा करता है उसके विषयमें हम किस दृष्टिसे विचार करते हैं? 'साध्य' का अर्थ है—'लक्ष्य'। 'साधन' के विषयमें तो पूछा जासकता है कि वह उपयोगी है या नहीं, अपने लक्ष्य को सिद्ध करता है या नहीं, परन्तु 'लक्ष्य' के विषयमें तो यह नहीं पूछा जा सकता कि वह उपयोगी है या नहीं। 'साध्य' अर्थात् 'लक्ष्य' (End) की उपयोगिता अथवा कार्य-क्षमता नहीं देखी जाती, उसकेद्वारा हर पदार्थका 'मूल्य (Value) आंका जाता है, उसके

द्वारा 'मूल्यांकन' (Valuation) किया जाता है, यह पूछा जाता है कि हम जो-कुछ कर रहे हैं वह हमारे 'लक्ष्य' के अनुकूल है या प्रतिकूल ? हाईड्रोजन-बॉम्ब एक साधन है, इससे बड़े-बड़े शहर एक सेकेन्डमें राख बनाये जा सकते हैं, गोली-बारूद से यह विनाशके क्षेत्रमें ज्यादा उपयोगी, ज्यादा कार्य-क्षम है, परन्तु प्रश्न उठ सकता है कि विनाशका समाजके जीवनमें क्या मूल्य है, इसका क्या लाभ, क्या फायदा है ? जहांतक हम हाईड्रोजन बॉम्बपर एक 'साधन' की दृष्टिसे विचार करते हैं, वहांतक हम 'सभ्यता' की दृष्टिसे विचार कर रहे हैं, जहां हमने इसके मूल्य, इसके फ़ायदेपर विचार करना शुरु किया, वहां 'संस्कृति' के क्षेत्रमें प्रवेश कर गये। 'संस्कृति' का काम 'मूल्यांकन' (Valuation) है--अपना नहीं, अपने पैमानेसे सभ्यताका। संसारकी संस्कृतियां भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये एक संस्कृतिकी दृष्टिसे हाईड्रोजन-बॉम्ब अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु होसकती है, दूसरी 'संस्कृति' की दृष्टिसे अत्यन्त गर्हित वस्तु होसकती है, परन्तु इसकी कार्य-क्षमतामें किसीको सन्देह नहीं होसकता। मूल्यवान् हो, या गर्हित हो--दोनों हालतों में यह उसका मूल्य आंकना है। यह होसकता है कि 'सभ्यता' की दृष्टिसे एक वस्तु अत्यन्त ऊंची हो, उपयोगी हो, और 'संस्कृति' की दृष्टिसे वह अत्यन्त नीची हो, मूल्यहीन हो। हाईड्रोजान-बॉम्ब 'सभ्यता' की दृष्टिसे बड़ी ऊँची चीज़ है, भारतीय-'संस्कृति' की दृष्टिसे यह अत्यन्त नीची चीज़ है। हम पहले कह चुके हैं कि कोई देश अपने 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pattern) का मूल्य नहीं आंकता, उसे तो वह आदर्श समझकर ही चलता है, परन्तु उसके मापसे अन्य वस्तुओंका मूल्य आंकता है। योरुपकी संस्कृतिके 'प्रतिमान' (Pattern) के अनुसार हाईड्रोजन-बॉम्ब का मूल्य ऊंचा होसकता है, भारतकी संस्कृतिके 'प्रतिमान' (Pattern) के अनुसार इसका मूल्य नीचा होसकता है। कोई संस्कृति अपना मूल्य अपने-आप तो नहीं आंकती, परन्तु अन्य हर-वस्तुका मूल्य अपने 'प्रतिमान' (Pattern) के अनुसार, अपनी आदर्श-कल्पनाके अनुसार, अपने माने हुए फुटेके अनुसार मापती रहती है। जब हम किसी दूसरी संस्कृतिकेसाथ अपनी संस्कृतिकी तुलना करतेहुए उसका, या अपनी संस्कृतिका स्वतंत्र मूल्य आंकने लगते हैं, तब हम साधारण व्यवहारके क्षेत्रमें नहीं रहते, दार्शनिक-क्षेत्रमें चले जाते हैं; जबतक व्यवहारके क्षेत्रमें रहते हैं, तबतक अपनी संस्कृतिको आदर्श मानकर ही चलते हैं।

(२) 'सभ्यता' सदा आगे-आगे बढ़ती जाती है, 'संस्कृति' कभी बढ़ती, कभी घटती है। बैलगाड़ीके बाद घोड़ा-गाड़ी, घोड़ा-गाड़ीके बाद रेल-गाड़ी, रेल-गाड़ीके बाद मोटर, मोटरके बाद हवाई-जहाज़--'सभ्यता' में यह आगे-आगेकी दौड़ ही होती है, यह नहीं होता कि पहले हवाई जहाज़का आविष्कार हुआ, बादको मोटर का,

बादको रेलका, बादको घोड़ा-गाड़ीका, और बादको बैल-गाड़ीका। यह ठीक है कि ईजिप्टके पिरैमिड 'सभ्यता' के जिन साधनोंसे खड़े किये थे वे लुप्त होगये, और उनका आगे-आगे विकास होता नज़र नहीं आया। ईजिप्टकी 'सभ्यता' के बाद, 'सभ्यता' आगे बढ़नेके स्थानमें पीछे लौटी, परन्तु ऐसा तभी होता है जब किन्हीं आकस्मिक-कारणोंसे 'सभ्यता' का विनाश होजाय, लोप होजाय, अन्यथा ऐसा नहीं होता। 'संस्कृति' के विषयमें यह नहीं कहा जासकता कि यह आगे-आगे ही बढ़ती जाती है। क्योंकि हमारे जीवनके 'मूल्य' (Values) बदलते रहते हैं इसलिये 'मूल्यांकन' (Valuation) की दृष्टि भी बदलती रहती है, और इसके साथ-साथ 'संस्कृति' कभी आगे बढ़ती, कभी पीछे लौटती है। मोटरके बाद बैलगाड़ी नहीं बनती, परन्तु कालिदासके बाद कालिदाससे उच्च-कोटिके कवि ही पैदा हों—यह ज़रूरी नहीं। मोटर 'सभ्यता' को सूचित करती है, कालिदासके काव्य 'संस्कृति' को सूचित करते हैं।

(३) 'सभ्यता' को अगली सन्तति बिना किसी विशेष प्रयत्नके ग्रहण कर लेती है, परन्तु 'संस्कृति' को ग्रहण करनेमें उसे विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। मोटर, हवाई जहाज़ बन गये, अब मूर्ख-से-मूर्ख उनपर चढ़कर संसारकी सैर कर सकता है। उसकेलिये उस-सब अगाध ज्ञानको प्राप्त करना ज़रूरी नहीं है जिससे ये चीज़ें बनी हैं। परन्तु उच्च-कोटिके संगीतका आनन्द उठानेके लिये संगीतज्ञ बननेकी आवश्यकता है, उच्च-कोटिकी कलाके मूल्यको समझनेकेलिये कला-विज्ञ होना ज़रूरी है। 'सभ्यता' बिना प्रयत्नके और 'संस्कृति' विशेष-प्रयत्नसे ग्रहण की जाती है।

(४) इसके अतिरिक्त 'सभ्यता' के साधनोंका जिन लोगोंने आविष्कार किया, वे बड़े दिमाग़के व्यक्ति थे, प्रतिभाशाली थे। उनसे छोटी प्रतिभा रखते हुए भी कोई व्यक्ति उन आविष्कारोंमें सुधार कर सकता है, उन्हें आगे बढ़ा लेजासकता है, उनमें तरक्की करसकता है, परन्तु 'संस्कृति' में ऐसा नहीं होता। एक योगीको आत्माकी प्रसन्नताका जो आनन्द मिलता है उसे पानेकेलिये उसी शिखर कर पहुंचना ज़रूरी है जिसपर योगी खड़ा है, परन्तु रेलगाड़ी की सैर करनेकेलिये जार्ज स्टीफ-न्सन-जैसा लायक बनना ज़रूरी नहीं।

(५) 'संस्कृति' आन्तरिक है, 'सभ्यता' बाह्य है, 'संस्कृति' आत्मा है, 'सभ्यता' देह है। 'सभ्यता', एक शब्दमें, 'संस्कृति' की अभिव्यक्तिका साधन है। 'संस्कृति' का अपनेमें स्वयं मूल्य है, 'साधन' की उपयोगिता है, या संस्कृतिके द्वारा मूल्य है। रेडियो 'सभ्यता' का सूचक है, यह बाह्य है, देह है, साधन है, हमारे विचारों को संसारतक पहुंचानेमें उपयोगी है; रेडियोसे जो भाषण दिया जाता है, वह 'संस्कृ-ति' का सूचक है, यह आन्तरिक है, आत्माकी अभिव्यक्ति है, साध्य है, इसकी

उपयोगिता-अनुपयोगिताकी जांच नहीं होती, इसका तो संस्कृतिके पैमानेसे मूल्य आंका जाता है, यह जाननेका प्रयत्न किया जाता है कि इस भाषणसे समाजको लाभ हुआ, या हानि, फ़ायदा हुआ या नुक्सान, इस भाषणको सुनकर लोग एक-दूसरेके ज्यादा नज़दीक आये या और अधिक दूर हो गये। यह ठीक है कि बोलचालकी भाषामें हम अक्सर कह देते हैं कि इस भाषणकी क्या 'उपयोगिता' है, और रेडियोका क्या 'मूल्य' है। परन्तु यह बोलचालकी ही भाषामें कहा जासकता है, जिसमें हम 'सभ्यता' और 'संस्कृति' के भेदको स्पष्ट नहीं देख रहे होते। उससमय भी यह कहते हुए कि इस भाषणकी क्या 'उपयोगिता' है, हमारा मतलब 'मूल्य' से, तथा यह कहते हुए कि रेडियोका क्या 'मूल्य' है, हमारा मतलब 'उपयोगिता' से होता है।

(६) 'सभ्यता' का विस्तार जिस तेज़ी से होता है, 'संस्कृति' का विस्तार उस तेजीसे नहीं होता। 'सभ्यता' संसारभरमें फैल जाती है, ऐसी-अवस्था आजाती है, जब एक 'सभ्यता' और अनेक 'संस्कृतियां' दीखने लगती हैं। रेल-तार, मोटर संसारभरमें फैल गये हैं, सब जगह एक-सी रेलें, एक-से तार, एक-सी मोटरें हैं, जंगली और सभ्य जातियोंमें ये सब-कुछ एक-से हैं, परन्तु 'संस्कृति' सबकी अलग-अलग है। इसका यह मतलब नहीं कि 'संस्कृति' नहीं फैलती, 'संस्कृतियों' का लेन-देन नहीं होता। होता है, परन्तु 'संस्कृतियां' जब फैलती हैं, लेन-देन करती हैं, एक 'संस्कृति' दूसरीको प्रभावित करती है, तब कुछ लेती हैं, कुछ देती हैं, कुछ स्वयं प्रभावित होती हैं, कुछ दूसरीको प्रभावित करती हैं, 'सभ्यता' तो एकदम, अगर वह दूसरी 'सभ्यता' से उच्च कोटि की है, तो दूसरोको मलियामेट कर देती है, अपना एक-छत्र-राज्य जमा देती है। आज पाश्चात्य-सभ्यताका सर्वत्र राज्य है, यद्यपि हर देशकी अपनी-अपनी अलग-अलग संस्कृति है।

४. 'संस्कृति' तथा 'सभ्यता' का एक-दूसरेपर प्रभाव

'सभ्यता' का 'संस्कृति' पर प्रभाव—

हमने देखा कि 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' एक-जैसी चीज़ें हैं, परन्तु फिर भी इनमें भेद है। अगर इन दोनोंकेलिये केवल 'संस्कृति' (Culture) शब्दका ही प्रयोग किया जाय, तो उस दशामें हमें कहना होगा कि 'संस्कृति' दो तरहकी होती है—'भौतिक' (Material) तथा 'अभौतिक' (Non-material)। 'भौतिक-संस्कृति' (Material culture) को 'सभ्यता' (Civilization), तथा 'अभौतिक-संस्कृति' (Non-material culture) को 'संस्कृति' (Culture) कहते हैं। 'भौतिक-संस्कृति' में रेल, तार, मोटर, मकान—ये सब साधन आजाते हैं, 'अभौतिक-संस्कृति' में धर्म, रीति-रिवाज़ आदि संस्कृतिकी चीजें आजाती हैं।

'भौतिक-संस्कृति' (Material culture) का ही दूसरा नाम 'सभ्यता' (Civilization) है, 'सभ्यता' का ही दूसरा नाम 'यन्त्री-करण' (Mechanization) है, 'यन्त्री-करण' का ही दूसरा नाम 'यान्त्रिक-आविष्कार' (Technological inventions) है। ऐसी अवस्थामें हम दो बातें कह सकते हैं। एक तो यह कि 'सभ्यता' (Civilization) का 'संस्कृति' (Culture) पर प्रभाव पड़ता है। इस बातको कहनेका यह मतलब निकलता है कि 'यान्त्रिक-आविष्कारों' (Technological inventions) का 'संस्कृति' (Culture) पर प्रभाव पड़ता हैं। उदाहरणार्थ, छापेखानेसे पुस्तकोंका निर्माण हुआ, लोगोंमें पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ी। यह 'यान्त्रिक-आविष्कारों' का 'संस्कृति' पर प्रभाव है। इस बातको हम पिछले अध्यायमें दिखा ही आये हैं कि किसप्रकार 'यान्त्रिक-आविष्कार' अर्थात् 'सभ्यता' का सामाजिक-व्यवहारों, अर्थात् 'संस्कृति' पर प्रभाव पड़ता है, अतः उसे यहां दोबारा कहनेकी आवश्यकता नहीं। दूसरी बात हम यह कह सकते हैं कि 'संस्कृति' का सभ्यता' पर प्रभाव पड़ता है। अब हमने यह देखना है कि किसप्रकार 'संस्कृति' का 'सभ्यता', अर्थात् 'यान्त्रिक-आविष्कारों' पर प्रभाव पड़ता है।

'संस्कृति' का 'सभ्यता' पर प्रभाव--

'संस्कृति' का 'सभ्यता', अर्थात् 'यान्त्रिक-आविष्कारों' पर प्रभाव पड़ता है, --यह कहनेका हमारा क्या अर्थ है ? 'यान्त्रिक-आविष्कारों' का 'संस्कृति' पर प्रभाव पड़ता है, यह तो हम देख ही चुके हैं, परन्तु यह समझना कि 'यान्त्रिक-आविष्कार' ही 'संस्कृति' को प्रभावित करते हैं, और 'संस्कृति' 'यान्त्रिक-आविष्कारों' को प्रभावित नहीं करती, ग़लत है। दोनों एक-दूसरेको प्रभावित करते हैं। निम्न बातोंसे स्पष्ट होजायगा कि किसतरह 'संस्कृति' भी 'यान्त्रिक-आविष्कारों' को, दूसरे अर्थों में, 'सभ्यता' (Civilization) को, अर्थात् 'भौतिक-संस्कृति' (Material culture) को प्रभावित करती है :—

(१) लोग रेडियो, मोटर आदि यन्त्रोंकी उपयोगितासे ही सन्तुष्ट नहीं होते, वे यह भी चाहते हैं कि 'सभ्यता' के ये साधन 'संस्कृति' के चिन्होंसे अलंकृत भी हों। भारतमें मोटरके आगे स्वस्तिकाका, और रशियामें हथौड़े और दरांतीका चिन्ह इस बातका प्रतीक है कि 'सभ्यता' की दिशा 'संस्कृति' के रंगमें रंगेजानेकीतरफ़ होती है। आज भी जब हम किसी बड़े भवनका निर्माण करते हैं, तो उसका उद्घाटन करते हुए यज्ञ-हवन, मन्त्र-पाठ करते हैं। ये दृष्टांत सिद्ध करते हैं कि 'यान्त्रिक-तत्वों' (Technological factors) पर 'सांस्कृतिक-तत्वों' (Cultural factors) का प्रभाव पड़ता है ।

(२) जैसा हम पहले देख आये हैं, 'संस्कृति' का काम अपने 'प्रतिमान' (Pattern) से हर-वस्तु का मूल्य आंकना है। हम अपनी 'संस्कृति' का तो मूल्य नहीं आंकते, उसे तो हम आदर्श मानकर चलते हैं, परन्तु अपनी 'संस्कृति' के 'प्रतिमान' (Pattern) से हर-वस्तुको मापनेका, उसका 'मूल्यांकन' (Valuation) करनेका प्रयत्न करते हैं, यह जानना चाहते हैं कि हमारा जो 'सांस्कृतिक माप-दंड' (Cultural pattern) है, उसके मापसे, यह वस्तु कहां ठहरती है, उस आदर्शको यह किसी अंशमें पकड़ पाती है या नहीं? अगर किसी अंशमें भी उस आदर्श तक यह पहुँचनका प्रयत्न करती है, तो इसका कुछ मूल्य है, अन्यथा नहीं। इस 'मूल्यांकन' की प्रक्रियामें हम यह जानना चाहते हैं कि माना मोटर, रेडियो आदि साधन उपयोगी हैं, परन्तु इनका केवल उपयोगी होना ही तो काफ़ी नहीं है, अस्ली वात तो यह है कि इनके उपयोगी होते हुए भी हमारे सांस्कृतिक माप-दंडकी दृष्टि से इनका मूल्य क्या है, जीवन को सुखी वनाने में इनका क्या स्थान है? अमरीकामें जव कपासकी मिलें खुलीं, तो वहुत उपयोगी सावित हुईं, वेलनोंसे जितनी कपास साफ़ की जाती थी उससे ज्यादा इन मिलोंसे साफ की जाती थी, परन्तु इनका मूल्य क्या निकला? इनसे दास-प्रथाको प्रोत्साहन मिला, अन्तमें जाकर अमरीकामें गृह-युद्ध हुआ। जव हम किसी वात पर 'मूल्यांकन', अर्थात् 'संस्कृति' की दृष्टिसे विचार करने लगते हैं, तव उस विचारके अनुसार अपने साधनोंमें, 'यान्त्रिक-तत्वों' में परिवर्तन की वात भी सोचते हैं, क्योंकि अगर ये यान्त्रिक-साधन मनुष्यको सुखी वनानेके स्थानमें दुःखी वनाने लगें, तो इनको वदलना या छोड़ देना जरूरी जान पड़ता है। इस दृष्टिसे महात्मा गांधी ने भारत में मिलोंके स्थानमें हाथके छोटे-छोटे कारखानोंको ज्यादा महत्व दिया था, और इसी दृष्टि से कभी-कभी वर्तमान यान्त्रिक-सभ्यताके विरुद्ध आवाज़ उठा करती है, लोग कहने लगते हैं, क्या फायदा इस यान्त्रिक-सभ्यता का जिसमें अमीर-गरीवका भेद वढ़ता जाता है, जिसमें सन्तोपकी जगह असन्तोष, सुखकी जगह दुःख वढ़ता जारहा है।

५. 'संस्कृति' का 'संस्कृति' पर प्रभाव

हम यह देख चुके कि 'सभ्यता' एवं 'यान्त्रिक-आविष्कारों' (Technological inventions or Civilization) का 'संस्कृति' (Culture) पर प्रभाव पड़ता है, यह भी देख चुके कि 'संस्कृति' का 'सभ्यता' एवं 'यान्त्रिक-आविष्कारों' पर प्रभाव पड़ता है, अव हम यह देखनेका प्रयत्न करेंगे कि 'संस्कृति' का 'संस्कृति' पर प्रभाव पड़ता है—अर्थात्, एक 'संस्कृति' दूसरी 'संस्कृति' को प्रभावित करती है।

समाजका वर्णन दो दृष्टियोंसे किया जासकता है। एक वर्णन तो ऐसा है जिसमें समाजके भिन्न-भिन्न अंगोंका वर्णन होता है। 'परिवार' क्या है, 'समूह' क्या है, 'सभ्यता' क्या है, 'संस्कृति' क्या है—ये वर्णन समाज की 'रचना' (Structure) के वर्णन हैं। दूसरे वर्णन समाज की 'प्रक्रियाओं' (Processes) के वर्णन हैं। समाजमें परिवारका परिवारपर क्या प्रभाव पड़ता है, किसप्रकार एक समाजमें बहु-विवाह और दूसरे में एक-विवाहकी प्रथा चल पड़ती है, किसप्रकार कभी सती-प्रथा, कभी तलाक, कभी कुछ, और कभी कुछ परिवर्तन होने लगते हैं——यह सब वर्णन 'प्रक्रिया' (Function or Process) का वर्णन है। 'सामाजिक-रचना' (Social structure) का वर्णन ऐसा है जैसे एक फ़ोटो खींच दीजाय, उसमें एक क्षणमें, जो सबकी स्थिति थी, वह चित्रित होजाती है, परन्तु 'सामाजिक-प्रक्रिया' (Social function or Social process) का वर्णन ऐसा है जैसे सिनेमा चल रहा हो, क्षण-क्षण बदलनेवाला हरेक परिवर्तन उसमें चित्रित होता रहता है। 'सामाजिक-प्रक्रिया' (Social function or Social process) का वर्णन स्थिर-समाज का नहीं, उस समाजका वर्णन है जिसमें हरसमय भिन्न-भिन्न परिवर्तन होरहे हैं, भिन्न-भिन्न 'प्रक्रियाएँ' (Processes) चल रही हैं। ये 'सामाजिक-प्रक्रियाएँ' (Social processes) दो तरह की होती हैं। एक मेलकी, दूसरी बेमेल की, एक अन्य व्यक्तियोंके नजदीक आनेकी, दूसरी दूर जानेकी, एक 'सहकारिताकी प्रक्रियाएँ' (Associative processes), दूसरी 'असहकारिताकी प्रक्रियाएं' (Dissociative processes)। 'सहकारिताकी प्रक्रिया' में अपनेको दूसरोंके अनुकूल बनाकर सहयोगकी भावना प्रधान रहती है, 'असहकारिता की प्रक्रिया' में दूसरोंकेसाथ असहयोगकी भावना प्रधान रहती है। इस सबका मनोवैज्ञानिक आधार है। हर व्यक्तिमें दो प्रकारकी भावनाएँ रहती हैं। वह अपने अहंभावके कारण दूसरोंको दबाना भी चाहता है, अपनी कमजोरी या लाभकेकारण दूसरोंकेसाथ मेल भी करना चाहता है। दोनों भाव, व्यक्तिकीतरह, समाजमें भी काम करते हैं। जैसे समाजमें व्यक्तियों या समुदायोंका 'आर्थिक-स्वार्थ' (Economic interest) उन्हें कभी सहयोगकीतरफ़ प्रेरित करता है, कभी असहयोग की तरफ़ प्रेरित करता है, उसीप्रकार कभी 'सांस्कृतिक-स्वार्थ' (Cultural interest) सहयोगकी तरफ़, कभी असहयोगकीतरफ़ प्रेरित करता है। हमें यहां अन्य तत्वों पर नहीं, सिर्फ़ 'सांस्कृतिक-तत्वों' (Cultural factors) पर विचार करना है। संस्कृतिमें कभी 'सहकारिताकी प्रक्रियाएँ' (Associative processes) काम करने लगती हैं, कभी 'असहकारिताकी प्रक्रियाएँ' (Dissociative processes)। जब दो संस्कृतियां एक-दूसरेके संपर्क में आती हैं, और उनमें 'सहकारिताकी प्रक्रिया'

(Associative process) काम करती है, तब कई परिणाम निकल सकते हैं। अगर ये दोनों संस्कृतियां समान बल की हैं, एक जबर्दस्त और दूसरी कमजोर नहीं, तो उनमें कुछ लेना-देना होता है, दोनों अपनेको एक-दूसरेके अनुकूल बनानेका प्रयत्न करती हैं—इस प्रक्रियाको 'अनुकूलीकरण' (Accomodation) कहते हैं। मुसल्मान एक जबर्दस्त 'संस्कृति' को लेकर भारत आये, यहां की संस्कृति भी जबर्दस्त थी, दोनोंमें लेना-देना हुआ, इसी लेन-देनसे उर्दू भाषाकी उत्पत्ति हुई। अगर संस्कृतियां समान बल की नहीं हैं, एक समर्थ और दूसरी कमजोर है, तब या तो समर्थ-संस्कृति अपनेसे कमजोर-संस्कृतिको जबर्दस्ती दबा देती है, या कमजोर-संस्कृति अपनी कमजोरी अनुभव करके स्वयं दब जाती है। यह भी 'अनुकूलीकरण' है, परन्तु दबकर या दबाकर। कभी-कभी संस्कृतियोंके एक-दूसरे के निकट आनेसे 'सहकारिताकी प्रक्रिया' (Associative process) तो प्रकट होती है, परन्तु वह 'अनुकूलीकरण' (Accomodation) की प्रक्रिया न होकर 'सात्मी-करण' (Assimilation) की प्रक्रिया होती है। 'सात्मी-करण' (Assimilation) की प्रक्रियामें एक संस्कृति दूसरी संस्कृति में बिल्कुल मिट जाती है। अमेरिकामें भिन्न-भिन्न देशोंके लोग जा बसे हैं, सब अपनी संस्कृति भुलाकर अमेरिकाकी संस्कृतिमें रल-मिल गये हैं, उन सबकी अलग-अलग संस्कृति थी, जर्मनोंकी जर्मन-संस्कृति, अंग्रेजोंकी आंग्ल-संस्कृति, परन्तु उन सबकी, चाहे वे जर्मनीसे आये, चाहे इंग्लैंडसे, अब अमरीकन संस्कृति होगई है, यह सात्मी-करण है।

परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जब दो संस्कृतियां एक-दूसरेके संपर्क में आयें, तो उनमें 'सहकारिताकी प्रक्रिया' (Associative process) ही प्रकट हो। सहकारिताके स्थानमें उनमें 'असहकारिताकी प्रक्रिया' (Dissociative process) भी प्रकट होसकती है। जैसे हमने देखा था कि 'सहकारिताकी प्रक्रिया' (Associative process) में 'अनुकूलीकरण' (Accomodation) तथा 'सात्मी-करण' (Assimilation) होते हैं, वैसे 'असहकारिताकी प्रक्रिया' (Dissociative process) में 'प्रतिस्पर्धा' (Competition), 'विरोध' (Contravention) तथा 'संघर्ष' (Conflict) छिड़ सकता है। दो संस्कृतियां एक-दूसरेसे अपनेको दूर समझतीहुई आपसमें 'प्रतिस्पर्धा' कर सकती हैं, प्रतिस्पर्धा बढ़ जाय, तो उनमें 'विरोध' प्रकट होसकता है, विरोध बहुत बढ़ जाय, तो उनमें 'संघर्ष' छिड़ सकता है, युद्ध भी होसकता है। अमरीका तथा रूसकी जन-सत्ता-वादी तथा कम्यूनिस्ट संस्कृतियोंमें एक-दूसरेकेसाथ होड़ तो मच ही रही है, यह 'प्रतिस्पर्धा' है, कभी-कभी यह प्रतिस्पर्धा एक-दूसरेको गाली-गलौज देनेके 'विरोध' में भी प्रकट होजाती है, और अगर यह विरोध बहुत तीव्र होगया, तो इनमें कभी उग्र 'संघर्ष', और युद्धतक छिड़ सकता है।

संस्कृतियोंका एक-दूसरेके निकट आना, या एक-दूसरेसे दूर होना, उनकी 'सहकारिता' (Association) या 'असहकारिता' (Dissociation)—दोनोंका लक्ष्य 'समता' (Harmony or equillibrium) स्थापित करना है। जबतक व्यक्ति या समाज अपने जीवनमें 'असमता' या 'विषमता' (Disharmony or Dis-equillibrium) का अनुभव करते हैं, तबतक उनमें, परिस्थितिओंके अनुसार, या तो 'सहकारिताकी प्रक्रिया' (Associative process) चलती रहती है, या 'असहकारिताकी प्रक्रिया' (Dissociative process) चलती रहती है, या तो संस्कृतियां एक-दूसरेके निकट आनेका, एक-दूसरेको, अपने प्रभावसे बदलनेका, एक-दूसरेमें मिट जानेका, या एक-दूसरेको मिटा देनेका, संघर्षसे खत्म कर देनेका प्रयत्न करती रहती हैं। यह लड़ाई विचार-धाराओं (Ideologies) की लड़ाई है, और विचार-धाराओंकी लड़ाई संस्कृतिकी लड़ाई है। जब, किसी भी उपाय से क्यों न हो, विचार-धाराएं एक होजाती हैं, तब विषमता समाप्त होकर समता स्थापित होजाती है —इस समता को लानेकेलिये ही उक्त अनुकूलीकरण, सात्मी-करण, प्रतिस्पर्धा, विरोध तथा संघर्ष की प्रक्रियाएं चलती हैं।

इन सब प्रक्रियाओंका वर्णन २३वें अध्यायमें विस्तार-पूर्वक दिया गया है। 'संस्कृति' के संबंधमें हमने जो-कुछ लिखा है, उसे चित्रमें इसप्रकार दर्शा सकते हैं :—
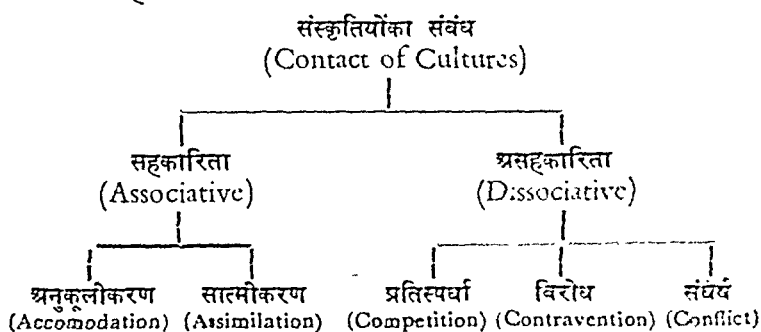
६. 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' किसप्रकार बढ़ती हैं ?

हमने देखा कि 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' एक ही वस्तुके दो पहलू हैं। समाज के विकासका भौतिक-रूप 'सभ्यता' है, अभौतिक-रूप 'संस्कृति' है। अब प्रश्न यह है कि इनका विकास, इनकी वृद्धि कैसे होती है ? 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' के विकास के चार नियम हैं—'संचयका नियम' (Principle of accumulat[illegible]), 'निरन्तरताका नियम' (Principle of continuity), 'पारस्परिक [illegible]-

करणका नियम' (Principle of cross-fertilization) तथा 'प्रसारका नियम' (Principle of diffusion)। इन चारोंकी व्याख्या निम्न है :—

१. संचयका नियम (Principle of Accumulation)—

संस्कृतिका संचय होता रहता है। इसी संचयका परिणाम है कि आज अपने वाप-दादाओंकी सभ्यता और संस्कृतिको लेकर हमने आजके संसारको वनाया है— 'जल विन्दु निपातेन क्रमशः पूर्यते घटः'—विन्दु-विन्दुके संचयसे घड़ा भर जाता है। जैसे वालकका शरीर वढ़ता है, वैसे सभ्यता तथा संस्कृति भी वढ़ते हैं। नये तत्व आते हैं, पुराने नष्ट होजाते हैं, परन्तु नये पुरानोंकी अपेक्षा अधिक होते हैं। अधिक न हों, तो वृद्धि कैसे हो ? 'सभ्यता' में जव कोई नया तत्व प्रवेश करता है, तो उसे 'भौतिक-आविष्कार' (Physical invention) कहते हैं, 'संस्कृति' में जव कोई नया तत्व प्रवेश करता है, तो उसे 'सामाजिक-आविष्कार' (Social invention) कहते हैं। रेलका चलना सभ्यताका अंश है, 'भौतिक-आविष्कार' है; विवाहकी पद्धति संस्कृतिका अंश है, 'सामाजिक-आविष्कार' है। इन-सवका 'संचय' होते-होते भौतिक-'सभ्यता' तथा अभौतिक-'संस्कृति' का विकास होजाता है। मानव-समाज इन भौतिक तथा अभौतिक आविष्कारोंका संग्रह करता रहता है, ये ही 'सामाजिक-विरासत' (Social heritage) हैं, और भाषाद्वारा एक सन्ततिसे दूसरी सन्ततितक पहुँचते रहते हैं। मनुष्य इन्हें लुप्त नहीं होने देता, अगर ये लुप्त होते भी हैं, तो लुप्त होनेवाले तत्वोंकी अपेक्षा लुप्त न होनेवाले तथा संचित-तत्वोंकी संख्या सदा अधिक रहती है।

२. निरन्तरताका नियम (Principle of Continuity)—

इतना ही नहीं कि सभ्यता तथा संस्कृतिके तत्व 'संचित' होते रहते हैं, जमा होते रहते हैं, परन्तु उनकी 'निरंतरता' तथा धारावाहिकता भी वनी रहती है। धनुष-वाणका सिद्धान्त कभी प्रारंभिक अवस्थामें मौजूद था। तभी तो वाणको चिल्लेपर चढ़ाकर अपनी तरफ़ खींचकर फेंका जाता था। एक स्थिर-वस्तुको गति देनेका यही सिद्धान्त विकसित होता-होता वन्दूक और तोपका रूप धारण कर गया। इस समय जो भौतिक अथवा सामाजिक नई-नई वातें निकल रही हैं वे, पीछेसे जो प्रवाह चला आरहा है, उसीको आगे लेजारही हैं। न्यूटनने कहा था, मैं अगर अन्य लोगोंसे आगे दूरतक देख रहा हूं तो इसलिये, क्योंकि मैं महापुरुषोंके कन्धोंपर वैठा हुआ हूं, उन्हीं के देखेहुए को आधार वनाकर आगे देख सका हूं।

३. पारस्परिक फली-करणका नियम (Principle of Cross fertilization)—

हमें सामाजिक-विरासत में एक नहीं अनेक भौतिक तथा सांस्कृतिक-तत्व प्राप्त हुए हैं। इनमेंसे एक-एकके अनेक टुकड़े हैं। इन टुकड़ोंके आपसमें मिलनेसे

नये-नये तत्व उत्पन्न होजाते हैं। उदाहरणार्थ, रसायन-शास्त्र हमारी संस्कृतिका एक तत्व है। इसके अनेक तत्वोंमेंसे बारूद भी एक तत्व है। इसीप्रकार यन्त्र-शास्त्र भी हमारी संस्कृतिका एक तत्व है। इसके अनेक तत्वोंमेंसे किसी वस्तुको वेगसे फेंकना भी एक तत्व है। रसायन-शास्त्रके बारूदका यन्त्र-शास्त्रके फेंकने से जो पारस्परिक-संबंध हुआ, उससे तोप-बन्दूकका आविष्कार होगया। पहले पत्थरोंको रगड़नेसे आग निकाली जाती थी, फिर रसायन-शास्त्र की गन्धक और यन्त्र-शास्त्रकी रगड़को मिलाकर दियासलाईका निर्माण हुआ। मालथसने अर्थ-शास्त्रमें इस सत्यकी खोज की थी कि जन-संख्याकी आनुपातिक-वृद्धि भोजन-सामग्रीकी अपेक्षा अधिक वेगसे होती है, और असमर्थ व्यक्ति नष्ट होजाते हैं। इस सिद्धान्तको डार्विनने प्राणी-शास्त्र में घटाकर 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) के सिद्धान्तको जन्म दिया। अर्थ-शास्त्रके सिद्धान्तको प्राणी-शास्त्रमें घटानेसे डार्विनके विकासवादका जन्म हुआ। यह पारस्परिक फली-करणका नियम है।

४. प्रसारका नियम (Principle of Diffusion)—

सभ्यता तथा संस्कृतिके नये विचार सब-के-सब किसी एक ही जगह नहीं उत्पन्न होते। एक स्थानपर तो कोई एक-दो विचार होते हैं, परन्तु इन विचारोंका प्रसार होते-होते एक ही स्थानपर सभ्यता तथा संस्कृति-संबंधी अनेक आविष्कार आजुटते हैं। हम जब सवेरे उठते हैं, तब न जाने सभ्यता तथा संस्कृतिकी कितनी बातोंसे अपनेको घिरा पाते हैं। कमरोंमें रेशमके पर्दे लटक रहे हैं, रेशमका पहले-पहल आविष्कार चीनमें हुआ था, खिड़कियोंमें शीशे लगे हैं, शीशोंका आविष्कार ईजिप्टमें हुआ था। हम उठकर पाजामा पहनते हैं, यह पहले-पहल भारतमें बना था, साबुनसे हाथ धोते हैं जिसका पता गॉल लोगोंने लगाया था, हजामत करते हैं, जो सुमेर-सभ्यताका आविष्कार था, अखबार पढ़ते हैं जिसकेलिये छापेखानेका आविष्कार चीनमें हुआ था। जो देश एक-दूसरेसे सम्बद्ध नहीं रहते, उनमें सभ्यता तथा संस्कृतिके तत्व भी नहीं पहुँचते। प्रसारके नियमद्वारा सभ्यता तथा संस्कृति एक ही जगह सीमित न रहकर दुनियाभरमें फैल जाते हैं।

७. सभ्यता तथा संस्कृतिकी वृद्धिकी गति

अभी हमने कहा कि जो देश एक-दूसरेसे सम्बद्ध नहीं रहते, उनमें सभ्यता तथा संस्कृतिके तत्व नहीं पहुँचते। यह बात हमारे सामने एक प्रश्न खड़ा कर देती है, और वह यह कि सभ्यता तथा संस्कृतिका विस्तार किस गतिसे, किस तीव्रतासे होता है?

प्रागैतिहासिक-कालमें यह विकास बहुत मन्द-गतिसे हुआ होगा, उस समय छोटे-छोटे आविष्कारोंमें हज़ारों साल लगे होंगे, इन आविष्कारोंका मानव-समाज 'संचय' (Accumulation) करता रहा, इनमें 'निरन्तरता' (Continuity) भी रही, इनका 'प्रसार' (Diffusion) भी हुआ, परन्तु ज्यों-ज्यों आविष्कार बढ़े, और उनका 'पारस्परिक फली-करण' (Cross fertilization) हुआ, त्यों-त्यों सभ्यता तथा संस्कृतिकी गति तेज़ होगई। जो उन्नति पहले दस हज़ार सालमें होती थी, वह अब पचास सालमें होने लगी। पहले उन्नति इस वेगसे नहीं होरही थी जितनी उसके बाद होने लगी, और बाद की उन्नति इस वेगसे नहीं होती रही जिस वेगसे अब होरही है। इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि आदि-कालमें आविष्कारोंकी संख्या कम थी, उनका 'संचय' कम हुआ था, पीछे जाकर ज्यों-ज्यों आविष्कार बढ़ते गये, उनकी संख्या बढ़ी, 'संचय' बढ़ा, 'संचय' बढ़नेके कारण सभ्यता तथा संस्कृतिके तत्वोंका 'पारस्परिक-फलीकरण' (Cross fertilization) बढ़ा। पहले फली-करणकेलिये कम तत्व थे, अब ज्यादा होगये, इसलिये पहले जिस वेगसे सभ्यता तथा संस्कृतिकी वृद्धि होरही थी अब उससे बहुत ज्यादा वेगसे होने लगी। इस बातको एक दूसरीतरह भी समझा जासकता है। अगर किसीके पास १०० रुपया है, तो पहले साल उसपर ४ रुपया व्याज मिलेगा, परन्तु अगर यह ४ रुपया मूल-धनमें संचित होता जाय, तो कई साल में १०० रुपये के २०० और २०० के ४०० होजायेंगे, और १०० सालकेबाद व्याज ही हजारों रुपया आने लगेगा। इसीप्रकार अगर किसीकी दो सन्तान हैं, तो १०० सालके बाद वही व्यक्ति हजारों अनुवंशजोंका पूर्वज हो जायगा। 'पारस्परिक-फलीकरण' की प्रक्रिया थोड़े तत्वोंमें थोड़े फल उत्पन्न करती है, अधिक तत्वोंमें अधिक फल उत्पन्न करती है। इसप्रकार एक-दूसरेसे मिलकर अनेक होजानेके तरीकेका नाम 'पारस्परिक-फलीकरण' (Cross fertilization) है, और एकसे अनेक होजानेके सिद्धांतका नाम 'व्याख्यात्मक-सिद्धान्त' (Exponential principle) है। १०० से १०४ होगये, १०४ से आगे बहुत देरके बाद चलकर ५०० और १००० होगये, यह 'व्याख्यात्मक-क्रम' (Exponential series) है। इस क्रममें शुरू-शुरूमें वृद्धि कम दिखाई देती है, ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों वृद्धिका क्रम असाधारणतौरपर बढ़ता जाता है।

८. संस्कृतिके एक भागका पछड़जाना (CULTURAL LAG)

संस्कृतियोंके आपसमें जो संबंध हैं, उनका वर्णन हमने किया। इनमें एक ऐसा संबंध भी है जो उक्त संबंधोंमें नहीं आता। इसकीतरफ़ विद्वानोंका ध्यान

श्री ग्रौगवर्न (Ogburn) ने खींचा है। ग्रौगवर्न ने इस संबंधका नाम रखा है—'संस्कृतिके एक भागका पछड़ जाना' (Cultural lag)। उदाहरणार्थ, जंगलकी लकड़ीसे हम अनेक काम लेते हैं। नतीजा यह हुआ कि जंगलकी लकड़ी इतनी काटी गई कि लकड़ीसे 'सभ्यता' के अनेक काम हुए, लकड़ीकी 'सभ्यता' तो बढ़ी, विकसित हुई, परन्तु जंगलमें लकड़ीके पेड़ ही न रहे, जंगलही खत्म होगये। 'सभ्यता' के दो पहलू थे—एक जंगलकी लकड़ीसे भिन्न-भिन्न वस्तुओंका बनना, दूसरा जंगलको भी बढ़ाते जाना। जंगल लगाने और बढ़ाने की तरफ हमारा ध्यान नहीं गया, वह हिस्सा पछड़ गया, जंगल ही न रहे। इसीप्रकार आजकी मशीन की सभ्यतामें मशीनोंकी दिनोंदिन उन्नति हुई, खूब मशीनें बनीं, चारों-तरफ मशीनें-ही-मशीनें दिखाई देने लगीं। परन्तु मशीनको चलानेवाले मजदूरोंकी क्या हालत हुई? मशीनें तो बढ़ीं, किन्तु मशीनोंपर काम करनेवाले मजदूरोंकी दशा गिरी। परिणाम यह हुआ कि जैसे लकड़ीका काम बहुत आगे बढ़ गया, जंगल लगानेका काम बहुत पीछे रह गया, वैसे मशीनका काम बहुत आगे बढ़ गया, मजदूरोंकी दशा सुधारनेका काम बहुत पीछे रह गया। जब इसप्रकार 'सभ्यता' का कोई एक अंग पीछे रह जाता है, तो उस कमीको पूरा करनेकेलिये देश तथा जाति को सभ्यताके उस अंगकीतरफ विशेष ध्यान देना पड़ता है। भारतमें भी पिछली लड़ाईमें जंगल बहुत कटे। परिणाम यह हुआ कि वर्षाकी मात्रा बहुत कम होगई, रेगिस्तान बड़ी तेजीसे बढ़ने लगे। इस विषमताको दूर करनेकेलिये वन-महोत्सव जारी किये गये जिससे वृक्षों की संख्या फिरसे बढ़े, और 'सभ्यता' का जो यह भाग पछड़ गया है, उस कमीको पूरा किया जासके। इसीप्रकार मजदूरोंकी पछड़ी दशाको ठीक करनेकेलिये भिन्न-भिन्न प्रकारके कानून बनते हैं जिनसे वे इतना पीछे न रहें कि 'सभ्यता' की आगे-आगे दौड़ होती रहे, पीछे-पीछे चौड़ होती रहे। ग्रौगवर्नने 'संस्कृति' के एक भागके पछड़ जानेके जो दृष्टांत दिये हैं, वे वास्तवमें 'संस्कृति' के दृष्टांत नहीं है, 'सभ्यता' के दृष्टांत हैं, और क्योंकि 'सभ्यता' (Civilization) और 'यान्त्रिक-तत्व' (Technological factors) एक ही बात हैं, इसलिये श्री मैक ग्राईवर (Mac Iver) ने इसे 'संस्कृतिके एक भागका पछड़ जाना' (Cultural lag) न कहकर 'यान्त्रिक-तत्वोंके एक भागका पछड़ जाना' (Technological lag) कहा है।

६. सांस्कृतिक भाग्य-निर्णय का सिद्धान्त
(Cultural Determinism)

पिछले अध्यायमें हमने देखा था कि कुछ लोगोंका कहना है कि 'आर्थिक' तथा 'यान्त्रिक'-कारण इतने प्रबल होते हैं कि इनसे जो 'सामाजिक-परिवर्तन'

उत्पन्न होते हैं, वे अवश्यंभावी होते हैं, रोके नहीं रुकते । इसे वे 'यान्त्रिक भाग्य-निर्णयका सिद्धान्त' (Technological determinism) कहते हैं । इसीप्रकार कुछ लोगोंका कहना है कि 'सांस्कृतिक'-कारण इतने प्रबल होते हैं कि इनसे जो 'सामाजिक-परिवर्तन' होते हैं, वे भी अवश्यंभावी होते हैं। 'सांस्कृतिक-कारण' (Cultural factors) ही इस बातका निर्णय कर देते हैं कि किस प्रकारके आर्थिक, यान्त्रिक तथा सामाजिक परिवर्तन होंगे । दूसरे शब्दोंमें, 'सांस्कृतिक-कारण' ही सबप्रकारके परिवर्तनोंका भाग्य-निर्णय कर देते हैं। इस सिद्धान्त को 'सांस्कृतिक भाग्य-निर्णयका सिद्धांत' (Cultural determinism) कहा जाता है ।

इस सिद्धान्तके पृष्ठ-पोषकोंमें श्री मैक्स वेबर (Max Weber) मुख्य हैं। जैसे कार्ल-मार्क्स ने यह सिद्ध किया है कि 'पंजीवाद' से पहले समाजमें जो आर्थिक-कारण काम कर रहे थे, पूंजीवाद उनका अवश्यंभावी परिणाम था, उन कारणोंसे 'पूंजीवाद' ही उत्पन्न होसकता था, और कुछ नहीं, वैसे मैक्स वेबरने यह सिद्ध किया है कि आर्थिक नहीं, अपितु सांस्कृतिक-कारण ऐसे थे जिनके परिणाम-स्वरूप 'पूंजीवाद' ही उत्पन्न होसकता था, और कुछ नहीं होसकता था। वेबरका कथन है कि पूंजीवादके उत्पन्न होनेसे पहले समाजमें प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदायका प्रचार था। इस सम्प्रदायके अनुयायी यह मानते थे कि व्यापार करना दैवीय-आदेशके अनुसार उनका कर्तव्य है। इस आदेशके अनुसार ही वे समझते थे कि जीवन में मित-व्ययिता, पैसेका बचाना, दिनभर मेहनत करना आदि उनकेलिये आवश्यक है। इन सांस्कृतिक-विचारोंका परिणाम 'पूंजी' का जमा होजाना आवश्यक था। यह विचार कुछ अंश तक ठीक होसकता है, परन्तु इसमें काफ़ी खींचातानी मालूम पड़ती है ।

यह तो नहीं कहा जासकता कि सांस्कृतिक-कारण ही सब सामाजिक-परिवर्तनों का अवश्यंभावीतौर से निर्णय कर देते हैं, परन्तु इतना अवश्य कहा जासकता है कि सांस्कृतिक-कारण समाजकी गतिको दिशा देते हैं। हम देख आये हैं कि 'सभ्यता' (Civilization) साधनोंका, उपकरणोंका नाम है। जितने 'आर्थिक अथवा यान्त्रिक उपकरण' (Economic or Technological factors) हैं, वे सब 'सभ्यता' के ही अंग हैं। 'सभ्यता' को हम जिस काममें लाना चाहें लासकते हैं आपने-आप यह किसी काममें नहीं लगती। छुरीसे हम सब्जी भी काट सकते हैं, किसी आदमी का गला भी काट सकते हैं। अणु-शक्तिसे हम, जैसे आज बिजलीसे काम ले रहे हैं वैसे, सब उपयोगी काम ले सकते हैं, इससे हिरोशामा-जैसे नगरको भस्म भी कर सकते हैं। रेडियोसे सत्यका प्रचार भी कर सकते हैं, झूठको भी फैला सकते हैं। 'सभ्यता' तो काम देगी—क्या काम देगी, हम छुरीसे सब्जी काटेंगे या गला

काटेंगे, अणु-शक्तिसे रचनात्मक काम लेंगे या ध्वंसात्मक काम लेंगे, रेडियोसे सच्चाई को फैलायेंगे या झूठका विस्तार करेंगे—इस सबका निर्णय 'संस्कृति' करती है। 'सभ्यता' तो 'संस्कृति' का सिर्फ़ माध्यम है, 'संस्कृति' ही 'सभ्यता' की दिशाका, 'सभ्यता' किधर जायगी, किधर नहीं जायगी—इस बातका निर्णय करती है। इस दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि रूसकी क्रांति आर्थिक-कारणोंसे नहीं, सांस्कृतिक कारणोंसे हुई। जो भी तत्व काम कर रहे थे उनकी दिशाका निर्धारण सांस्कृतिक-कारणोंने किया था। मार्क्स ने जिस उग्र विचार-धाराको जन्म दिया, उसे १९१४के विश्व-व्यापी युद्धके समय जनताकी विपत्तिमें अपनेको मूर्त-रूप देनेका अवसर मिल गया। उन विचारोंने तत्कालीन आर्थिक तथा राजनैतिक अवस्थाओंको अपनी पकड़में लेकर परिवर्तनकी दिशाका निर्धारण कर दिया। अगर मार्क्स ने इतनी ज़बर्दस्त विचार-धारा न पैदा की हुई होती, तो रूसकी क्रांतिका अपने-आप यह रूप न बनता। 'विचार-धाराएं' (Ideologies) संसारको इधरसे-उधर पटक देती हैं, विचारोंके प्रभावमें आकर व्यक्ति तथा जातियां आर्थिक लाभोंको लात मारकर परे फेंक देती हैं—यह-सब क्या सांस्कृतिक-तत्वोंका सामाजिक-परिवर्तनों पर प्रभाव दिखानेकेलिये काफ़ी नहीं है? 'सभ्यता' के साधन एक जहाज़के समान हैं। यह जहाज़ किसी भी बन्दरगाहकेलिये अपना पाल उठासकता है। 'सभ्यता' का जहाज़ किस बन्दरगाहकीतरफ़ मुख उठाकर चलेगा—इसका निर्णय करना 'संस्कृति' का काम है। इसमें सन्देह नहीं कि बिना जहाज़के हम समुद्र-यात्रा नहीं करसकते। अगर जहाज़ अच्छा होगा, तो वह तेज़ चलेगा, यात्रा भी जल्दी निपट जायगी, अगर टूटा-फूटा होगा, तो धीरे-धीरे चलेगा, यात्रा पूरी करनेमें भी देर लगेगी, परन्तु हम किस दिशामें जायेंगे, इसका निर्णय जहाज़ नहीं करेगा। 'सभ्यता' संस्कृति की दिशाका निर्णय नहीं करेगी, 'संस्कृति' सभ्यता की दिशाका निर्णय करेगी।

प्रश्न

१. 'संस्कृति' क्या है? इसका लक्षण करते हुए 'संस्कृति-प्रतिमान' (Culture pattern), 'संस्कृति-संकुल' (Culture complex) तथा 'संस्कृतिका विशिष्ट गुण' (Culture trait) को समझाइये।

२. 'सभ्यता' क्या है, यह बतलाते हुए 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' की तुलना कीजिये।

३. 'सभ्यता' का 'संस्कृति' पर क्या प्रभाव है—उदाहरण देकर समझाइये।

४. 'संस्कृति' का 'सभ्यता' पर क्या प्रभाव है—उदाहरण देकर समझाइये।

५. 'संस्कृति' का 'संस्कृति' पर क्या प्रभाव है—उदाहरण देकर समझाइये।

६. 'सभ्यता' तथा 'संस्कृति' किस प्रकार बढ़ती हैं, और उनकी वृद्धिकी गति किस दरसे होती है ?

७. 'संस्कृति के एक भाग का पछड़ जाना' (Cultural lag) किसे कहते हैं ? मैक आइवर (Mac Iver) ने इसकी जगह 'यांत्रिक-तत्वों के एक भागका पछड़ जाना' (Technological lag)—इस शब्दका प्रयोग क्यों किया है ?

८. 'सांस्कृतिक भाग्य-निर्णय' का सिद्धान्त (Cultural determinism) क्या है ? इसके पक्ष तथा विपक्षमें अपने विचार लिखकर अपनी सम्मति को युक्ति-पूर्वक लिखिये ।

[१३]

सामाजिक-परिवर्तन— 'प्रक्रिया', 'विकास', 'उन्नति'

SOCIAL CHANGE— (PROCESS, EVOLUTION, PROGRESS)

हमने पिछले तीन अध्यायोंमें तीन परिवर्तनोंपर विचार किया—प्राणि-शास्त्रीय-परिवर्तन, यांत्रिक-परिवर्तन तथा सांस्कृतिक-परिवर्तन। परन्तु 'परिवर्तन' क्या है? जिस परिवर्तनमेंसे हम गुजर रहे हैं वह 'प्रक्रिया' है, 'विकास' है, या 'उन्नति' है? इस अध्यायमें हमें इसी समस्या पर विचार करना होगा।

'सामाजिक-प्रक्रिया' (Social process), 'सामाजिक-विकास' (Social evolution) तथा 'सामाजिक-उन्नति' (Social progress)—ये तीनों किसी-न-किसी प्रकारके 'सामाजिक-परिवर्तन' (Social change) हैं। अतः सबसे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि 'सामाजिक-परिवर्तन' किसे कहते हैं?

प्रत्येक प्रकारके 'परिवर्तन' के आधारमें तीन 'तत्व' काम कर रहे होते हैं। एक है—वह स्वयं 'वस्तु-तत्व' (Object factor), दूसरा है—'भिन्नताका तत्व' (Difference factor), तीसरा है—'समयका तत्व' (Time factor) जहां कोई वस्तु ही नहीं वहां 'परिवर्तन' का प्रश्न ही नहीं उठता। जहां एक चीज दूसरी से भिन्न नहीं होती, वहां भी 'परिवर्तन' नहीं होता। पत्थर सदियोंसे एक ही आकृतिमें पड़ा है, उसमें 'परिवर्तन' नहीं आता। 'परिवर्तन' एक ही समयमें भी नहीं होता। परिवर्तनके लिये यह आवश्यक है कि जो चीज जैसी एक समयमें है, दूसरे समयमें वैसी न रहे। इसप्रकार हमने देखा कि प्रत्येक 'परिवर्तन' में 'वस्तु', 'भिन्नता' तथा 'समय' —ये तीन तत्व काम कर रहे होते हैं। 'परिवर्तन' का अर्थ है किसी 'वस्तु' की, 'समय' की दृष्टिसे, 'भिन्न-भिन्न' अवस्था।

'परिवर्तन' में तीन 'तत्व' (Factors) होते है, तो इसके तीन ही 'प्रकार' भी (Modes) होते हैं। पहला प्रकार है—'प्रक्रिया' (Process), दूसरा है 'विकास' (Evolution), तीसरा है 'उन्नति' (Progress)।

'प्रक्रिया' (PROCESS)

'प्रक्रिया' (Process)-शब्दका हम प्रयोग तब करते हैं जब 'परिवर्तन' (Change) में 'निरन्तरता' (Continuity) का तत्व काम कर रहा हो। किसी 'वस्तु' की, 'समय' में, जो 'भिन्न-भिन्न'-अवस्था है, वह 'निरन्तर' होती जारही हो, तो उस अवस्थाको 'प्रक्रिया' कहा जाता है। अगर किसी वस्तुकी एक समयमें एक अवस्था है, और दूसरे समयमें दूसरी अवस्था नहीं रहती, या तो पहले की-सी ही अवस्था रहती है, या कोई भी अवस्था नहीं रहती, वह नष्ट होजाती है, तो वहां कोई 'प्रक्रिया' नहीं कही जासकती। 'प्रक्रिया' वहां होती है जहां अनेक परिवर्तन, लगातार, एकके बाद दूसरा, दूसरेकेबाद तीसरा होते चले जारहे हों। जहां यह लगातारपना नहीं, निरन्तरता नहीं, वहां 'प्रक्रिया' भी नहीं। उदाहरणार्थ, 'अनुकूलनकी प्रक्रिया' (Process of accomodation), 'आत्म-सात्करण की प्रक्रिया' (Process of assimilation)—ये सब, 'प्रक्रियाएँ' इसीलिये कहलाती हैं क्योंकि इनमें किसी प्रकारका परिवर्तन, लगातार, निरन्तर होरहा होता है। अगर इनमें लगातार, निरन्तर परिवर्तन न होरहा हो, तो इन्हें 'प्रक्रिया' नहीं कहा जासकता, तब तो ये अपरिवर्तन-शील, स्थिर-पदार्थ पत्थरकीतरह हो जायेंगे। समाजमें सदा 'प्रक्रिया' चला करती है, वह स्थिर नहीं है, हरसमय, निरन्तर भिन्नता होती रहती है।

'विकास' (EVOLUTION)

परिवर्तनकी प्रक्रिया 'निरन्तर' (Continuous) हो रही हो, उसमें कोई खास 'दिशा' (Direction) न हो, तो वह 'प्रक्रिया' ही रहेगी, परन्तु अगर वह प्रक्रिया किसी खास दिशामें होने लगे, तो परिवर्तन की उस प्रक्रियाको 'विकास' (Evolution) कहा जायगा। 'विकास' बाह्य भी होसकता है, आन्तरिक भी होसकता है। बाह्य-विकास को 'वृद्धि' (Growth), 'बढ़ती' (Accumulation) कहेंगे, आन्तरिक-विकासको 'विकास' (Evolution, Development) कहेंगे। बाह्य-विकास 'मात्रा' का, 'आकार' (Quantity) का विकास है, अतः 'मात्रात्मक' (Quantitative) कहाता है, आन्तरिक-विकास 'गुण' (Quality) का विकास है, अतः 'गुणात्मक-विकास' (Qualitative) कहाता है। 'विकास' दोनों दिशाओंमें चल सकता है—आगे भी, पीछे भी। 'विकास' का मतलब यह नहीं है कि परिवर्तनकी प्रक्रिया आगेको ही जाय, अगर आगेको जाती है तब भी 'विकास' है, अगर पीछेको जाती है तब भी 'विकास' है।

'उन्नति' (PROGRESS)

जब 'विकास' की 'प्रक्रिया' आगेको जाती है, पीछेको नहीं जाती, तब हम 'उन्नति' (Progress) शब्दका प्रयोग करते हैं। 'उन्नति' (Progress) में हम अच्छे-बुरेका, उसके 'मूल्यांकन' (Valuation) का निर्णय करते हैं। 'परिवर्तन' में 'वस्तु', 'भिन्नता' तथा 'समय'—ये तीन 'तत्व' हैं। क्योंकि 'प्रक्रिया' (Process), 'विकास' (Evolution) तथा 'उन्नति' (Progress)—ये तीनों भी 'परिवर्तन' हैं, अतः इनमें भी 'वस्तु', 'भिन्नता' तथा 'समय' मौजूद हैं। परन्तु इन तीनोंके अतिरिक्त 'प्रक्रिया' (Process) में 'निरन्तरता' (Continuity)—यह एक तत्व और है, 'विकास' (Evolution) में 'निरन्तरता तथा दिशा' (Continuity and Direction)—ये दो तत्व और हैं, 'उन्नति' (Progress) में 'निरन्तरता, दिशा तथा मूल्यांकन' (Continuity, Direction and Valuation)—ये तीनों तत्व और हैं।

हमने देखा कि 'उन्नति' (Progress) एक ऐसी चीज है जिसमें 'सामाजिक-परिवर्तन' की 'प्रक्रिया' की जो 'दिशा' है, वह आगेको जाती है, पीछेको नहीं। परन्तु किसकी दृष्टि से आगे, और किसकी दृष्टि से पीछे? समाजकी किस प्रक्रियाको हम 'उन्नति' कह सकते हैं, किसको 'उन्नति' नहीं कह सकते? 'उन्नति' का अभिप्राय तो 'मूल्यांकन' (Valuation) है। जो भी परिवर्तनकी प्रक्रिया है, उसे अगर हम 'उन्नति' कहते हैं, तो इसका यही अर्थ है कि उस परिवर्तनका हम 'मूल्य' आंकते हैं, और 'मूल्य' के सम्बन्ध में यह 'निर्णय' देते हैं कि यह अच्छा है, या बुरा है। परन्तु अच्छे-बुरेका 'मूल्यांकन'—'मूल्यका निर्णय'—सबका भिन्न-भिन्न होसकता है। जिस प्रक्रियाको एक व्यक्ति अच्छा कहे, उसे दूसरा बुरा कह सकता है। यह होसकता है कि वर्तमान यान्त्रिक-विकासको, वर्तमान-सभ्यताको हम 'उन्नति' कहें, दूसरा इसे 'अवनति' कहे। वह यह कहे कि सभ्यताकी प्रारंभिक-अवस्थामें मनुष्य जितना सुखी था आज उतना सुखी नहीं रहा, आज बेकारी, बीमारी, दुःख पहले से बढ़ गये हैं। इस दृष्टिसे 'उन्नति' (Progress) का अर्थ 'मूल्यांकन' तो है, परन्तु ऐसा मूल्य जो आंकनेवालेके दृष्टि-कोणसे 'उन्नति' कहा जासके, यह जरूरी नहीं कि दूसरेके दृष्टि-कोणसे भी उसे 'उन्नति' ही कहा जा सके।

संसारमें हर वस्तुका विरोधी गुण उसकेसाथ लगा रहता है। अच्छे के साथ बुरा, ऊंचे के साथ नीचा। इसीतरह जब हम 'विकास' (Evolution) शब्दका प्रयोग करते हैं, तब 'ह्रास' (Regression), तथा जब 'उन्नति' (Progress) शब्दका प्रयोग करते हैं तब अवनति (Decline)-शब्द इनके

साथ आजाते हैं। 'प्रक्रिया', 'विकास तथा ह्रास' एवं 'उन्नति तथा अवनति'—ये तीनों 'परिवर्तन' के भिन्न-भिन्न रूप हैं। इन सबमें जो 'तत्व' (Factors) काम करते हैं उन्हें चित्र में यूं दिखाया जा सकता है:—

१. 'परिवर्तन' (Change)	=	'वस्तु' (Object) + 'भिन्नता' (Difference) + 'समय' (Time)
२. 'प्रक्रिया' (Process)	=	'वस्तु' + 'भिन्नता' + 'समय' —इन तीनोंमें निरन्तरता (Continuity)
३. वाह्य—'विकास' ¦ वृद्धि (Growth) वढ़ती (Accumulation)	=	'वस्तु' + 'भिन्नता' + 'समय' —इन तीनोंमें 'निरन्तरता' तथा 'दिशा' (Continuity and Direction) [मात्राकी दृष्टिसे—Quantitatively]
४. आन्तरिक-'विकास' 'विकास' (Evolution) ¦ 'ह्रास'(Regression)	=	'वस्तु' + 'भिन्नता' + 'समय' —इन तीनों में 'निरन्तरता' तथा 'दिशा' (Continuity and Direction) [गुणकी दृष्टिसे—Qulitatively]
५. 'उन्नति' (Progress) ¦ 'अवनति' (Decline)	=	'वस्तु' + 'भिन्नता' + 'समय' —तीनोंमें 'निरन्तरता', 'दिशा' तथा 'मूल्यांकन' (Continuity, Direction and Valuation)

१. सामाजिक-परिवर्तन—'चक्र' या 'विकास' की प्रक्रिया

सामाजिक-परिवर्तनोंमें जो 'प्रक्रिया' (Process) होरही है, उसके सम्बन्धमें समाज-शास्त्रियोंमें दो विचार हैं। एक विचार तो यह है कि यह 'प्रक्रिया' एक चक्रकी भांति चलती है। जैसे व्यक्ति सांस अन्दर लेता और वाहर छोड़ता है, जैसे दिनके वाद रात और रातके वाद दिन आता है, जैसे ऋतुओं का चक्र चल रहा है, वैसे समाजमें हरेक परिवर्तनका चक्र चलता है। इस चक्रके अनुसार जव वेकारी वढ़ जाती है, तो उसके वाद रोजगार वढ़ जाता है, जव अपराध वढ़ जाते हैं, तो उसके वाद एकदम धार्मिक लहर चल पड़ती है, गरीवी वढ़ती है, तो वादको अमीरी-के आसार दिखाई देने लगते हैं, राज्य वनते हैं, विगड़ते हैं, सभ्यताओंका उदय होता है, अन्त होता है। यह 'चाक्रिक-प्रक्रिया' (Cyclical process) है। दूसरा विचार यह है कि सामाजिक-परिवर्तनोंकी 'प्रक्रिया' चक्रमें नहीं चलती, किसी एक 'दिशा' (Direction) की तरफ़ चलती है, दूसरे शब्दोंमें, सामाजिक-परिवर्तनों की प्रक्रिया 'विकासकी प्रक्रिया' (Evolutionary process) है।

२. सामाजिक-परिवर्तन तथा 'विकास' की प्रक्रिया

इस विचारको माननेवालोंका कहना है कि सामाजिक-परिवर्तन प्रक्रिया-मात्र नहीं है, न ही इनमें चक्र-की-सी गति है, सामाजिक-परिवर्तनकी दिशा 'विकास' (Evolution) की तरफ़ है। डार्विन (Darwin) ने १९वीं शताब्दीके मध्यकाल में 'विकास' (Evolution) के सिद्धान्तका प्रतिपादन किया, इस सिद्धान्त को हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) ने अन्य सब विज्ञानोंपर घटातेहुए समाज-शास्त्रपर भी घटाया। 'विकास' (Evolution) का मतलब है एक ऐसी 'प्रक्रिया' (Process) जिसमें किसी वस्तुके अन्तर्निहित, उसके छिपेहुए गुण प्रकट हों। ये गुण अभावसे नहीं उत्पन्न होते। इन गुणोंका बीज वस्तुके भीतर ही विद्यमान होता है। अनुकूल परिस्थिति पाकर वस्तुके भीतर विद्यमान गुण, उसकी संभावनाएं मूर्त रूप धारण कर लेती हैं, परिस्थिति अनुकूल न हो, तो वे बीज रूपमें ही पड़ी रहती हैं। इन बीज रूपसे विद्यमान गुणों, इनकी संभावनाओंके स्थूल रूपमें आनेकी प्रक्रियाको 'विकास' (Evolution) कहा जाता है। प्रश्न यह है कि बीज रूपसे जो गुण किसी वस्तुकेभीतर विद्यमान हैं, वे जब प्रकट होते हैं, तब कौन-सी खास बात होजाती है कि इसे हम 'विकास' (Evolution) कहने लगते हैं ?

'विकास' में विभेदीकरण (Differentiation) की प्रक्रिया—

प्राणी-शास्त्रकी दृष्टिसे जीवनका विकास एकतासे अनेकताकीतरफ़ जारहा है। अमीबाके विषयमें हम जानते हैं कि इसके भिन्न-भिन्न अंगोंका विकास नहीं हुआ होता। एक ही अंगसे यह मुखका, पेटका, आंतका —सब काम लेलेता है। ज्यों-ज्यों जीवनके क्षेत्रमें विकसित प्राणी आते जाते हैं, त्यों-त्यों 'विभेदीकरण' (Differentiation) होता जाता है। उच्च-प्राणियोंमें मुख अलग है, पेट अलग है, आंतें अलग हैं। 'विभेदीकरणकी प्रक्रिया' विकासकी जान है। 'सामाजिक-परिवर्तन' (Social change) के विषयमें लिखतेहुए हमने कहा था कि 'परिवर्तन' में 'भिन्नता' एक 'तत्व' है, जिसका नाम हमने 'भिन्नताका तत्व' (Difference factor) रखा था। यह 'भिन्नताका तत्व' ही जब 'विकास' की 'प्रक्रिया' में काम करने लगता है, तब इसे 'विभेदीकरण' (Differentiation) की 'प्रक्रिया' कहते हैं। ज्यों-ज्यों 'विकास' होता जाता है, त्यों-त्यों 'विभेदीकरण' (Differentiation) की 'प्रक्रिया' बढ़ती जाती है। जहां 'विभेदीकरण' (Differentiation) होगा, वहां 'विकास' (Evolution) होगा।

'विभेदीकरण' की प्रक्रिया जब समाजमें काम शुरू करती है तब समाजमें एककी जगह अनेक संगठन बनने लगते हैं, भिन्न-भिन्न विभाग खुलने लगते हैं। यह

एक ही संगठनसे सब-कुछ होता था, एक ही विभागसे सब काम चल जाता था, अब हर-कामकेलिये अलग संगठनों और अलग विभागोंकी नींव पड़ जाती है। समाजके विकासमें 'विभेदीकरण' की इस 'प्रक्रिया' का नाम 'सामाजिक-विकास' (Social evolution) है। 'सामाजिक-विकास' का यह मतलब नहीं है कि नये-नये संगठनों तथा विभागोंकी संख्या बढ़ जाय, उनका आपसमें कोई संबंध न हो। कोई-सा नवीन संगठन, या कोई-सा नवीन विभाग खुल जाना 'सामाजिक-विकास' (Social evolution) के लिये पर्याप्त नहीं है। एक रोगी शरीरमें नये-नये कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं, परन्तु वे शरीरकी एकताको बनानेके स्थानमें उस एकताको नष्ट करते हैं। 'सामाजिक-विकास' में जो नवीन संगठन, नवीन विभाग, जो 'विभेदीकरण' होता है, वह भी समाजके शरीरमें सिर्फ़ एक नवीन तत्व उत्पन्न करनेकेलिये नहीं होता, एक रोगकीतरहसे नहीं होता, अपितु समाजके शरीरमें एकता उत्पन्न करनेकेलिये होता है। इस दृष्टिसे 'विभेदीकरण' का उद्देश्य भेदको मिटाना है। जैसे 'श्रम-विभाग' (Division of labour) का उद्देश्य यह होता है कि सब श्रम अलग-अलग होकर इसप्रकार विकसित हों कि सबके मिलनेसे कार्यमें कुशलता दीख पड़े, इनका अलग होना मिलनेकेलिये है, इसीप्रकार 'विभेदीकरण' (Differentiation) का अभिप्राय भिन्न-भिन्न विभागोंको 'विशेष-योग्यता' (Specialization) द्वारा एक-दूसरेके अधिक निकट लाना है। इस दृष्टिसे 'विभेदीकरण' (Differentiation) का ही दूसरा नाम 'एकीकरण' (Integration) है। समाजकी प्रारंभिक रचनामें 'एकीकरण' (Integration) ही होता है, परन्तु वह 'एकीकरण' समाजके हर उद्देश्यको सफलतापूर्वक पूरा नहीं कर सकता। इसी उद्देश्यको पूरा करनेकेलिये विकसित-समाज 'विभेदीकरण' की प्रक्रियामेंसे गुजरता है, हर कामकेलिये एक नया संगठन बनाता है, हर बातकी 'विशेष-योग्यता' उत्पन्न करता है, और इसप्रकार 'विभेदीकरण' की प्रक्रिया द्वारा समाज फिर 'एकीकरण' की तरफ़ आता है।

३. सामाजिक-परिवर्तन तथा 'उन्नति' की प्रक्रिया

हम देख चुके हैं कि 'प्रक्रिया' (Process) जब किसी खास 'दिशा' (Direction) की तरफ़ चल पड़ती है, तब उसे 'विकास' (Evolution) कहते हैं, जब उस दिशाका हम 'मूल्य' (Value) आंकते हैं, यह कहते हैं कि वह 'दिशा' 'अच्छाई' की दिशा है, तब उस 'मूल्यांकन' (Valuation) को 'उन्नति' (Progress) कहते हैं। 'उन्नति' शब्द का यह ढीला-ढाला-सा प्रयोग है, परन्तु क्या इस शब्दका वैज्ञानिक अर्थमें प्रयोग होसकता है ? वैज्ञानिक-दृष्टि से जब किसी

शब्दका प्रयोग होता है, तो किसी निश्चित अर्थमें प्रयोग होता है। 'उन्नति' (Progress)-शब्दका निश्चित अर्थ क्या है? एक व्यक्तिकी दृष्टिमें जो 'उन्नति' है, दूसरेकी दृष्टिमें वही 'अवनति' है। भिन्न-भिन्न देश और भिन्न-भिन्न कालमें इस शब्दका भिन्न-भिन्न अर्थ लिया जाता है। कई लोगोंका कहना है कि 'उन्नति'-शब्दके भिन्न-भिन्न अर्थ होते हुए भी इसका एक ऐसा अर्थ होसकता है जिसके विषय में भिन्न-भिन्न अर्थ करनेवाले भी एकमत हों। जिस अर्थमें वे एक मत हों, 'उन्नति'-शब्दका वही वैज्ञानिक अर्थ है। 'उन्नति'-शब्दके किस अर्थमें सब एकमत हैं? मनुष्य-समाजकी कुछ एक-समान इच्छाएं हैं, एक-समान कामनाएँ हैं, एक-समान लक्ष्य हैं, एक-समान उद्देश्य हैं। उदाहरणार्थ, उत्तम-स्वास्थ्य, दीर्घ-आयु, आजीविका के पूर्ण-साधनोंका प्राप्त होना, दूसरोंका आदर करना, आत्म-सम्मान—ये ऐसी इच्छाएँ हैं जिनपर सारा मानव-समाज एकमत है। ये इच्छाएँ जिनके मूल्यके सम्बन्ध में जंगली और सभ्य, अमीर और गरीब, साधु और लुटेरा, ऊंचा और नीचा—सभी सहमत हैं, जिनके सम्बन्ध में कहीं मतभेद नहीं है, इन इच्छाओंकी पूर्तिको 'सामाजिक-उन्नति' (Social Progress) कह सकते हैं। इस दृष्टिसे क्या 'उन्नति' (Progress)-शब्दका वैज्ञानिक अर्थमें प्रयोग नहीं होजाता?

४. 'विकास' तथा 'उन्नति' की तुलना

कोई समय था जब 'सामाजिक-विकास' (Social evolution) और 'सामाजिक-उन्नति' (Social progress) का एक ही अर्थ समझा जाता था। आगस्ट कोम्टे (Auguste Comte) तथा हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) भी इसी विचारको मानकर चले थे। अमरीकाके समाज-शास्त्री लेस्टर वार्ड (Lester Ward) तथा एफ़. एच. गिड्डिंग्स (F. H. Giddings) भी इसी विचारको आधार बनाये हुए थे। इन सबके 'विकास' तथा 'उन्नति' को एक समझने का आधार डार्विन (Darwin) का विकासवादका सिद्धान्त था। विकासवाद में यह माना जाता है कि जो समर्थ होगा वही जिन्दा बचेगा, कमजोर नष्ट होजायगा। इसका यही अर्थ होसकता था कि अगर कमजोर नष्ट होजायगा, और बलवान् ही बच रहेगा, तो विकासमें उन्नति होना आवश्यक है। परन्तु यह विचार आज नहीं माना जाता। आज समाज-शास्त्र में 'विकास' (Evolution) तथा 'उन्नति' (Progress)—ये दोनों पृथक्-पृथक् शब्द माने जाते हैं। 'विकास' का अर्थ 'उन्नति' नहीं है, 'उन्नति' का अर्थ 'विकास' नहीं है। यह सिद्ध किया जासकता है कि मानव-समाज विकसित हुआ है, परन्तु क्या इसके साथ ही यह भी सिद्ध किया जासकता है कि हमारा समाज उन्नत भी हुआ है? यह होसकता है कि हमारा व्यक्ति-

रूपसे यह विश्वास हो कि समाज उन्नत हुआ है, परन्तु जबतक दूसरे भी हमारे विश्वास से सहमत न हों, तबतक क्या यह कहा जासकता है कि जिसे हम उन्नति कहते हैं, उसे दूसरे लोग भी उन्नति ही कहेंगे ? आजका समाज विकसित है, परन्तु क्या यह उन्नत भी है ? जंगली लोगोंमें जो सन्तोष पाया जाता था, वह आज विकसित-समाज में कहां है ? वे लोग बीमार नहीं होते थे, स्वास्थ्यकी दृष्टिसे हमसे अच्छे थे, सच्चे थे, ईमानदार थे, एक-दूसरेकेसाथ हमसे ज्यादा हमदर्दी रखते थे। आज जिसप्रकार लोग चिन्तासे दबे रहते हैं, तरह-तरहकी मानसिक बीमारियोंके शिकार हैं, यह सब-कुछ प्रारंभिक-समाज में नहीं था। किस दृष्टिसे हम कह सकते हैं कि हम उन्नत हैं, वे अवनत थे ? उनकी आंखें इतनी कमजोर नहीं होती थीं, क्योंकि वे किताबोंके कीड़े नहीं थे, उनके दांत मोती की तरह चमकते थे और पत्थरकीतरह पक्के होते थे, क्योंकि तरह-तरहके मसालोंके खाने बनाना उन्होंने नहीं सीखा था। हमसे अच्छी आंखें और अच्छे दांत होनेके कारण उनको अविकसित होते हुए भी हमसे उन्नत क्यों न कहा जाय ? जंगली और उनसे कुछ उन्नत मानव-समूह की पारस्परिक तुलना करनेसे ज्ञात हुआ है कि शुरू-शुरूमें दास-प्रथा नहीं थी, 'सभ्यता' के साथ-साथ दास-प्रथा आयी, शुरू-शुरूमें बहु-विवाह नहीं था, 'सभ्यता' के साथ-साथ बहु-विवाह चल पड़ा। दास-प्रथा और बहु-विवाह विकसित समाजकी प्रथाएँ तो कही जा सकती हैं, उन्नत समाजकी नहीं। इससे स्पष्ट है कि 'विकास' (Evolution) तथा 'उन्नति' (Progress) पृथक्-पृथक् प्रक्रियाएँ हैं, और इन दोनोंको एक समझना भूल है।

५. 'विकास तथा उन्नति' की, एवं 'सभ्यता तथा संस्कृति' की तुलना

हमने देखा कि जैसे 'विकास तथा उन्नति' (Evolution and Progress) का जोड़ा है, वैसे 'सभ्यता तथा संस्कृति' (Civilization and Culture) का भी जोड़ा है। क्या इनका आपसमें कुछ संबंध है ? 'विकास' (Evolution) का अर्थ परिवर्तनकी प्रक्रियामें 'दिशा' (Direction) का निर्धारण करना है, 'सभ्यता' (Civilization) भी परिवर्तनकी प्रक्रियामें एक विशेष 'दिशा' (Direction) का नाम है। बैलगाड़ीके बाद घोड़ा-गाड़ी बनी, घोड़ा-गाड़ीके बाद रेल-गाड़ी बनी, रेल-गाड़ीके बाद हवाई जहाज बना—यही 'विकास' (Evolution) है, यही 'सभ्यता' (Civilization) है। 'विकास' (Evolution) का काम 'दिशा' (Direction) दे देना है, 'मूल्य-आंकना' (Valuation) नहीं है। जब हम 'सभ्यता' (Civilization) का 'मूल्य' आंकने लगते

हैं, तब हम 'सभ्यता' के नहीं, 'संस्कृति' (Culture) के क्षेत्र में आजाते हैं। जैसे 'संस्कृति' (Culture) का काम 'मूल्य' आंकना है, वैसे 'उन्नति' (Progress) का काम भी 'मूल्य' आंकना है। जब हम 'मूल्य' आंकते हैं, तब 'सभ्यता' की परख करने लगते हैं। अगर हमारे माप-दंडसे कोई 'सभ्यता', कोई 'विकास' ऊपर जारहा है, तो उसे 'उन्नति' कहते हैं, नीचे जारहा है तो उसे 'अवनति' कहते हैं। इस दृष्टिसे 'विकास' तथा 'सभ्यता' (Evolution and Civilization) एवं 'उन्नति' तथा 'संस्कृति' (Progress and Culture) का एक ही अर्थ है।

प्रश्न

१. 'सामाजिक-परिवर्तन' (Social change)—इस शब्दमें 'परिवर्तन'-शब्द का विश्लेषण करतेहुए बतलाइये कि 'परिवर्तन' में क्या-क्या 'तत्व' (Factors) आजाते हैं।
२. 'प्रक्रिया' (Process), 'विकास' (Evolution) तथा 'उन्नति' (Progress)—इनकी व्याख्या कीजिये, इनके 'तत्वों' (Factors) का विश्लेषण कीजिये, और इनका आपसका संबंध दर्शाइये।
३. 'विभेदीकरण' (Differentiation) का क्या अर्थ है ?
४. 'सामाजिक-परिवर्तन' (Social change), 'सामाजिक-विकास' (Social evolution) तथा 'सामाजिक-उन्नति' (Social Progress)—इन सबकी व्याख्या करतेहुए इनके आपसी भेदको स्पष्ट कीजिये।
५. 'सामाजिक-विकास' (Social evolution) तथा 'सामाजिक-उन्नति' (Social progress) की तुलना कीजिये।
६. 'उन्नति' (Progress) के विचारमें 'मूल्यांकन' (Valuation) करना पड़ता है—इसे स्पष्ट कीजिये ।

[१४]

परिवार

(FAMILY)

१. परिवार की परिभाषा

परिवार एक ऐसे समूहका नाम है जो संसारमें सब जगह पाया जाता है। इसमें निम्न 'तत्व' हैं :—

(क) स्त्री-पुरुषका यौन-संबंध—(Mating relationship),

(ख) इस यौन-संबंधको दूसरे लोग भी स्वीकार करें, इस उद्देश्यसे विवाह-जैसा कोई संस्कार—(Some form of marriage),

(ग) स्त्री-पुरुषका यह संबंध सिर्फ़ उनतक ही सीमित न रहे, इसका परिणाम आगेतक भी चलता रहे, स्थिरता मिल जाय, इस उद्देश्यसे, पिता या माताके नामसे वंशका चलना—(Reckoning of descent),

(घ) सन्तानोत्पत्ति, सन्तानका पालन तथा एक-दूसरेका भरण-पोषण—(Child-bearing, Child-rearing and Economic provision), तथा

(ङ) सह-वास—(Common habitation)

इस दृष्टिसे 'परिवार' एक ऐसा समूह है जिसमें (क) स्त्री-पुरुषका 'यौन-संबंध' (ख) 'विधि-पूर्वक' स्वीकार किया जाता है, (ग) इसे 'स्थिर' बना दिया जाता है, और (घ) जिसमें सन्तान की 'उत्पत्ति', 'पालन' तथा 'भरण-पोषण' की जिम्मेदारी लेकर (ङ) स्त्री-पुरुष किसी 'स्थान' पर साथ-साथ रहते हैं।

पहले-पहल परिवारकी उत्पत्ति कैसे हुई इस सम्बन्धमें समाज-शास्त्रियोंके भिन्न-भिन्न विचार हैं।

एक विचारके माननेवाले तो यह कहते हैं कि शुरू-शुरू में परिवारमें पिताकी प्रधानता थी। प्राणी-जगत्में नर और मादा साथ-साथ ही नहीं रहते, नर मादाको अपने एकाधिकारमें भी रखता है। एक समयमें एक नर मादाको दूसरेके पास नहीं जाने देता। मादा दूसरे नरकेपास जाये, तो उसे ईर्ष्या होती है। नर

female

क्योंकि मादासे बलवान् होता है, अतः 'एकाधिकार' तथा 'ईर्ष्या'—इन दो भावनाओं के कारण वह मादापर अपना स्वत्व जमा लेता है। इस विचारको माननेवालोंका यह भी कहना है कि इसीकारण विकासमें 'एक-विवाह' (Monogamy) का प्रथम स्थान है। इस पक्षके समर्थकोंमें डार्विन के अनुयायियोंमेंसे वेस्टरमार्क (Westermarck) का नाम मुख्य है।

दूसरे विचारके माननेवाले यह कहते हैं कि शुरु-शुरुमें परिवारमें माताकी प्रधानता थी। ऐसी जातियां पायी जाती हैं जिनमें 'यूथ-विवाह' (Group marriage) होता था। कुछ स्त्रियां अनेक पुरुषोंकेसाथ रहती थीं, और हरेक पुरुष हर स्त्रीसे संबंध रख सकता था। ऐसी अवस्थामें यह तो कहा जासकता था कि किस स्त्रीका कौन-सा बच्चा है, परन्तु यह नहीं कहा जासकता था कि किस पुरुष का कौन-सा बच्चा है। बच्चेकेसाथ पिताका सम्बन्ध न जोड़ सकनेके कारण पिता की परिवारमें कोई स्थिति नहीं कही जासकती थी। यह ठीक है कि आदि-कालके सब परिवारोंमें ऐसी स्थिति नहीं थी, परन्तु अगर ऐसी स्थिति पायी जाती है, तो यह तो नहीं कहा जासकता कि शुरु-शुरुके सब परिवारोंमें पिताकी ही प्रधानता थी। 'यूथ-विवाह' (Group marriage) में पिताका पता ही नहीं था, इसलिये पिताकी कोई स्थिति ही नहीं थी, सिर्फ़ माताकी स्थिति थी, उसीकी मुख्यता थी। इस विचारके समर्थकोंमें श्री ब्रिफ़ाल्ट (Briffault) का नाम मुख्य है।

तो फिर, शुरु-शुरुके परिवारकी किसप्रकार उत्पत्ति हुई? माताकी मुख्यतासे परिवारकी उत्पत्ति हुई, या पिताकी मुख्यतासे? माताकी मुख्यतासे जिस परिवारका निर्माण होता है, उसे 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family), तथा पिताकी मुख्यतासे जिस परिवारका निर्माण होता है उसे 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) कहते हैं। वर्तमान समाज-शास्त्रियोंका कहना है कि निश्चिततौरपर नहीं कहा जासकता कि विकासकी दृष्टिसे पहले-पहल 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) बने, या 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) बने। इन दोनोंकी सत्ता प्रारंभिक-समाजमें एक-समान पायी जाती है। हां, इतना अवश्य कहा जासकता है कि प्रत्येक परिवारके आधारमें, चाहे वह 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) हो, चाहे 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal), कुछ आधार-भूत बातें अवश्य पायी जाती हैं। वे आधार-भूत बातें हैं—'भिन्न-लिंगता' (Sex), 'सन्तानोत्पत्ति' (Reproduction) तथा इस समूहकी 'आर्थिक-आवश्यकता-ओंकी पूर्ति' (Satisfaction of economic needs)। प्रत्येक स्त्री-पुरुषमें युवावस्थामें काम-वासनाका उदय होता है। यह वासना पशुओंतकमें जो

पुरुष चाहे जिस स्त्रीसे, और जो स्त्री चाहे जिस पुरुषसे पूरी करे—यह बात क्रियात्मक प्रतीत नहीं होती। पुरुष तो ऐसा कर सकता है, परन्तु स्त्रीके बच्चा होजाने के कारण वह पुरुष को बाधित करती है कि अगर वह काम-वासनाकी पूर्ति चाहता है, तो बच्चोंके पालनेकी जिम्मेवारीमें भी हाथ बटाये, उनके भरण-पोषण एवं स्त्री की तथा बच्चोंकी आर्थिक-आवश्यकताओं को हल करनेमें भी सहयोग दे। यह सब स्वाभाविक है, और प्रत्येक परिवारके आधारमें ये मनोवैज्ञानिक-प्रवृत्तियां काम कर रही हैं। परन्तु इन प्रवृत्तियोंसे, शुरू-शुरू में किस प्रकारके परिवारका उदय हुआ, 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) का, या 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal) का, यह नहीं कहा जासकता, क्योंकि आदि-कालीन जातियोंमें दोनोंप्रकारके परिवार पाये जाते हैं।

२. 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (MATRIARCHAL FAMILY)

'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) में माताकी प्रधानता रहती है। वह किसप्रकार? समाज-शास्त्रियोंके अध्ययनमें कई ऐसे परिवार सामने आये हैं जिनमें स्त्री, विवाहके बाद भी अपने माता-पिता-भाई-बहन के पास ही रहती है, उन लोगोंकेपास रहती है जिनकेसाथ उसका रुधिरका संबंध है, अपना घर छोड़कर पतिके घर नहीं जाती, उन लोगोंमें नहीं जाती जिनकेसाथ उसका रुधिरका सम्बन्ध नहीं होता। पति, पत्नीके घर आजाता है, पत्नीकेसाथ रहता है, परन्तु बच्चोंपर माताका ही अधिकार होता है, उन लोगोंका अधिकार होता है जिनका बच्चोंकी मांसे रुधिरका नाता होता है। लड़की अपने मां-बापके घर रहती है, उसके बच्चोंकी, उन्हें पढ़ाने-लिखानेका काम, देख-भाल, लड़कीका भाई, लड़कीके माता-पिता करते हैं। हम क्योंकि दूसरी परिस्थितियोंमें पले हैं इसलिये हमें यह सुनकर आश्चर्य होता है, परन्तु उन लोगोंको इसमें कुछ आश्चर्य की बातनहीं लगती। ऐसे परिवारोंको दो दृष्टियोंसे देखा जासकता है। एक दृष्टि तो वह है जिसमें लड़की का अपने माता-पिता, भाई-बहनसे रुधिरका सम्बन्ध है। आजकल तो वह अपने रुधिरके सम्बन्धियोंको छोड़कर ऐसे व्यक्तिके पास चली जाती है जिसके साथ उसका रुधिरका कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु जिन परिवारोंका हम वर्णन कर रहे हैं, उनमें वह अपने रुधिरके सम्बन्धियोंकेपास ही रहती है, और वहीं रहतीहुई बाल-बच्चे भी उत्पन्न करती है। इस दृष्टिसे इसप्रकारके परिवारको 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) कहते हैं, इसमें पतिका पत्नीके परिवारमें बहुत तुच्छ स्थान होता है। उसका अपना स्थान अपने परिवारमें होता है, जहां उसकी बहिनके बच्चोंकी जिम्मेदारी उसके कन्धोंपर होती है। इस प्रकारके परिवारका एक पहलू तो यह है कि स्त्री अपने ही परिवारमें बनी रहती है,

उस परिवारमें जिसमें उसीके रुधिरके लोग हैं, दूसरा पहलू यह है कि इतना ही नहीं कि वह अपने परिवारमें बनी रहती है, अपने परिवारमें उसकी स्थिति भी पतिसे ऊंची रहती है। 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) में पत्नीकी स्थिति पतिसे ऊंची होनेके दो प्रमाण पाये गये हैं। पहला प्रमाण तो यह है कि यह परिवार 'मातृ-स्थानी' (Matrilocal) है। 'मातृस्थानी' (Matrilocal) का मतलब यह है कि पति-पत्नी और बच्चोंका जो परिवार बनता है, उसका स्थान बच्चोंके पिताका स्थान न होकर, उनकी माताका घर ही उनका स्थान होता है। हम लोगोंके आजकलके परिवार 'पितृ-स्थानी' (Patrilocal) हैं, अर्थात् माता और बच्चे पिताके घर रहते हैं, परन्तु 'समान-रुधिर-परिवार' (Consaguineous family) में परिवारके लोग माताके स्थानपर रहते हैं। 'समान-रुधिर-परिवार' में पत्नीकी स्थिति पतिसे ऊंची होनेका दूसरा प्रमाण यह है कि उसमें वंश-परंपरा पिताके नामसे न चलकर माताके नामसे चलती है, अर्थात् 'समान-रुधिर-परिवार' 'मातृ-वंशी' (Matrilineal) होते हैं, उनमें पिताके नामसे वंश-परंपरा नहीं चलती, अर्थात् वे 'पितृ-वंशी' (Patrilineal) नहीं होते। माताका निवास-स्थान परिवारका केंद्र होना, और माताके नामसे वंशका चलना—ये दोनों बातें परिवारमें माताको मुख्यता दे देती हैं, और इसीलिये इसप्रकारके परिवारको 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) कहते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय ६, ब्राह्मण ५) में एक बड़ी लम्बी वंश-परंपरा दी गई है जिसमें सब वंश माताके नामसे चले हैं। पौतिमाषीपुत्र, कात्यायनीपुत्र, गौतमीपुत्र, भारद्वाजीपुत्र, पाराशरीपुत्र—इस प्रकार ५०-६० माताके नामसे चले परिवारोंका वहां वर्णन पाया जाता है। संसारकी जिन सभ्यताओंमें वंश-परंपरा किसी स्त्रीसे गिनी जाती है वे 'मातृ-सत्ताक' हैं। मलाबारमें आज भी कई स्थानोंपर पत्नी विवाहके बाद पतिके घर जानेकीजगह पिताके घर ही रहती है, और उसीके नामसे वंश-परंपरा चलती है, पिताके मरनेपर लड़केकी जगह लड़की संपत्तिकी अधिकारिणी होती है।

हमने देखा कि 'समान-रुधिर परिवार' (Consanguineous family) तथा 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) एक ही प्रकारके परिवारके दो पहलू हैं। जब हम स्त्रीकी स्थितिको उसके माता-पिता-भाई-बहनकी दृष्टिसे देखते हैं, तब हम कहते हैं कि वह 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) की अंग है, जब हम उसकी स्थितिको उसके पतिकी दृष्टिसे देखते हैं, तब कह देते हैं कि वह 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) की अंग है।

'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) अन्ततक नहीं बना रहता–

'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) तभीतक रह सकता है, जबतक कोई समाज 'कृषि-सभ्यता' तक नहीं पहुंचता। जबतक मनुष्य शिकारसे, या पशु-पालनेसे जीवन-निर्वाह करता है, तबतक तो यह संभव होसकता है कि पति अपने घरको छोड़कर पत्नीके घर आता-जाता रहे, परन्तु जब मनुष्यने कृषिका आविष्कार किया, तब पतिकेलिये पत्नीके घर आना-जाना कठिन होगया। उस अवस्थामें वह अपने कारोबारमें, खेती-बाड़ीमें इतना व्यस्त रहता था कि अपने धंधोंसे ही उसे फ़ुर्सत नहीं मिलती थी। ज़मीनको साफ़ करना, हल चलाना, बीज बोना, जानवरोंसे खेतीकी रक्षा करना, पकनेपर काटना—ये-सब इतने जंजालके काम थे जिनके बिना उसका जीवन-निर्वाह नहीं होसकता था, परन्तु जिनमें लग जानेपर उसके पास फ़ुर्सत भी नहीं रहती थी। इसलिये 'कृषि-सभ्यता' से पहले अगर 'मातृ-सत्ताक' तथा 'पितृ-सत्ताक' दोनोंप्रकारके परिवार रहे भी होंगे, तो भी कृषिके आविष्कारके बाद तो 'मातृ-सत्ताक-परिवार' भी 'पितृ-सत्ताक' ही बन गया होगा। उस हालतमें पत्नीको अपने रुधिरके परिवारको छोड़ना पड़ा होगा, इसलिये छोड़ना पड़ा होगा कि पतिको पत्नीके परिवारमें जानेकी फ़ुर्सत ही बहुत कम रही होगी। इसप्रकार आर्थिक-कारणोंसे जहां-जहां 'मातृ-सत्ताक-परिवार' रहा होगा, वह 'पितृ-सत्ताक-परिवार' में बदल गया होगा।

३. 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (PATRIARCHAL FAMILY)

'पितृ-सत्ताक-परिवार' में स्त्री समान-रुधिरके लोगोंमें न रहकर भिन्न रुधिरके लोगोंमें जाकर रहने लगती है। 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) में रहकर भी विवाह-संबंध तो उसका भिन्न रुधिरवाले व्यक्तिसे ही होता है, परन्तु रहती वह अपने घरके लोगोंकेसाथ ही है, वंश-परंपरा भी उसीके नामसे चलती है। जिस समाजमें स्त्री अपने माता-पिताका घर छोड़कर पतिके घर, भिन्न रुधिरवालोंके साथ जाकर रहने लगती है, उस समाजका परिवार 'सह-योगी-परिवार' (Conjugal family) कहाता है। पहली प्रकारके परिवारमें माताका 'स्थान' परिवारका केंद्र था, दूसरी प्रकारमें पिताका 'स्थान' परिवारका केंद्र हो जाता है, इसलिये यह परिवार 'पितृ-स्थानी' (Patrilocal) कहाता है। इसमें वंश-परंपरा माताके नामसे न चलकर पिताके नामसे चलती है, इसलिये इसे 'पितृ-वंशी' (Patrilineal) भी कहते हैं। क्योंकि इसमें माताके स्थान पर पिताकी प्रधानता होजाती है, इसलिये इसे 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) कहा जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय ५, ब्राह्मण ६) में एक वंश-परंपरा दीगई है जिसमें सब वंश पिताके नामसे चले हैं। गोपवनका

पुत्र, कौशिकका पुत्र, कौण्डिन्यका पुत्र, शाण्डिल्यका पुत्र--इसप्रकार ५०-६० पिताके नामसे चले परिवारोंका वहां वर्णन पाया जाता है। संसारकी जिन सभ्यताओं में वंश-परंपरा किसी पुरुषसे गिनी जाती है वे 'पितृ-सत्ताक' हैं।

'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) में स्त्री को हानि--

जैसा हमने वार-वार कहा, यह नहीं कहा जासकता कि विकासकी दृष्टिसे उक्त दोनोंप्रकारके परिवारोंमेंसे कौन-सा पहले है, कौन-सा पीछे। हां, इतना कहा जासकता है कि जहां-जहां 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) था, वह भी धीरे-धीरे परिस्थितियोंके कारण 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) में परिवर्तित होता चला गया। अव ऐसी अवस्था आगई है जब प्राय: सर्वत्र 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) ही रह गये हैं, दूसरीप्रकारके नहीं रहे। परन्तु इसप्रकारके परिवार वननेसे स्त्रीकी स्थिति में वहुत अन्तर पड़ गया है। परिवारमें पुरुषकी सत्ता वढ़ जानेसे स्त्रीकी स्थिति वहुत नीचे गिर गई है। अपने माता-पिताके परिवारमें वह घरकी मालकिन थी, पतिका उसकी सम्पत्तिमें कोई अधिकार न था, न ही पति उसपर अपना रोव जमा सकता था। पहले तो वह अपने वहिन-भाई-माता-पिताकेसाथ थी, सव उसके अपने थे, वहां उसके अधिकारको छीननेवाला कोई नहीं था, यहां पतिके घर आनेपर वह अपरिचितोंके वीच आपड़ी, यहां उसका कोई अधिकार नहीं था। यहां उसे भोजन मिलता था, परन्तु उसके वदले उसे घरके सव काम-काज करने पड़ते थे। काम तो उसे अपने घर भी करने पड़ते थे, परन्तु वहां अपना घर समझकर, परन्तु यहां विवश होकर करने पड़ते थे। 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) में पुरुषकी प्रधानताके कारण स्त्रीकी स्थिति जितनी भी गिर सकती थी गिरी। स्त्री घरकी दासी है, 'ढोल, गंवार, शूद्र अरु नारी, ये सव ताड़नके अधिकारी'--ये सव वातें परिवारमें पुरुषकी प्रधानताके कारण उठ खड़ी हुई। जैसे 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) की एक वड़ी कमी थी, जिसके कारण यह टिक नहीं सका, पुरुषके काम-काजमें लग जाने और उसे फ़ुर्सत न होनेके कारण जहां-जहां 'मातृ-सत्ताक-परिवार' था, वहां-वहां 'पितृ-सत्ताक-परिवार' ही उत्पन्न होगया, इसीप्रकार 'पितृ-सत्ताक-परिवार' की इस कमीको, यह कमी जिसमें स्त्रियों को कोई अधिकार ही नहीं रहा, दूर करनेकेलिये वर्तमान-समाज में नयी-नयी योजनाएं वन रही हैं, स्त्रियोंको अधिकार दियेजानेके कानून वन रहे हैं, और समाज अपने 'पितृ-सत्ताक' परीक्षणकी कमियोंको दूर करनेका प्रयत्न कर रहा है।

परिवारके सम्बन्धमें हमने जो-कुछ कहा, उसे चित्र में यूं प्रकट कर सकते हैं :—

परिवार

१. मातृ-सत्ताक-परिवार (Matriarchal family)	१. पितृ-सत्ताक-परिवार (Patriarchal family)
२. समान-रुधिर-परिवार (Consanguineous family)	२. सह-योगी परिवार (Conjugal family)
३. मातृ-स्थानी परिवार (Matrilocal family)	३. पितृ-स्थानी परिवार (Patrilocal family)
४. मातृ-वंशी परिवार (Matrilineal family)	४. पितृ-वंशी परिवार (Patrilineal family)

४. विवाहके मुख्य-मुख्य तीन प्रकार

हमने देखा कि आदि-कालीन परिवारकी उत्पत्तिका क्या रूप था। परिवारमें विवाह एक आवश्यक अंग है, अतः यह देखना आवश्यक है कि विवाहके क्या-क्या रूप हैं ? भिन्न-भिन्न समाजोंमें विवाहके मुख्य रूप दो हैं—'एक-विवाह' (Monogamy) तथा 'बहु-विवाह' (Polygamy)। 'एक-विवाह' (Monogamy) का अर्थ है एक पुरुष एक स्त्रीसे शादी करे, और एक स्त्री एक पुरुषसे शादी करे। 'बहु-विवाह' (Polygamy) के तीन भेद हैं—(१) एक पुरुष अनेक स्त्रियोंसे शादी करे, (२) एक स्त्री अनेक पुरुषोंसे शादी करे, (३) अथवा अनेक पुरुष अनेक स्त्रियोंसे शादी करें। एक पुरुषके अनेक स्त्रियोंसे विवाहको 'बहु-भार्यता' (Polygyny) कहते हैं, अनेक पुरुषोंके एक स्त्रीसे विवाहको 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) कहते हैं, अनेक पुरुषोंके अनेक स्त्रियोंसे विवाहको 'यूथ-विवाह' (Group marriage) कहते हैं, किसी प्रकारकी विवाहकी प्रथा न होनेको 'संकर' (Promiscuity) कहते हैं। इनमेंसे 'संकर' (Promiscuity) का समाजमें कोई स्थान नहीं है, 'यूथ-विवाह' (Group marriage) बहुत पहले कभी होता होगा, आजकल तो 'बहु-भार्यता' (Polygyny), 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) तथा 'एक-विवाह' (Monogamy) ही पाये जाते हैं। इन सबके विषयमें हम थोड़ी-थोड़ी चर्चा करेंगे।

१. 'बहु-भार्यता' (Polygyny)—

एक पुरुषकी अनेक पत्नियां होना 'बहु-भार्यता' (Polygyny) कहलाता है। इसके निम्न कारण हैं :—

(क) समाजमें पुरुषोंसे स्त्रियोंकी संख्याका अधिक होना। उदाहरणार्थ, युद्धमें पुरुष मारे जाते हैं, स्त्रियां बच जाती हैं। ऐसी अवस्यामें समाजकेलिये स्त्री-पुरुषोंकी विषमताको हल करनेका एक ही साधन रह जाता है कि एक पुरुष को अनेक स्त्रियोंसे विवाह करने की आज्ञा दे दे।

(ख) पुरुषकी काम-वासना। पुरुष अपनी काम-वासनाकी तृप्तिकेलिये भी अनेक विवाह करता है। युद्धोंमें स्त्रियोंका जीत लाना भी इसी उद्देश्यसे होता है।

(ग) आर्थिक-दृष्टि। ग़रीब लोगोंमें स्त्रियां पुरुषोंका काममें हाथ बंटाती हैं, खेतीमें सहयोग देती हैं, इसलिये ग़रीब लोग जैसे बैलको ख़रीदते हैं, वैसे स्त्रियोंको भी ख़रीदते हैं, अनेक विवाह करते हैं। जिन लोगोंमें स्त्रियां काम नहीं करतीं, उन्हें बैठाकर सिर्फ़ खिलाना पड़ता है, उनमें 'बहु-भार्यक' विवाहकी आज्ञा होनेपर भी वे बहु-विवाह नहीं करते। उदाहरणार्थ, मुसलमानोंमें चार स्त्रियोंतक विवाह करनेकी आज्ञा है, परन्तु बहुत कम घरानोंमें चार स्त्रियां पायी जाती हैं। ग़रीबीके कारण लोग अनेक स्त्रियोंसे विवाह करते भी हैं, ग़रीबी ही के कारण नहीं भी करते।

(घ) प्रतिष्ठा का बढ़ना। कई समाजोंमें 'बहु-भार्यता' का कारण यह है कि जिसकेपास अनेक स्त्रियां हों, वह प्रतिष्ठित समझा जाता है।

(ङ) पुत्र-कामना। कभी-कभी पहली स्त्रीसे पुत्र न होनेके कारण भी अनेक स्त्रियोंसे शादी की जाती है। राजा दशरथने चार शादियां पुत्रोत्पत्तिके कारण की थीं—यह बात दूसरी है कि जब सब शादियां होगईं तब सभी स्त्रियोंके सन्तान भी होगई।

'बहु-भार्यता' आजके सभ्य-समाजमें अच्छी दृष्टिसे नहीं देखी जाती। अभी जो हिन्दू कोड प्रस्तावित किया जारहा है उसमें 'बहु-भार्यता' ग़ैर-क़ानूनी की जानेवाली है। पाश्चात्य-देशोंमें तो यह जुर्म है। मुसलमानोंमें यह चल रहा है, परन्तु ज्यों-ज्यों स्त्रियां अपने अधिकारोंकेप्रति जागरूक होंगी यह प्रथा टिक नहीं सकेगी।

२. बहु-भर्तृता' (Polyandry)—

जब अनेक पुरुषोंको एक स्त्री होती है, तब विवाहकी उस प्रथाको 'बहु-भर्तृता' कहते हैं। 'बहु-भर्तृता' के दो रूप हैं—(१) 'भ्रातृक-बहु-भर्तृता' (Fraternal polyandry) वह है, जिसमें कई भाई मिलकर एक स्त्रीसे शादी कर लेते हैं, (२) 'अभ्रातृक-बहु-भर्तृता' (Non-fraternal polyandry) वह है, जिसमें एक स्त्रीसे जो लोग शादी करते हैं, वे भाई-भाई नहीं होते। दूसरे प्रकारकी 'बहु-भर्तृता' में स्त्री भिन्न-भिन्न समयोंमें भिन्न-भिन्न पतियोंके घरों पर जाकर रहती है, या पति भिन्न-भिन्न स्थानोंपर रहतेहुए भिन्न-भिन्न समयोंमें पत्नीके यहां आकर रहते हैं। यह प्रथा बहुत कम देखनेमें आती है। पहले प्रकारकी

'वहु-भर्तृता' के अनेक दृष्टांत मिलते हैं। भारतमें मलावारके नायरों, नीलगिरी के टोडों तथा देहरादून जिलेमें जौनसार वावरके इलाकेमें यह प्रथा खूब प्रचलित है।

तिव्वतमें गरीव लोगोंमें 'वहु-भर्तृता' (Polyandry) है, मध्य-श्रेणीके लोगोंमें 'एक-विवाह' (Monogamy) है, और धनी-सम्पन्न वर्गमें 'वहु-भार्यता' (Polygyny) है। इससे स्पष्ट है कि अनेक पुरुषोंके एक स्त्रीके साथ विवाह करनेका मुख्य-कारण आर्थिक है। जौनसार वावरके लोगोंको जव कहा जाता है कि उन्हें इस प्रथाको छोड़ देना चाहिये, तो वे कहते हैं कि अगर सव भाई अलग-अलग शादी करें, तो उनकी जमीन वटती चली जायगी, हरेक भाई अपना अलग हिस्सा मांगने लगेगा, अव तो एक ही परिवार होनेके कारण जमीनके अलग-अलग टुकड़े नहीं होते, इसलिये यह प्रथा उनके आर्थिक ढांचेको वनाये हुए है। पहाड़ी इलाकोंमें प्रचलित इस प्रथामें परिवर्तन करना अभीष्ट हो, तो वहांके लोगोंके आर्थिक प्रश्नको हल करना आवश्यक होगा।

३. 'एक-विवाह' (Monogamy)—

विवाहका शुद्ध-रूप 'एक-पतिव्रत' तथा 'एक-पत्नीव्रत' ही कहा जासकता है। डार्विन तथा वेस्टरमार्कका कथन है कि पुरुषमें 'एकाधिपत्य' (Possessiveness) तथा 'ईर्ष्या' (Jealousy) की आधार-भूत नैसर्गिक कामना है। इन्हीं 'नैसर्गिक-कामनाओं' (Instincts) के कारण निम्नतम मानव-समाजमें भी 'एक-विवाह' की प्रथा है। वर्तमान-समयमें अन्यप्रकारके जितने विवाह हैं उनकी प्रवृत्ति समाप्त होनेकीतरफ है, उन्नत-समाजकी प्रवृत्ति एक-विवाहकी तरफही वढ़ रही है। इसका कारण यह है कि एक-विवाहमें ही वच्चोंकी ठीकसे देख-भाल हो सकती है, और इसीमें प्रेमका निर्वाध प्रवाह वह सकता है, दूसरे प्रकार के विवाहों में ईर्ष्याकी मात्रा शिखरपर वनी रहती है।

५. विवाहोंके सवंधमें विधि तथा निषेध

१. 'वहिर्विवाह' (Exogamy)—

विवाहके सम्वन्ध में सव जगह दो प्रकार के नियम वने हुए हैं। एक नियम तो वे हैं, जो यह वतलाते हैं कि कहां शादी की जाय, दूसरे नियम वे हैं जो वतलाते हैं कि कहां शादी न की जाय। कहां शादी की जाय, यह वतलानेवाले 'विधि-नियम' कहाते हैं, कहां न की जाय, यह वतलाने वाले 'निषेध-नियम' कहाते हैं। जिस वर्ग का कोई मनुष्य है उसीमें वह विवाह कर सकता है, अपने वर्गसे वाहर नहीं, यह 'विधि' है। इस 'विधि' को 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) कहते हैं। अपने वर्गमें भी एक ऐसा छोटा वर्ग आजाता है, जिसमें वह विवाह नहीं कर सकता, उस वर्गसे वाहर ही कर सकता है, यह 'निषेध' है। इसे 'वहिर्विवाह' (Exogamy)

कहते हैं। उदाहरणार्थ, हिन्दुओंमें अपनी जातिके भीतर ही विवाह कर सकते हैं,
जातिके बाहर नहीं, यह 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) है। जातिके भीतर भी
अपने गोत्र, प्रवर और सपिंडमें विवाह नहीं कर सकते, यह 'बहिर्विवाह' (Exo-
gamy) है।

कहां विवाह कर सकते हैं, और कहां नहीं कर सकते, इस विषयमें जो
'अन्तर्विवाही' (Endogamous) तथा 'बहिर्विवाही' (Exogamous) नियम
हैं, उनका आधार-भूत सिद्धान्त यह है कि जहां 'रुधिर' कीसमानता हो, वहां विवाह
उचित नहीं है, जहां 'जाति' की समानता हो, वहां विवाह उचित है। हिन्दुओंमें यह
समझा जाता है कि गोत्र, प्रवर तथा सपिंडमें रुधिरकी समानता होती है, अतः
वहां विवाहका निषेध है, अपनी जातिमें रुधिरकी समानता नहीं है अतः वहां विवाह
का विधान है। गोत्र में शादी नहीं कर सकते, परंतु अपनी जातिसे बाहर भी शादी
नहीं कर सकते। ऐसा क्यों है? अपनी जातिसे बाहर जानेमें मनुष्य एक ऐसे
समुदाय में जापड़ता है जिससे अपने समुदाय के टूटनेका तथा समुदाय में बाहर के
रुधिर आजानेका भय है, इसलिये अपनी जातिसे बाहर जानेका भी हिन्दुओंमें ही
नहीं, सब प्राचीन जातियोंमें निषेध है। जिनलोगोंने गोत्र, प्रवर तथा सपिंड विवाहका
निषेध किया था, उन्होंने 'सुप्रजनन-शास्त्र' (Eugenics) के सिद्धान्तोंपर अपने
विचारोंकी कल्पना की थी, क्योंकि 'सुप्रजनन-शास्त्र' का यह कहना है कि एक-
समान रुधिरकी सन्तति अच्छी नहीं होती। पहले तो भाई-बहनमें शादीका विचार
ही नहीं उठता, उठे भी तो वह सन्तानकी दृष्टिसे ठीक नहीं होता। मुसलमानोंमें
मामा-भानजीकी शादी होती है, परन्तु यह 'सुप्रजनन-शास्त्र' के विरुद्ध है। प्रारंभिक
जातियोंमें ईजिप्ट, पेरु तथा माया जाति में भाई-बहिनकी शादी इस दृष्टिसे होती
थी कि वे अपने को दैवीय समझते थे, दूसरे रुधिरके आनेसे वंश को अपवित्र होनेसे
बचाना चाहते थे, परन्तु ऐसे दृष्टान्तोंके अतिरिक्त अन्य अवस्थाओंमें रुधिरके नज-
दीकी सम्बन्धियोंमें शादी बहुत कम पायी जाती है। भाई-बहनमें शादी नहीं होती,
और जो-जो रुधिरके दायरेमें आते जाते हैं उनमें भी शादी नहीं होती, यहांतक कि
अपनी 'जाति' (Caste) में तो शादी होती है, परन्तु अपने 'गोत्र', अर्थात् 'क्लैन'
(Clan) में शादी बहुत कम पायी जाती है।

२. 'गोत्र' (Clan) तथा 'पिंड'—

यह 'क्लैन' (Clan) क्या है? हिन्दुओंमें जिसे 'गोत्र' कहते हैं, वही
अंग्रेजी में 'क्लैन' है। कई लोगों का कहना है कि 'गोत्र' का रुधिरसे सम्बन्ध नहीं है
क्योंकि भिन्न-भिन्न रुधिरवालोंका एक, और एक रुधिरवालोंका भिन्न-भिन्न 'गोत्र'
पाया जाता है। भारद्वाज गोत्र क्षत्री, कुम्हार तथा चमारोंमें पाया जाता है, और

बलरामका गार्ग्य तथा श्रीकृष्णका गौतम गोत्र था। गोत्रका रुधिरसे कोई संबंध न हो ऐसा मालूम नहीं होता। शुरू-शुरू में एक रुधिरके लोग ही एक गोत्रके रहे होंगे, क्योंकि हिन्दुओंकी सारी परंपरा, उनका ऐतिह्य, उनकी सारी मान्यताएँ इसी बातको सूचित करती हैं। जिस समय हिन्दुओं में एक 'गोत्र', और अन्य प्राथमिक जातियों में, एक 'क्लैन' में शादीकी मनाही की गई थी, उस समय 'गोत्र' तथा 'क्लैन' का सम्बन्ध रुधिरसे ही रहा होगा। पहले तो एक परिवार ही बढ़ा होगा, उसीकी सन्तान सैंकड़ोंतक पहुंच गई होगी, उन सबका तो एक गोत्र था ही, सब एक-दूसरेके भतीजे-भानजे लगते होंगे, धीरे-धीरे उस 'गोत्र' तथा 'क्लैन' के साथके, आस-पासके लोग भी आपसमें रल-मिल गये होंगे, आपसमें घनिष्टताके सूत्र में बंध गये होंगे, और एक रुधिरके न होते हुए भी एक ही 'गोत्र' (Clan), एकही वंशके समझे जाने लगे होंगे। जो लोग एक ही रुधिर के नहीं थे, परन्तु घनिष्टताके कारण एक 'गोत्र' (Clan) के माने जाने लगे, उनके विषयमें, समय बीत जाने पर यह किसे याद रह सकता था कि वे एक रुधिरके नहीं हैं, केवल घनिष्टता के कारण एक गोत्र (Clan) के माने जारहे हैं? एक गुरुके शिष्य भी एक ही गोत्रके माने जाते थे। शायद भारतमें यह प्रथा इसलिये चली थी क्योंकि एक ही गुरुके आश्रममें विद्याध्ययन करनेवाले लड़की-लड़के आपसमें एक-दूसरेको भाई-बहन मानकर रहते थे, श्रीकृष्ण और बलरामके भाई-भाई होते हुए भी उनके भिन्न-भिन्न गोत्र इसी कारण से माने जासकते हैं, परन्तु धीरे-धीरे इस बातका भी किसीको ज्ञान न रहा। परिणाम यह हुआ कि एक 'गोत्र' (Clan) के लड़के-लड़कियोंका विवाह वर्जित रहा—इस विचारसे वर्जित रहा कि ये एक ही रुधिरके हैं, यद्यपि उनमेंसे कई एक ही रुधिरके थे, और कई एक रुधिर के नहीं भी थे। क्योंकि 'गोत्र' में वे भी लोग शामिल होगये थे, जो एक ही रुधिरके नहीं भी थे, इसका परिणाम यह हुआ कि 'गोत्र' एक अत्यन्त व्यापक वस्तु बनगई। श्रीकारन्दीकरने 'हिन्दू एग्ज़ोगैमी' (Hindu Exogamy) पुस्तकमें दिखलाया है कि सगोत्र-विवाहके निषेध का परिणाम यह है कि एक हिन्दूकेलिये २१२१ लड़कियां विवाह के लिये निषिद्ध होजाती हैं। 'गोत्र' की इस व्यापकताका परिणाम यह हुआ है कि आज गोत्र एक निरर्थक-सी वस्तु बन गई है। इसके आधारमें जो नियम काम कर रहा है वह ठीक है, परन्तु अब 'गोत्र' म एक ही रुधिर के नहीं, भिन्न रुधिरके लोग भी शामिल होगये हैं, अतः भारतकी विधान-सभाओंमें ऐसे प्रस्ताव होरहे हैं जिनके अनुसार सगोत्र-विवाह को ग़ैर-कानूनी न समझा जाय।

हिंदुओंमें यह विचार कि अपने रुधिर के लोगोंमें विवाह नहीं करना चाहिये इतना प्रबल था कि वे सगोत्र-विवाहके निषेधसे ही सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने

सपिंड-विवाहका भी निषेध किया। यह होसकता है कि लड़का-लड़की एक गोत्र के न हों, और फिर भी एक ही रुधिरके हों। लड़कीका लड़का अपने गोत्रका नहीं होता, परन्तु अपने रुधिरका होता है, सपिंड होता है। इसप्रकारके विवाहोंका निषेध करनेकेलिये 'असपिंडा च या मातुः असगोत्रा च या पितुः सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने'—जो माताकी पीढ़ी तथा पिताके गोत्रकी न हो —उसी कन्यासे विवाहका विधान किया गया। इसमें यह नियम बनाया गया कि पिताकी सात तथा माताकी पांच पीढ़ियोंमें कहीं कोई रुधिरका संबंध नहीं होना चाहिये, तभी विवाह होसकता है, अन्यथा नहीं। 'सगोत्र' तथा 'सपिंड'—इन दोनों विचारों के आधारमें एक ही भावना काम कर रही है, और वह यह है कि समान-रुधिर वालोंका विवाह नहीं होना चाहिये। यह बात सपिंड-विवाहके निषेधसे पूरी हो जाती है, अतः अब 'सगोत्र'-विवाहके निषेध की जरूरत नहीं मालूम पड़ती।

३. अन्तर्विवाह (Endogamy)—

जैसे हमने देखा कि 'गोत्र' (Clan) अथवा 'पिंड' के अन्दर विवाह नहीं होना चाहिये, इसके बाहर ही होना चाहिये, वैसे हम यह भी देखते हैं कि भिन्न-भिन्न वर्गोंमें इस बातके नियम बने हुए हैं कि जाति के अन्दर ही विवाह होना चाहिये, जातिके बाहर नहीं होना चाहिये। 'गोत्र' (Clan) के विषयमें जो नियम हैं, 'जाति' (Caste or Tribe) के विषयमें विवाह-विषयक उससे उल्टे नियम हैं। 'गोत्र' में तो विवाह नहीं करना चाहिये, 'जाति'में विवाह करना चाहिये। इसका आधार भी रुधिरको पवित्र रखना, अपने समुदायमें दूसरे रुधिरको न आने देना है। कुछ लोग अपनी नस्लको दूसरोंसे ऊंचा मानते हैं, अपने देश, जाति या धर्मको दूसरोंसे बढ़ा-चढ़ा मानते हैं, और यह समझते हैं कि दूसरी जातिके लोगोंमें विवाह करनेसे अपनी जातिमें निम्न-कोटिका रुधिर आजानेसे जातिका स्तर नीचा होजायगा, इसलिये वे अपनी जातिके अन्दर ही विवाहकी आज्ञा देते हैं, जातिके बाहर नहीं। जाति या नस्ल कैसे पैदा हुई, इसका हम १६वें अध्यायमें वर्णन करेंगे। हिन्दुओंमें ब्राह्मण अपने को सबसे ऊंचा समझते हैं, इसलिये दूसरी जातियोंमें व्याह-शादी नहीं करते। ब्राह्मणोंकी देखा-देखी दूसरी जातियां भी अपनेको अन्योंसे ऊंचा समझने लगी हैं, इसलिये वे अपने रुधिरको पवित्र रखना चाहती हैं। परन्तु यह भावना देरतक नहीं बनी रह सकती। पहले तो वर्तमान सभ्यताने ऊंच-नीचके भेदको मिटा दिया है, फिर 'मुक्त-प्रेम' (Free love) की लहर इसप्रकारके बन्धनोंको कब स्वीकार कर सकती है? इसके अतिरिक्त समाजकी वर्तमान जागृतिमें इस बातको माननेकेलिये कौन तय्यार होसकता है कि अपनी जातके बुड्ढेसे लड़कीको भले ही व्याह दिया जाय

दूसरी जातके नौ-जवानसे उसकी शादी न की जाय ? इस दृष्टिसे अब वे सब प्रतिबन्ध दिनोंदिन शिथिल होते जारहे हैं जिनके अनुसार लड़का-लड़की अपनी जात-बिरादरीमें ही शादी करसकते थे, जातके बाहर नहीं। इससमय विधान-सभाओंमें जो नियम बन रहे है वे जात-पात के खोखलेपनको अनुभव करके बन रहे हैं, और विवाहमें युवक-युवतियोंको पहले से ज्यादा स्वतंत्रता दे रहे हैं, वे किसी जाति-विशेषके रुधिरकी पवित्रताको नहींमानते, सब मनुष्योंका एक-सा रुधिर मानते हैं।

६. तलाक

विवाहका उद्देश्य परिवारको एक सफल संस्था बनाना है, परन्तु अगर कोई स्त्री-पुरुष, जो विवाहित होचुके हैं, यह अनुभव करें कि उनका विवाह असफल रहा, तो वे क्या करें ? इसका रास्ता यही है कि वे अलग होजायं। अलग होजाना दो तरहका हो सकता है—'परित्याग' (Desertion) तथा 'तलाक' (Divorce)। 'परित्याग' का अर्थ है, एक-दूसरेको छोड़ देना। इसमें कानूनकी जरूरत नहीं पड़ती। पतिने पत्नीको छोड़ दिया, पत्नीने पतिको छोड़ दिया। ग़रीब लोगोंमें य ही प्रथा चलती है। 'परित्याग' में विवाह बना रहता है, वह कानूनकी दृष्टिसे नहीं टूटता। 'तलाक' का अर्थ है, विवाह-संबंधको कानूनीतौरपर तोड़ देना। जिस लड़के-लड़कीका विवाह हुआ है, उनके विवाह-संबंधमें कहीं कोई भारी ग़लती होरही है, अब यह अपने उद्देश्यको पूर्ण नहीं कर रहा—इसे समझकर उस ग़लतीको दूर करनेके प्रयत्नका नाम 'तलाक' है। क्योंकि यह विवाहकी ग़लतीको दूर करता है, इसलिये जहां-जहां 'विवाह' है, वहां-वहां किसी-न-किसी रूपमें 'तलाक' भी पाया जाता है। 'समान-रक्त-परिवार' (Consanguineous family)-प्रथा में 'तलाक' से स्त्री-बाल-बच्चों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वहां पत्नी तथा बच्चोंका भरण-पोषण, रहना-सहना अपने मां-बापके यहां होता है, परन्तु 'सह-योगी-परिवार' (Conjugal family)-प्रथामें, जैसी प्रथा हम लोगोंमें चल रही है, जिस प्रथामें लड़की मां-बापका घर छोड़कर पतिके घर आजाती है, 'तलाक' का प्रभाव बहुत गहरा पड़ता है। पत्नी का, और बच्चे होगये हैं तो उनका, भरण-पोषण कैसे होगा—इस प्रथामें इन सब बातोंका प्रबन्ध करना पड़ता है।

तलाककी प्रथा आदि-कालसे चली आरही है। जूनी नामकी एक जाति है जिसमें 'समान-रुधिर-परिवार' (Consanguineous family) की प्रथा है। जब कोई जूनी पत्नी पतिको तलाक देना चाहती है, तो वह उसका बिस्तर बांधकर दर्वाजे पर रख देती है। पति इशारा पाकर अपने मां-बापके घर चला जाता है। नेपालके 'सह-योगी-परिवार' (Conjugal family)-प्रथा की नेवार

स्त्री जब पतिको तलाक देना चाहती है, तो उसके बिस्तर-पर दो मुर्गाहियां रखकर घरसे चली जाती है । भारतमें भी बड़ोदा, आसाम आदि की छोटी जातियोंमें तलाककी प्रथा प्रचलित है। मुसलमानोंमें तलाकको माना जाता है ।

'तलाक' पर तीन दृष्टियों से विचार किया जासकता है । धार्मिक-दृष्टि, व्यावहारिक-दृष्टि तथा लौकिक-दृष्टि। इन तीनों पर हम संक्षिप्त विचार करेंगे :

(१) 'धार्मिक-दृष्टि' केअनुसार विवाहने आत्माओंका संबंध परमात्माका जोड़ाहुआ है, इसलिये इसे कोई दुनियांका कानून तोड़ नहीं सकता। हिन्दू तो यह मानते हैं कि यह इस जन्मका नहीं, जन्म-जन्मान्तरोंका संबंध है, अतः इसे तोड़ना ईश्वरीय-विधानमें हस्त-क्षेप करना है। इस दृष्टिको केवल धार्मिक व्यक्ति ही मान सकता है, दूसरा नहीं। सचाई तो वह होती है, जिसे कोई माने-न-माने, वह अपने-आपमें सत्य हो। आग जलाती है, यह सचाई है, कोई माने-न-माने, आग जलायेगी ही। अगर विवाह एक ऐसा संबंध है जिसे परमात्माने बनाया है, जो जन्म-जन्मान्तरोंका है, तो इसे किसी समाजकेलिये तोड़ सकना असंभव होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। इस संबंधको नित-नित तोड़ा जाता है, इसे तोड़नेकेलिये कानून बनते हैं, समाज इस संबंधको उलटता-पुलटता रहता है, तब कैसे माना जाय कि यह ईश्वरीय-विधान है ?

(२) 'व्यावहारिक-दृष्टि' यह है कि विवाह समाजकी उत्पन्न की हुई एक संस्था है। इसका उद्देश्य पति-पत्नीका एक-दूसरेकी सहायता करना तथा उत्तम सन्तान उत्पन्न करना है। अगर किसी विवाहमें पति-पत्नी विवाहके उद्देश्यको न पूरा करते हों, व्यभिचारी हों, असाध्य रोगोंसे पीड़ित हों, नपुंसक हों, अत्यन्त दीर्घ-कालतक एक-दूसरेसे अलग विदेशमें रहते हों, तो वह विवाह-संबंध व्यावहारिक-दृष्टिसे अपने कामको पूरा नहीं कर रहा, इसलिये उसका भंग किया जासकना संभव होना चाहिये। आज योरुपमें प्रायः सब देशोंमें यही विधान है। भारतके प्राचीन स्मृतिकारोंने कहा था—'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ, पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते'—अगर पतिका देरतक पता न चले, मर जाय, संन्यासी होजाय, नपुंसक हो, पतित होगया हो, तो स्त्रीको अधिकार है कि वह दूसरा विवाहकर ले। यह तलाकके अधिकारकी ही स्वीकृति है। हिन्दू-शास्त्रोंमें तलाककी इस स्पष्ट स्वीकृति के होने पर भी यहां तलाक प्रचलित नहीं है। हिन्दू-स्त्री इस दृष्टिसे अत्यन्त विषम परिस्थितिमें है। इसे दूर करनेके लिये भारतीय लोकसभा तथा राज्य-परिषद्में ऐसे विधेयक प्रस्तुत होरहे हैं जिनसे स्त्रीकी स्थितिमें सुधार हो। इन विधेयकोंमें स्त्री तथा पुरुष दोनोंको तलाकका अधिकार समान रूपसे दिया जा रहा है, परन्तु हिन्दू-समाजकी जैसी स्थिति है उसमें यह सब

मालूम पड़ता है कि पुरुष इसका उच्छृंखलतासे प्रयोग करेंगे, और निस्सहाय नारीको और अधिक संकटमें डाल देंगे। स्त्रियोंमें अभी इतनी शिक्षा नहीं कि वे इस अधिकारका उपयोग कर सकें। इसलिये इस अधिकारके पुरुषोंद्वारा दुरुपयोगको रोकनेकेलिये उचित जान पड़ता है कि पहले दस सालतक यह अधिकार सिर्फ़ स्त्रियोंको दिया जाय। वे इसका उपयोग तभी करेंगी जब परिवारमें उनकी स्थिति अत्यन्त असहाय होजायगी। स्त्रीकेलिये स्थिति असह्य न होने पर इसका उपयोग करनेका अर्थ होगा एक विषम परिस्थितिसे निकलकर उससे भी भयंकर परिस्थिति में जाना। जबतक हिन्दू-स्त्री आर्थिक-दृष्टिसे अपने पांवोंपर खड़ी नहीं होती तबतक उसकेलिये विषम परिस्थितिमें भी पतिका आश्रय छोड़ना एक दूर की बात है, इसलिये पुरुष इस अधिकारका दुरुपयोग कर सकता है, आर्थिक-दृष्टिसे परावलम्बी भारतीय नारी इस अधिकारका दुरुपयोग नहीं कर सकती ।

(३) 'लौकिक-दृष्टि' यह है कि सिर्फ़ नष्ट, मृत, प्रव्रजित, क्लीव, पतित होनेपर ही नहीं, जब भी पति-पत्नीका स्वभाव न मिलता हो, उन्हें तलाक़ का अधिकार होना चाहिये। इस सिद्धान्तको माननेवालोंका कहना है कि 'विवाह' तो एकप्रकारका इकरार है, ठेका है, एक-दूसरेकेसाथ रहनेकी स्वीकृति है, रज़ामन्दी है। जबतक दोनों साथ रहनेकेलिये तय्यार हैं तबतक उन्हें साथ रहना चाहिये, जब वे अनुभव करें कि अब वे साथ नहीं रहसकते तब उन्हें अलग होजानेकी छूट होनी चाहिये। आजकल जो दिनोंदिन बढ़ता 'व्यक्तिवाद' (Individualism) है, व्यक्तिकी स्वतंत्रताकी दुहाई चारोंतरफ़ सुनाई देरही है, उसकी यह स्वाभाविक मांग है। यही मांग अमरीकामें 'साथी-विवाह' (Companionate marriage) का रूप धारण कर रही है। 'साथी-विवाह' के पृष्ठ-पोषकोंका कहना है कि जबतक बच्चे न होजांय तबतक पति-पत्नीको साथ रहनेकी छूट देनी चाहिये, उससे पहले वे अलग होना चाहें, तो बिना कानूनके झमेलेमें पड़े अलग होसकें। परन्तु यह विचार-धारा परिवारकी जड़ें ही खोखली कर देनेवाली है। ज़रा-ज़रा-सी बातपर यह कह देना कि हमारी नहीं बनती, यह प्रवृत्ति इसकेद्वारा बढ़ सकती है। अभीतक तो अमरीकामें नेवेडा तथा फ्लोरिडाको छोड़कर रज़ामन्दीसे एक-दूसरेसे अलग होनेका प्रयत्न करना भी जुर्ममें शामिल है। इंग्लैंडमें भी 'इच्छा-पूर्वक' (By consent) अलग नहीं होसकते। यह सिद्ध करना पड़ता है कि पति-पत्नी दोनोंमेंसे किसी एकने व्यभिचार किया है, या ऐसी ही कोई और बात है। फिर भी, तलाकके रास्तेपर एकबार चल पड़नेके बाद इसकी दिशा विवाहके बन्धनोंको शिथिल कर देनेकीतरफ़ ही जासकती है।

७. परिवारका वर्तमान रूप

हम पहले देख आये हैं कि आदिम-जातियोंमें दो प्रकारके परिवार पाये जाते हैं। 'समान-रक्त-परिवार' (Consanguineous families) तथा 'सह-योगी-परिवार' (Conjugal families) । इनमें 'समान-रक्त-परिवार' तो 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) हैं, और 'सहयोगी-परिवार' 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal) हैं । 'मातृ-सत्ताक' भी अन्तमें 'पितृ-सत्ताक' परिवारोंमें ही बदल जाते हैं। वर्तमान सभ्यतामें 'पितृ-सत्ताक' परिवार ही रह गये हैं। जिससमय मनुष्यने पशुओंको पालना तथा खेती करना शुरु किया उससमयसे 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal) ही चल पड़े । इन परिवारोंमें स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर खेती करते थे, अगर खेती नहीं करते थे, कोई दूसरा काम करते थे, तो वह भी पति-पत्नी-बच्चे सब मिलकर ही करते थे। परिवार अन्य कामोंके साथ-साथ उत्पादनका भी केंद्र था । ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया, परिवार ही एक छोटा-सा उद्योग-धन्धोंका केंद्र होगया । घरमें ही सबप्रकारके उद्योग-धन्धे चलते थे, इन्हींको 'गृहोद्योग' (Cottage industries) कहते थे। परिवारके स्वामी का काम घरमें ही कोई छोटी-मोटी कारीगरीका काम करके आजीविका कमाना था, इस काममें उसकी स्त्री बराबरका सहयोग देती थी । अगर पति कपड़ा बुनता था, तो स्त्री सूत कातती थी, अगर पति मछली पकड़ता था, तो स्त्री जाल बुनती थी । इसके अतिरिक्त बच्चोंकी शिक्षा, उनका दवा-दारु करना, उन्हें अपने बाप-दादोंके धर्ममें दीक्षित करना, रोटी बनाना, कपड़े धोना, कपड़े सीना—सब काम घरमें होता था । 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) के इस ढांचे को 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) ने एक जबर्दस्त धक्का दिया, इतना जबर्दस्त कि आजका 'परिवार' इस धक्केके जोरसे हिलता नजर आ-रहा है । 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) को 'औद्योगिक-क्रांति' ने कैसे धक्का दिया ?

औद्योगिक-क्रान्तिका पारिवारिक-संगठनपर प्रभाव—

पहले घरमें ही उद्योग-धंधे होते थे, परन्तु नये-नये आविष्कारोंने नई-नई मशीनोंको जन्म दिया । ये मशीनें इतनी बड़ी थीं, जो छोटे-से घरमें नहीं लगा सकती थीं । करघा तो घरमें लगाया जासकता है, कपड़ेकी मिल तो घरमें नहीं लगाई जा सकती । मशीनके आविष्कारका परिणाम यह हुआ कि 'परिवार' तथा 'गृहोद्योग' का जो अबतकका संबंध बना हुआ था, वह टूट गया । उद्योग घरको छोड़कर फ़ैक्टरियोंमें जाने लगे, पति-पत्नीको एक-जगह बांधकर रखनेवाला जो

आर्थिक कारण था वह नष्ट होगया। अब पुरुष रोटी कमानेकेलिये घर छोड़कर दूर-दूर जाने लगे क्योंकि जहां कल-कारखाने लगे थे वहीं जाकर कमाई की जासकती थी। अब स्त्रीका काम सिर्फ़ रोटी पकाना, बच्चोंकी देख-रेख करना आदि रह गया, गृहोद्योगमें हाथ बंटाना उसके हाथमें न रहा। परन्तु 'यंत्रीकरण तथा उद्योगी-करण' (Mechanization and industrialization) की इस प्रवृत्तिने धीरे-धीरे परिवारके इन कामोंपर भी प्रभाव डालना शुरू किया। रोटी बनानेके घरके कामको होटलों और कैन्टीनोंने अपने हाथमें लेलिया, कपड़े धोनेकेलिये लौंड्रियां खुल गईं, कपड़े सीनेकेलिये टेलरिंग-हाउस, बच्चोंकी शिक्षा केलिये स्कूल-कालेज, पालन-पोषणकेलिये नर्सरीज, धर्मकी दीक्षाकेलिये मन्दिर-मस्जिद तथा गिरजाघर खुल गये। जब घरमें स्त्रीकेलिये कुछ करनेको न रहा, तो वह भी आजीविकाकी तलाशमें पुरुषकीतरह बाहर निकल पड़ी। इस प्रवृत्तिका परिणाम यह हुआ कि जितने काम घर पर परिवार करता था, वे सब बाहरके संगठनोंने लेलिये। भारतमें घरमें रोटी बनाना, कपड़े सीना, धोना आदि तो रह गया है, योरुपके परिवारोंमें तो यह सब-कुछ भी नहीं रहा। वहां ऐसे लोग हैं जो होटलों में रहते हैं, वहीं खाते-पीते हैं, वहीं सोते हैं, सभा-सोसाइटीमें दिल-बहलावकेलिये चले जाते हैं, किसी फ़ैक्टरी या आफ़िसमें काम कर आते हैं, और इसीप्रकार अपना जीवन बिता देते हैं। ऐसे लोगोंकेलिये 'परिवार' का रूप सिर्फ़ प्रेम करना और सन्तानोत्पत्ति करना—इन दो बातोंके सिवाय क्या रह जाता है? परन्तु नहीं, वर्तमान सभ्यता धीरे-धीरे सन्तानोत्पत्तिको भी परिवारके क्षेत्रमेंसे निकालती चली जा रही हैं। आज सन्तति-निरोधके उपायोंका बड़ी तीव्र-गतिसे प्रयोग हो रहा है। सब देशोंमें इनका चलन बढ़ता जारहा है, और परिवारकेपास 'रमण' (Romance) करनेके अतिरिक्त कोई काम नहीं दीख रहा। 'रमण' और 'कामाचार' एक ऐसी वस्तु है जो अस्थिर है, जिसे मदांध युवा-युवती 'प्रेम' कहते हैं, वह कालान्तरमें काफ़ूरकीतरह उड़ जाता है। इसीलिये आजकी सभ्यतामें तलाक का स्थान बढ़ता जाता है। प्रेम नष्टहुआ, तो दम्पतीको एक-दूसरेसे बांधे रखनेवाला कोई बन्धन नजर नहीं आता। यह स्थिति है जिसने विश्वके सामने एक महान् समस्या खड़ी कर दी है—यह समस्या कि जिस दिशामें हम जारहे हैं, उसमें जाते-जाते 'परिवार' की संस्था बचेगी, या नष्ट होजायगी? जब परिवारको बांधनेवाली कोई चीज बच न रहेगी, तो परिवार कैसे बचेगा?

क्या 'परिवार'की संस्था बचेगी या नष्ट हो जायगी?

इसमें सन्देह नहीं कि 'परिवार' की संस्थापर जो ठोकरों-पर-ठोकरें पड़ रही हैं उनसे परिवारका भविष्य अन्धकारमय दीखता है, परन्तु निम्न कारणोंसे

कहा जासकता है कि यह संस्था नष्ट नहीं होगी :—

(१) पति-पत्नीके एक-दूसरेका 'परित्याग' करने, और 'तलाक' के बावजूद, 'विवाहों' की संख्या बढ़ती जारही है। इससे सिद्ध होता है कि 'परिवार' के नष्ट होनेके कोई आसार नहीं हैं। अगर 'विवाहों' की अपेक्षा 'तलाकों' की संख्या बढ़ने लगे, तभी 'परिवार' के संस्थाके रूपमें नष्ट होनेका भय होसकता है।

(२) पहले-कभी 'अवैध-सन्तानों' (Illegitimate children) की संख्या ज्यादा थी, परंतु अब विवाहके बाहर सन्तानका होना बुरी दृष्टिसे देखा जाता है। अगर 'परिवार' नष्ट होजाय, तो इसका परिणाम यह होगा कि अवैध सन्तानों की संख्या बढ़ जायगी। इस स्थितिको आजका समाज सहन नहीं कर सकता। इसका परिणाम यह होगा कि सन्तानोत्पत्तिकेलिये 'परिवार' का संगठन बना ही रहेगा। स्त्री-पुरुष सन्तानोत्पत्तिका विचार ही छोड़ दें—यह असंभव है। सन्तानकी लालसा प्रत्येक स्त्री-पुरुषकी नैसर्गिक कामना है। समाजकी वर्तमान विचार-धारामें यह कामना 'परिवार' में ही पूरी की जासकती है, 'परिवार' के बाहर नहीं, इसलिये 'परिवार' का रहना भी आवश्यक है। 'परिवार' के बाहर स्त्री-पुरुषके संबंधसे सन्तान होसकती है, परन्तु 'सन्तति-निरोध' के उपायोंसे सभ्य-समाज परिवार के बाहर तो सन्तान होने नहीं देगा, और सन्तानकेलिये 'परिवार' की संस्थाको भी नष्ट नहीं होने देगा।

(३) व्यक्तिके अतिरिक्त राष्ट्र भी 'परिवार' की संस्थाको नष्ट होनेसे बचायेगा। राष्ट्रको व्यक्तियोंकी आवश्यकता है, और व्यक्ति परिवारके बिना नहीं पैदा होते। जब-जब 'परिवार' सीमासे नीचे जाने लगेगा, राष्ट्र 'परिवार' को बचानेकेलिये जान लड़ा देगा। जर्मनी, रूस आदि देशोंमें अधिक सन्तान उत्पन्न करनेकेलिये इनाम दिये जाते रहे। इन सबका उद्देश्य 'परिवार' को प्रोत्साहन देना रहा है। इसीप्रकार के उपाय राष्ट्रकीतरफसे सदा किये जाते रहेंगे। हां, प्रत्येक 'परिवार' स्वस्थ व्यक्तियोंको ही जन्म दे, रोगी और कूड़ा-कर्कट न भर दे, इसलिये राष्ट्र 'परिवार' का नियन्त्रण जरूर करेगा। ऐसे नियम बनायेगा जिनसे असाध्य रोगोंसे पीड़ित व्यक्ति विवाह न करें, करें तो उनको 'निर्वीर्य' (Sterilize) कर दिया जाय, विवाहसे पूर्व हरेक व्यक्ति स्वस्थ होनेका प्रमाण-पत्र ले, परन्तु इन सब उपायोंका उद्देश्य 'परिवार' को नष्ट होनेके स्थानमें 'परिवार' को दृढ़, सुसंगठित तथा स्वस्थ बनाना होगा।

प्रश्न

१. 'परिवार' की परिभाषा करते हुए बतलाइये कि उसमें क्या-क्या तत्व हैं ?
२. 'परिवार' की उत्पत्ति कैसे हुई, क्या 'मातृ-सत्ताक-परिवार' (Matriarchal family) पहले हुआ, या 'पितृ-सत्ताक-परिवार' (Patriarchal family) ? इन दोनोंकी व्याख्या करते हुए 'समान-रुधिर' (Consanguineous) तथा 'सह-योगी' (Conjugal) परिवारका अर्थ समझाइये।
३. 'बहु-भार्यता' (Polygyny), 'बहु-भर्तृता' (Polyandry) तथा 'एक-विवाह' (Monogamy) के विषयमें आप क्या जानते हैं ?
४. 'अन्तर्विवाह' (Endogamy) तथा 'बहिर्विवाह' (Exogamy) का अर्थ समझाते हुए यह स्पष्ट कीजिये कि हिन्दुओंमें 'गोत्र' (Clan) में शादी नहीं होती परन्तु 'जाति' (Caste) में शादी होती है—इसका क्या आधार है, और इस प्रथाका 'अन्तर्विवाह' तथा 'बहिर्विवाह' के साथ क्या संबंध है ?
५. हिन्दुओंके 'अन्तर्विवाह' तथा 'बहिर्विवाह' के सम्बन्ध में 'सगोत्र' और 'सपिंड' विवाहके निषेधके जो नियम हैं, वे नियम आजकलकी अवस्थाओं को देखते हुए क्या उचित हैं ? अगर नहीं, तो क्यों ? 'सगोत्र' तथा 'सपिंड' विवाहको हिन्दुओंमें क्यों मना किया गया है ?
६. तलाकके विषयमें तीन दृष्टि-कोण कौन-से हैं ? उन तीनोंकी व्याख्या कीजिये। यह भी बतलाइये कि हिन्दुओंमें तलाक जारी कर देना चाहिये, या नहीं ? अगर कर देना चाहिये, तो किन अवस्थाओंमें ?
७. औद्योगिक-क्रांतिसे पहले 'परिवार' का क्या रूप था, उसके बाद क्या होगया ? औद्योगिक-क्रांतिका परिवारके रूपको बदलनेमें क्या और कैसे प्रभाव पड़ा ?
८. क्या 'परिवार' की संस्था वर्तमान-परिस्थितियोंमें बच रहेगी, या नष्ट होजायगी ? युक्तियां देकर विचार कीजिये।

[१५]
जाति तथा श्रेणी
(CASTE AND CLASS)
१. भारतमें

'जाति' और 'वर्ण' का भेद—

आजकलकी प्रचलित परिभाषाके अनुसार 'जाति' और 'वर्ण' का एक ही अर्थ समझा जाता है । हिन्दुओंमें चार 'जातियां' हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—इन्हींको चार 'वर्ण' माना जाता है । 'जाति' अथवा 'वर्ण' जन्मसे निर्धारित होता है, यह भी प्रचलित विचार है । यदि 'जाति' या 'वर्ण' जन्मसे ही निश्चित होता है, तो इस प्रश्नका क्या उत्तर है कि शुरू-शुरू में 'जाति' अथवा 'वर्ण' का निर्धारण कैसे हुआ होगा ? शुरू-शुरूका ब्राह्मण ब्राह्मण कैसे कहलाया, शुरू-शुरूका क्षत्रिय क्षत्रिय कैसे कहलाया, शुरू-शुरूका वैश्य वैश्य कैसे कहलाया । हम आज भले ही जन्मसे 'जाति-व्यवस्था' अथवा 'वर्ण-व्यवस्था' मानें, यह तो हर हालतमें मानना ही पड़ेगा कि जब यह व्यवस्था शुरू हुई होगी, तब 'जन्म' से नहीं, 'कर्म' से शुरू हुई होगी । जो पढ़ाने-लिखाने का काम करते थे वे ब्राह्मण, जो शत्रुओंसे लड़ते थे वे क्षत्रिय, जो खेती-बाड़ी करते, पशु चराते और अर्थोपार्जन करते थे वे वैश्य कहाते थे । प्रारंभका समाज 'जन्म'से नहीं, 'काम' के बटवारेसे बना था । अन्य कोई कल्पना बन ही नहीं सकती । एकबार कामके आधारपर जब समाजकी व्यवस्था होगई, उसके बाद जो पढ़ाते-लिखाते थे उनकी सन्तान भी वही काम करने लगी, जो युद्ध करके देशकी रक्षा करते थे उनकी सन्तान भी युद्धमें कुशलता प्राप्त करने लगी, जो खेती-बाड़ी करते थे उनकी सन्तान भी खेती-बाड़ी में कुशल होगई—इसप्रकार पहले 'कर्म' से, फिर 'जन्म' से कामोंका बंटवारा हुआ । 'कर्म' से बंटवारे को 'वर्ण-व्यवस्था', और उसके फिर 'जन्म' से चल पड़ने को 'जाति-व्यवस्था' कहा जासकता है । 'वर्ण-व्यवस्था' कबतक चलती रही, इसे कौन बतला सकता है ? जबतक अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार लोग अपना-अपना काम, कोई पढ़ानेका, कोई युद्धका, कोई खेती-बाड़ीका करते रहे, तबतक 'वर्ण-व्यवस्था' बनी रही ।

हर कामको करनेवालेकी सन्तान उस कामको दूसरोंकी अपेक्षा अच्छा कर सकती थी क्योंकि उसे जन्मसे ही उस कामके अनुकूल परिस्थिति मिलती थी, इसलिये जब पहले-पहल 'जाति-व्यवस्था' बनी, अर्थात् जन्मसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहाने लगे, तब भी हरेक व्यक्ति अपने-अपने काममें विशेष योग्यता रखता था। धीरे-धीरे वह अवस्था आगई जब कोई अपने कामको करता था, कोई नहीं करता था, परन्तु जो अपना काम नहीं करता था, वह भी जन्मके कारण जो उसे विशेष गौरव मिल गया था, उसे छोड़नेकेलिये तय्यार न था। 'कार्य' (Role) तो उसका नीचा था, 'स्थान' (Status) उसका ऊंचा था। यह अवस्था वह थी जिसमें 'वर्ण-व्यवस्था' समाप्त होगई, और उसका स्थान 'जाति-व्यवस्था' ने ग्रहण कर लिया। आज हम अपने समाजमें 'वर्ण-व्यवस्था' नहीं पाते, 'जाति-व्यवस्था' पाते हैं, क्योंकि 'वर्ण-व्यवस्था' का आधार रुचि, योग्यता तथा कर्म है, 'जाति-व्यवस्था' का आधार सिर्फ जन्म है, और हिन्दू-समाजमें इस समय जो व्यवस्था चल रही है वह जन्मपर ही आश्रित है, कर्मपर नहीं।

जाति-व्यवस्थाका आधार जन्म—

हिन्दुओंमें जाति-व्यवस्थाका आधार, सदियां हुईं, जब 'कर्म' से 'जन्म' होगया। जन्मका विचार इतना प्रबल होगया कि ब्राह्मण यह समझने लगे कि उनके रुधिरमें ही अन्य जातियोंके रुधिरसे कोई विशेषता। इसीप्रकार क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रकी भिन्नताका आधार सिर्फ कामका भेद न समझकर उनकी रुधिरकी भिन्नता, उनका जन्म-गत कोई गहरा भेद समझा जाने लगा। उच्च-जातिके लोग समझने लगे कि वे किसी और ही मट्टीके बने हुए हैं। इसी जन्म-गत रुधिरकी भिन्नताके विचारका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओंमें जन्म-गत ऊंच-नीचका भेद बहुत प्रबल होउठा, और कई लोगोंको रुधिर-भेदके कारण 'अछूत' तक कहा जाने लगा। ऐसे नियम बनाये गये जिनसे एक जातिका व्यक्ति दूसरी जातिमें रोटी-बेटीका व्यवहार नहीं कर सकता था, किन्हीं-किन्हीं जातियोंकी छायातक पड़ना अपवित्रताका सूचक समझा जाने लगा। इसमें सन्देह नहीं है कि यह अवस्था अब बदलती जारही है। इस दिशामें आर्य-समाजने बड़ा भारी काम किया। अन्य सुधारक संस्थाओंने भी इस अवस्थाको बदलनेका प्रयत्न किया। स्वराज्य-प्राप्तिके बाद तो अछूतपनको ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। ये सब शुभ लक्षण हैं, परन्तु हमें तो इस प्रकरणमें इन बातोंकी चर्चा नहीं करनी, हमें सिर्फ़ इतना देखना है कि जाति-व्यवस्थाका प्रारंभ और चलन जन्मको आधार बनाकर हुआ। इस व्यवस्थामें एक जाति का व्यक्ति दूसरी जातिमें शामिल नहीं हो सकता। जो ऊंचा है वह ऊंचा है, जो नीचा है वह नीचा है, ऊंचा नीचा नहीं होसकता, नीचा ऊंचा नहीं होसकता। यह

व्यवस्था 'आवृत-जाति-व्यवस्था' (Closed Caste System) कही जा सकती है। 'आवृत' इसलिये क्योंकि यह चारोंतरफ़से ढकी हुई है, इसमें दूसरा कोई प्रविष्ट ही नहीं होसकता।

जन्मके कारण भेद माननेका विरोध—

हमने देखा कि मानव-समाजमें 'कर्म' के कारण तो भेद होता ही है, 'जन्म' के कारण भी भेद माना जाता है। जबतक धर्मके बोझसे लोग दबे रहते हैं, तबतक दलित-वर्ग इसलिये सिर नहीं उठाता क्योंकि वह समझता है कि वह नीच-जातिका है, उसका धार्मिक-कर्तव्य उच्च-जातिके सामने सिर झुकाना है। परन्तु जब लोग धर्मके बोझसे स्वतंत्र होजाते हैं, तब यही चेतना कि वे नीच-जातिके हैं, उनके हृदयमें विद्रोहकी आगको प्रचंड कर देती है। इसीलिये हिन्दू-समाजमें दोनों विचार-धाराएं काम करती रही हैं। जब लोग पंडितों, पुरोहितों के नीचे दबे हुए ननु-नच न करते रहे, तब वे स्वयं अपनेको नीच जातिका कहते रहे, अपनी अवस्था देखकर उन्होंने कभी विद्रोह नहीं किया, परन्तु जब उन्होंने तथा-कथित धर्मके बोझ को अपने सिरसे उतार दिया, तब उन्होंने यह भी कहा कि ब्राह्मण शूद्र होसकता है, शूद्र ब्राह्मण होसकता है —'शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम्'। जब जाति में चेतनाका संचार होता है, जागृतिकी भावनाएं ज़ोर मारने लगती हैं, तब लोग रूढ़िवादकी जड़ हिला देते हैं, और जन्मके कारण मानेजानेवाले भेदोंको स्वीकार करनेसे इन्कार कर देते हैं। हिन्दू-समाजमें भी जब जन्मसे पैदा कियेहुए भेद चरम सीमापर पहुँच गये, तब समय-समय पर इस प्रवृत्तिका विरोध होता रहा, और जिस साहित्यमें जन्मकी जातिका वर्णन है उसीमें यह भी कहा जानेलगा कि कोई जन्मसे ऊंचा नहीं होता, कोई जन्मसे नीचा नहीं होता—'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते'। इस विचारके अनुसार ऊंची जातमें नीची जातका प्रवेश होसकता है, नीची जातमें ऊंची जातका प्रवेश होसकता है, जन्मसे कोई जात नहीं होती, कामसे ही जात बनती है। इस व्यवस्थाको 'अनावृत-जाति-व्यवस्था' (Open Caste System) कहा जासकता है। 'अनावृत' इसलिये क्योंकि यह चारोंतरफ़से खुली हुई है, इस व्यवस्थामें जो चाहे प्रविष्ट होसकता है। हिन्दू-साहित्यमें 'आवृत जाति-व्यवस्था' (Closed caste system) तथा 'अनावृत जाति-व्यवस्था' (Open caste system)—इन दोनोंका वर्णन मिलता है। 'जन्म'से जाति माननेवाले 'आवृत जाति-व्यवस्था' के माननेवाले हैं, 'कर्म'से जाति माननेवाले 'अनावृत जाति-व्यवस्था' के माननेवाले हैं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि शास्त्रोंमें खुलेतौरपर जन्मके कारण जाति माननेके विरुद्ध लेख मिलनेपर भी हिन्दू-समाज जन्मकी जातिको ही मानता रहा है, वही इसमें आजतक प्रचलित है, बड़े-बड़े आर्य-

समाजियोंके घरोंमें भी जन्मकी जाति अपना डेरा जमाये बैठी है ।

२. योरुप में

'सामन्त-पद्धति' (Feudal System) तथा जन्मकी जाति—

योरुपमें छठी और सातवीं सदीमें 'सामन्त-पद्धति' (Feudal System) का जन्म हुआ । उससमय वहां सर्वत्र अराजकता छाईहुई थी । जिसकेपास शक्ति थी वही अपनी सत्ता कायम कर लेता था। बड़े-बड़े सरदार विशाल भूमि-खंडोंपर अपना आधिपत्य जमा लेते थे, और अपने साथियोंमें ज़मीनोंके टुकड़ोंको बांट देते थे । बड़े विजेता सरदारोंको राजा कहा जाय, तो उनके साथी छोटे-छोटे सरदार 'सामन्त' (Feudal lords) कहाते थे। ये 'सामन्त' अपनी भूमिके स्वामी थे, और दासोंसे खेती करवाते थे । भूमिका जो स्वामी है उसका पुत्र अपने-आप, जन्मसे ही उस भूमिका स्वामी था । इसप्रकार जन्मसे ही कुछ लोग भू-स्वामी थे, कुछ लोग इन भू-स्वामियोंकी खेती करनेवाले थे । जिसकेपास ज़मीन नहीं थी उसके पास ज़मीनका मालिक बननेका कोई साधन नहीं था, और जिसकेपास ज़मीन थी वह पुश्त-दर-पुश्त ज़मीनका मालिक था । जिसप्रकार भारतमें जन्मसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र थे, इसप्रकार योरुपमें जन्मसे कुछ लोग भूमिके स्वामी थे, कुछ लोग उनके दास थे । जब ये दास स्वतंत्र होजाते थे, तो मजदूर बन जाते थे । जहांतक जन्मका सम्बन्ध है, 'सामन्त-पद्धति' तथा 'जाति-व्यवस्था' में एक ही नियम काम कररहा था, जैसे शूद्र ब्राह्मण नहीं बन सकता था, वैसे मजदूर सामन्त नहीं बन सकता था, दोनोंका क्षेत्र जन्मके कारण निश्चित था । इतना भेद अवश्य था कि 'सामन्त-पद्धति' का उदय भूमिके स्वामित्वसे हुआ था, 'जाति-व्यवस्था' का उदय भूमिके स्वामित्व से नहीं, कर्मोंके विभाजनसे हुआ था, यद्यपि वह होते-होते कर्मोंको छोड़कर सिर्फ़ जन्मतक सीमित रह गई थी । जन्मको आधार बनानेके कारण 'सामन्त-पद्धति' भी एकप्रकारकी 'आवृत-जाति-व्यवस्था' (Closed Caste system) थी जिसके भीतर कोई दूसरा प्रविष्ट नहीं होसकता था ।

'सामन्त-पद्धति' तथा औद्योगिक क्रान्ति—

योरुपमें १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दीमें नये-नये आविष्कारोंसे औद्योगिक क्रांति हुई । इस औद्योगिक-क्रांतिका प्रभाव 'सामन्त-पद्धति' पर विशेष रूपसे हुआ । 'सामन्त-पद्धति' में ज़मीन ही सबसे बड़ी दौलत थी । 'सामन्त-पद्धति' का लक्षण ही 'भूमि के नियन्त्रणकी संगठित संस्था' (Institutionalised system of land control)—यह किया जाता है । नवीन आविष्कारों तथा औद्योगिक उपायोंमें से कल-कारख़ाने खुलने लगे, इन कारख़ानोंका माल बिकने लगा, और व्यापार लगातार बढ़ने लगा । अबतक भूमिको ही धन माना जाता था,

भूमि वंश-परंपराद्वारा पिता से पुत्र और पुत्रसे पौत्रको जाती थी, इसलिये भूमिके कारण जो ऊंच-नीचका भेद था वह जन्मसे चलता चला आरहा था। औद्योगिक-क्रांतिका यह परिणाम हुआ कि भूमि एकप्रकारकी 'सम्पत्ति' (Wealth) तो मानी जाती रही, परन्तु 'सम्पत्ति' का मुख्य रूप 'भूमि' न रहकर 'धन' (Money) होगया। लोग भिन्न-भिन्न उद्योगोंसे 'धन' कमाने लगे। जिनकेपास भूमि नहीं भी थी, वे भी धनी होने लगे। भूमिका और धनका संबंध टूट गया। यह अवस्था आगई कि जिसकेपास भूमि बिल्कुल नहीं थी, वह भी धन-कुबेर होने लगा। भूमिका और जन्मका तो सम्बन्ध था, सामन्त लोग जन्मसे ही भूमिपति होते थे, परन्तु धनका और जन्मका तो कोई सम्बन्ध नहीं था। औद्योगिक-युगने धनको भूमिसे पृथक् करके एक नवीन संभावनाको जन्म दे दिया। पहले तो भूमिपति ही सम्पत्ति-शाली समझे जाते थे, अब भूमिहीन भी सम्पत्तिके स्वामी बनने लगे। यह एक बिल्कुल नवीन स्थिति थी। भूमिपति जन्मके भूमिपति थे, धनपति जन्मके निर्धन भी होसकते थे। अबतक तो लोग यही समझते थे कि जन्मके कारणही कोई ऊंचा, कोई नीचा होता है, धनके भूमिसे अलग होजाने तथा निर्धन लोगोंके धनी होजाने पर लोग देखने लगे कि ऊंच-नीचका जन्मसे कोई सम्बन्ध नहीं। अबतक समाजमें जो प्रक्रिया नहीं होती थी, वह अब होने लगी। अबतक 'सामन्त' मजदूर नहीं बनते थे, मजदूर 'सामन्त' नहीं बनते थे। दोनोंका भाग्य अपने जन्मसे बंधाहुआ था। अब निर्धन धनी होने लगे, धनी निर्धन होने लगे। यह चमत्कार इसीलिये होसका क्योंकि 'धन' एक ऐसी वस्तुसे पृथक् होगया, जो जन्मके साथ बंधी हुई थी। भूमि का स्वामित्व जन्मसे बंधाहुआ था, धनका स्वामित्व जन्मसे नहीं बंधाहुआ था। इस परिस्थितिने जन्मसे ऊंच-नीचके विचारको जबर्दस्त धक्का दिया, ऐसा धक्का दिया कि औद्योगिक-क्रांतिने 'सामन्त-पद्धति' को ही समाप्त कर दिया। इस क्रांतिके बाद यह जरूरी नहीं रहा कि जो जन्मका धनी है वह सामन्तोंकीतरह जन्मका धनी ही बना रहे, न यह जरूरी रहा कि जो जन्मका निर्धन है वह मजदूर और दासोंकीतरह जन्मका निर्धन ही बना रहे। भारतमें जन्म की 'जाति-व्यवस्था'—'आवृत-जाति-व्यवस्था' (Closed caste system) तो नहीं नष्टहुई, परन्तु योरुपमें औद्योगिक-क्रांतिने 'धन' को भूमिसे पृथक् करके जन्मको आधार बनाकर टिकी हुई 'सामन्त-पद्धति' को, जो एकप्रकारकी जन्म की ही 'जाति-व्यवस्था' थी, नष्ट कर दिया, और एक नवीन-व्यवस्थाको जन्म दे दिया जिसमें 'जन्मके' स्थानपर हरेक व्यक्ति अपने 'कर्म' से धनी-निर्धन होसकता था, जिसे दूसरे शब्दोंमें कर्मकी जाति-व्यवस्था—'अनावृत-जाति-व्यवस्था' (Open caste system) कहा जासकता है।

पूँजीपति तथा मज़दूर श्रेणी—

पहले 'सामन्त-पद्धति' चल रही थी, सामन्तोंके पास भूमि थी, उन्होंके पास राजनैतिक-शक्ति थी। व्यावसायिक-क्रांतिके बाद जब 'धन' भूमिसे पृथक् होगया, तो धनवालों तथा निर्धनोंकी एक नई श्रेणी उत्पन्न होगई, राज-शक्तिपर भी सामन्तोंके स्थानपर धनी-वर्गका प्रभुत्व होगया। इस नई पद्धति में पूंजीपति तथा मज़दूर--ये दो वर्ग, दो श्रेणियां बन गईं। 'सामन्त-पद्धति' जन्मके आधारपर थी, वह एक एकप्रकारकी 'जाति' (Caste) थी, 'पूंजीपति-मज़दूर-पद्धति' कर्मके आधारपर थी, यह एकप्रकारकी 'श्रेणी' (Class) थी। कार्ल-मार्क्स का कहना था कि व्यावसायिक-क्रांतिका अवश्यंभावी परिणाम दो श्रेणियोंका बन जाना हुआ। जहां दो श्रेणियां नहीं बनीं वहां बन रही हैं, और धीरे-धीरे बन जांयगी। जैसे पूंजीपतियोंने धन कमाकर 'सामन्त-पद्धति' को समाप्त कर दिया, वैसे आगे चलकर मज़दूरश्रेणी पूंजीपति-प्रथाको समाप्त कर देगी। इनमें श्रेणी-युद्ध होगा, और ऊंच-नीच का भेद, जो पहले 'सामन्त-पद्धति' में जन्मसे था, पीछे पूंजीवादमें कर्मसे होगया, वह सर्वथा मिटजायगा, उत्पादकके साधनोंपर समाजका स्वामित्व होजायगा, और जन्म तथा कर्म दोनोंके आधार पर बनी मानव-समाजकी विषमता नष्ट होकर मनुष्य मनुष्यकेसमान होजायगा। पहले जन्मके आधारपर बनी 'जाति' (Caste) समाप्तहुई, अब कर्मके आधारपर बनी 'श्रेणी' (Class) समाप्त होजायगी। यह प्रक्रिया योरुपमें तो बड़ी तेज़ीसे चल रही है, वहांका समाज दो श्रेणियोंमें बंटता चला जारहा है, कई जगह तो श्रेणी-युद्धके भी आसार दीख रहे हैं, रूसमें तो इस प्रक्रियाका परिणाम भी सामने आगया है, परन्तु भारतमें अभी जन्मगत जातिका ही राज्य है। ज्यों-ज्यों भारतमें औद्योगिक-क्रांति होगी, यहां भी जन्म को आधार बनाकर बनेहुए भेद मिट जायेंगे, एक नई भेद-व्यवस्था उत्पन्न होगी, अमीर-गरीबके भेद ही रह जायेंगे, बाकी भेद मिट जायेंगे, अमीर-गरीबका भेद भी जन्मसे नहीं रहेगा, लोग अपनी आंखोंसे देखने लगेंगे कि ऊंच-नीच जन्मसे नहीं होता, जिसे वे नीचा समझते हैं वह देखते-देखते मालदार होजायगा, नीच जातिका होते हुए भी समाजमें उसकी प्रतिष्ठा बढ़ने लगेगी, धीरे-धीरे जातिका भाव ही मिट जायगा, और उसके बाद क्या होगा--क्या अमीर-ग़रीबके भेद रूसके रास्तेसे मिटेंगे, या अमरीकाके रास्तेसे मिटेंगे, या महात्मा गांधीके रास्तेके मिटेंगे, यह भविष्य बतलायेगा।

३. अमरीका में

कार्ल-मार्क्स का कहना है कि हर-देशमें दो श्रेणियां रह जांयगी, पूंजीपति तथा मज़दूर, और अन्तमें जाकर इनका संघर्ष छिड़ेगा, परन्तु इस विचार-धाराको

अमरीकाकी समाज-व्यवस्था एकप्रकारका चैलेंज देरही है । इसमें सन्देह नहीं कि अमरीकामें पूंजीपति हैं, मजदूर भी हैं, परन्तु वहां इन दोनोंके बीचकी 'मध्य-श्रेणी' (Middle class) सबसे ज्यादा है। कार्ल-मार्क्सके कथनके अनुसार 'मध्य-श्रेणी' को कोई स्थान नहीं। 'मध्य-श्रेणी' के लोग या तो पूंजीपति-वर्गमें सम्मिलित होजायेंगे, या मजदूर-वर्गमें, परन्तु यह तभी होसकता है अगर मध्य-श्रेणी अपने भाग्यसे असन्तुष्ट हो। आज अमरीकामें मध्य-श्रेणीके लोग अन्य श्रेणियोंसे संख्यामें बहुत अधिक हैं, और अपने भाग्यसे असन्तुष्ट नहीं हैं। १९४० में समाज-शास्त्रियोंने अमरीकामें कुछ ऐसी गणना की जिससे यह पता चले कि हर-व्यक्ति अपनेको उच्च-श्रेणीमें समझता है, मध्य-श्रेणीमें, या निम्न-श्रेणीमें। जो लोग आर्थिक-दृष्टिसे सम्पन्न कहे जा सकते थे, उनमेंसे २३.६ प्रतिशतने अपनेको सम्पन्न कहा, ७४.७ प्रतिशतने अपनेको मध्य-श्रेणीका कहा, .३ प्रतिशतने अपनेको निम्न-श्रेणीका कहा, १.४ प्रतिशतने कहा कि वे नहीं समझ सके कि वे किस श्रेणीके हैं। इसीप्रकार जिन्हें आर्थिक-दृष्टिसे मध्य-श्रेणीका कहा जासकता था उनमेंसे ७.९ प्रतिशतने अपने को सम्पन्न कहा, ८९.० प्रतिशतने अपनेको मध्य-श्रेणीका, .६ प्रतिशतने अपनेको निम्न-श्रेणीका और २.५ प्रतिशत नहीं बता सके कि वे किस श्रेणीके हैं। आश्चर्य यह है कि जिन व्यक्तियोंको आर्थिक-दृष्टिसे निम्न-श्रेणी का कहा जाना चाहिए था, उनमेंसे भी ४.५ प्रतिशतने अपनेको सम्पन्न, ७०.३ प्रतिशतने अपनेको मध्य-श्रेणीका, १९.१ प्रतिशतने निम्न-श्रेणीका, और ६.१ प्रतिशतने अपनेको किसी श्रेणी का न कहा। इससे पता चलता है कि अमरीकामें अपनेको मध्य-श्रेणीका समझने-वालोंकी संख्या बहुत ज्यादा है। वहां व्यक्तिको अपनी उन्नति करनेका पूर्ण अधि-कार दिया जारहा है। व्यक्ति 'सन्तुष्ट' हो, और 'स्वतंत्र' हो—इससे अधिक वह क्या चाहता है? रूसमें व्यक्ति अपने भाग्यसे सन्तुष्ट होगा, परन्तु उसे स्वतंत्र नहीं कहा जासकता। जब राज्य का हर वस्तुपर अधिकार हो, तब व्यक्तिकी स्वतंत्रता तो रह ही नहीं जाती, और जब व्यक्तिको स्वतंत्र कर दिया जाता है, तब वह दूसरेके अधिकारको हड़प जाता है। अमरीकामें समाज-व्यवस्थाका जो परीक्षण होरहा है, उसमें एक ऐसी श्रेणी उत्पन्न होरही है जिसमें व्यक्तिको स्वतंत्रता भी दी जारही है, बहुत अमीरी और बहुत गरीबीका भेद होजानेसे जो असन्तोष होता है उसे भी दूर किया जारहा है, वहांका समाज दो श्रेणियोंमें न बंटकर तीन श्रेणियोंमें बंट रहा है, और धीरे-धीरे यह तीसरी श्रेणी, जिसे 'मध्य-श्रेणी' कहा जासकता है, संख्यामें बढ़ती जारही है। इसीलिये आज रूस और अमरीकाकी विचार-धाराओंमें मुकाबिला होरहा है। रूसकी विचार-धारा भी मनुष्यको जन्मके बन्धनोंसे छुड़ाकर आगे बढ़ रही है, अमरीकाकी विचार-धाराने भी मनुष्यको जन्मके बन्धनोंसे छुड़ा दिया है। जन्म के

वन्धनोंसे वंधे हुए भारतकेलिये ये दोनों परीक्षण ध्यानसे देखने के योग्य हैं क्योंकि यह इन दोनों से वहुत-कुछ सीख सकता है ।

प्रश्न

१. 'जाति' और 'वर्ण' में क्या भेद है ? 'आवृत-जाति-व्यवस्था' (Closed caste system) तथा 'अनावृत-जाति-व्यवस्था' (Open caste system) से क्या अभिप्राय है ?

२. हिन्दू-शास्त्रोंमें 'जन्म' तथा 'कर्म' दोनों दृष्टियोंसे समाज-व्यवस्थाका वर्णन है, इसका क्या कारण है ?

३. 'सामन्त-पद्धति' एक प्रकारकी जन्मकी जाति-व्यवस्था थी--इसका अभिप्राय क्या है ?

४. 'औद्योगिक-क्रांति'ने 'धन' को भूमिसे पृथक् करके जन्मको आधार वनाकर टिकी हुई 'सामन्त-पद्धति' को समाप्त कर दिया--इसे समझाइये।

५. 'जाति-व्यवस्था' (Caste system) तथा 'श्रेणी-व्यवस्था (Class system) में क्या भेद है ?

६. रूस तथा अमरीकामें पूंजीवादको आधार वनाकर जो परस्पर-विरुद्ध विचार-धाराएँ चल रही हैं, उनका स्पष्टी-करण कीजिये ।

[१६]

नस्ल तथा कौम

(RACE AND NATION)

हम पिछले अध्यायमें देख आये हैं कि 'जाति' (Caste) का संबंध रुधिरसे है। 'जाति' कीतरह 'नस्ल' (Race) का संबंध भी रुधिरसे है। एक दृष्टिसे एक-'नस्ल' का विचार ही 'जाति' के विचारको जन्म देता है। 'जाति' को जन्मसे माननेवाले यह समझते हैं कि एक 'जाति' के लोग एक रुधिर, अर्थात् एक नस्लके होते हैं। इस दृष्टिसे 'जाति' का भी आधार-भूत विचार 'नस्ल' का विचार है। भारतमें सिर्फ़ 'जाति' के आधार पर ही भेद बने हुए हैं, अन्य देशोंमें तो 'नस्ल' के आधारपर भेद बनेहुए हैं। अमरीकामें गोरे और कालोंकी नस्लें हैं। आफ्रीकामें भी काले-गोरोंके आधार पर कानून बनरहे हैं। यह जन्मके आधारपर ही तो भेद-भाव है, यही 'जाति-व्यवस्था' (Caste System) कहाता है। ऐसी अवस्थामें अगर कहा जाय कि भारतको छोड़कर अन्य देशोंमें भी जन्मको जाति मानी जाती है, तो कोई अत्युक्ति न होगी।

'नस्ल' के विचारने संसारमें बड़े-बड़े उत्पात मचाये हैं। हिटलरका विचार था कि जर्मन-जाति उच्च-नस्ल की है, संसारमें शासन करनेकेलिये पैदा हुई है। उसके इसी विचारने संसारमें रुधिरकी नदियां बहा दीं, यहूदियोंकी नस्लको मिटानेकेलिये उसने ज़मीन-आस्मान एक कर दिया। नस्लका विचार समाजमें भेद-भाव उत्पन्न करता है, मनुष्यको मनुष्यसे जुदा करता है, अतः इस अध्यायमें हम यह देखनेका प्रयत्न करेंगे कि नस्ल क्या है, यह कैसे पैदा हुई, इसका 'कौम' (Nation) से क्या सम्बन्ध है, और आजकी सामाजिक-रचनामें इसका क्या स्थान है?

१. नस्लका प्राणि-शास्त्रीय आधार

'प्राणी-शास्त्र' (Biology) में प्राणियोंके मुख्यतौरपर दो विभाग हैं। एक तो शेर, कुत्ता, बिल्ली—यह विभाग है, दूसरा शेरोंमें कई तरहके शेर, कुत्तों में कई तरहके कुत्ते, बिल्लियोंमें कई तरहकी बिल्लियां हैं। शेर, कुत्ता, बिल्लीकी तरह मनुष्य भी प्राणियोंका एक विभाग है, और जैसे शेरोंमें कई तरहके शेर, और कुत्तोंमें

कई तरहके कुत्ते होते हैं, वैसे मनुष्योंमें कई तरहके मनुष्य होते हैं। शेर को 'नस्ल' नहीं कहा जाता, उसे 'प्राणि-विशेष' (Species) कहा जाता है, तरह-तरहके शेरकी नस्लें (Races) कहा जाता है, इसीप्रकार 'मनुष्य' एक 'प्राणि-विशेष' (Species) हैं, और तरह-तरहके मनुष्य—काले, गोरे, पीले—ये सब मनुष्यकी 'नस्लें' (Races) हैं। कुत्ते और शेरका यौन-संबंध नहीं होता, हो तो उससे सन्तान नहीं होती, परन्तु कुत्तोंकी नस्लोंका आपसमें यौन-संबंध होता है, और उनकी सन्तान भी होती है। जिन प्राणियोंका आपसमें यौन-संबंध हो, और इस संबंधसे उनको सन्तान होसके, उन्हें एक ही प्रकारकी 'नस्ल'-का कहा जाता है। शेर और कुत्ता एकप्रकारकी नस्लके नहीं, मनुष्य और शेर भी एक-जैसी नस्लके नहीं, परन्तु जितने मनुष्य हैं वे सब मिलती-जुलती नस्ल के हैं, अगर मिलती-जुलती नस्लके न होते, तो अमरीकन और हवशीके संयोगसे सन्तान न होती। 'समानप्रसवात्मिका जातिः' —जिनके मेल से अपनी-जैसी सन्तान उत्पन्न हो, वे एक-सी जातिके हैं, यह न्याय-दर्शनने जातिका, नस्लका लक्षण किया है, और ठीक है। हिन्दुस्तानी और अंग्रेज, चीनी और आफ़्रीकाके हवशी—सब मनुष्योंके संयोगसे उन्हीं-जैसी सन्तान होती है, इसलिये मनुष्य-मनुष्यकी नस्ल एक-सी है।

परन्तु अगर मनुष्य-मनुष्यकी नस्ल एक-सी है, तो मनुष्य-मनुष्यमें भिन्नता क्यों दीखती है? क्यों एक हवशी विल्कुल काला है, दूसरा विल्कुल गोरा है, तीसरा चीनियोंकी-सी शक्लका है? इसका समाधान प्राणी-शास्त्र देता है। प्राणी-शास्त्रके 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) के इस नियमका हम पहले वर्णन कर आये हैं कि प्राणीमें परिवर्तन 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) द्वारा होता रहता है। 'वंशानुसंक्रमण' का सन्ततिपर कैसे प्रभाव पड़ता है? यह तो सब जानते हैं कि सन्तान रज-वीर्यके मिलनेसे पैदा होती है। रज और वीर्य दोनों 'उत्पादक-कोष्ठ' (Generative cell) कहाते हैं। इन 'उत्पादक-कोष्ठों' (Generative cells) में एक कठोर गांठ-सी होती है, जिसे 'न्यूक्लियस' (Nucleus) कहते हैं। इस 'न्यूक्लियस' में भी छोटे-छोटे रेशे-से होते हैं, जिन्हें 'वर्ण-सूत्र' (Chromosomes) कहते हैं। 'वर्ण-सूत्रों' की रचना अन्य छोटे-छोटे दानोंसे होती है, जिन्हें 'वाहकाणु' (Genes) कहते हैं। यही 'वाहकाणु'—'जेनीज़'—गोरापन, कालापन, पीला-पन, मोटा वाल, पतला वाल—इन सब गुणोंके 'वाहक' (Carriers या factors) होते हैं। 'नस्ल' (Race) में जो-जो भी विशेष गुण दिखाई देते हैं, वे इन 'जेनीज़' के कारण हैं। 'वर्ण-सूत्र' (Chromosomes) २४ माताके और २४ पिताके मिलकर ४८ वनते हैं, परन्तु 'वाहकाणुओं' (Genes) की कोई संख्या नहीं। ये 'वाहकाणु' (Genes) ही वंशपरंपराद्वारा प्राणीकी

शारीरिक-रचनाको बनाते हैं। अगर कोई काला है तो इनके कारण, गोरा है तो इनके कारण, अगर किसीके बाल भेड़के-से हैं तो इनके कारण, मुलायम हैं तो इनके कारण। नस्लको बनानेवाले 'वाहकाणु' (Genes) ही होते हैं। जिनके 'वाहकाणु' (Genes) एकतरहके हैं वे एक नस्लके, जिनके दूसरीतरहके हैं वे दूसरी नस्लके। परन्तु प्रश्न होसकता है कि शुरू-शुरूमें तो मनुष्यमें नस्लका कोई भेद नहीं था, शुरू-शुरूमें 'वाहकाणुओं' (Genes) में भेद कैसे होगया? इसका उत्तर विकासवादी देते हैं। उनका कहना है कि 'परिस्थिति' (Environment) प्राणीमें भेद उत्पन्न करती रहती है। 'परिस्थिति' प्राणीमें भेद कैसे उत्पन्न करती है? डार्विनका कहना है कि प्रकृतिमें 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) का नियम काम कर रहा है। 'प्राकृतिक-चुनाव' कैसे होता है? विषम-परिस्थितियोंमें जो प्राणी बच रहते हैं, वे प्रकृतिद्वारा चुन लिये जाते हैं, बाकी नष्ट होजाते हैं। विषम-परिस्थितियोंमें प्राणीके बचनेका एक ही उपाय है। वह यह है कि विषमताको देखकर प्राणी अपने भीतर 'परिवर्तन' कर ले। इस परिवर्तनका प्रभाव 'वाहकाणुओं' (Genes) पर धीरे-धीरे तो होता ही है, और धीरे-धीरे ही एक सन्ततिसे दूसरी संततिमें संक्रान्त होता है, परन्तु कभी-कभी यह परिवर्तन एकदम होता है, और एकदम 'वाहकाणुओं' (Genes) पर 'परिवर्तन' का प्रभाव पड़ता है। यह एकदम क्यों होता है, इसे कोई नहीं जानता। डार्विन ने सिर्फ़ इतना कहा है कि इसप्रकारके एकदम 'परिवर्तन' देखे जाते हैं। इन्हें 'आकस्मिक-परिवर्तन' (Mutation) कहा जाता है। यह 'आकस्मिक-परिवर्तन' (Mutation) ही एक नस्लके दूसरी नस्लके बन जानेका कारण है। इसप्रकार 'परिस्थिति' (Environment) के द्वारा जो 'आकस्मिक-परिवर्तन' (Mutation) प्राणीके 'वाहकाणुओं' (Genes) में होजाते हैं, वे 'वंश-परंपरा' (Heredity) से आगे-आगे चलते चले जाते हैं, और इससे एक नस्लसे अनेक नस्लें होजाती हैं। जो आदि-पुरुष था उसके 'वाहकाणुओं' (Genes) में 'आकस्मिक-परिवर्तन' (Mutation) द्वारा कोई ऐसा प्रभाव पड़ा होगा जिससे उसकी सन्तति काले रंगकी होने लगी। यह 'परिवर्तन' ऐसा था जिससे प्राणी विषम-परिस्थितिमें भी टिक सकता था, इसलिये प्रकृतिने इसे चुन लिया, इसीको 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) कहते हैं। अगर यह ऐसा होता जिससे प्राणी विषम-परिस्थितिका मुकाबला न कर सकता, तो प्रकृति इसे यहीं छोड़देती, इसे आगे बढ़ने ही न देती। जो लोग भिन्न-भिन्न योनियोंका एक ही जीवन-तत्वसे विकास न मानकर एकदम अनेक योनियोंकी उत्पत्ति मानते हैं, सब प्राणी विकाससे नहीं किन्तु भिन्न-भिन्न योनियोंके रूपमें उत्पन्न हुए, ऐसा मानते हैं, उनका तथा 'आकस्मिक-परिवर्तन' (Mutation) का सिद्धांत

कुछ मिलता-जुलता है । प्राणि-शास्त्रियोंने इसप्रकारकी मनुष्यकी कई नस्लोंका वर्णन किया है जिनमेंसे मुख्य चार हैं। पहली नस्ल 'नीग्रो' लोगों की है जिनकी काली चमड़ी और घुंघराले बाल होते हैं । दूसरी नस्ल 'मंगोल' लोगोंकी है जिनका पीला चेहरा, हल्के रंगकी चमड़ी और सीधे, काले बाल होते हैं। तीसरी नस्ल 'सफ़ेद' रंगवालों की तथा चौथी आस्ट्रेलियाके रहनेवालोंकी है। नीग्रो-नस्ल के लोगोंको 'नेग्रोयड' (Negroids), मंगोल-नस्लके लोगोंको 'मोंगलोयड' (Mongoloids), श्वेत-नस्लके लोगोंको 'कौकेसोयड' (Caucasoids) तथा आस्ट्रेलिया में पायी जानेवाली नस्लको 'ऑस्ट्रेलोयड' (Australoids) कहते हैं। कौकेसोयड-नस्ल को 'नौरडिक' (Nordic), 'एलपाइन' (Alpine) तथा 'मैडिटरेनियन' (Mediterranean)—इन तीन भागोंमें बांटा जाता है। इसप्रकार मुख्य नस्लें छः मानी गई हैं । 'नीग्रो'-नस्ल अफ्रीकाके रेगिस्तानके दक्षिणमें , मैलेनेशिया तथा प्रशान्त-सागरके दक्षिणी-पश्चिमी द्वीपोंमें फैलीहुई है, 'मंगोल'-नस्ल एशियामें पायी जाती है, कौकेशियन-नस्ल भूमध्यसागरके किनारेसे लेकर पश्चिमी रूस और भारत तक पहुँचीहुई है, आस्ट्रेलियामें चौथी नस्ल है । 'कौकेसोयड' (Caucasoids) के जो तीन हिस्से हमने किये हैं उनमेंसे 'नौरडिक' (Nordic) सबसे मुख्य है—इसे 'आर्य'-नस्ल भी क़हते हैं।

वैसे तो नस्लका आधार 'वाहकाणु' (Genes) हैं, उनमें क्या भेद है इसका पता रुधिरकी परीक्षासे ही पता लग सकता है, स्थूल आंखसे देखकर उसकी परीक्षा नहीं होसकती, इसलिये नस्लका पता लगानेकेलिये प्राचीन-नस्लोंके पंडितोंने कुछ शारीरिक चिन्हों तथा उनके मापोंका वर्गीकरण किया है। मुख्य-मुख्य शारीरिक चिन्ह, जिनके आधारपर नस्लका निर्णय किया जाता है, निम्न हैं :—

(१) शरीरके मुख्य-मुख्य अंगोंका माप । उदाहरणार्थ, ऊंचाई, कंधे की ऊंचाई, बैठने पर ऊंचाई, एक कन्धेसे दूसरे कन्धेकी चौड़ाई, छातीका व्यास, नितम्बों का व्यास आदि-आदि ।

(२) हाथ-पैरकी लम्बाई । उदाहरणार्थ, हाथसे कोहनी और कोहनीसे कन्धोंतक एवं पैरसे घुटनों और घुटनोंसे जांघके उपरले सिरेतककी लम्बाई आदि ।

(३) चेहरे और खोपड़ीके व्यास । उदाहरणार्थ, खोपड़ीकी लम्बाई-चौड़ाई-ऊंचाई, कुल चेहरेकी लम्बाई-चौड़ाई, नाककी लम्बाई-चौड़ाई आदि ।

(४) रंग । उदाहरणार्थ, सिर तथा शरीरके बालों, आंखकी पुतली और चमड़ीका रंग किसप्रकार का है आदि-आदि ।

(५) बाल । उदाहरणार्थ, सिरपर, चेहरेपर तथा सारे शरीरमें कहां बाल घने हैं, कहां विरल हैं—इस बातका जांचना आदि-आदि ।

(६) बनावट। उदाहरणार्थ, नाक चपटी है, नोकीली, दबीहुई है, उठीहुई है, दोनों नासिकाओंके बीचकी हड्डी कैसी है, कानकी हड्डी, कर्ण-पर्पटी, ठोड़ी, जबड़े, मसूड़े, गालकी हड्डियों और होठोंकी बनावट आदि।

(७) शरीरका गठन और बनावट आदि।

आजकल ऐसे सूक्ष्म-यन्त्र बन गये हैं जिनसे उक्त सब बातोंकी परीक्षा सही-सही होसकती है, परन्तु क्योंकि मरनेके बाद बालोंका रंग, अंगोंका मुलायमपन आदि अधिक दिनतक नहीं टिकता इसलिये नस्लोंकी परीक्षा का पूरा-पूरा हाल तो जिन्दा नस्लोंके विषयमें ही बतलाया जासकता है, नष्ट होचुकी नस्लोंके विषयमें नहीं।

२. नस्लके आधारपर श्रेष्ठता

(DOCTRINE OF RACE SUPERIORITY)

हमने भारतकी 'जाति-व्यवस्था' (Caste system) के सम्बन्धमें लिखतेहुए कहा था कि जन्मकी जाति भारतमें ही मानी जाती है, परन्तु योरुप में 'जाति' के स्थानमें 'श्रेणी' का विभाग चल पड़ा है। फिर भी यह कहना असंगत न होगा कि एकप्रकारकी जन्मकी जाति योरुप, अमरीका आदि देशोंमें भी चल रही है, और वह है 'नस्ल' के कारण अपनेको अन्योंसे श्रेष्ठ मानना। वैसे तो यह सिद्धान्त प्रायः सभी योरुपीय जातियोंमें थोड़ा-बहुत चला हुआ है, परन्तु पिछले-दिनों जर्मनी में इसका बहुत प्रचार हुआ, खासकर हिटलरके नाजीवादका तो यह एक मुख्य सिद्धान्त होगया। हिटलरका कहना था कि संसारकी सब नस्लोंमें 'आर्य' नस्लके लोग, जिन्हें 'नौरडिक' कहा जाता है, सर्व-श्रेष्ठ हैं। 'नौरडिक' अर्थात् 'आर्य' (Nordic or Aryan)-नस्लके कई अवान्तर भेद हैं—इनमेंसे 'ऐंग्लो-सैक्सन' (Anglo-Saxon) तथा 'ट्यूटैनिक' (Teutanic) मुख्य हैं। ऐंग्लो-सैक्सन नस्लके लोग इंग्लैंडमें तथा ट्यूटैनिक-नस्लके लोग जर्मनीमें बसते हैं। हिटलरका कहना था कि ट्यूटैनिक-नस्लके लोगों में शुद्ध-नौरडिक रुधिर है। संसारके शुरूसे आजतक नौरडिक-नस्लने ही सभ्यताको जन्म दिया, इसे बढ़ाया है। ग्रीक तथा रोमके लोग नौरडिक-नस्लके थे। 'नौरडिक-वाद' (Nordicism) को जर्मनीमें इतना बढ़ाया गया कि यह सिद्ध किया जानेलगा कि संसारमें जो भी महापुरुष हुए हैं, वे सब 'नौरडिक' थे। ईसा, मुहम्मद, चंगेजखां—इन सबमें नौरडिक खून था, कहा गया। जो नौरडिक नहीं हैं, वे संसारको कोई नई चीज नहीं देसकते। यहूदी-लोग नौरडिक नहीं हैं, नीची नस्लके हैं, इसलिये हिटलरने उन्हें जर्मनीसे निकाल बाहर किया।

नस्लके आधारपर अपनेको श्रेष्ठ माननेका सिद्धान्त अमरीकामें भी कम नहीं है। वहांके नीग्रो लोगोंको दासतासे मुक्त कर दिया गया है, परन्तु उनका सभ्य-समाजसे बहिष्कार है। कु-क्लक्स-क्लान (Ku Klux Klan) नामकी

गुप्त-संस्था नीग्रो लोगोंका वध तक कर देती है। शुरू-शुरू में अमरीका में चीनियोंको कुलीके तौरपर भरती करके लेजाया गया था, परन्तु उस देशमें उनके साथ ऐसा दुर्व्यवहार हुआ कि १८९० में उनकी जन-संख्या जो १ लाख थी वह अब ८० हज़ार रहगई है। अमरीकामें गन्दी-गन्दी वस्तियोंमें चीनी पड़े हैं, इन वस्तियोंका नाम 'चाइना टाउन' है। चीनी और जापानियोंकेसाथ अमरीकामें जो व्यवहार होता रहा उसीका उग्र रूप 'पीला ख़तरा' (Yellow peril)—इस नामसे प्रसिद्ध हुआ। अमरीकी लोग कहने लगे कि इन नस्लोंसे अमरीकाको ख़तरा पैदा होगया है, अतः इनके वहिष्कारके कानून वनने लगे। रंगके आधारपर वनी यह जात-पात भारतकी जात-पातसे कम उग्र नहीं, कुछ अंशोंमें अधिक कठोर है। अमरीकामें यहूदियोंकेसाथ भी नस्लके कारण इसीप्रकारका भेद-भावका वर्ताव किया जाता है। दक्षिणी आफ़्रीक़ामें काले-गोरोंका जो भेद चल रहा है वह भी नस्लके आधारपर वनी अपने को श्रेष्ठ माननेकी नीतिका ही परिणाम है।

३. क्या नस्लकी श्रेष्ठताका सिद्धान्त ठीक है ?

हमने देखा कि रुधिरसे अपनेको श्रेष्ठ माननेका सिद्धांत सिर्फ़ हिन्दुओंमें नहीं, संसारकी सव नस्लोंमें पाया जाता है। परन्तु क्या इस सिद्धान्तमें कोई सच्चाई है ? सवसे पहली वात तो यह है कि संसारमें रुधिरका इतना सम्मिश्रण हुआ है कि कहीं, कोई भी मनुष्य शुद्ध रुधिरका नहीं है। डा० अम्मौन (Ammon) के मित्र रिपले (Ripley) ने लिखा है कि जब डा० अम्मौनको कहा गया कि विल्कुल शुद्ध नस्लके किसी व्यक्तिका फ़ोटो दिखलायें, तो वे चक्करमें पड़ गये। उन्होंने हज़ारों सिरोंका माप लिया था, परन्तु अगर किसीका सिर एक नस्लका था, तो नाक दूसरी नस्लकी थी, नाक एक नस्लकी थी, तो आंख किसी और नस्लकी थी। कहनेका अभिप्राय यह, कि अगर किसी व्यक्तिको वे किसी एक नस्लका समझते थे, तो उसीमें अनेक वातें ऐसी मिल जाती थीं, जो उसमें नहीं होनी ही चाहियें थीं। भिन्न-भिन्न नस्लोंमें रुधिरका सम्मिश्रण इतना अधिक हुआ है कि हम फ्रेंच-नस्ल, जर्मन-नस्ल या अंग्रेजी-नस्ल—इन शव्दोंका प्रयोग ही नहीं कर सकते। इनको 'कौमें' (Nations) तो कहा जा सकता है, 'नस्लें' (Races) नहीं। एक-एक कौममें कई-कई नस्लें मौजूद हैं। इंग्लैंडको ऐंग्लो-सैक्सन कहा जाता है, परन्तु उसमें ट्यूटॅनिक खून मौजूद है, जर्मनीको ट्यूटॅनिक कहा जाता है, परन्तु उसमें भी अन्य रुधिर मिले हैं। जर्मनी के जो भाग्य-विधाता थे, जो नस्लके सिद्धान्तको लेकर उसे आस्मानमें चढ़ा रहे थे, उनके चेहरोंको देखनेसे ही मालूम पड़ जाता है कि उनमेंसे कोई भी एक शुद्ध-नौरडिक अर्थात् आर्य-नस्लके चेहरे का नहीं था।

अस्ल बात यह है कि जबसे मनुष्य पैदा हुआ है वह घुमक्कड़ रहा है। उन पहाड़ों और मैदानोंकेपीछे क्या है—यह उत्सुकता उसे आगे-ही-आगे धकेलती रही है। शुरू-शुरूमें तो पहाड़-नदी-नाले-जंगलके कारण वह जिस नस्लका था उसी नस्लका बना रहा, दूसरी नस्लोंकेसाथ उसका मेल न होसका, परन्तु ज्यों-ज्यों मानव-समाज संख्यामें बढ़ता गया, त्यों-त्यों अन्य नस्लोंके लोग भी नदी-नाले-समुद्र पार करके इधर-उधर जाने लगे, और जहां मनुष्यका मनुष्यसे मेल हुआ वह उनमें रल-मिल गया। अगर ऐसा न होता, तो भिन्न-भिन्न नस्लें ही बनी रहतीं, इन 'नस्लों' (Races) के मिलनेसे 'कौमें' (Nations) न बनतीं। कोई कहता है, पहले तीन नस्लें थीं, कोई कहता है, पांच थीं। जितनी भी हों, अब सैकड़ों नस्लें कैसे बन गईं? एक-दूसरेकेसाथ रोटी-बेटीका व्यवहार करनेसे ही तो आज इतनी नस्लें दिखाई देती हैं, और नस्लें ही नहीं, कोई एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं दिखाई देता जो किसी एक शुद्ध नस्लका हो। फिर नस्लके कारण श्रेष्ठताके सिद्धान्तको ठीक कैसे कहा जासकता है?

जो लोग नस्लके कारण श्रेष्ठताके सिद्धान्तको मानते हैं उनके सिद्धांतकी आलोचनाकेलिये यह देखना आवश्यक है कि क्या नस्ल भिन्न होनेके कारण व्यक्तियों की मानसिक-योग्यतामें कोई भेद पड़ जाता है? इस सम्बन्ध में कई मनोरंजक परिणाम निकले हैं जिनकीतरफ़ हम पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं:—

१. भिन्न-भिन्न नस्लोंकी खोपड़ीका माप—

मार्टिन (Martin) ने भिन्न-भिन्न नस्लोंकी खोपड़ियोंका माप देखकर यह बतलाया है कि किस नस्लकी खोपड़ी कितनी छोटी और किसकी कितनी बड़ी है। जिस नस्लकी खोपड़ी बड़ी हो उसमें ज्यादा दिमाग आनेकी गुंजाइश होनी चाहिये। योरोपियन नस्लोंमें आमतौरपर पुरुषकी खोपड़ीमें १४५० और स्त्रीकी खोपड़ीमें १३०० क्यूबिक सेंटीमीटर जगह पायी गई है। आस्ट्रेलियन-नस्लोंमें पुरुषकी खोपड़ीमें १३४७ तथा स्त्रीकी खोपड़ीमें ११८१ क्यूबिक सेंटीमीटर जगह है। इससे कहा जासकता है कि योरोपियन-नस्लोंमें आस्ट्रेलियन-नस्लोंकी अपेक्षा खोपड़ी में ज्यादा स्थान है, इसलिये उनकी मानसिक-शक्ति ज्यादा होनी चाहिये। परन्तु अगर भिन्न-भिन्न नस्लोंकी खोपड़ियोंका गहराईसे अध्ययन किया जाय, तो पता चलता है कि खोपड़ीके मापका मानसिक-शक्तिके साथ कोई 'पारस्परिक-संबंध' (Correlation) नहीं है, अर्थात् यह नहीं कहा जासकता कि बड़ी खोपड़ीवाला बड़े दिमाग का, और छोटी खोपड़ीवाला छोटे दिमाग का ही होता है। चीनी लोग सभ्यतामें बढ़ेहुए हैं, परन्तु उनकी खोपड़ीका माप १४५६, और [illegible]

फिरंदर नस्लकी खोपड़ी का माप १४६६ क्यूविक सेंटीमीटर है; जापानी उन्नत लोग हैं, उनकी खोपड़ी १४८५ तथा जावाके पिछड़ेहुए लोगोंकी खोपड़ी १५९० क्यू० सें० है। इतना ही नहीं, एक ही नस्लके लोगोंमें ज़मीन-आस्मानका भेद होता है। मार्टिन का कथन है कि एक ही नस्लमें ११०० से १७०० क्यूविक सेंटीमीटरतक खोपड़ी के मापमें भेद पाया जाता है। अगर एक ही नस्लमें खोपड़ीके माप में इतना भेद होसकता है, तो कैसे कहा जासकता है कि नीची नस्लकी खोपड़ी छोटी, और वड़ी नस्लकी खोपड़ी वड़ी होती है। विज्ञानकेपास सवसे छोटी खोपड़ी का रिकार्ड डांटे (Dante) का है, जो इटलीका एक प्रतिभाशाली विद्वान् था। अक्सर देखा जाता है कि वड़े सिरवाले गंवार होते हैं, अतः वड़ी खोपड़ीसे वड़ी नस्ल नहीं सिद्ध होती।

२. मस्तिष्कका तोल—

कई कहते हैं कि भिन्न-भिन्न नस्लोंमें मस्तिष्कका भिन्न-भिन्न तोल होता है। यह वात ऊपरली वात का ही परिणाम है। खोपड़ीमें जगह ज्यादा होगी, तो उसमें ज्यादा भारी दिमाग समा सकेगा। परन्तु जव ऊपरकी वात ग़लत है, तव यह वात स्वयं ग़लत होजाती है। टौपीनार्ड (Topinard) ने भिन्न-भिन्न नस्लोंके ११००० दिमागोंको तोला। वह कहता है कि योरोपियनोंके दिमाग का आनुपातिक वज़न पुरुषोंमें १३६१ और स्त्रियोंमें १२०० ग्राम होता है। नौर्थ अमेरिकन नीग्रोका १३१६, जापानियोंका १३६७, चीनियोंका १४२८ ग्राम निकला। मार्टिन का कथन है कि पेसचेरा-नस्ल पशुके निकट-की-सी मनुष्यकी नस्ल है, परन्तु उसके दिमाग का वज़न योरोपियन-नस्लोंके दिमागसे मिलता-जुलता है। ऐसी अवस्थामें दिमाग के तोलके आधार पर क्या परिणाम निकाला जासकता है ?

३. 'वुद्धि-परीक्षा' (Intelligence Tests) द्वारा परीक्षण—

'वुद्धि-परीक्षा' के परीक्षणोंके आधारपर कहा जाता है कि भिन्न-भिन्न नस्लोंकी वुद्धिमें भेद है। 'वुद्धि-परीक्षा' का क्या अर्थ है ? एक तो किताबें पढ़कर मनुष्य विद्या ग्रहण करता है, दूसरे उसकी अपनी कुछ स्वाभाविक वुद्धि भी होती है। यह होसकता है कि एक व्यक्ति वहुत साधारण वुद्धिका हो, परन्तु ऊंचे खान-दानका होनेके कारण उसे पढ़ने-लिखनेके साधन मिल जांय, और वह पढ़-लिख जाय। यह भी होसकता है कि दूसरा व्यक्ति उससे वहुत ज्यादा वुद्धि रखता हो, परन्तु उसे पढ़ने-लिखने का अवसर न मिले। 'विद्या' (Knowledge) तथा 'वुद्धि' (Intelligence) में भेद है। 'विद्या' सीखी जातीहै, 'परिस्थिति' से प्राप्त की जाती है; 'वुद्धि' सीखी नहीं जाती, 'वंशानुसंक्रमण' से मिलती है। यह होसकता है कि एक व्यक्ति विद्यावान् हो, वुद्धिमान् न हो, दूसरा व्यक्ति वुद्धिमान् हो, विद्यावान् न हो।

इसप्रकार हमने देखा कि 'बुद्धि' जन्मसे आती है, दूसरे शब्दोंमें यह नस्लकी चीज़ है। आजकल बुद्धिको मापनेके जो परीक्षण हैं, उन्हें 'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षण कहा जाता है। अगर नस्लोंके कारण भिन्नता होती है, तो 'बुद्धि-परीक्षा' से नीग्रोकी बुद्धि अमरीकनसे नीची होनी चाहिये , बराबर तो किसी हालतमें नहीं होनी चाहिये। परीक्षणोंसे पता चलता है कि अगर गोरी-नस्लोंकी 'बुद्धि-लब्धि' (Intelligence quotient) १०० मानी जाय, तो चीनियों और जापानियोंकी ९९, मैक्सी-कनोंकी ७८, दक्षिणी-नीग्रोकी ७५, उत्तरी-नीग्रोकी ८५ और अमेरिकन-इन्डियनकी ७० है। परन्तु 'बुद्धि-परीक्षा' के परीक्षणोंपर मनोवैज्ञानिकोंमें मत-भेद है । उनका कहना है कि 'बुद्धि' को मापनेके जो परीक्षण किये जाते हैं, वे बुद्धिको इतना नहीं मापते जितना व्यक्तिकी संस्कृतिको मापते हैं। एक बच्चा ऊंचे खानदान में रहता है, घरमें रेडियो लगा है, रोज़के समाचार सुनता है, उसकी परिस्थिति उसे दूसरे बच्चेसे स्वयं भिन्न बना देती है । इस बच्चेकी अगर किसी दूसरे बच्चेकेसाथ तुलना की जायगी, तो स्वभावतः इसे ऐसी बहुतसी बातोंका पता होगा जिनका दूसरेको कुछ भी ज्ञान नहीं। मनोवैज्ञानिकोंका कहना है कि 'बुद्धि-लब्धि' 'परिस्थिति' के अनुसार बदलती रहती है । गार्थ (Garth) का कहना है कि अगर एक हबशीको पहले नीची स्थितिके स्कूलमें रखा जाय, और फिर ऊंची स्थितिके स्कूलमें रख दिया जाय, तो उसकी 'बुद्धि-लब्धि' (I. Q.) बदल जाती है । ऐसी अवस्था में 'बुद्धि-परीक्षा' के आधारपर भी हम निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकते कि भिन्न-भिन्न नस्लोंकी बुद्धिमें भेद है ।

४. भिन्न-भिन्न नस्लोंका 'स्वभाव तथा आचार' (Temperament and character)—

हम प्रायः सुनते हैं कि भारतीय लोग नस्लसे आलसी होते हैं, यहूदी क्रूर और कंजूस होते हैं, मंगोल सुस्त और जुआरी होते हैं, गोरी नस्लें परिश्रमी और उद्यमी होती हैं। जर्मनोंकेलिये कहा जाता है कि वे धीरे-धीरे प्रतिक्रिया करते हैं, परन्तु एकबार उठ खड़े हों, तो शक्तिके भंडार होजाते हैं; अंग्रेज हर-बात में पहल करते हैं, गोता भी देते हैं, परन्तु समझौतेकेलिये सदा तय्यार रहते हैं, आचारके पक्के होते हैं; फ्रेंच बड़े बातून होते हैं, मिलनसार होते हैं, परन्तु अंग्रेजोंकेसे समर्थ नहीं होते। यह सब-कुछ ठीक है, परन्तु प्रश्न यह है कि जिस व्यक्तिको हम जर्मनोंका, अंग्रेजोंका या अन्य किसी नस्लका कहते हैं वह व्यक्ति किसी एक नस्लका तो है नहीं। अंग्रेज तो कौम का नाम है, इसीतरह जर्मन भी कौमका नाम है। इन कौमोंमें सब तरहकी नस्लोंका खून मिला हुआ है। एक लेखकका कहना है कि योरपकी हर कौम में 'नॉरडिक' (Nordic), 'एल्पाइन' (Alpine) तथा 'मैडिटरेनियन'

(Mediterranean) नस्लोंका रुधिर है—इसलिये जिस चीजको हम नस्लोंका स्वभाव तथा आचार कहते हैं, वह 'नस्लों' (Races) का भेद नहीं, 'कौमों' (Nations) का भेद है। एक प्रसिद्ध जर्मन लेखकका कथन है कि नस्लोंका इतना सम्मिश्रण हुआ है कि नौरडिक-शरीर और अ-नौरडिक-मन एवं अ-नौरडिक-शरीर तथा नौरडिक-मन योरुपमें यत्र-तत्र-सर्वत्र पाया जाता है। ऐसी अवस्थामें हम किस नस्लका क्या स्वभाव और क्या आचार कह सकते हैं? सिर्फ़ इतना कह सकते हैं कि नस्लके आधारपर खड़ी की गई श्रेष्ठताका सिद्धान्त, जो संसारमें जगह-जगह पाया जाता है, ग़लत है।

४. नस्ल तथा कौम

जैसा हम 'वंशानुसंक्रमण तथा परिस्थिति' के अध्यायमें दर्शा आये हैं, 'वंश' तथा 'परिस्थिति' —ये दो कारण हैं जिनसे परिवर्तन होता है। नस्लके कारण श्रेष्ठता माननेवाले 'वंश' को महत्व देते हैं। परन्तु हमने देखा कि जो बातें नस्लके विषयमें कही जाती हैं, उनका नस्लसे कोई संबंध नहीं है। यह कहा जाता है कि नीग्रो इसलिये नीची हालतमें है क्योंकि वह नीची नस्लका है। परन्तु क्या यह बात ठीक है? कोई समय था जब ट्यूटैनिक-नस्लके जर्मनीके लोग जंगली थे, आज वे सभ्य होगये। अगर रोमन-राज्यके समयमें कोई कहता कि किसी समय यही ट्यूटैनिक-नस्लके लोग इतनी उन्नति कर लेंगे, तो इसपर कौन विश्वास करता? योरोपियन-नस्लोंने जो उन्नति की है, उसे दिन ही कितने हुए हैं? एच. जी. वेल्स ने लिखा है कि १६ वीं शताब्दी में अगर कोई मंगोल और मुस्लिम-सभ्यताके उत्कर्ष को देखकर भविष्यद्वाणी करता, तो कह देता कि योरुपकी पिछड़ी जातियां कुछ देरके बाद मंगोल या मुस्लिम-सभ्यताको स्वीकार कर लेंगी। परन्तु यह सब-कुछ न हुआ, और योरुपने आश्चर्य-जनक उन्नति की। यह उन्नति नस्लके कारण नहीं हुई, परिस्थितिके कारण हुई। नस्ल तो कोई एक कहीं है ही नहीं। अगर कहीं कोई एक नस्ल होती, तब तो कहा जासकता कि अमुक नस्लने तरक्की कर ली, परन्तु जबसे मनुष्यके विषयमें कुछ भी पता चला है, तबसे यही पता है कि नस्लोंके सम्मिश्रणके कारण कहीं कोई एक नस्ल रही ही नहीं। प्रो० गौरडन चाइल्ड (Gordon Childe) का कहना है कि डेनमार्क तथा स्वीडनमें पृथ्वीके नीचे दबेहुए 'प्रस्तर-युग' (Stone age) के जो नौरडिक-नस्लके कंकाल मिले हैं, उनमें भी कई नस्लोंका सम्मिश्रण है। ऐसी अवस्थामें प्रश्न उपस्थित होता है कि मनुष्य-समाज में भेद किस कारण है? यह तो हमने देखा कि नस्लके कारण यह भेद नहीं है, क्योंकि शुद्ध-नस्ल तो कहीं रही नहीं है। असल बात यह है कि 'परिस्थिति' ने मनुष्य-समाज

को बहुत प्रभावित किया है । जन्मसे 'नस्लें' (Races) बनीं, परन्तु कई नस्लोंके मिलनेसे 'कौमें' (Nations) बनीं। जब कई नस्लें आपसमें मिलकर रहने लगती हैं, उनके एकतरहके रीति-रिवाज, एकतरहके आचार-विचार बन जाते हैं, तब वे जन्म-जात भेदोंको भूल जाते हैं, और एक कौमका निर्माण करते हैं। नस्ल पीछेको देखती है, कौम आगेको देखती है; नस्ल भूतका गाना गाती है, कौम भविष्यत्के स्वप्न लिया करती है; नस्ल जन्मपर ज़ोर देती है, कौम जन्मको उन्नतिमें बाधक नहीं बनने देती। आज संसारकी दिशा नस्लके घमंडको छोड़कर मानव-समाजके एक हो जानेकी तरफ़ है । जब कई नस्लोंसे एक कौम, और कई कौमोंसे मनुष्यमात्रकी एक कौम बन जायगी, तब समाजकी अनेकतासे एकताको पानेकी प्रक्रिया समाप्त होगी, उससे पहले नहीं। मानव-समाजके विकासकी दिशा नस्लोंके भेदको भूलकर कौमोंकी एकताकीतरफ़ जारही है ।

प्रश्न

१. नस्लका प्राणि-शास्त्रीय आधार क्या है ? संसारकी मुख्य-मुख्य नस्लें कौन-सी हैं ? नस्लोंको पहचाननेके शारीरिक-लक्षण क्या-क्या हैं ?
२. नस्लके आधारपर श्रेष्ठता माननेके सिद्धान्तका दिग्दर्शन कराते हुए यह बतलाइये कि भारत, अमरीका तथा जर्मनीमें इस सिद्धान्तका क्या-क्या रूप है, या रहा है ?
३. क्या नस्लके आधारपर श्रेष्ठताका सिद्धान्त ठीक है ? अगर नहीं, तो भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे इसका खंडन कीजिये ।
४. नस्ल तथा कौम में क्या भेद है ?

[१७]

समूह

(GROUPS)

१. समूहके सम्बन्धमें प्रारम्भिक विचार

'समूह' किसे कहते हैं ?—

'समूह' सामाजिक-प्राणियोंके उस संग्रहको कहते हैं, जो आपसमें 'सामाजिक-सम्वन्ध' स्थापित कर लेते हैं। सामाजिक-सम्वन्ध स्थापित करनेका क्या अर्थ है ? साठ-सत्तर वरसके कुछ लोग हैं, उनका आपसमें कोई सम्वन्ध नहीं, अतः उसे 'समूह' नहीं कहेंगे; पचास-साठ रुपये की आमदनीवालोंका एक तवका है, परन्तु उनका भी आपसमें कोई सामाजिक-सम्वन्ध नहीं है, अतः उसे भी 'समूह' नहीं कहेंगे। ये ही साठ-सत्तर वरसके लोग अगर ऐसा सम्मेलन करें, जिसमें इसी आयुके बूढ़े आकर अपना-अपना अनुभव सुनाने लगें, या पचास-साठ रुपयेकी आमदनी के लोग अपनी तनख्वाह बढ़ानेकेलिये आंदोलन शुरू कर दें, तो यह 'समूह' वन जायेंगे, इसलिये क्योंकि उनका आपसमें सामाजिक-सम्वन्ध स्थापित होगया। 'समूह' (Group) वननेमें आधारभूत वस्तु 'सामाजिक-सम्वन्ध' (Social relationship) है। यह 'सामाजिक-सम्वन्ध' कैसे पैदा होता है ?

'समूह' का मनोवैज्ञानिक आधार—

'समूह' (Group) प्राणियोंमें 'सामाजिक-सम्वन्ध' उत्पन्न होजानेसे वनता है, परन्तु 'सामाजिक-सम्वन्ध' के उत्पन्न होनेका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है ?

मनुष्य जो-कुछ करता है किसी 'स्वार्थ' (Interest) से करता है। 'स्वार्थ' को हम दो दृष्टियोंसे देख सकते हैं—'एक-सा स्वार्थ' (Like interest) और 'एक-स्वार्थ' (Common interest)। 'एक-सा' (Like) और 'एक' (Common) में यह फ़रक है कि 'एक-सा' (Like) में एकता होते हुए भी भिन्नता है, 'एक' (Common) में एकता ही है, भिन्नता नहीं है। जो 'स्वार्थ' व्यक्ति-व्यक्तिका अलग-अलग है, उसका अपना निजी है, परन्तु एक-दूसरेसे मिलता-जुलता है, वह 'एक-सा' (Like) है, जो सवका मिलकर वनता है, वह 'एक'

(Common) है। हरेक व्यापारी मुनाफ़ा चाहता है, यह सबका अपना अलग-अलग, निजी स्वार्थ है, एक-दूसरेके स्वार्थसे मिलता-जुलता है, इसे 'एक-सा स्वार्थ' (Like interest) कहेंगे, परन्तु जब कई व्यापारी एक-से स्वार्थके कारण मिलकर साझेदारी करेंगे, तब उनका स्वार्थ 'एक-सा' न रहकर 'एक-स्वार्थ' (Common interest) होजायगा। पुरुष तथा स्त्री—इन दोनों का 'एक-सा' स्वार्थ है कि उन्हें रहनेको मकान हो, खानेको रोटी हो, पहननेको कपड़ा हो, परन्तु इस 'एक-से' स्वार्थसे 'एक'-स्वार्थ उत्पन्न होजाता है, और वे 'परिवार' के 'समूह' को जन्म दे देते हैं। प्रत्येक देशका स्वार्थ है कि उसके यहां शान्ति रहे। यह 'एक-सा' स्वार्थ है। इस 'एक-से'-स्वार्थसे संयुक्त-राष्ट्र-संघ नाम की 'एक' संस्था उत्पन्न होगई। सामाजिक-प्रक्रियाकी दिशा 'एक-से' स्वार्थ को 'एक'-स्वार्थ बनाना है। इसी मनोवैज्ञानिक-प्रक्रियामें जब 'एक-से' लोग 'एक' होजाते हैं, तब 'समूह' (Group) उत्पन्न होजाता है। इस दृष्टिसे 'समूह' (Group)—यह 'एक-से' (Like) लोगोंमें 'एक' (Common) होनेके 'सामाजिक-सम्बन्ध' (Social relation) का नाम है। अगर मनुष्य 'एक-से' (Like) से 'एक' (Common) होनेका प्रयत्न न करे, तो 'समूह' उत्पन्न न हो।

'एक-से' (Like) से 'एक' (Common) होनेकी प्रक्रिया जन्मसे ही शुरू होजाती है। बच्चा पहले-पहल अपनेको ही संसारका केन्द्र समझता है। जैसे बिस्तर उसके सोनेके लिये है, जैसे बोतल उसके दूध पीनेकेलिये है, वैसे उसके माता-पिता, उसके चारोंतरफ़की दुनियां, सब उसीकेलिये है। यह 'स्व-केन्द्रीय' (Egocentric) अवस्था है। धीरे-धीरे यह अवस्था बदलने लगती है। वह देखने लगता है कि जैसे वह एक व्यक्ति है, वैसे दूसरोंमें भी स्वतंत्र व्यक्तित्व है, जैसे वह दूसरोंसे आशा करता है, वैसे दूसरे भी उससे आशा करते हैं। दूसरोंके स्वतंत्र-व्यक्तित्वका ज्ञान उसमें 'स्व'-'पर'-भावनाको उत्पन्न कर देता है, वह समझने लगता है कि जैसे संसारमें वह है, वैसे दूसरे भी हैं। जबतक उसमें दूसरों के स्वतन्त्र-व्यक्तित्वका ज्ञान नहीं था, तबतक उसकी दृष्टिमें 'स्व' के सिवाय किसी अन्य ऐसे पदार्थ की सत्ता नहीं थी जिसमें उसीकीतरहका 'स्व' हो। अब वह चारों तरफ़ 'स्व'-ही-'स्व', 'व्यक्तित्व'-ही-'व्यक्तित्व' देखता है। 'स्व' की भावना 'अहम्' (I) का ज्ञान है, 'पर' की भावना 'सः' अर्थात् उस (He) का ज्ञान है, परन्तु 'पर' भी उसे दो तरहका दीखने लगता है। एक 'पर' वह, जो अपने-जैसा है, अपने माता-पिता, अपने सगे-सम्बन्धी, जो अपनेसे सहानुभूति रखते हैं; दूसरा 'पर' वह, जो वास्तवमें पर है, जो उससे या तो किसीप्रकारका संबंध नहीं रखता,

या संबंध रखता है तो लड़ने-झगड़नेका, असहानुभूतिका, शत्रुताका संबंध रखता है। ऐसी स्थितिमें बच्चा क्या करता है ? वह अपनेसे सहानुभूति रखनेवालों के साथ अपनेको एक बना लेता है, सहानुभूति न रखनेवालोंसे अपनेको पृथक् समझने लगता है। यह प्रक्रिया 'अहम्' (I) से 'वयम्' (We) की प्रक्रिया है। अब जितने 'अपने-से' थे, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी, सब 'अपने' होजाते हैं, 'मैं' की परिभाषामें सोचनेके स्थानमें बच्चा 'हम' की परिभाषामें सोचने लगता है। इस प्रक्रियामें 'एक-से' (Like) से 'एक' (Common) उत्पन्न होजाता है, 'स्व-केन्द्रीयता' (Egocentricity) से 'समाजीकरण' (Socialization) होजाता है, 'समूह' बन जाता है।

समूहके दो भेद—'अंतः समूह' तथा 'वहिः समूह' (In-groups and Out-groups)—

हमने देखा था कि बच्चेमें पहले 'मैं' का विचार उत्पन्न हुआ था। 'समाजीकरण' (Socialization) की प्रक्रियासे, अपनेको अपने नजदीकी लोगोंकेसाथ एक कर देनेसे 'मैं' का 'हम' बन गया, और पहले जहां वह 'मैं' के लिये सब-कुछ करता था, वैसे अब 'हम' के लिये, अपने नजदीकी समाजकेलिये सब-कुछ करनेको तय्यार होगया। परन्तु 'मैं' (I) केसाथ उसने 'वह' (He) को भी तो सीखा था। जैसे 'मैं' का 'हम' बन गया, वैसे 'वह' का 'वे' बन जाता है, और मनुष्यकेलिये समाजमें दो प्रकारके 'समूह' उत्पन्न होजाते हैं। एक वे 'समूह', जो 'मैं' और 'हम' की कोटिमें आजाते हैं—इन्हें 'अन्तः समूह' (In-groups) कहते हैं, दूसरे वे समूह जो 'वह' और 'उन' की श्रेणीमें आजाते हैं—इन्हें 'वहिः समूह' (Out-groups) कहते हैं। समूहोंका यह वर्णन पहले-पहल समनर (Sumner) ने किया था। 'अन्तः समूह' (In-groups) 'वहिःसमूह' तथा (Out-groups) का आपसमें विरोधी-संबंध होता है। मुसलमानोंकेलिये मुसलमान 'अन्तःसमूह' है, काफ़िर 'वहिःसमूह'; हिन्दुओंकेलिये हिन्दू 'अन्तःसमूह' है, म्लेच्छ या यवन 'वहिःसमूह'; कम्यूनिस्टोंकेलिये रशियन 'अन्तःसमूह' है, अमरीका-इंग्लैंड आदि 'वहिःसमूह'। 'अन्तःसमूह' (In-groups) केलिये हमारी सहानुभूतिकी भावना होती है, और इस समूहके अन्य व्यक्तियोंकेप्रति हम अपना-पन अनुभव करते हैं, 'वहिःसमूह' (Out-group) केलिये उदासीनताकी भावना रहती है, कभी-कभी विरोधकी भावना भी होजाती है। 'अन्तःसमूह' का 'वहिःसमूह' से इतना घनिष्ठ संबंध है कि कभी-कभी 'अन्तःसमूह' की रक्षाकेलिये—'इस्लाम खतरेमें'—इस प्रकारके नारे लगने लगते हैं। 'अन्तःसमूह' के अगाध-प्रेमको 'स्व-जाति-

केन्द्रिता' (Ethnocentrism) कहते हैं। इस भावनें पगेहुए लोग 'हमारी जाति संसारकी सर्व-श्रेष्ठ जाति है'—'हम संसारमें शासन करनेकेलिये पैदा हुए हैं' —इस प्रकारकी वातें किया करते हैं। 'अन्तःसमूह' (In-groups) तथा 'वहिःसमूह' (Out-groups) प्रारंभिक अविकसित-समाजों और आजकलके विकसित-समाज दोनोंमें पाये जाते हैं।

२. 'प्रथम' तथा 'द्वितीय' समूह

(PRIMARY AND SECONDARY GROUPS)

प्रत्येक समाजके अपने-अपने 'अन्तः समूह' (In-groups) होते हैं। अच्छे समाज हों, वुरे समाज हों, अच्छोंके अच्छे और वुरोंके वुरे 'अन्तः समूह' होंगे। धर्मात्मा लोगोंकेलिये 'एक-स्वार्थ' (Common interest)-वाले अपने जैसे धर्मात्मालोग 'अन्तःसमूह' (In-group) हैं; चोरों-डकैतोंकेलिये, साथ देनेवाले, अपनेजैसे चोर-डकैत 'एक स्वार्थ' रखते हैं, अतः उनके वे 'अन्तःसमूह' (In-groups) हैं। 'अन्तःसमूह' का मतलव अच्छे लोगोंसे ही नहीं है, अच्छे हों या वुरे हों, जिनका अपने-जैसा 'स्वार्थ' (Interest) होगा, वे 'अन्तःसमूह' के कहलायेंगे, जिनका अपने-जैसा 'स्वार्थ' नहीं होगा, वे 'वहिःसमूह' के कहलायेंगे। 'अन्तःसमूह' तथा 'वहिःसमूह' वास्तव में एक ही चीज़ हैं, आपसमें एक-दूसरेकी अपेक्षासे वे 'अन्तः' या 'वहिः' कहाते हैं, ये दो चीजें नहीं हैं, एक ही वस्तुके दो पहलू हैं, जो 'अन्तःसमूह' है वही 'वहिःसमूह' है, चोरोंका जो समूह है वह चोरोंकी दृष्टि से 'अन्तःसमूह' है, परन्तु वही धर्मात्माओंकी दृष्टिसे 'वहिःसमूह' है। आजकलके विकसित-समाज में प्रत्येक व्यक्तिके कई 'अन्तःसमूह' (In-groups) होसकते हैं। एक व्यक्ति आर्य-समाजका भी सदस्य है, कांग्रेसका भी सदस्य है, क्रिकेट-क्लवका और सिटी-वोर्डका भी सदस्य है। उसके लिये ये सव 'अन्तःसमूह' हैं। समूह अपने प्रत्येक व्यक्ति से आशा रखता है कि वह समूहके रीति-रिवाज़ों, रूढ़ियों, प्रथाओं आदिका पालन करे। कभी-कभी ये रूढ़ियां एक-दूसरेके विरुद्ध भी जापड़ती हैं। एक संस्थाके रीति-रिवाज दूसरी संस्थाके साथ टक्कर खासकते हैं। उस समय व्यक्तिके अपने मुख्य समूहकी दृष्टि से खरे-खोटेपनकी परख होजाती है। इन 'अन्तः' अथवा 'वहिः' समूहों के दो भाग हैं—'प्रथम' तथा 'द्वितीय'। समाजमें पहले-पहल जो समूह वनते हैं उन्हें 'प्रथम-समूह' (Primary group), तथा प्रथमके वाद जो समूह वनते हैं उन्हें 'द्वितीय-समूह' (Secondary group), कहते हैं। पहले हम 'प्रथम-समूह' का वर्णन करेंगे, फिर 'द्वितीय-समूह' का।

प्रथम-समूह (Primary group)—

समाजमें छोटे-छोटे समूह भी होते हैं, बड़े-बड़े भी। प्रारंभिक-समाज में छोटे समूह ही थे। छोटे समूहमें हरेक व्यक्ति हर दूसरे व्यक्तिको जानता है, बड़े समूहोंमें ऐसा नहीं होता। बड़े समूहोंके विषयमें हम आगे लिखेंगे, अभी हमें छोटे समूहोंके विषयमें विचार करना है। छोटे समूहोंमें भी सबसे पहला छोटा-सा समूह 'परिवार' का होता है। बच्चा अपने जीवनके प्रारंभिक वर्ष अपने माता-पिताकी परिधिमें व्यतीत करता है। इस प्राथमिक-समूहमें ही बच्चा अपने सामाजिक-व्यवहार सीखता है। इस समूहके 'प्रतिमान' (Patterns) उसके जीवनके आधार बनते हैं। परिवारकीतरह दूसरे छोटे समूहोंमें भी समूहके सब व्यक्ति एक-दूसरेसे परिचित होते हैं। परिवार तथा ये समूह 'आमने-सामने के समूह' (Face-to-face groups) कहाते हैं। इनमें व्यक्ति एक-दूसरेकेपास बैठकर बातें करते हैं, हंसी-मजाक, प्रेम, मुबाहिसा, विचार-विनिमय—सब आमने-सामने बैठकर होता है। बड़ी-बड़ी फ़ैक्टरियों, बड़े-बड़े राजनैतिक संगठनोंमें भी छोटे-छोटे समूह बन जाते हैं, जिनमें समूहकेलोग खुलकर बातें करते हैं, दूसरेके दिलकी सुनते हैं, अपने दिलकी सुनाते हैं। इन छोटे समूहोंमें नियम-उपनियम काम नहीं करते, ये मनुष्य मनुष्यकेसाथ उस मेल-मिलापके सूचक हैं, जो किसी प्रकारके बंधनसे बंधाहुआ नहीं है। जहां लोग एक-दूसरेको नहीं जानते, वहां दिलसे दिल बात नहीं करता, वहां मनमें कुछ और वाणी में कुछ होता है, परन्तु जहां कुछ छिपाकर नहीं रखा जाता, वहां मन और वाणीसे एक ही बात निकलती है। 'आमने-सामनेके-समूहों' (Face-to-face groups) में यही बात होती है। 'आमने-सामने का समूह' सामाजिक-रचना की इकाई है। समाजमें जितने आगे-आगे समूह बने हैं—परिवार (Family), गोत्र (Clan), गण (Tribe), जाति (Caste), नस्ल (Race), कौम (Nation)—इन सबसे पहले 'आमने-सामनेका समूह' बना, और इसीसे आगे-आगेके समूह उत्पन्न हुए। 'आमने-सामनेके समूह' (Face-to-face group) में क्या होता है? इसमें हम 'एक-से स्वार्थ' (Like interest) को छोड़कर 'एक-स्वार्थ' (Common interest) कीतरफ़ चल पड़ते हैं। जबतक एक-दूसरेके सामने नहीं बैठते, घर बैठे अपनी-अपनी खिचड़ी पकाया करते हैं, तबतक हम एक-दूसरेके निकट भी नहीं जाते। आमने-सामने बैठने से, एक-दूसरेके निकट आने से, अपनी बात दूसरेको बतलाने से 'एक-से' (Like) कीजगह 'एक' (Common) की भावना पैदा हुई, छोटा समूह मिटा, बड़ा समूह बना, परिवारसे गोत्र, गोत्रसे गण, गणसे नस्ल, नस्लसे जाति और जातिसे अन्तर्जातीयताका विचार उत्पन्न हुआ, इसलिये सम्पूर्ण समूहोंका आधार-भूत

समूह 'आमने-सामनेका समूह' (Face-to-face group) ही है, और सामाजिक रचना में सबसे पहले होनेके कारण इसे कूले (Cooley) ने 'प्रथम-समूह' (Primary group) का नाम दिया है। खेलके मैदानमें, गप्पाष्टककी मण्डली में, दोस्तोंकी मजलिस में जब लोग मिलकर बैठते हैं, जिसमें वे नियमोंके किसी बन्धनसे बंधे नहीं होते, यह डर नहीं होता कि कौन क्या कहेगा, जिसमें मनुष्य मनुष्यकेसाथ मानवीयताके स्तर पर आकर मिलता है—यह-सब मानव-समाजके 'प्रथम-समूह' (Primary group) का नमूना है। इसका सबसे बड़ा गुण 'स्वाभाविकता' (Spontaniety) है। जो-कुछ मनमें होता है वह सहज स्वभावसे, बिना किसी लाग-लपेटके सामने आजाता है। 'आमने-सामनेके' इस 'समूह' में, जिसे हमने 'प्रथम-समूह' (Primary group) का नाम दिया है, प्रेम, मित्रता, घनिष्टता, भावुकता आदिका समावेश रहता है, इसलिये इस प्रकारके समूहमें उलझनें नहीं पैदा होतीं, होती हैं तो जल्दी सुलझाई जासकती हैं। परन्तु कभी-कभी आमने-सामने होनेके कारण ही कई उलझनें ज्यादा उलझ जाती हैं, तू-तू, मैं-मैं इतनी बढ़ जाती है कि मामला विकट रूप धारण करलेता है। 'प्रथम-समूह' (Primary group) एकप्रकारका 'प्रत्यक्ष-संबंध' (Direct contact) है, 'अप्रत्यक्ष-संबंध' (Indirect Contact) नहीं, 'वैय्यक्तिक-संबंध' (Personal relation) है, 'अवैय्यक्तिक-संबंध' (Impersonal relation) नहीं।

द्वितीय-समूह (Secondary group)—

बालक 'प्रथम-समूह' (Primary group) में जन्म लेता है, परन्तु उसे जीवन तो 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) में बिताना होता है। 'प्रथम' तथा 'द्वितीय'—समूह में क्या भेद है? जैसा हम देख आये हैं, 'आमने-सामनेके समूह' को 'प्रथम-समूह' कहते हैं, जिस समूहमें व्यक्तियोंका आमने-सामनेका सम्बन्ध नहीं होता, प्रत्यक्ष नहीं अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, उसे 'द्वितीय-समूह' कहते हैं। बच्चा बड़ा होकर स्कूलमें भर्ती हुआ। घरमें मां-बापकेसाथ उसका सीधा, प्रत्यक्ष, आमने-सामनेका सम्बन्ध था, स्कूलमें प्रधानाध्यापकसे उसका कोई सीधा संबंध नहीं, स्कूल के प्रबन्धकर्ताको तो वह जानता भी नहीं, परन्तु स्कूलके सारे संगठनका उस पर प्रभाव पड़ता है। स्कूलके प्रधानाध्यापक, प्रबन्ध आदिकेसाथ उसका कोई सीधा संबंध नहीं है। यहां परिवार 'प्रथम-समूह' है, स्कूल 'द्वितीय-समूह' है। जब बालक पढ़-लिखकर विशाल समाजमें प्रवेश करता है, तो अगर किसी बड़ी कम्पनीमें नौकरी करता है, तो वहां भी उसका 'द्वितीय-समूह' केसाथ ही संबंध होता है। 'द्वितीय-समूह' इसलिये क्योंकि कम्पनीका एक बड़ा संगठन है, उसमें

कई डायरेक्टर हैं, एक मैनेजिंग डायरेक्टर है, वह उनमेंसे किसीको भी नहीं जानता, परन्तु उसके वेतन, छुट्टी आदि सबका नियन्त्रण वही लोग करते हैं, उनकेसाथ उसका आमने-सामनेका कोई संबंध नहीं है, परन्तु 'प्रत्यक्ष तथा वैय्यक्तिक' (Direct and personal) संबंध न होते हुए भी उसका उनकेसाथ 'अप्रत्यक्ष तथा अवैय्यक्तिक' (Indirect and impersonal) संबंध है। छोटे-समूहोंमें समूहके छोटा होनेके कारण प्रत्यक्ष, वैय्यक्तिक तथा आमने-सामनेका संबंध होसकता है, बड़े समूहोंके बड़ा होने के कारण इसप्रकारका प्रत्यक्ष संबंध संभव नहीं है।

'प्रथम' तथा 'द्वितीय'-समूहके हानि-लाभ—

'प्रथम-समूह' (Primary group) में व्यक्ति अपनेको ज्यादा सुरक्षित पाता है। वह समूहके हर व्यक्तिको निकट-से जानता है, इसलिये जब भी उसे कठिनाईका सामना करना पड़े, दूसरे उसकी सहायताकेलिये तय्यार रहते हैं। उसे दूसरोंकेसाथ, और दूसरोंको उसकेसाथ सहानुभूति रहती है। प्रारंभिक-समाजमें व्यक्ति बचपनमें 'प्राथमिक-समूह' (Primary group) में पैदा होता है, बड़ा होनेपर उसे उन्हीं लोगोंमें जीवन बिताना होता है, अतः उसे जीवनमें विषमताका सामना नहीं करना पड़ता। सहानुभूति और सुरक्षाके अतिरिक्त 'प्रथम-समूह' में व्यक्तिकी कार्य-शक्ति भी बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ, अगर कुछ विद्यार्थी एक छोटा-सा समूह बनाकर पढ़ने लगते हैं, तो अलग-अलग हरेक जितना पढ़ सकता, उससे ज्यादा पढ़ डालते हैं। दूसरा कितना पढ़ेगा, वह आगे न निकल जाय, इस दृष्टिसे हर व्यक्ति आगे निकलनेकी कोशिश करता है। अगर किसी काममें कई व्यक्ति आमने-सामने बैठते हैं, तो दूसरोंकी दृष्टि सामने आजाती है, दूसरे क्या कहेंगे—यह दृष्टि-कोण हमारी अपने काममें ही नई दिलचस्पी पैदा कर देता है। 'प्रथम-समूह' में व्यक्तिमें नई कार्य-शक्ति, नवीन-स्फुरणाका यही कारण है। 'प्रथम-समूह' में अगर उसे किसीकेप्रति या किसीको उसकेप्रति कोई शिकायत होती है, तो वह पारस्परिक बातचीतसे, या दूसरोंके बीचमें पड़जानेसे आसानीसे दूर होजाती है, परन्तु आमने-सामनेकी बातसे कभी-कभी क्रोधकी भावना प्रबल भी होजाती है, और मामला बढ़ते-बढ़ते उग्र रूप भी धारण कर लेता है। इसके अतिरिक्त 'प्रथम-समूह' छोटे दायरेतक ही बन सकता है, बड़े दायरेमें यह संभव नहीं होता कि सब व्यक्तियोंका आमने-सामनेका, जान-पहचानका संबंध होसके।

'प्रथम-समूह' से जब काम नहीं चलता, तभी 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) बनता है। जब समूह बहुत बड़ा होजाता है, तब यह कैसे होसकता है कि हर व्यक्तिका दूसरे व्यक्तिकेसाथ निकटता का संबंध हो? द्वितीय-समूहमें आदमी इतने ज्यादा होते हैं कि अगर हर व्यक्तिकी अपनी-अपनी समस्याओंको सुलझाया

जाय तो काम ही न चले। इसलिये 'द्वितीय-समूह' में नियमों-उपनियमोंसे काम चलता है। आमने-सामनेका परिचय न होनेपर भी एक-समान नियमोंसे सब शासित होते हैं, कहीं दया या अपवादको स्थान नहीं होता, और इन नियमोंद्वारा प्रत्येक व्यक्तिका संगठनके हर व्यक्तिकेसाथ संबंध स्थापित होजाता है। इसमें किसीकी रियायत नहीं होती, एक-से नियम होनेके कारण सबसे एक-सा व्यवहार होता है, परन्तु इसका यह गुण होतेहुए यही इसका अवगुण बन जाता है। इसमें दफ़्तरशाही इतनी बढ़ जाती है कि मनुष्यको मनुष्य समझने के स्थानमें एक चीज़ समझा जाने लगता है। अगर किसीकेसाथ अन्याय होजाता है, तो उसकेलिये उसे दूर कराना अत्यन्त कठिन और व्यय-साध्य होजाता है। एक सरकारी नौकर है, उसके पांच बच्चे हैं, जहां वह रहता है वहांके स्कूलमें दाखिल हैं। एकदम उसका तबादला हो-गया। अब उसकी स्त्री मारी-मारी फिरती है। किसको अपना रोना सुनाये, किसे कहे कि बच्चोंके इम्तिहान होरहे हैं, बादको तबादला कर देना। अगर उसकी किसीके पास पहुँच हो, तो उसकी सुनवाई होजाती है, नहीं तो उसे और उसके बच्चों को दफ़्तरीपनका शिकार होना पड़ता है। कभी-कभी किसी अफ़सरकेपास पहुंच होजानेसे उसकी समस्या हल होजाती है, परन्तु यह तरीका 'प्रथम-समूह' की श्रेणी में आजाता है। इसीका परिणाम है कि बड़े-बड़े संगठन जब व्यक्तियोंकी समस्याओंको नियमोंकी उलझनोंमें पड़कर हल नहीं करते तब क्रांतियां होजाती हैं। जनतामें प्रतिक्रिया उत्पन्न होजाती है जो उन संगठनोंको तोड़ देती है, नये संगठन बना देती है। जनसत्तावादमें इसीलिये हर पांचवें साल नया चुनाव होना जरूरी है। जनताको फिरसे देखनेका मौका होता है कि उनके चुने हुए व्यक्ति समझदारीसे काम करते हैं, या नहीं। इसके अतिरिक्त 'द्वितीय-समूह' में भीतर-भीतर अनेक 'प्रथम-समूह' की तरहके छोटे-छोटे समूह सदा बनते रहते हैं। बड़ी-बड़ी फ़ैक्टरियोंमें भी दस-बीस छोटे-छोटे समूह होते हैं, जिनमें लोग आपसमें दिल खोलकर अपनी समस्या-ओंको सुलझाया करते हैं। आजकल तो इस दिशाकीतरफ़ फ़ैक्टरियोंके मालिकोंका भी ध्यान जारहा है। वे अपने-अपने क्षेत्रमें मजदूरोंकी क्लबोंको प्रोत्साहन देते हैं, और इनकेसाथ अपना संपर्क बनाये रखनेका प्रयत्न करते हैं। स्कूलों-कालेजों में भी यूनियन बनी होती हैं। समझदार प्रिंसिपल वही है जो विद्यार्थियोंके अपने बनायेहुए इन संगठनोंकेसाथ अपना संपर्क बनाये रखता है। कालेज तो 'द्वितीय-समूह' है, परन्तु विद्यार्थियोंकी अपने-आप बनायीहुई यूनियन या उनके दूसरे छोटे-छोटे समूह 'प्रथम-समूह' हैं, और इनके संपर्कमें रहनेसे प्रिंसिपल अपनी बहुत-सी समस्याओंको सुलझा सकता है। कालेजके प्रिंसिपलद्वारा बनाईहुई यूनियन और विद्यार्थियोंकी अपने-आप बनाईहुई यूनियनमें यही भेद है कि पहली 'द्वितीय-समूह'

(Secondary group) का अंग है, और दूसरी 'प्रथम-समूह' (Primary group) का अंग है। 'प्रथम-समूह' में आमने-सामनेकी वातका होना अधिक आसान है, अतः वह संस्थाकी समस्याओंको ज्यादा आसानीसे सुलझा सकती है, परन्तु कभी-कभी अनुभव यह भी वतलाता है कि इसमें उलझनोंके उत्पन्न होनेकी भी संभावना हो जाती है। 'प्रथम' तथा 'द्वितीय' समूहके भेदोंको इसप्रकार प्रकट किया जासकता है :—

प्रथम-समूह (Primary group)	द्वितीय-समूह (Secondary group)
आमने-सामनेकी वातचीत	१. आमने-सामनेके मौके नहीं आते
यह छोटे समूहमें वनता है	२. यह वड़े समूहमें वनता है
यह गांवमें हर जगह होता है	३. यह शहरमें हर जगह होता है
४. यह सरल (Simple) समाजमें है	४. यह विषम (Complex) समाजमें है
५. यह प्राथमिक-समाजमें है	५. यह वर्तमान विकसित-समाजमें है
६. यह प्रत्यक्ष (Direct) संवंध है	६. यह अप्रत्यक्ष (Indirect) संवंध है।
७. यहां 'स्वाभाविकता' (Spontaniety) है	७. यहां देख-भालकर वात की जाती है, 'स्वाभाविकता' नहीं होती
८. यहां वैय्यक्तिक-संवंध है	८. यहां नियम-उपनियमोंका संवंध है
९. यहां प्रेम, मैत्री, सहानुभूति है	९. यहां दफ़्तरीपन चलता है
१०. यह घरेलू (Informal) है	१०. यह नियमित (Formal) है
११. परिवार, हमसाया (Neighbours), गांव के लोग, क्लव, नगर-पालिका, छोटी-छोटी दुकानें, मन्दिर आदि इसके दृष्टांत हैं	११. राष्ट्र, राजनैतिक पार्टी, शहरके वड़े-वड़े व्यापार, वड़े-वड़े संगठन, स्कूल, कालेज आदि इसके दृष्टांत हैं

३. समूहका वर्गीकरण

'समूह' का भिन्न-भिन्न लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारका वर्गीकरण किया है। निम्न वर्गीकरण में 'समूह' को दो हिस्सोंमें वांटा गया है। एक ऐसा समूह जिसका किसी विशेष स्थानसे संवंध है, 'स्थानिक' (Territorial), तथा दूसरा वह जो स्थान-विशेषसे वंधा हुआ नहीं है, 'अस्थानिक' (Non-territorial)। स्थानसे वंधे हुए और न वंधे हुए—दोनोंको फिर 'संगठित' (Organised) तथा

'असंगठित' (Unorganised)—इन दो हिस्सोंमें बांटा गया है । 'संगठित' तथा 'असंगठित' को फिर 'सम' (Simple) तथा 'विषम' (Complex) में बांट दिया गया है । इन सबमें 'अन्तःसमूह' (In-groups) तथा 'बहिःसमूह' (Out-groups) होसकते हैं। इनमेंसे कुछ तो 'प्रथम-समह' (Primary groups) हैं, जो 'द्वितीय-समूह' (Secondary groups) हैं उनमें भी 'प्रथम-समूह' (Primary group) बनते रहते हैं। चित्रमें इस वर्गीकरणको निम्न प्रकार प्रकट किया जासकता है:—
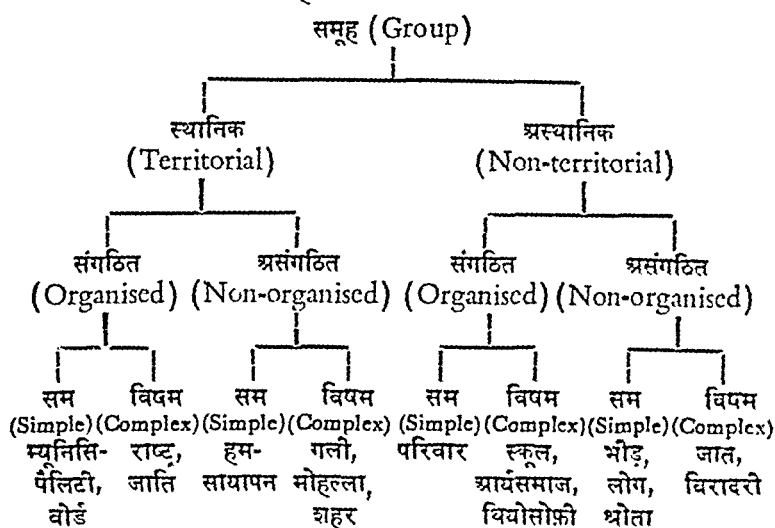
४. समूहके विशेष गुण
(CHARACTERISTICS OF GROUP)

'समूह' में व्यक्ति 'मैं' को भूलकर, 'हम' की भावनासे काम करता है। 'हम' की भावना के आते ही व्यक्तिकी अपेक्षा समूहमें कुछ ऐसे गुण आजाते हैं जिनकी तरफ़ ध्यान देना आवश्यक है। वे निम्न हैं:—

१. 'समूह' में व्यक्ति यह अनुभव करने लगता है कि वह अपनेसे किसी बड़े दायरेका अंग है, ऐसे दायरेका जिसमें उसकी वैय्यक्तिक इच्छा काम नहीं करती। कभी-कभी अपनी इच्छाके विरुद्ध भी उसे काम करना पड़ता है। अगर किसी गली-मोहल्लेमें भारत-सेवक-समाजके बीस-तीस सदस्य झाड़ू देने लगें, तो न चाहतेहुए भी मोहल्लेवाले इन सदस्योंकेसाथ काममें जुट जाते हैं, और फिर सेवाका जो आनन्द समाजके लोगोंको आरहा होता है, वही इन उदासीन व्यक्तियोंको भी

आने लगता है। इससे प्रतीत होता है कि 'समूह' की सत्ता 'व्यक्ति' से स्वतंत्र है, समूह व्यक्तिसे बड़ा है, जो काम व्यक्ति स्वतंत्र रूप से नहीं करता वही समूहमें करने लगता है। यह जरूरी नहीं कि समूहमें व्यक्ति अच्छा काम ही करे—अच्छा भी, बुरा भी—समूहमें व्यक्ति अपनी इच्छाको नीचे रख देता है, समूहकी इच्छाके साथ चलने लगता है।

२. समूह व्यक्तिपर प्रतिबन्ध लगा देता है, व्यक्ति जैसा चाहे वैसा नहीं करसकता। अगर व्यक्तिकी इच्छा और समूहकी इच्छामें विरोध है, तो व्यक्तिके सामने दो रास्ते हैं। या तो वह अपनी इच्छाको मार दे, या समूहकी इच्छाका विरोध करे। अगर वह अपनी इच्छाको दबा देता है, समूहकेसाथ चलने लगता है, तो ठीक, नहीं तो विरोध करनेकी हालतमें क्या होता है? जो समूहकी इच्छाका विरोध करता है, उसके सामने दो रास्ते खुले हैं। पहला रास्ता तो यह है कि वह स्वयं समाज से अलग हो जाय, दूसरा रास्ता यह है कि समाज उसे अलग कर दे। स्वयं अलग होनेके भी दो रास्ते हैं—या तो वह साधु-संन्यासी होजाय, दुनियासे अलग जाकर रहने लगे, न वह किसीसे कुछ चाहे न कोई उससे कुछ चाहे, या किसी दूसरे समूहसे जामिले, ऐसे समूहसे जिसके विचारोंके अनुसार इसके विचार मिलते हैं। परन्तु अगर वह साधु-संन्यासी होकर या किसी दूसरे समूहसे मिलकर अपने समूहसे अलग नहीं होता, अपने विचारोंको लेकर समाजमें ही रहता है, तो उसे पागल या अपराधी घोषित कर दिया जाता है, और क्योंकि वह स्वयं समूहसे अलग नहीं होगया इसलिये समूह ही उसे अपनेसे अलग कर देश-निकाला, जेल, फांसी आदिकी सजा देकर उससे अपनेको मुक्त कर लेता है।]

३. जो व्यक्ति अपनेको समूहकेसाथ एक कर देते हैं, वे समूहसे ज्यादा-से-ज्यादा फ़ायदा उठा सकते हैं। प्रत्येक व्यक्तिकी अपनेको समूहकेसाथ अभिन्न करनेकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। समूहकेलिये जो अपनेको बिल्कुल अर्पण कर देता है, वह समूहका मुखिया होजाता है। समूहमें बैठकर उसके सब सदस्य एक-प्रकारकी समता, घरेलूपन का अनुभव करते हैं, समूहसे बाहर मनुष्य पानीसे बाहर तड़पती मछलीका-सा अनुभव करने लगता है।

४. एक समूह अपनेसे भिन्न समूहको तिरछी आंखोंसे देखता है। समूहों में 'मेरा-तेरा' की भावना बनी रहती है। जब एक व्यक्ति अपने समूहको छोड़कर दूसरे समूहमें जाता है, तब उसे आस्मानपर चढ़ा दिया जाता है। इसका कारण यही है क्योंकि जिस समूहमें वह शामिल होता है वह इसे अपनी विजय समझता है। ऐसे व्यक्तिको आस्मानपर चढ़ाना उसका सम्मान नहीं, समूहका अपनी विजय मनाना है।

५. समूह में 'आदान-प्रदानकी भावना' (Reciprocity) बनी रहती है। परिवार में पिता बच्चेकी रक्षा करता है, बच्चा पिताकी आज्ञाका पालन करता है, फ़ैक्टरीमें मज़दूर मेहनत करके काम करता है, मालिक उसे पैसा देता है । समूह-केलिये आदान-प्रदान आवश्यक है । जहां आदान-प्रदान में कहीं यह भावना उत्पन्न होजाती है कि मैं ज्यादा देरहा हूं, मेरे देनेके मुताबिक मुझे मिल नहीं रहा, वहीं समूहमें कच्चापन आजाता है। मालिक-मज़दूरका, पिता-पुत्रका, गुरु-शिष्यका झगड़ा इसीलिये तो है कि मज़दूर कहता है कि जितना काम मैं कर रहा हूं उतना पैसा मुझे नहीं मिल रहा, पिता कहता है कि जो प्रेम मैंने बच्चों पर किया उसके प्रतिरूप सन्तान नहीं हुई, शिष्य कहता है कि मुझसे जितना शुल्क लिया जाता है उसके अनुसार मुझे प्रतिफल नहीं मिलता । समूह की स्थिरता बनाये रखनेकेलिये आदान-प्रदानमें समता रखना ज़रूरी है ।

प्रश्न

१. 'समूह' की परिभाषा क्या है ? 'समूह' का मनोवैज्ञानिक-आधार क्या है ?
२. 'अन्तःसमूह' (In-groups) तथा 'बहिःसमूह' (Out-groups) क्या है ?
३. 'प्रथम-समूह' (Primary group) तथा 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) को समझाइये ।
४. 'प्रथम-समूह' तथा 'द्वितीय-समूह' के क्या-क्या हानि-लाभ हैं ?
५. 'प्रथम-समूह' तथा 'द्वितीय-समूह' की तुलना कीजिये ।
६. समूहका वर्गीकरण कीजिये ।
७. 'समूह' के क्या-क्या विशेष गुण हैं ?

[१८]

संस्था, समिति तथा महा-समिति

(INSTITUTION, ASSOCIATION AND GREAT ASSOCIATION)

संस्था, समिति, महा-समितिका मनोवैज्ञानिक आधार—

'समूह' (Group) के विषयमें हम लिख आये हैं। छोटे 'समूह' से वड़े समूह वनते हैं, परिवार, संस्था, समिति, महा-समिति—सव 'समूह' से वनते हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि 'समूह' का मनोवैज्ञानिक-आधार 'स्वार्थ' (Interest) है। यह 'स्वार्थ' (Interest) समूहको वनाता है, यही परिवार, संस्था, समिति तथा महा-समितिको वनाता है। 'स्वार्थ' (Interest) तथा 'मनोवृत्ति (Attitude) ये दोनों आपसमें संवद्ध हैं। 'भय', 'प्रेम', 'सहानुभूति' ये सव 'मनोवृत्तियां' (Attitudes) हैं; भयसे 'शत्रु', प्रेमसे 'मित्र', आश्चर्यसे 'आविष्कार', सहानुभूतिसे 'परिवार' का संवंध है—ये शत्रु, मित्र, आविष्कार, परिवार, 'स्वार्थ' (Interests) हैं। 'स्वार्थ' तथा 'मनोवृत्ति' आपसमें संवद्ध होतेहुए भी आपसमें भिन्न हैं। 'मनोवृत्ति' (Attitude) चेतनाका आभ्यन्तर गुण है, इस आभ्यन्तर मनोवृत्तिका 'स्वार्थ' (Interest) एक प्रकट रूप है। 'स्वार्थ' (Interest) का आधार-भूत तत्व 'मनोवृत्ति' (Attitude) है। चोरका भी कानून जानने में 'स्वार्थ' है, पुलिसवालेका भी, जज का भी—तीनों का 'स्वार्थ' (Interest) कानून का जानना है, परन्तु चोरकी 'मनोवृत्ति' (Attitude) कानूनको जानकर उसके शिकंजेसे वच निकलना है, पुलिसकी 'मनोवृत्ति' (Attitude) कानून को जानकर चोरको पकड़ना है, जजकी 'मनोवृत्ति' (Attitude) कानूनको जानकर उसके अनुसार चोरको दंड देना है। 'मनोवृत्ति' (Attitude) से 'स्वार्थ' (Interest) वनता है, और 'स्वार्थ' (Interest) से समूह, संस्था, समिति आदिका संगठन वन जाता है। 'मनोवृत्ति' (Attitude) किसी संगठनको नहीं वनाती, यह तो 'स्वार्थ' (Interest) को उत्पन्न कर देती है, और 'स्वार्थ' (Interest) भिन्न-भिन्न संगठनोंको जन्म दे देता है।

'संस्था' (Institution), 'समिति' (Association) तथा 'महा-समिति' (Great Association) में भेद—

'स्वार्थ' (Interest) दो तरहका होता है : 'एक-सा-स्वार्थ' (Like interest) तथा 'एक-ही-स्वार्थ' (Common interest)। 'एक-से' अथवा 'एक-ही' स्वार्थवाले व्यक्तियोंके मिलनेसे जो संगठन बनता है, उसे 'समिति' (Association) कहते हैं। समाज-शास्त्रके ग्रन्थोंमें 'समिति' (Association) तथा 'संस्था' (Institution)—ये दो शब्द बार-बार आते हैं, दोनोंका आधार 'स्वार्थ' (Interest) है, परन्तु 'समिति' (Association) तथा 'संस्था' (Institution) में भेद है। 'समिति' (Association) एक 'संगठित-समूह' (Organised group) को कहते हैं, 'संस्था' (Institution) उस 'संगठित-समूह' की अपने हितोंको पूर्ण करने की 'कार्य-प्रणालीके रूप' (Form of procedure) को कहते हैं। 'परिवार' एक 'संगठित-समूह' है, इसलिये 'समिति' (Association) है; विवाह, दहेज, एक-विवाह-पद्धति आदि परिवारके हितोंको पूर्ण करनेके 'रूप' हैं, इसलिये 'संस्था' (Institutions) हैं। 'राष्ट्र' एक 'संगठित-समूह' है, इसलिये 'समिति' (Association) है; चुनाव-प्रणाली, विधान-परिषद् आदि राष्ट्रके हितोंको पूर्ण करनेके 'रूप' हैं, इसलिये 'संस्था' (Institutions) हैं। जब कोई आधार-भूत 'स्वार्थ' (Interest) होता है, तब उसे सिद्ध करनेकेलिये 'समिति' (Association) बनाई जाती है, परन्तु 'समिति' (Association) का काम बिना कानून-कायदेके, बिना नियम-उपनियमोंके, बिना किन्हीं विशेष उपायोंके नहीं होसकता। इन्हीं कानून-कायदों, नियम-उपनियमों, विशेष उपायोंको 'संस्था' (Institution) कहा जाता है। इस दृष्टिसे 'संस्था' (Institution) का काम 'समिति' (Association) के उद्देश्योंको पूर्ण करने में सहायता देना है। जब कोई 'संस्था' (Institution) अपनी 'समिति' (Association) के उद्देश्य को पूर्ण नहीं करती, तो उसे तोड़ देना पड़ता है, इसी प्रकार जब कोई 'समिति' अपने आधार-भूत 'स्वार्थ' (Interest) को पूर्ण नहीं करती, तो उसे भी तोड़ना जरूरी होजाता है। जीवित-समाजोंमें ऐसा ही होता है, मृत-समाजों की बात दूसरी है। 'समिति' (Association) छोटी भी होसकती है, बड़ी भी। प्रारंभिक-समाजमें छोटी-छोटी 'समितियां' (Associations) थीं। समाज छोटा था, इसलिये थोड़े-से 'स्वार्थ' (Interests) थे, आजकलकी तरह बहुत अधिक नहीं थे। अगर कोई नया स्वार्थ पैदा हो भी जाता था, तो उसके लिये अलग 'समिति' (Association) का निर्माण करनेके स्थानमें, पहलेकी बनी-बनाई

'समिति' (Association) ही उस 'स्वार्थ' को भी सिद्ध करने लगती थी। ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता गया, त्यों-त्यों ऐसा करना कठिन होगया। विकसित समाजमें 'स्वार्थ' (Interest) को सिद्ध करनेवाले छोटे-छोटे संगठन 'समिति' (Association) कहाते हैं, बड़े-बड़े संगठन 'महा-समिति' (Great Associations) कहाते हैं। इसप्रकारके बड़े संगठन चार हैं—राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक। इन चारोंका वर्णन हम अगले चार अध्यायों में करेंगे।

मैक आइवर (Mac Iver) तथा अन्य लेखकोंकी परिभाषामें भेद—

'संस्था' (Institution) तथा 'समिति' (Association)—ये दोनों शब्द भिन्न-भिन्न अर्थोंके द्योतक हैं, परन्तु इन शब्दोंका प्रयोग समाज-शास्त्रकी पुस्तकों में भिन्न-भिन्न लेखकोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे किया है। ऑगबर्न तथा निमकाफ़ (Ogburn and Nimkoff) एवं गिलिन-गिलिन (Gillin and Gillin) ने जिस अर्थमें 'संस्था' (Institution)-शब्दका प्रयोग किया है, मैक आइवर (Mac Iver) ने उस अर्थमें 'समिति' (Association)-शब्दका प्रयोग किया है, इसीप्रकार प्रथम लेखकोंने जिस अर्थमें 'समिति' (Association)-शब्द का प्रयोग किया है, मैक आइवरने उस अर्थमें 'संस्था' (Institution)-शब्दका प्रयोग किया है। इसीलिए जहां अन्य लेखक राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक बड़े-बड़े संगठनोंको 'महा-संस्था' (Great Institutions) कहते हैं, वहां मैक आइवर इनकेलिए 'महा-समिति' (Great Association)-शब्दका प्रयोग करता है। हमने इस ग्रंथमें मैक आइवरकी परिभाषाका ही प्रयोग किया है।

'समिति' (Association) का आधार 'एक-स्वार्थ' (Common Interest) है—

हम बार-बार लिख आये हैं कि 'समिति' (Association) का आधार 'स्वार्थ' (Interest) है। 'स्वार्थ' दो तरहका होता है—'एक-सा-स्वार्थ' (Like interest) तथा 'एक-ही-स्वार्थ' (Common interest)। जहां प्रतिस्पर्धाका थोड़ा-बहुत अंश भी रहता है, वहां 'एक-सा' स्वार्थ होता है, जहां प्रतिस्पर्धाका कोई अंश नहीं होता, वहां 'एक-ही' स्वार्थ होजाता है। राजनैतिक तथा आर्थिक-संगठनोंमें प्रतिस्पर्धाका अंश बना ही रहता है, अतः 'एक-से स्वार्थों' (Like interests) से 'राजनैतिक तथा आर्थिक महा-समितियां' (Political and Economic Great Associations) बनती हैं, 'एक-ही स्वार्थों' (Common Interests) से 'सांस्कृतिक तथा धार्मिक महा-समितियां' (Cultural and Religious Great Associations) बनती हैं। यह ध्यान देनेकी बात है कि जब एक 'समिति' (Association) बन जाती है, तब 'एक-से' (Like) तथा 'एक-ही' (Common) स्वार्थ रल-मिल

जाते हैं । उदाहरणार्थ, कालेजमें एक क्रिकेटकी टीम बनी । इसमें प्रत्येक खिलाड़ीका अपना-अपना स्वार्थ है, जो दूसरेके स्वार्थसे मिलता-जुलता है, दूसरेके स्वार्थके साथ 'एक-सा' है । हरेक खेलसे शारीरिक व्यायाम करना चाहता है, आनन्द उठाना चाहता है । परन्तु ये खिलाड़ी जब किसी दूसरी पार्टी से मैच करने लगते हैं, तब इन सबका स्वार्थ 'एक-सा' न रहकर, 'एक-ही' होजाता है, सब चाहते हैं कि उनकी पार्टी जीत जाय, इसलिये नहीं चाहते क्योंकि इससे हर व्यक्तिको अलग-अलग, वैय्यक्तिक संतोष होता है, परन्तु इसलिए चाहते हैं क्योंकि पार्टीके जीतनेसे उन सबको 'एक-ही' प्रकारका संतोष मिलता है, यहां वैय्यक्तिक-स्वार्थ सामूहिक-स्वार्थमें अपनेको लीन कर देता है । परिवारमें भी ऐसा ही होता है । परिवारके हर व्यक्तिका अपना-अपना स्वार्थ रहता है, इस बातसे कौन इन्कार कर सकता है, परन्तु परिवारकी एक ऐसी भी भावना है जिसमें परिवारका हर व्यक्ति एक-दूसरेकेसाथ 'एक-सा-पना' अनुभव करनेके स्थानमें 'एक-पना' अनुभव करता है। तभी तो मनुष्यमें, उसके मरनेके बाद सन्तान असहाय न रहे, इसलिए सम्पत्तिको छोड़ जानेकी भावना है । जो भी 'समिति' (Association) जिन्दा रहना चाहती है, वह 'एक-से-स्वार्थ' (Like interests) की जगह 'एक-ही-स्वार्थ' (Common interests) की भावनाको उत्पन्न करनेका प्रयत्न करती है । इसी उद्देश्यसे तरह-तरहके नारोंका आविष्कार होता है, जुलूस निकाले जाते हैं, उत्सव मनाये जाते हैं, झंडे लहराये जाते हैं, शिविर खोले जाते हैं । इन सबका उद्देश्य सब सदस्योंके सामने 'एक-स्वार्थ' (Common interest) की भावनाको बनाये रखना है। अगर किसी 'समिति' (Association) के व्यक्तियोंमें यह भावना उत्पन्न होजाय कि उन्हें बांधकर रखनेवाला कोई एक बन्धन, एक स्वार्थ नहीं है, तब वह 'समिति' धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है । समाजके नेता क्या करते हैं ? अगर उन्होंने किसी 'समिति' (Association) का निर्माण करना होता है, तो पहले-पहल जनतामें उस 'स्वार्थ' (Interest) के प्रति चेतना उत्पन्न करते हैं, जिसके गिर्द उस संगठनका निर्माण करना होता है। अगर जनताको उसके लिये दिलचस्पी ही नहीं, तो वह उसकेलिए आगे नहीं बढ़ सकती । यह चेतना उत्पन्न करनेके बाद जनताको यह जतलाना जरूरी होता है कि यही उनका वास्तविक स्वार्थ है, अन्य जितने भी स्वार्थ हैं, वे हेच हैं, इसके सामने कुछ नहीं । इस-प्रकार जब जनतामें 'एक-से' स्वार्थको भावना उत्पन्न होजाती है, तब 'समिति' (Association) उत्पन्न होती है, और जब 'एक-से' से 'एक' स्वार्थकी भावना उत्पन्न होजाती है, तब उस संगठनकी नींव पक्की होजाती है। जिस अंशतक 'एक-स्वार्थ' (Common interest) की भावना बनी रहती है, उस अंशतक संगठनका

आधार दृढ़ रहता है, जिस अंशमें यह भावना कम होने लगती है, उस अंशतक संगठन भी शिथिल होने लगता है।

'समिति' (Association) के वर्गीकरणमें कठिनाइयां—

'समिति' (Association) का आधार 'स्वार्थ' (Interest) है, और स्वार्थके आधारपर 'समिति' (Association) का वर्गीकरण होसकता है। स्वार्थके आधार-पर ही बड़े-बड़े स्वार्थोंको सिद्ध करनेवाली समितियोंको हम 'महा-समिति' (Great Associations) कहते हैं। इसीके आधारपर हम राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक संगठनोंकी आगे चर्चा करेंगे, परन्तु 'स्वार्थ' के आधारपर वर्गीकरण करतेहुए कुछ कठिनाइयां उठ खड़ी होती हैं जिनपर ध्यान देना आवश्यक है :—

(१) 'समिति' (Association) के दो तरहके 'स्वार्थ' (Interests) होसकते हैं—'प्रत्यक्ष' (Immediate) तथा 'परोक्ष' (Remote)। 'समिति' का निर्माण 'प्रत्यक्ष-स्वार्थ' के आधारपर होता है, 'परोक्ष-स्वार्थ' के आधारपर नहीं। उदाहरणार्थ, एक आटे-दालकी दुकान है। उसका 'प्रत्यक्ष-स्वार्थ' मुनाफ़ा कमाना है, परन्तु दुकानदार कहने लगता है कि जनताकी सेवाके लिये दुकान खोली गई है। अगर उसे मुनाफ़ा न हो, और फिर भी वह जनता की सेवा करता रहे, तब तो ठीक, परन्तु अगर उस हालत में वह दुकान बन्द कर दे, तो जनताकी सेवा कहां गई? जब हम किसी 'समिति' (Association) का वर्गीकरण करने लगें—यह राजनैतिक है, आर्थिक है, सांस्कृतिक है, धार्मिक है, या क्या है—तब यह देखना आवश्यक है कि उसका 'प्रत्यक्ष-स्वार्थ' (Immediate interest) क्या है। 'परोक्ष-स्वार्थ' (Remote interest) उस संगठनकेलिए प्रेरक-हेतु (Motivation) होसकता है, असली 'स्वार्थ' (Interest) नहीं। हमें 'स्वार्थ' (Interest) तथा 'प्रेरक-हेतु' (Motivation) में फ़रक करना होगा। 'प्रत्यक्ष-स्वार्थ' (Immediate interest) ही वास्तविक स्वार्थ है, 'परोक्ष-स्वार्थ' (Remote interest) तो 'प्रेरक-हेतु' (Motivation) है, वास्तविक स्वार्थ नहीं।

(२) कभी-कभी जिन स्वार्थोंको लेकर 'समिति' का निर्माण होता है, वे समय बीत जानेपर आंखोंसे ओझल होजाते हैं। परिवर्तित समाजकी आवश्यकताओंके अनुसार 'समिति' भी बदल जाती है, पुराना काम करनेके स्थानमें नये काम शुरू कर देती है, परन्तु नाम पुराना ही बना रहता है। उस अवस्थामें यह कठिनाई आपड़ती है कि उसे किस वर्गीकरणमें रखा जाय? उदाहरणार्थ, वाई० एम० सी० ए० किस कामकेलिए बनी थी, और अब क्या काम कर रही है? आज यह सबतरहके काम करती है। पढ़ाने-लिखानेका, खेलने-कूदनेका, होटलका,

नाचने-गानेका, धर्म-प्रचारका। इसे किसप्रकारकी 'समिति' समझा जाय—सामाजिक, धार्मिक या आर्थिक—यह एक विकट समस्या है। कभी-कभी किसी विशेष 'स्वार्थ' के लिए कोई 'समिति' बनती है। वह 'स्वार्थ' पूर्ण हो जाता है, स्वाभाविकतौरपर वह 'समिति' समाप्त होजानी चाहिये, परन्तु अबतक कई व्यक्तियोंके निजी स्वार्थ उसकेसाथ जुड़ चुके होते हैं, अतः वे उसे समाप्त नहीं होने देते, उस 'समिति' के नये-नये काम निकाल लेते हैं। स्त्रियों को मताधिकार दिलानेकेलिए जिन 'समितियों' का निर्माण हुआ, वे अब मताधिकार मिल जानेपर भी बनीहुई हैं। उनके पुराने 'स्वार्थ' समाप्त होचुके हैं, नये 'स्वार्थ' बन गये हैं। जिसप्रकार व्यक्ति मरना नहीं चाहता, उसीप्रकार 'समिति' भी मरना नहीं चाहती, परन्तु ऐसी अवस्थामें उसके नये 'स्वार्थ' को देखकर ही निर्णय करना होगा कि वह किस प्रकारकी 'समिति' है—आर्थिक है, राजनैतिक है, धार्मिक है या सांस्कृतिक है!

प्रश्न

१. 'संस्था' (Institution), 'समिति' (Association) तथा 'महा-समिति' (Great Association)में क्या भेद है, और इनका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है?

२. मैक आइवर (Mac Iver) तथा अन्य समाज-शास्त्रियोंने 'संस्था' (Institution) तथा 'समिति' (Association) शब्दोंका किन अर्थोंमें प्रयोग किया है? क्या इन दोनोंके प्रयोगमें कुछ भेद है?

३. 'समिति' (Association) का आधार 'एक-स्वार्थ' (Common interest) है—इसे समझाइये।

४. 'समिति' के वर्गीकरणमें क्या कठिनाइयां आती हैं?

[१९]

'महा-समितियां'—राजनैतिक-संगठन

(THE GREAT ASSOCIATIONS—POLITICAL ASSOCIATIONS)

हम पहले यह दर्शा आये हैं कि 'समूह' के दो रूप हैं। एक वह जिसमें व्यक्तिका समूहकेसाथ 'आमने-सामने' का संबंध होता है, इसे 'प्रथम-समूह' (Primary group) कहते हैं; दूसरा वह जिसमें व्यक्तिका समूहकेसाथ 'अप्रत्यक्ष-संबंध' होता है, इसे 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) कहते हैं। अब हम जिन संगठनोंका अध्ययन करनेवाले हैं, वे 'द्वितीय-समूह' (Secondary groups) में आते हैं, जिनमेंसे पहला राजनैतिक-संगठन है। राजनैतिक-संगठनका मुख्यरूप 'राष्ट्र' (State) है, अतः इस अध्यायमें हम राष्ट्रकी उत्पत्ति, उसके विकास, उसके वर्तमान रूप तथा राष्ट्र-सम्बन्धी अन्य समस्याओंपर विचार करेंगे।

राष्ट्रका स्वरूप—

देशमें व्यवस्था रखनेके अनेक संगठन हैं, छोटे संगठन, उनसे बड़े संगठन, और सबसे बड़े संगठन। देशमें शान्ति तथा व्यवस्था रखनेवाले छोटे संगठन 'समितियां' (Association) कहाती हैं, इन संगठनोंका संगठन, राजनैतिक-दृष्टिसे, सबसे महान् संगठन, 'राष्ट्र' है जिसे 'महा-समिति' (Great Association) कह सकते हैं। राष्ट्रके मुख्य तौरपर दो काम हैं:—

(१) किसी देशमें जो लोग रहते हों, उनकी अन्दरके तथा बाहरके शत्रुओंसे रक्षा करना। उदाहरणार्थ, अन्दरके चोर-डाकुओंसे, नियम-भंग करनेवालोंसे नागरिकोंको बचाना राष्ट्रका काम है। कोई दूसरा देश हमला कर दे, उससे रक्षा करना भी राष्ट्रका काम है।

(२) जिन 'एक-स्वार्थों' (Common interests) को राष्ट्रके व्यक्ति अलग-अलग, व्यक्ति-रूपसे, पूरा नहीं करसकते उन्हें पूरा करना। हम पहले देख चुके हैं कि प्रत्येक 'समिति' (Association) का काम 'एक-से' या

'एक-ही' स्वार्थोंकी सिद्धि करना होता है। राष्ट्रका काम भी व्यक्तियों तथा समूहोंके इस प्रकारके स्वार्थोंको सिद्ध करना है। उदाहरणार्थ, राष्ट्रके हर व्यक्ति का 'एक-स्वार्थ' (Common interest) है कि देश समृद्ध हो, फूले-फले, देशका नाम हो। व्यक्तियोंकी इन सब भावनाओंको राष्ट्र पूरा करता है।

राष्ट्र ही इन कामोंको करसकता है, दूसरी कोई 'समिति' (Association) नहीं करसकती—इसके दो कारण हैं:—

(१) पहला कारण तो यह है कि व्यक्ति अन्य संगठनोंका सदस्य हो या न हो, यह उसकी इच्छापर निर्भर है। शादी करे, या न करे, करेगा तो परिवार बनायेगा, नहीं करेगा तो नहीं बनायेगा, परन्तु यह नहीं होसकता कि वह किसी राष्ट्रका अंग हो या न हो, राष्ट्र का अंग तो हरेकको होना ही पड़ेगा। जो 'समिति' (Association) हमें लाभ नहीं पहुंचाती उसकी सदस्यताको हम छोड़ सकते हैं, और अगर वह किसीको लाभ नहीं पहुंचाती तो उसे ख़त्म भी करसकते हैं, परन्तु राष्ट्र तो राष्ट्र है, इसका सदस्य तो रहना ही पड़ता है। अगर राष्ट्र हमें कोई लाभ नहीं पहुंचाता, हमारी रक्षा भी नहीं करता, और हम राष्ट्रको छोड़ भी नहीं सकते, तो राष्ट्रका राष्ट्रपन ही क्या रहा? जब व्यक्तिकेलिए राष्ट्रका अंग होना आवश्यक है, तो राष्ट्रकेलिए व्यक्तिकी रक्षा करना भी आवश्यक है।

(२) दूसरा कारण यह है कि जहां अन्य संगठन बल-प्रयोग नहीं करसकते, वहां राष्ट्र बल-प्रयोग करसकता है। डाकू हमला करें, हम बल प्रयोग न करसकें क्योंकि कानून इसमें बाधक है, और राष्ट्र बल-प्रयोगसे हमारी रक्षा न करे, तब भी राष्ट्रका राष्ट्रपन क्या रहा? जब व्यक्तिको बल-प्रयोगका अधिकार नहीं है, सिर्फ़ राष्ट्र बल-प्रयोग करसकता है, तो राष्ट्रकेलिए अन्दर तथा बाहरके शत्रुओंसे व्यक्तिकी रक्षा करना आवश्यक होजाता है।

व्यक्तिपर राष्ट्रका अधिकार तथा राष्ट्रको बल-प्रयोगका अधिकार कैसे प्राप्त हुआ, इसके पीछे क्या इतिहास छिपा है, इसे जाननेकेलिए राष्ट्रकी उत्पत्ति तथा विकासको जानना आवश्यक है।

१. राष्ट्रकी उत्पत्ति तथा विकास

राष्ट्रकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें भिन्न-भिन्न कल्पनाएं की जाती हैं। ये कल्पनाएं दो भागोंमें बांटी जासकती हैं। कुछ लोग तो राष्ट्रकी उत्पत्तिका 'मनोवैज्ञानिक' (Psychological) कारण बतलाते हैं, कुछ लोग भिन्न-भिन्न छोटे-छोटे प्रारंभिक-संगठनों (Social Associations) से इस बड़े

संगठनकी उत्पत्ति बतलाते हैं। मौरले (Morley) का कथन है कि मनुष्यमें सामाजिकता उसका सहज, नैसर्गिक गुण है। मनुष्य हर काममें आसान रास्ता ढूंढा करता है। सामाजिकता ही उसे आदि-कालमें अपनी कठिनाइयोंको हल करने का सबसे आसान रास्ता सूझा, इसीसे धीरे-धीरे राष्ट्रकी उत्पत्ति होगई। यह राष्ट्रका मनोवैज्ञानिक आधार है। जो लोग राष्ट्रकी उत्पत्तिका आधार किसी 'प्रारंभिक-संगठन' (Social association) को कहते हैं, उनमेंसे कोई कहता है कि 'परिवार' से बढ़ते-बढ़ते राष्ट्रकी उत्पत्ति हुई, यह विचार विल्सन (Wilson) का है, कोई कहता है कि 'सम्पत्ति' की रक्षाके विचारसे राष्ट्रकी उत्पत्ति हुई, यह विचार कामन्स (Commons) का है, कोई कहता है कि 'युद्ध' से राष्ट्रकी उत्पत्ति हुई, यह विचार गुम्पलोविज (Gumplowicz) का है। इनमेंसे कोई विचार, इकला, राष्ट्रको उत्पन्न करनेकेलिए पर्याप्त नहीं है। 'राष्ट्र' को उत्पन्न करनेमें इन सबने हाथ बंटाया है। कितना हाथ बंटाया है, और किस मौकेपर बंटाया है—यह राष्ट्रके क्रमिक-विकासको देखनेसे स्पष्ट होजाता है।

प्रारंभिक-समाजमें राष्ट्र नहीं था—

राष्ट्रका काम शासनमें व्यवस्था स्थापित करना है, परन्तु प्रारंभिक-समाजमें अव्यवस्थाके इतने अधिक कारण नहीं थे जितने आज उत्पन्न होगये हैं, इसलिए उनमें शासन-व्यवस्था भी नहीं थी। प्रारंभिक-समाज फल-मूल खानेवालोंका, या शिकारियोंका समाज था। एक समूहमें १५-२० व्यक्ति होते थे। बहुत हुआ १५०–२०० हो गये। हरेक हर-दूसरेको जानता था। सामाजिक भयसे लोग बुराईसे बचे रहते थे। जो जन्मसे अपंग होते थे, वे स्वयं मर-खप जाते थे, उनकी रक्षाका भार आजके समाजकीतरह किसीको उठानेकी आवश्यकता नहीं थी। उस समयका समाज सैकड़ों नहीं, हज़ारों सालोंतक एक-सा रहता था, भिन्न-भिन्न विचारोंकी संभावना ही नहीं थी, जब हज़ारों सालोंसे लोग एकहीतरहसे सोच रहे हों, तब उनमें आपसमें बहुत कम भेद उत्पन्न होता था। उनका समाज 'एक-तत्वीय समाज' (Homogeneous Society) था, 'बहु-तत्वीय' (Heterogeneous) नहीं था। जब उनके भिन्न-भिन्न स्वार्थ बहुत थोड़े थे, तो उनका समन्वय करनेवाली किसी शासन-व्यवस्था की भी ज़रूरत नहीं थी। इसके अतिरिक्त आज तो ज्यादातर अव्यवस्था सम्पत्तिके कारण है। कोई लूटता है, कोई चोरी करता है, परन्तु उससमय तो सम्पत्तिका विचार ही नहीं था, फिर शासनकी क्या आवश्यकता रहती ?

लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि उस समाजमें अखंड शान्तिका राज्य

था, किसी नियमकी जरूरत ही नहीं थी। जहां कई लोग होंगे, लड़ाई-झगड़े-उत्पात-अव्यवस्था सभी-कुछ होगी, परन्तु उस समय समाजका नियमन राष्ट्र नहीं करता था, राष्ट्रके स्थानमें अन्य संगठनोंद्वारा यह काम होता था। इन संगठनोंमें सबसे बड़ा स्थान 'परिवार' का था। आज भी परिवारद्वारा आचार-विचारका नियंत्रण होता है, उससमय भी होता था। जहां 'मातृ-सत्ताक' (Matriarchal) परिवार था, वहां माताके संबंधी, जहां 'पितृ-सत्ताक' (Patriarchal) परिवार था, वहां पिताके संबंधी अपने छोटे-से दायरेमें व्यवस्था रखते थे। अगर कोई परिवारके किसी व्यक्तिको हानि पहुंचाता था, तो सारे परिवारके लोग उसका बदला लेते थे। इसे 'पारिवारिक-द्वन्द्व' (Feuds) कहते थे। परिवारका संबंध रुधिरका संबंध था, और एक रुधिरके लोगोंमें माताके घरानेका या पिताके घरानेका कोई वृद्ध व्यवस्था करता था। परिवारका यह सूत्र बढ़ता जाता था। कई लोग जो दूर-दूर बिखरे होते थे, और अपनेको किसी एक ही पूर्वजकी सन्तान मानते थे, वे सब इस संगठनके अंग माने जाते थे। इन्हें एक 'गोत्र' (Clan) का कहा जाता था, और इन सबका शासन, इनकी व्यवस्था, इनके लड़ाई-झगड़ोंका निपटारा परिवारका मुखिया करता था। जिस परिवारमें अपने पूर्वजोंका सारा इतिहास मौजूद होता था, सारी परंपरा वर्तमान थी, वही परिवार, 'गोत्र' (Clan) का मुखिया समझा जाता था। इस सारी प्रक्रियामें राष्ट्रके आधार-भूत-तत्व विकास पारहे थे, राष्ट्र विकसित नहीं हुआ था, परन्तु धीरे-धीरे राष्ट्रके भावका विकास होरहा था।

प्रारंभिक-समाज में राष्ट्रके विकासोन्मुखी तत्व—

समाजकी प्रारंभिक-अवस्था शिकारी समाजकी अवस्था थी। शिकार करतेहुए केवल 'परिवार' के, या अपने 'गोत्र' के ही लोग नहीं होते थे, बाहरके लोग भी होते थे। इन सबका नियंत्रण, इनकी व्यवस्था कियेबग़ैर शिकारमें सफलता नहीं होसकती थी। शिकारके इन गिरोहोंका संगठन करतेहुए व्यवस्थाका वह सूत्र जो पहले सिर्फ़ परिवारमें काम करता था, परिवारसे बाहर, उन लोगोंमें भी काम करने लगा जिनकेसाथ परिवारका रुधिरका कोई संबंध नहीं था। परिवारमें ही नहीं, परिवार के बाहर भी शासन करना—यही तो शासन कहाता है। इसप्रकार राष्ट्रका आधार-भूत एक तत्व प्रकट होगया। राष्ट्रका एक दूसरा तत्व है, किसी 'भू-खंड' पर राज्य करना। जबतक मनुष्य शिकारी हालत में था तबतक तो उसकेलिये भूमि का कोई मूल्य ही नहीं था, इसलिये तबतक इस दूसरे तत्वका विकास नहीं होपाया था। परंतु, जब मनुष्यने शिकारी अवस्थासे निकलकर कृषि करना शुरू किया, भूमि का मूल्य समझा, तब यह जरूरत पड़ी कि कोई किसीकी भूमिको हड़पने न लगे।

विकासकी इस अवस्थामें राष्ट्रके भू-स्वामित्वका विचार उत्पन्न हुआ, और जैसे आज राष्ट्र व्यक्ति के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारोंकी रक्षा करता है, वैसे उससमय प्रारंभिक-समाजमें मुखिया का काम भूमिकी व्यवस्था करना भी होगया।

राष्ट्रके विकासमें युद्धका बड़ा भारी हाथ था। जब भूमिको सम्पत्ति समझा जाने लगा, तब उसे प्राप्त करनेकेलिये युद्ध भी होने लगे। युद्धमें दूसरे लोगों को पकड़कर दास बनाया जासकता था, उनसे मुफ़्तमें काम लिया जासकता था, इसलिये भी युद्ध लाभप्रद जान पड़ते थे। जब किसी समूहका दूसरे समूहसे युद्ध होता था, तब तो संगठन और भी दृढ़ होजाता था। युद्धमें सबको बांध देनेकी, एक बना देनेकी अपूर्व शक्ति है। आज भी हम देखते हैं, देशमें कितने ही उपद्रव क्यों न होरहे हों, किसी शत्रुसे युद्धके छिड़ते ही सब लोग एक होजाते हैं। कई राजा लोग तो देशमें असन्तोष उत्पन्न होजानेपर किसी भी देश से युद्ध छेड़ देते थे जिससे भीतर के सब लोग अपनी कहानी भूलकर दूसरीहीतरफ़ खिच जाते थे। इसप्रकार प्राचीन समाजमें युद्ध भी राष्ट्रके विचारको विकसित करनेमें सहायक सिद्ध हुआ। इस समयतक राष्ट्र के विचारकी उत्पत्ति नहीं हुई थी, राजा नहीं बना था। जबतक समाजमें दास-प्रथा नहीं चली, तबतक जंगली मनुष्य समाज-वादी था, उसमें ऊंच-नीचका भेद नहीं था, सब एक थे, धनी-निर्धनका भी भेद नहीं था क्योंकि भूमिको सम्पत्ति नहीं माना जाता था। भूमिके सम्पत्ति मानेजानेकेबाद युद्ध आरंभहुए, दास पकड़े जाने लगे, और प्रारंभिक समाज-वादके स्थानमें, जिसमें सब एक-समान थे, भू-स्वामी तथा भूमि-हीन, अथवा भू-स्वामी तथा दास—ये दो वर्ग उत्पन्न होगये।

धीरे-धीरे 'राजा' का विचार उत्पन्न होगया—

भूमिके सम्पत्ति माने जानेके बाद समाजकी जो व्यवस्था बन चुकी थी उसमें बड़े-बड़े भूमि-स्वामी उत्पन्न होचुके थे जिनके पास दासोंकी भारी संख्या थी। ये भू-स्वामी दासोंपर शासन करते थे। इसके अतिरिक्त भूमिके सम्पत्ति माने जानेके कारण एक भू-स्वामी अपने दासोंकी सहायतासे दूसरे भू-स्वामीपर आक्रमण कर देता था, और इसप्रकारके युद्धकेलिये कुछ ऐसे योद्धा भी रखता था जो लड़ाई में काम आते थे। जब भू-स्वामी बहुत जमीन जीत लेता था, तो जरूरतके लायक अपने पास रखकर बाकी अपने आधीन लड़नेवाले योद्धाओंमें बांट देता था। ये योद्धा सरदार कहलाते थे। धीरे-धीरे सरदारोंकेपास भी बहुत भूमि जमा हो-जाती थी। विकासकी इस प्रक्रियामें राजाका विचार उत्पन्न हुआ। जो भू-स्वामी था वह 'राजा' कहलाया, और जो सरदार थे वे 'सामन्त' कहलाये। ये सामन्त स्वतन्त्र रूपसे भूमिके मालिक थे, आवश्यकता पड़ने पर राजा इन्हें लड़ाईके समय

बुला लेता था। राजाका स्थान मुख्य था, उसके नीचे 'सामन्त-पद्धति' (Feudal system) से शासन-व्यवस्था चलती थी।

विकासकी दिशा विकेन्द्रीकरणकीतरफ़—

'सामन्त-पद्धति' (Feudal system) में 'राजा' था, और 'सामन्त' थे। इनके साथ एक भूमि-हीन वर्ग भी था। इससमय राज-शक्ति, धर्म-शक्ति तथा अर्थ-शक्ति—ये तीनों एक ही व्यक्तिमें केन्द्रित थीं। धीरेधी-रे 'केन्द्रीकरण' (Centralization) से 'विकेन्द्रीकरण' (Decentralization) की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। ये तीनों शक्तियां एक-दूसरेसे अलग होने लगीं। पहले-पहल राज-शक्ति तथा धर्म-शक्तिका गठ-बन्धन टूटा। समय था जब यह समझा जाता था कि 'धर्म' (Church) तथा 'राष्ट्र' (State) एक ही वस्तु हैं, जो राजा का धर्म है वही राजाका धर्म है, धर्मकी इतनी प्रधानता थी कि धर्मकेलिये फौजें चल पड़ती थीं, दूसरे देशोंमें अपने धर्मका प्रचार किया जाता था, अपने धर्मको न माननेवालोंको मार डालना स्वर्गका साधन समझा जाता था, राज्योंकी लड़ाई धर्मकी लड़ाई थी। योरुप में क्रूसेड शुरू हुए, इनका उद्देश्य पैलस्टाइनको मुसलमानोंसे इसलिये छीनना था क्योंकि क्राइस्ट वहां उत्पन्न हुआ था। योरुपके मध्ययुग में १४८३ में लूथरका जन्म हुआ। उसका कहना था कि व्यक्ति स्वतन्त्र रूपसे भी धर्मपर विचार कर सकता है। उसके विचार ने योरुप में आग लगा दी। सारा योरुप दो भागों में बंट गया। पोपके अनुयायी रोमन-कैथोलिक कहाते थे, लूथरके अनुयायी प्रोटेस्टेंट कहाते थे। रोमन-कैथोलिक राजाओंने प्रोटेस्टेंट लोगोंको पकड़-पकड़कर सूलीपर चढ़ाना शुरू किया, धार्मिक-न्यायालय स्थापित किये जिनका नाम 'इन्क्वीजीशन' था। जिनपर ज़रा भी सन्देह हुआ कि वे रोमन-कैथोलिक नहीं हैं, उन्हें इन न्याया-लयोंके सामने पेश किया जाता था, और अगर यह साबित होजाता कि वे इस धर्मको नहीं मानते, तो उन्हें जीते-जी जला दिया जाता था। जिसप्रकार कुछ राजा पोपका साथ दे रहे थे, वैसे ही लूथरका भी कुछ राजा साथ दे रहे थे। होते-होते तथा-कथित धर्मकी पीठ टूट गई, और इस घनघोर रक्त-पातमेंसे धर्मके विषयमें स्वतंत्र सम्मति रख सकनेके विचारका जन्म हुआ। इतिहासमें यह युग 'सुधार-युग' (Reformation) कहाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि राज-शक्ति तथा धर्म-शक्तिका भाव अलग-अलग होगया। पूरीतरहसे तो दोनों शक्तियां अलग नहीं हुई, परन्तु यह समझा जाने लगा कि राज्यका काम धर्मकी खातिर दूसरोंपर हमला करना नहीं है, धर्मके कारण अत्याचार करना नहीं है, व्यक्ति अपना स्वतंत्र धर्म रखता हुआ भी अपने राष्ट्रका अंग होसकता है, राज्यका काम धर्ममें हस्त-क्षेप करना नहीं।

इसी मध्य-युगमें धर्मके क्षेत्रके 'सुधार-युग' (Refomation) ने दूसरे क्षेत्रोंमें 'पुनः जागृति' (Renaissance) के युगका रास्ता साफ़ कर दिया। विज्ञानके क्षेत्रमें नये-नये विचार उत्पन्न होने लगे। पहले तो इन विचारोंको कोई कह ही नहीं सकता था। बुद्धि-स्वातंत्र्यके परिणाम-स्वरूप नये-नये परीक्षण होने लगे। यह प्रक्रिया बढ़ती-बढ़ती १८ वीं तथा १९ वीं शताब्दीमें 'औद्योगिक-क्रान्ति' (Industrial revolution) का रूप धारण कर गई। 'औद्योगिक-क्रांति' का परिणाम यह हुआ कि जहां पहले 'सुधार-युग' से धर्म-शक्ति तथा राज-शक्ति अलग-अलग हुई थीं, वहां अब अर्थ-शक्ति और राज-शक्ति भी एक-दूसरे से अलग हो गईं, और राज्यका काम सिर्फ़ राजनैतिक रह गया। यह प्रक्रिया किस प्रकार हुई इसे समझने की ज़रूरत है।

हम अभी देख चुके हैं कि मध्य-युगमें 'सामन्त-पद्धति' (Feudal System) का बोलबाला था। 'सामन्त-पद्धति' में जमीन ही सबसे बड़ी दौलत थी। औद्योगिक-क्रांतिसे कल-कारखाने खुलने लगे, इनका माल बिकने लगा, व्यापार बढ़ने लगा। अबतक भूमिको ही दौलत माना जाता था, अब वाणिज्य-व्यापारके बड़े पैमानेपर बढ़ जानेके कारण सम्पत्तिका मुख्य रूप 'भूमि' न रहकर, 'रुपया' होगया। 'अर्थ' की यह नई व्याख्या थी। अबतक तो 'अर्थ' का मतलब भूमिसे ही होता था, परन्तु औद्योगिक-क्रांतिके परिणाम-स्वरूप जिनके पास भूमि नहीं थी, वे भी व्यापार करने लगे, उनकी जेबमें भी रुपया खनखनाने लगा। औद्योगिक-क्रांतिसे एक नवीन वर्ग उत्पन्न होगया, यह 'पूंजीपति' वर्ग था। यह वर्ग 'भूमि' का मालिक होनेके कारण समृद्ध नहीं हुआ था, अपितु 'अर्थ' का मालिक होनेकेकारण समृद्ध हुआ था। अबतक राजा या सामन्त ही समृद्ध समझे जाते थे, परन्तु अब दूसरे लोग भी समृद्ध समझे जाने लगे, और इसप्रकार राज-शक्ति तथा अर्थ-शक्ति जो एक-दूसरे में केन्द्री-भूत थे, एक-दूसरे-से अलग होगये, उनका विकेन्द्रीकरण होगया।

पहले 'सुधार-युग' (Reformation) से 'राज-शक्ति' तथा 'धर्म-शक्ति' का विकेन्द्रीकरण हुआ, फिर 'पुनःजागरण' (Renaissance) तथा 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) से 'राज-शक्ति' तथा 'अर्थ-शक्ति' का विकेन्द्रीकरण हुआ। अब राजाकेपास सिर्फ एक शक्ति रह गई। वह अपने को अब भी प्रजाका मालिक समझता था, उसीको सब अधिकार थे, वह जन्म-जन्मसे राजा चला आता था, उसकी सन्तान उसकेबाद राज्य करती थी, वह समझता था कि यह अधिकार उसका 'दैवीय-अधिकार' (Divine right) है। परन्तु विकास जिस विकेन्द्रीकरणकीतरफ़ बढ़ रहा था उसमें यह शक्ति भी राजामें केन्द्रित न रही, राजाको सब अधिकार प्रजाको देने पड़े, कहीं-कहीं तो राज-सत्ताका

ही सफ़ाया होगया, राजाके स्थानमें प्रजाका राज्य स्थापित होगया। यह प्रक्रिया कैसे हुई ?

जबतक औद्योगिक-युग के कारण 'अर्थ' की उत्पत्ति नहीं हुई थी, भूमि तथा भूमिसे उत्पन्न पदार्थ ही सम्पत्तिके रूप थे, तबतक 'पदार्थ-विनिमय' (Barter system) से ही अधिकतर काम चलता था, जब 'अर्थ' की उत्पत्ति होगई, तो राजाको भी 'अर्थ' की आवश्यकता हुई। पहले वह भूमिकी उपज लेलेता था, परन्तु अब वह कर के रूपमें 'अर्थ'—'धन'—मांगने लगा। इससमय 'धन' वाला जो नवीन वर्ग उत्पन्न होगया था उसने बिना विशेष अधिकारोंके दियेजानेके राजाको धन देनेसे इन्कार कर दिया। इंग्लैंडमें ज्यों-ज्यों राजाको धनकी जरूरत पड़ती थी, त्यों-त्यों धनवान् लोग राजासे नये-नये अधिकार तलब करते जाते थे। वहां जनताके अधिकारोंका रूप 'पार्लियामेंट' ने लेलिया। विकेन्द्रीकरणकी इन प्रक्रियासे राजाके अधिकारोंके स्थानमें जनताके अधिकारोंका युग आगया। इसीको 'प्रजा-सत्तात्मक शासन' (Democracy) कहते हैं।

२. राष्ट्रके वर्तमान स्वरूप

१. प्रजा-सत्तात्मक-राज्य (Democracy)

१८ वीं शताब्दीके अन्तमें फ़ांसमें राज्य-क्रांति हुई। राजा तथा प्रजामें घनघोर संग्राम छिड़ा जिसका परिणाम यह हुआ कि राजाके स्थानमें प्रजाका राज्य होगया। फ़ांसकी राज्य-क्रांतिका योरुप के अन्य देशोंपर भी प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे कहीं-कहीं राजा समाप्त होने लगे, सारा अधिकार प्रजाके हाथमें आगया, जहां-जहां राजा बने रहे, वहां वे नाम-मात्रके बने रहे। यह प्रक्रिया दिनोंदिन बढ़ती जारही है। बचे-खुचे राजा समाप्त होते जा रहे हैं। भारतवर्षमें जिस आसानी से राजा समाप्त हुए शायद इस आसानीसे कहीं नहीं हुए। अब संसारके अधिक भागपर जनताद्वारा जनताका राज्य है। मताधिकार द्वारा शासन बदला जाता है। मताधिकार का भी प्रयोग थोड़े-थोड़े सालोंके बाद होता रहता है जिससे अगर जनताको शासनमें परिवर्तनकी आवश्यकता जान पड़े तो परिवर्तन होता रहे। परन्तु अभी हमारी या अन्य देशोंकी जनता इतनी विकसित नहीं हुई जिससे जो अधिकार उसे मिला है उसका वह पूरा-पूरा उपयोग कर सके। कई दृष्टियोंसे प्रजा-सत्तात्मक-राज्य कहनेको प्रजाका राज्य है, असलमें अब भी शक्ति कुछ-एक लोगोंके ही हाथमें है। इसके कई कारण हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं:—

(१) प्रजासत्तात्मक-राज्योंमें कई दल होते हैं। इन दलोंमेंसे प्रत्येक दलका नियन्त्रण कुछ इने-गिने व्यक्तियोंके गुटके हाथमें रहता है। जिन लोगोंका

गुट जबर्दस्त होगया उन्होंने पार्टीकी सारी मशीनको कब्जेमें करलिया। प्राय: भले लोग गुट नहीं बनाते। अधिकार-लिप्सु, या स्वार्थीलोग गुट अधिक बनाते हैं। प्रजासत्तात्मक प्रणालीमें ऐसे-ही व्यक्तियोंकी संख्या अधिक रहती है। जहां मत प्रदान करने वाले स्वयं योग्य होते हैं वहां ऐसा कम होने पाता है।

(२) जनताको मतका अधिकार तो मिल गया है, परन्तु वह उसका इस्तेमाल कम करती है। मतदाताओंकी उदासीनताके कारण भी गुटबाजोंकी प्रजासत्तात्मक राज्योंमें अधिक चल जाती है। जिन लोगोंको मतका अधिकार है उनमेंसे बहुत थोड़ी संख्या मतदानके अधिकारका प्रयोग करती है। ग़रीब लोग इस अधिकार का प्रयोग इसलिये नहीं करते क्योंकि उनकेपास इतना समय नहीं कि मजदूरी छोड़कर वे वोट डालने जांय। इसमें उनका आधा दिन तो बर्बाद हो ही जाता है। कई लोग यह समझते हैं कि कोई चुना जाय, उनसे क्या मतलब? सब स्वार्थी हैं, अपना-अपना उल्लू सीधा करनेके लिये खड़े हुए हैं, उनका भला करनेवाला तो कोई भी नहीं! स्त्रियोंको मताधिकार मिल गया है, परन्तु वे सबसे कम वोट डालने जाती हैं क्योंकि वे समझती हैं कि यह झगड़ेबाजी का काम उनका नहीं है। कुछ लोग, जो पैसा दे, उसीको वोट देआते हैं। ऐसी अवस्थामें पैसेवाला वोटोंको खरीद लेता है।

२. सर्वेसर्वा-राज्य (Totalitarian States)

प्रजासत्तात्मक-राज्योंमें तो 'दल-प्रणाली' (Party system) है, भिन्न-भिन्न राजनैतिक-दल अपनी-अपनी विचार-धारा को लेकर प्रजाकेपास जाते हैं, हर दलको अपना विचार रखनेकी स्वतंत्रता है, मतदाताका विचार जिस दलसे मिलता है उसे वोट देता है, और अन्तमें जो लोग चुने जाते हैं, यह समझा जाता है कि वे जनता के विचारोंका प्रतिनिधित्व करते हैं। इसके बाद भी राज्य व्यक्तिकी स्वतंत्रताका अपहरण नहीं करता, एक समाजवादी है, दूसरा कम्यूनिस्ट है, तीसरा कुछ और है, व्यक्तिको अपना विचार रखनेका पूरा हक है। इस प्रणालीके विपरीत जर्मनीमें एक नई व्यवस्थाका प्रारंभ हुआ जिसका जन्मदाता हिटलर था। उसकी व्यवस्थाका आधारभूत-तत्व यह था कि राज्यको पूरा अधिकार है, किस पार्टीको रहने दे, किसे न रहने दे, बच्चोंको क्या पढ़ाये, क्या न पढ़ाये, लोग किसप्रकारके विचार रखें, किसप्रकारके न रखें। प्रजासत्तात्मक-राज्योंकी खिचड़ीसे राज्य कमज़ोर होजाता है, राज्यके मजबूत होनेके लिये हर-व्यक्ति को एक-सी मशीनमें ढालना ज़रूरी है, व्यक्तिकी स्वतंत्रताका कोई मतलब नहीं है, व्यक्तिपर राज्यका पूर्ण अधिकार है। यह विचार 'सर्वेसर्वा-प्रणाली' (Totalitarian system) कही जासकती है। इटलीमें मुसोलिनीने भी इसी विचार-धाराको अपनाया।

हिटलरकी सर्वसर्वा-प्रणालीका नाम नाजीइज्म (Nazi-ism) तथा मुसोलिनीकी इसी प्रणालीका नाम फ़ैसिज्म (Fascism) था। इससमय ये दो प्रणालियां तो समाप्त होचुकी हैं, परन्तु रूसमें एक सर्वसर्वा-प्रणाली चल रही है जिसका नाम सोवियटिज्म (Sovietism) है।

सर्वसर्वा-प्रणाली में व्यक्तिको वह स्वतंत्रता नहीं, जो प्रजासत्तात्मक-प्रणालीमें है, यह इसका सबसे बड़ा दोष है। आखिर, मूल प्रश्न यह है कि व्यक्तिके विकासके लिये राष्ट्र है, या राष्ट्रके विकासके लिये व्यक्ति है? व्यक्तिने ही तो राष्ट्रका विकास किया है, राष्ट्रने तो व्यक्तिके विकासमें सिर्फ़ सहायता दी है। फिर ऐसी प्रणाली जो व्यक्तिकी स्वतंत्रताको ही छीन ले, मनुष्यको कबतक सन्तोष देसकती है। इसमें सन्देह नहीं कि व्यक्तिकी अनेक समस्याओंको प्रजासत्तात्मक राज्योंकी अपेक्षा सर्वसर्वा-राज्य अधिक सन्तोष-पूर्वक हल कर लेते हैं, परन्तु मनुष्यकी सबसे बड़ी समस्या, उसकी आधार-भूत समस्या स्वतंत्रताकी समस्या है। अगर रोटीकी समस्या हल होगई, और व्यक्तिकी स्वतंत्रताकी एक नई समस्या उठ खड़ी हुई, तो हल क्या हुआ? इसके अतिरिक्त सर्वसर्वा-प्रणाली युद्धके समयकी प्रणाली है, शान्तिके समयकी नहीं। जब युद्ध होता है, तब प्रजासत्तात्मक राज्य भी सर्वसर्वा-पद्धतिका आश्रय लेलेते हैं। उस संकटके समय बहस करने और प्रस्ताव पास करने की बातें नहीं की जासकतीं। इससे भी स्पष्ट है कि जब संकट-काल न हो, तब भी सर्वसर्वा-राज्य-पद्धतिका आश्रय लेना स्वाभाविक अवस्था नहीं है। इसीलिये आज संसारमें इन दो विचार-धाराओंका टाकरा होरहा है। प्रजासत्तात्मक-विचार-धारा, जिसमें व्यक्तिको स्वतंत्रता है, यह ठीक है, या सर्वसर्वा-पद्धति, जिसमें व्यक्तिको स्वतंत्रता नहीं है, यह ठीक है, ये दो विचार आज आपसमें टकरा रहे हैं, इन्हींके गिर्द संसारकी राजनैतिक-शक्तियां केंद्रित होरही हैं, और भविष्यने यह निर्णय करना है कि कौन-सी राजनैतिक विचार-धारा संसारमें टिकनेवाली है।

३. राज्य क्या कार्य करे, क्या न करे

इस बातका निर्णय कैसे होगा कि राज्यको कौन-से काम करने चाहियें, कौनसे नहीं करने चाहियें, किन कामोंमें हस्त-क्षेप करना चाहिये, किनमें नहीं करना चाहिये? सर्वसर्वा-पद्धतिका कहना तो यह है कि हर काममें हस्त-क्षेप करना चाहिये, परन्तु साधारणतौरसे भी विचार करनेसे यह स्पष्ट होजाता है कि (१) कई काम ऐसे हैं जिन्हें राज्य ही कर सकता है, (२) कई ऐसे हैं जिन्हें दूसरे संगठन भी कर सकते हैं, परन्तु राज्यको उन्हें करनेकी ज्यादा सुविधा है, (३) कई ऐसे हैं, जिन्हें राज्य न करे तो अच्छा रहता है, (४) कई ऐसे हैं जिन्हें राज्य कर ही नहीं

सकता, करने लगता है तो बिगाड़ देता है। इन चारोंके विषयमें विचार करना आवश्यक है :—

(१) जो काम सिर्फ़ राज्य ही कर सकता है—कई ऐसे काम हैं जो सिर्फ़ राज्य ही कर सकता है, दूसरा कोई संगठन नहीं कर सकता, उन्हें करना राज्यका काम है। उदाहरणार्थ, नियम, व्यवस्था, शान्ति-स्थापना राज्यके सिवाय और कौन कर सकता है ? राज्यके पास ही शक्ति है, दूसरा कोई शक्तिका प्रयोग नहीं कर सकता। व्यक्ति व्यक्तिके, व्यक्ति समूहके, या कोई समूह किसी दूसरे समूहके अधिकारोंमें हस्तक्षेप न करे, इस अव्यवस्थाको राज्यके सिवाय कौन रोक सकता है ? परन्तु राष्ट्रमें व्यवस्था दो तरहसे रखी जासकती है। एक न्यायके आधारपर, दूसरी अन्यायके आधारपर। अगर राष्ट्र मनुष्यताके अधिकारोंको कुचलकर एक वर्ग का साथ देता है, दूसरेको दबाता है, तो इसप्रकारकी शक्ति और व्यवस्था न्यायपर आश्रित नहीं कही जासकती। राष्ट्रका काम है कि भले ही कोई कितना शक्तिशाली हो, अगर वह असहायपर हाथ उठाता है, तो शक्तिशालीको दण्ड दे, यही न्याय है, और इसप्रकारका न्याय करनेका सामर्थ्य राष्ट्रका ही होसकता है, अन्यका नहीं। केवल व्यवस्था रखना राष्ट्रका काम नहीं है, उसका काम ऐसी व्यवस्था रखना है, जो न्यायपर आश्रित हो। अगर कोई किसीको लूट ले, तो शोर तो वही मचायेगा, जो लूटा गया है। उसे दबा देनेसे भी शान्ति होजाती है। कभी-कभी पुलिस ऐसा ही करती है। जो पिटा है, उसीको चुप कराकर व्यवस्था कायम कर देती है, परन्तु जो राज्य ऐसा होने देता है, वह न्यायपर शान्ति-व्यवस्थाको कायम नहीं करता। लोगोंके तो स्वार्थ भिन्न-भिन्न होते हैं, अगर उन्हें अपने-अपने रास्तेपर चलनेकेलिये खुला छोड़ दिया जाय, तो आपाधापी मच जाय। इन भिन्न-भिन्न स्वार्थोंमें उन स्वार्थोंको बढ़ावा देना जो सबके समान हैं, यह काम राज्यका है। तोल, माप, मूल्य, भूमिकी व्यवस्था आदि काम भी राज्यके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं कर सकता।

(२) जो काम राज्य दूसरोंसे अच्छा कर सकता है—कई ऐसे काम हैं जिन्हें राज्य दूसरोंसे अच्छा कर सकता है। उदाहरणार्थ, जंगलोंकी रक्षा, खनिज पदार्थोंकी देख-भाल, पशु-धनका संरक्षण, शिक्षा आदि ऐसे कार्य हैं जिन्हें दूसरे भी करसकते हैं, परन्तु राज्य दूसरोंसे अधिक अच्छी तरह करसकता है। क्रीड़ा-क्षेत्र बनाना, सार्व-जनिक बाग-बगीचे तथा ऐसे काम जिनमें आमदनी से खर्च ज्यादा होता है, दूसरे धनी-मानी लोग भी करते हैं, परन्तु इन कामोंको करनेकेलिये राज्य ज्यादा उपयुक्त संगठन है।

(३) जिन कामोंको राज्य न करे तो ठीक है—कई ऐसे काम हैं जिनमें राज्य हाथ न डाले तो ठीक रहता है। राज्य तो सम्पूर्ण देशके स्वार्थोंका प्रति-

निधित्व करता है, परन्तु होसकता है कुछ छोटे-छोटे समूह अपने छोटे-छोटे स्वार्थों को लेकर मिलते हों, जिनका राज्यके स्वार्थोंसे कोई टाकरा न होता हो। उनमें राज्य हस्त-क्षेप क्यों करे ? करेगा, तो वेकार लोगोंको चिड़चिड़ा वना देगा, उनमें प्रतिक्रिया उत्पन्न होने लगेगी।

(४) जिन कामों को राज्य कर ही नहीं सकता—कई वातें ऐसी हैं जिन्हें राज्य कर ही नहीं सकता। उदाहरणार्थ, मनुष्यके विचारों, विश्वासोंको राज्य कैसे दवा सकता है ? विचार एक ऐसी चीज है जो दवानेसे दवती नहीं, वढ़ती है। हमने देखा, 'सुधार-युग' (Reformation) तथा 'पुनःजागरण-युग' (Renassaince) का प्रादुर्भाव ही विचारोंको दवानेसे प्रतिक्रियाके रूपमें हुआ। मनुष्यका यह स्वभाव है, वह कुछ देर तक दवता है, परन्तु दवते-दवते एक ऐसा समय आजाता है, जब वह दवनेसे इन्कार कर देता है। इसीकारण प्रतिक्रियाएं हुआ करती हैं, क्रान्तियां हुआ करती हैं। वैयक्तिक-स्वतंत्रताको, विचारकी आज़ादीको कुछ देरतक दवाया जा सकता है, अनन्त-कालतक नहीं दवाया जासकता।

४. अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

१९१४ के विश्व-युद्धके वाद यह अनुभव किया गया कि विश्वमें शान्ति स्थापित करनेकेलिये सव राष्ट्रोंका एक संगठन वनानेकी आवश्यकता है। इस उद्देश्यसे 'राष्ट्र-संघ' (League of Nations) की स्थापना हुई। परन्तु इसके वावजूद १९३९ का युद्ध छिड़ गया। इस युद्धके वाद फिर उसी भावनासे 'संयुक्त-राष्ट्र-परिषद्' (U. N. O.) की स्थापना की गई। यह अनुभव किया जारहा है कि राज्य अपने देशके भीतर तो शान्ति-व्यवस्था लाता है, परन्तु आजकल दिनोंदिन वढ़ते संसारमें प्रत्येक राष्ट्रका अपने साथ ही तो संवंध नहीं, दूसरोंकेसाथ भी संवंध है। इस संवंधमें हर समय झगड़े होते रहते हैं, वही युद्धोंका रूप धारण कर लेते हैं। इन झगड़ोंको वातचीत से, एक-दूसरेके दृष्टि-कोणको समझकर, क्यों न निपटाया जाय ? अगर एसा किया जाय, तो अपने देशके कानूनके अतिरिक्त 'अन्तर्देशीय-कानून' (International law) वनानेकी, अन्तर्देशीय-संगठन वनानेकी, अन्तर्देशीय-सेना वनानेकी आवश्यकता है। होसकता है, अगर यह प्रगति वढ़ती जाय, तो विश्वका एक राज्य वनानेकी आवश्यकता अनुभव होने लगे। अगर झगड़े नहीं निपटते, तो दो ही तो रास्ते रह जाते हैं, या तो कोई एक राज्य इतना प्रवल होजाय, जो सवको जीतकर अपना प्रभुत्व स्थापित कर ले, या सव मिलकर स्वयं एक नवीन-राष्ट्रका निर्माण करलें। जैसे अवतक संसारके इतिहासमें नवीन-नवीन संगठन वनते रहे हैं, वैसे क्या यह नहीं होसकता कि किसीसमय संसारमें सव मिलकर

'एक-राष्ट्र' के विचारको जन्म दें ? क्या 'राष्ट्र-संघ' का बनना, उसके बाद 'संयुक्त-राष्ट्र-परिषद्' का बनना इस दिशाकीतरफ़ संकेत नहीं कर रहे ?

प्रश्न

१. राष्ट्रका स्वरूप क्या है ? इसके क्या-क्या काम हैं ? अन्य 'समितियों' (Associations) से इसमें क्या भिन्नता है ?
२. राष्ट्रके भावकी उत्पत्ति तथा इसका विकास किस तरह हुआ ?
३. राजाके विचारकी किसप्रकार उत्पत्ति हुई, और कैसे नाश होगया ?
४. पहले 'राज-शक्ति', 'धर्म-शक्ति' तथा 'अर्थ-शक्ति'--ये तीनों केन्द्रित थीं, फिर इनका 'विकेन्द्रीकरण' हुआ, इस प्रक्रियामें 'सुधार-युग' (Reformation) 'पुनः जागृति-युग' (Renaissance) तथा 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) का क्या हाथ था ?
५. प्रजासत्तात्मक-राज्य (Democracy) की उत्पत्ति किस प्रकार हुई ? इसमें क्या-क्या दोष दीख रहे हैं ?
६. सर्वेसर्वा-राज्य-पद्धति (Totalitarianism) क्या है ? इसकी प्रजा-सत्तात्मक-राज्यसे तुलना कीजिये । आपके मतमें अन्ततक टिकनेवाली प्रणाली कौन-सी है, और क्यों ?
७. राज्यको क्या-क्या कार्य करने चाहियें, और क्या-क्या नहीं करने चाहियें ?
८. क्या यह संभावना है कि किसीसमय संसारभरमें 'एक-राष्ट्र' (One Nation) का विचार उठ खड़ा हो ?

[२०]

'महा-समितियां'—आर्थिक-संगठन

(THE GREAT ASSOCIATIONS—ECONOMIC ASSOCIATIONS)

मनुष्यके सब आर्थिक-संगठन 'भोजन' तथा 'सम्पत्ति'—इन दो के इर्द-गिर्द घूमते हैं। भोजनकेलिये वह पहले शिकार करता था, फिर चरवाहे का जीवन व्यतीत करनेलगा, फिर खेती करनेलगा, अब कल-कारखाने चलानेलगा। इस प्रक्रियामेंसे गुजरते-गुजरते सम्पत्ति उत्पन्न होगई, उसका मूल्य होनेलगा, वह बिकने लगी, और आजका यह विशाल आर्थिक-संगठन उठ खड़ाहुआ। ये आर्थिक-संगठन स्वतंत्र रूपसे नहीं उत्पन्न होजाते। जिस देशकी जैसी भौतिक या सामाजिक परि-स्थिति होती है, उसीके अनुकूल आर्थिक-व्यवस्था उत्पन्न होजाती है। आर्थिक-संगठनोंपर अपने समयकी पूरी-पूरी छाप दिखाई देती है। जहां बरफ़ पड़ती हो, खेती हो ही न सकती हो, वहां कृषिकी आर्थिक-व्यवस्था उत्पन्न नहीं होती, जहां भूमिकी कोई आवश्यकता न हो, वहां भूमिका कोई मूल्य नहीं होगा, जहां आविष्कार न हुए हों, वहां सोनेकी कानोंके होतेहुए भी लोग निर्धन होंगे। हम इस अध्यायमें देखेंगे कि देश-कालके प्रभावसे किस-किस समय में किस-किस प्रकारका आर्थिक-संगठन उत्पन्न होजाता है। मनुष्य पहले शिकारी था, फिर चरवाहा और कृषक बना, फिर वर्तमान अवस्थामें पहुंचा—इस क्रमसे गुजरते हुए उसने कौन-कौनसे आर्थिक संगठन उत्पन्न किये?

१. शिकारी जीवनमें आर्थिक-संगठन

जब मनुष्य शिकार करके अपना निर्वाह करता था, तब उसे भोजनकी चिन्ता ज्यादा नहीं थी। थोड़े मनुष्य थे, जंगलके जानवर और वृक्षोंके फल जरूरतसे ज्यादा थे, उन्हींको वह खा-पी लेता था। उस समय किसीप्रकार का आर्थिक संगठन नहीं के बराबर था। आजके विकसित समाजमें जितने आर्थिक-संगठन उत्पन्न होगये हैं उनका बीज रूपसे तो उसीसमयसे प्रारंभ होगया था, परन्तु वह प्रारंभ अत्यन्त संक्षिप्त-सा था। उदाहरणार्थ :—

(१) 'श्रम-विभाग' (Division of labour) का रूप उससमय 'आयु

तथा लिंग' (Age and sex)—बस इतना ही था। कुछ वृद्ध थे, कुछ युवा थे, कुछ पुरुष थे, कुछ स्त्री थे—इसके अतिरिक्त उनमें दूसरा विभाग ही नहीं था। वृद्ध अनुभवी थे, युवा उनके अनुभव से सीखते थे, पुरुष शिकार मारकर लाते थे, स्त्रियां उसे पका देती थीं—यह प्रारंभिक श्रम-विभागकी व्यवस्था थी।

(२) वैयक्तिक-सम्पत्तिका विचार भी अभी अत्यन्त प्रारंभिक अवस्थामें था। सम्पत्ति तो तब बनती है जब बहुत-सी चीजें हों। जब हो ही कुछ नहीं, तब सम्पत्ति क्या, और उसमें निजूपन क्या ? फिर भी तीर-कमान, भाला, लाठी, ओढ़नेकी छाल आदि निजी सम्पत्ति थी, भूमिको सम्पत्ति माननेका विचार अभी नहीं उत्पन्न हुआ था। वे अपने तीर-भालेको तो ले-दे सकते थे, परन्तु आज जैसे ज़मीनको लिया-दिया जाता है, बेचा जाता है, वैसे ज़मीन या अन्य किसी वस्तुको वे लेते-देते नहीं थे। भूमि उनकी सबकी साझी थी, शिकार मारते थे, तो वह भी सबका साझा होता था, सबको बांट दिया जाता था। इस दृष्टिसे उस समयकी आर्थिक-व्यवस्था समाजवादी व्यवस्था थी।

(३) उन्हें जिस चीज़की ज़रूरत पड़ती थी उसे अपने-आप पूरा कर लेते थे, किसी दूसरेसे लेनेकी ज़रूरत नहीं पड़ती थी। एकतरहसे वे आत्म-निर्भर थे। आज पैदा कोई करता है, उसका इस्तेमाल कोई दूसरा करता है—इस प्रकारकी व्यवस्था उससमय नहीं थी। ऐसी व्यवस्था नहीं थी, तो व्यापार भी नहीं था, अगर थोड़ा-बहुत लेन-देन होता था, तो मुफ्त होता था, दिया तो दे दिया, लिया तो ले लिया। जो चीज़ ली-दी जाती थी, वह ज़रूरत निकल जानेपर वापस कर दी जाती थी। उन लोगोंमें हमारी तरह बनियापन नहीं था, आतिथ्य की भावना ज़बर्दस्त थी, किसीको ज़रूरत पड़ती थी, तो उसकी पूरी मदद की जाती थी, ज्यादा-से-ज्यादा यह भावना होसकती थी कि हमें ज़रूरत पड़ेगी तो हमारा भी आतिथ्य होगा, दूसरे लोग हमारी भी मदद करेंगे।

२. पशु-पालन तथा कृषि-जीवनमें आर्थिक संगठन

(१) शिकारी जीवनमें एक व्यक्तिके पालनेकेलिये कम-से-कम एक वर्ग-मील ज़मीनकी, और कभी-कभी दस से बीस वर्गमील ज़मीन की ज़रूरत पड़ती है। ज्यों-ज्यों आबादी बढ़ती जाती है, अनुपातमें ज़मीन कम होती जाती है। आवश्यकता आविष्कारकी जननी है। ऐसे समयमें मनुष्यने दो आविष्कार किये। एक तो था, पशुओंको पालना, दूसरा था खेती करना। पहला आविष्कार पुरुषने किया, दूसरा आविष्कार स्त्रीने किया। जंगली हालतमें हरसमय भोजन नहीं मिल सकता था, शिकार हो तभी भोजन मिलता था, अब पशुओंके पालने पर, जब चाहें दूध

निकाल सकते थे, खेती करनेपर आगेकेलिये बचाकर भी रख सकते थे। आगेकें लिये बचाकर अगर किसी चीजको रखा जासकता है, तो उस चीज का बड़ा मूल्य है, इसलिये मूल्य है क्योंकि अगर वह नष्ट होजाय, तो मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसका नुक्सान होगया। इसके अतिरिक्त पशु-पालन तथा कृषि-जीवन से भूमिका मूल्य भी बढ़ गया। शिकारी हालतमें तो मनुष्यको जगह-जगह भागना पड़ता था, जहां शिकार पहुंचता था वहीं उसे पहुंचना होता था, इसलिये उसकेलिये भूमिका कुछ मूल्य न था, परन्तु अब उसे पशुओंको पालने और खेती करनेकेलिए एक निश्चित भूमिकी जरूरत पड़ गई, इसलिये भूमि का मूल्य समझा जाने लगा। शिकारी हालतमें किसी वस्तुका कोई मूल्य नहीं था, भूमि का मूल्य लगाना ऐसी बात थी जैसे कोई बादलोंका और हवा-पानी का भाव-ताव करे, परन्तु पशु तथा कृषि-युगमें भूमि का मूल्य समझा जाने लगा, परन्तु अब भी भूमि साझी सम्पत्ति थी, सारा-का-सारा कुनवा या कवीला उसका मालिक था, वह किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं थी, सुविधाकेलिये उसे भिन्न-भिन्न घरानोंमें बांट दिया जाता था ताकि वे खेती करें, खायें-पीयें, और अपनी आजीविकाका निर्वाह करें।

(२) जब किसीको कोई चीज दे दी जाती है, और उसका लाभ उसीको पहुंचता है, दूसरेको नहीं, तब वह ज्यादा जी तोड़कर काम करता है—इस भावना से भूमिके निजीपनका विचार उत्पन्न हुआ। हरेक घराना अपनी-अपनी खेती करने लगा और भूमिके मूल्यका विचार दिनोंदिन बढ़ता चला गया। किसानकेलिये जमीन ही सब-कुछ होगई क्योंकि वही उसकी आजीविकाका साधन थी, वही उसकी तथा उसके बाल-बच्चोंकी परवरिश करती थी।

(३) धीरे-धीरे पशु-पालन तथा कृषिका काम एक-साथ होने लगा। किसान का काम बैलके बगैर नहीं चलता था, बैलके साथ वह अन्य पशुओंको भी पालनेलगा। भेड़-बकरीको पालनेसे उसे ऊन मिल जाती थी, उससे वह कपड़े बनानेलगा। पहले-पहल तो वह अपने लायक ही अनाज पैदा करता था, अपने लायक ही कपड़े बना लेता था, ज्यादा अनाज और ऊन जिनको जरूरत होती उन्हें देदेता था, किसी चीजका कोई मूल्य नहीं लेता था, परन्तु धीरे-धीरे ऐसी अवस्था भी आयी जब एक किसानकेपास अनाज था, दूसरेकेपास ऊन थी, इन दोनोंने अदला-बदला कर लिया। इस समय इस विचारने जन्म लिया कि मुफ्त लेने-देनेके बजाय अदला-बदला क्यों न कर लिया जाय। इसी विचारसे वस्तु-विनिमय (Barter)-पद्धति उत्पन्न होगई। अब आगेसे जिसको किसी चीजकी जरूरत होती थी, वह उसके बदलेमें दूसरी चीज देकर उसे बदल लेता था। अभी 'विनिमय' (Exchange) के लिये सिक्केका आविष्कार नहीं हुआ था।

(४) किसानने गाय-बैल-बकरी पाली, तो दूर-दूर जानेकेलिये घोड़ा भी पाला। जब अदला-बदला होने लगा, तो आस-पासके लोगोंमें भी अदला-बदला होने लगा। घोड़ोंने इस काममें बहुत सहायता पहुँचायी। मनुष्य घोड़ेपर चढ़कर दूर-दूर सामान पहुँचा सकता था। उससमय रास्ते तो बने नहीं थे, पगडंडियोंसे एक-दूसरे गांवमें लोग घोड़ोंपर आते-जाते थे। किसीके घर अनाज ज्यादा था, किसीके घर कपड़ा ज्यादा था, वे दूसरे गांवोंमें जाकर अनाजसे कपड़ा, कपड़ेसे अनाज बदल लाते थे। इसीसे व्यापारका श्रीगणेश हुआ। जो गांव नदियोंके किनारे थे, वहां नौकाओंद्वारा आसानीसे आना-जाना होसकता था, वहां माल लेकर लोग आने-जाने लगे, सालमें एक-दो बार माल बेचनेकेलिये वहां मेले भरने लगे, वही गांव बढ़कर शहर होगये।

(५) व्यापार प्रकृतिकी देन नहीं है, मनुष्यकी ईजाद की हुई चीज है। जब मनुष्यने भेड़की ऊनसे कपड़ा बनाना शुरू किया, तब उसने एक नये आर्थिक-संगठनको जन्म दिया। हाथसे एक नहीं, अनेक काम बनने लगे। जब किसीने चर्खेकी खोज की तो कपड़ा बना, जब कुम्हारके चाककी खोज की तो बर्तन बने, अन्य खोजोंसे टोकरियां बनीं, और न जाने क्या-क्या बनने लगा। ये सब भिन्न-भिन्न दस्तकारियां (Handicrafts) थीं। एक आदमी हरेक काम नहीं करसकता था, अतः श्रम-विभागका सिद्धान्त जो शिकारी हालत में सिर्फ़ पुरुषके शिकार लाने और स्त्रीके शिकार पका देनेतक सीमित था अधिक विस्तृत होने लगा, भिन्न-भिन्न दस्तकारियोंको भिन्न-भिन्न लोग करने लगे। इसमें स्त्रीने भी पुरुषका साथ दिया। वह भी घरमें बैठी कोई-न-कोई दस्तकारीका काम करती थी। सूत कातती थी, कपड़ा बुनती थी, दूसरा-कुछ बना सकती तो वह भी बनाती थी। इससमय घर ही दस्तकारीका केन्द्र था। स्त्री-पुरुष-बच्चे सब मिलकर काम करते थे, घरसे बाहर जाकर किसी दूसरी जगह काम करनेकी ज़रूरत नहीं थी। शुरू-शुरूमें तो अपनी ज़रूरियातकेलिये ही वे सब-कुछ बनाते थे, धीरे-धीरे जो आर्डर देजाता था उसकेलिये भी चीज़ बनाने लगे। अभी ऐसे बाजार नहीं उत्पन्न हुए थे जिनमें आता-जाता कोई ग्राहक वस्तुको देखकर उसे खरीद ले। धीरे-धीरे दस्तकारी बढ़ी, व्यापार बढ़ा, व्यापारके ऐसे केन्द्र भी बनने लगे जिनमें आर्डरकी चीज़ ही नहीं बनती थी, ढेरों माल बनकर आता था, और जिसे जो चीज़ पसन्द आयी वह उसे मोल लेलेता था।

३. सामन्तशाही जीवनमें आर्थिक-संगठन

कृषि-जीवनके बाद 'सामन्त-शाही' (Feudalism) का युग आया। सामन्तशाही का शुद्ध रूप योरुपके इतिहासमें दीख पड़ता है, अतः इसे समझनेकेलिये

हमें योरुपकीतरफ़ दृष्टि डालनी पड़ती है । योरुपमें एक ऐसा समय आया जब रोमन राज्यपर जंगली जातियोंने आक्रमण करके उसे तहस-नहस कर दिया। चारोंतरफ़ अव्यवस्था फैल गई। इन जंगलियोंने किसानोंसे भूमि छीननी शुरू की, और उसपर अपना आधिपत्य जमाना शुरू किया। इन जंगलियोंके आक्रमणसे बचनेकेलिये कमज़ोर किसानोंने अपनेसे बलशाली किसानोंकी शरण ग्रहण की । उनकी रक्षा प्राप्त करनेके बदलेमें उन्होंने अपनी भूमि उन्हींको दे दी, और स्वयं उन्हींकीतरफ़ से नियुक्त किये किसान की तरह उसे जोतने लगे । इसप्रकार दो वर्ग उत्पन्न हो गये । एक वर्ग तो वह था जो 'भूमि-धर' कहा जासकता है, दूसरा वर्ग वह था जो 'भूमि-हीन' कहा जासकता है । इन भूमिहीनोंमें दास भी थे । भूमिहीन-वर्ग जोतता था, बोता था, खेती करता था, और इस सब सम्पत्तिका मालिक भूमिधर-वर्ग था। भूमिधर-वर्ग ही सामन्त-वर्ग कहाता था। लैटिनमें 'फ़ीएफ़' (Fief) का अर्थ उस भूमि-खंडसे है जिसका मालिक कोई और होता था, परन्तु उसे जोतता-बोता कोई दूसरा था। इस पद्धति में भूमि का मालिक तो 'सामन्त' होगया था, वही किसानको भूमि जोतने-बोनेकेलिये देता था, बदलेमें किसानकी जान-माल की रक्षा की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेता था, इसलिये 'फ़ीएफ़' (Fief) के कारण इसे 'फ़्यूडलिज़्म' (Feudalism) कहते थे। सामन्त-लोग जिन लोगोंको भूमि-खंड (Fief) देते थे उनका यह कर्तव्य था कि सामन्त की नौकरी बजायें, अपने को उसकी आधीनता में रखें, और समय पर उसकेलिये युद्ध लड़ें। इनको 'वैसल' (Vassal) कहा जाता था। इसप्रकार भूमिधरोंको 'सामन्त' (Feudal lords) तथा सामन्तोंसे प्राप्त भूमिका उपयोग करनेवालोंको 'किसान' अथवा दूसरे शब्दोंमें 'दास' (Vassal) कहते थे। जैसे सामन्त-पद्धति के शुरू-शुरू में सामन्त लोग किसानोंको भूमि-खंड (Fief) देते थे, वैसे आगे चलकर जब सिक्केका चलन हुआ, तब १३ वीं शताब्दीमें वे इन लोगोंको भूमि-खंड देनेकेबजाय कुछ बंधी हुई रकम देने लगे, और जिन लोगोंको इसप्रकारकी रकम मिलती थी, वे सेनाका काम करने लगे। क्योंकि सामन्तोंको हर समय ऐसे लोगोंकी जरूरत रहती थी जो किसानोंकी जान-मालकी रक्षा कर सकें इसलिये उनकेलिये इसप्रकारकी सेना रखना आवश्यक था। किसानोंको दियेगये भूमि-खंडोंमें कृषि करनेसे सामन्तोंको जो आमदनी होती थी वह उनके अपने गुज़ारे और इस सेनाके काम आती थी।

भारतमें ठीक इसतरहकी 'सामन्त-पद्धति' (Feudalism) तो नहीं थी, परन्तु ऐसी पद्धति जरूर थी जिसका परिणाम ज़मींदारी-प्रथा हुई। सामन्त-पद्धतिमें भी भूमि का स्वामी सामन्त था, जमींदारी-प्रथामें भी भूमि का स्वामी

जमींदार था। हमें इसके ऐतिहासिक-विवेचनमें जानेकी जरूरत नहीं, विषयको समझनेके लिये इतना समझ लेना काफ़ी है कि हम जिस अगले युगका वर्णन करने लगे हैं जमींदारी-प्रथा उस युगसे पहलेकी वस्तु है।

४. सामन्तवादके वाद तथा औद्योगिक-क्रांतिसे पहलेके आर्थिक संगठन

संसारकी वर्तमान आर्थिक-व्यवस्थापर मुख्य प्रभाव योरुपकी आर्थिक-व्यवस्थाका पड़ा है, अतः वर्तमान आर्थिक-व्यवस्थाको समझनेकेलिये योरुपके आर्थिक-संगठनोंका अध्ययन आवश्यक है। सामन्तवादके वाद, और औद्योगिक-क्रांति से पूर्व, आर्थिक-संगठनोंने भिन्न-भिन्न रूप धारण किये। इन रूपोंमें किन्हींका प्रारंभ मनुष्यके शिकारी जीवनके समय, और किन्हींका पशु-पालन तथा कृषि-जीवनके समय होचुका था, किन्हींका प्रारंभ सामन्तशाहीके युग में, और किन्हींका इस युग के बाद तथा औद्योगिक-क्रांतिसे पूर्व हुआ। हमारे कहनेका अभिप्राय सिर्फ़ यह है कि इस युग में इन संगठनोंका रूप स्पष्ट-स्पष्ट दीखने लगा। वे रूप निम्न थे :—

(१) दस्तकारी (Hand-manufacture)—कृषि-युगमें ही किसान ने खेती-बाड़ीके साथ-साथ हाथके दूसरे काम शुरू कर दिये थे जिससे श्रम-विभागका नियम समाजमें काम करता हुआ दीखने लगा था। जब ग्रीक तथा रोमन सभ्यताओंका विकास हुआ तब भिन्न-भिन्न दस्तकारियां भी चमक उठीं, तथा श्रम-विभाग और अधिक बढ़ा। ग्रीक तथा रोमन राज्योंके विनाशके वाद यह आर्थिक-संगठन लुप्त-प्राय होगया था, परन्तु सामन्तशाहीके समय फिर भिन्न-भिन्न प्रकारकी दस्तकारियां प्रारंभ हुईं। सामन्तकी जमींदारीमें कई कारीगर रहते थे जो सामन्तकेलिये सामान तय्यार करते थे, और जरूरतसे ज्यादा जो-कुछ वन जाता था, उसका दूसरे सामानकेसाथ विनिमय कर लेते थे। एकतरहसे इससमय हस्त-निर्मित वस्तुओंका प्रचार बढ़ा।

(२) गृहोद्योग (Home Industry)—इस समय जो कारीगरी का काम होता था वह घरमें ही होता था, और सामान घरमें वन चुकनेके वाद बाजार में जाता था। कारीगरोंके यहां दस्तकारी सीखनेकेलिये शिष्य-गण आते रहते थे, जिन्हें जबतक वे काम सीखते थे 'एपरेंटिस' (Apprentice) तथा सीख जानेपर 'जरनीमैन' (Journeyman) कहा जाता था।

(३) वस्तुओंके विनिमयकी व्यवस्था (System of Exchange of Goods)—शुरू-शुरू में तो कारीगर घर-घर फिरता था और जिसे उसकी चीजकी जरूरत होती उसके घर रहकर उस वस्तुको बना देता था। अगर

किसीको जूते की जरूरत होती, तो जूते का कारीगर उसके घर ठहरकर घरभर के जूते बना देता, कपड़ेकी जरूरत होती, तो जुलाहा उसके घर रहकर घरभरके कपड़े तय्यार करदेता था। धीरे-धीरे कारीगरोंने, खासकर शहरके कारीगरोंने, अपनी अपनी दुकानें खोल लीं। इन दुकानोंमें कुछ सामान तो वे आर्डर ला-लाकर बनाते थे, कुछ बना-बनाया वेचते थे। कहीं-कहीं सामान वेचने के लिये मेलोंकी, पैंठों की व्यवस्था होनेलगी। जिनके पास सामान अधिक होता वे उन पैंठोंमें जाकर सामान वेच आते। उससमयतक 'वस्तु-विनिमय' (Barter) पद्धतिद्वारा ही माल वेचा जाता था, पीछे जब सिक्के की व्यवस्था हुई तब माल रुपये-पैसेसे वेचा जाने लगा।

(४) व्यापारियों तथा कारीगरोंके संघ (Merchant Guilds and Craft Guilds)—ज्यों-ज्यों व्यापार बढ़नेलगा, त्यों-त्यों व्यापारियोंके 'संघ' बननेलगे जिनका काम व्यापारकी सुविधाओंको बढ़ाना था। एक ही तरहका व्यापार करनेवाले व्यापारी लोग 'संघ' बनाने लगे, और माल बनाने तथा उसकी खपत बढ़ानेकी व्यवस्था करने लगे। इनका नाम 'व्यापारी-संघ' (Merchant Guilds) था। इनकी देखादेखी कारीगर भी अपने 'संघ' बनानेलगे जिनका काम एक ही तरहकी कारीगरीमें लगे लोगोंका संग्रह करके माल बनाकर दूर-दूर भेजना था। 'व्यापारी-संघ' ११ वीं से १४ वीं शताब्दी तक फलते-फूलते रहे, 'दस्तकारी-संघ' (Craft Guilds) १२ वीं से १६ वीं शताब्दीतक फले-फूले। 'व्यापारी-संघों' का मुकाबिला 'दस्तकारी-संघों' ने किया, और इन्होंने 'व्यापारी-संघों' को प्रतियोगितामें समाप्त करदिया। इधर 'दस्तकारी-संघों' का मुकाबिला 'गृहोद्योग-पद्धति' (Domestic system) ने किया, और इसने 'दस्तकारी-संघों' को समाप्त करदिया। 'दस्तकारी-संघों' और 'गृहोद्योग-पद्धति' में संघर्षका कारण यह हुआ कि जो कारीगर घरोंमें बैठे माल बनाते थे वे बाजारसे दूर होनेके कारण अपने मालको आसानीसे नहीं वेच सकते थे। उन्होंने 'दस्तकारी-संघों' में शामिल होनेका प्रयत्न किया, परन्तु उन्हें संघमें नहीं लिया गया। तंग आकर भिन्न-भिन्न गृहोद्योगोंके कारीगरोंने 'दस्तकारी-संघों' का मुकाबिला करना शुरूकिया, और सस्ता माल वेचसकनेके कारण उन्हें समाप्त कर दिया।

(५) चुंगी (Toll and Taxes)—सामन्तशाहीके समय एक सामन्तकी ज़मींदारीसे दूसरे सामन्तकी ज़मींदारीमें जब व्यापारी पहुंचता था, तो उससे चुंगी ली जानेलगी। व्यापारी अपने पहले सामन्तसे तो पल्ला छुड़ाकर निकला था, दूसरे सामन्तने जिसकी सीमामें वह प्रविष्ट हुआ था उससे लाभ उठानेका अच्छा मौका देखा तथा सड़कोंपर चुंगीकी चौकियां बैठ गईं। आज भी भिन्न-भिन्न राज्योंमें चुंगीकी यह व्यवस्था मौजूद है।

(६) साझेदारी तथा संयुक्त-पूंजी-संगठन (Partnership and Joint Stock Company)—इससनयकी एक उपज 'साझेदारी' (Partnership) तथा 'संयुक्त-पूंजी-संगठन' (Joint Stock Company) है। ज्यों-ज्यों व्यापार वढ़ा, यह अनुभव किया जाने लगा कि अलग-अलग व्यापार करनेकी अपेक्षा एक-दूसरेकेसाथ साझेदारीमें व्यापार करनेसे प्रतियोगिता कम होती है। इसके साथ ही, जिन लोगोंके पास कम पूंजी थी, उन्होंने इस हिस्सेदारीके विचारको इतना वढ़ा दिया कि थोड़ी-थोड़ी पूंजी लगाकर वहुत भारी पूंजी इकट्ठी की जाने लगी और उससे वहुत वड़े-वड़े व्यापार चलाने लगे। 'साझेदारी' और 'संयुक्त-पूंजी-संगठन' में भेद यह था कि प्रथाके अनुसार 'साझीदारी' में प्रत्येक साझीदारकी नफ़े-नुक्सानमें पूरी-पूरी ज़िम्मेदारी थी, 'संयुक्त-पूंजी-संगठन' में जिस साझीदारका जितना हिस्सा था उतनेतक ही उसकी ज़िम्मेदारी सीमित थी, उससे अधिक नफ़े-नुक्सानमें वह ज़िम्मेदार नहीं था। अगर किसीका इस संगठनमें सौ रुपया लगा है, तो सौ रुपयेके अनुपातमें जितना हानि-लाभ, लेना-देना वनता था उतनी ही उसकी ज़िम्मेदारी वनती थी, इससे जहां लाभपर रोक पड़ जाती थी, वहां हानिपर भी रोक लग जाती थी।

५. औद्योगिक-क्रांतिके वादसे वर्तमान-कालतकके आर्थिक-संगठन

१८वीं सदीमें योरुपमें औद्योगिक-क्रांतिका प्रारंभ हुआ। भिन्न-भिन्न प्रकारके आविष्कार हुए जिनके परिणाम-स्वरूप उद्योग-धन्धे हाथसे चलनेके वजाय मशीनसे चलने लगे। अवतक घर ही उद्योगका केन्द्र था, अव घरमें मशीन लगा सकना कठिन होगया। मशीनकेलिए वहुत अधिक जगह तथा वहुत अधिक काम करनेवालोंकी जरूरत थी। उद्योग घरसे वाहरकी ओर चल दिया, और श्रम, श्रमी तथा श्रम-धन-जैसी चीजें उत्पन्न होगईं। अवतक ज़मीनको ही सम्पत्ति समझा जाता था, अव वणिज-व्यापारके बड़े पैमानेपर वढ़जानेके कारण सम्पत्तिका मुख्य रूप 'भूमि' न रहकर, 'रुपया' होगया। अवतक 'भूमि' की उपजके अदला-वदला करनेसे वस्तुओंका 'विनिमय' (Exchange) होता था, इसे 'वस्तु-विनिमय' (Barter) कहा जाता था, अव रुपये-जैसी वस्तुका आविष्कार होगया, और भूमिको जमाकरनेके वजाय रुपया जमाकरना मनुष्यका लक्ष्य होगया। क्योंकि इस युगमें रुपयेका, पूंजीका महत्व वढ़गया, इसलिए इस युगको 'पूंजीवाद' (Capitalism) का युग कहा जाता है। 'पूंजीवाद' में जो नये-नये आर्थिक-संगठन वने उनमेंसे निम्न मुख्य थे—

(१) सम्पत्ति-जायदाद (Property)—सामन्तशाहीके समय 'भूमि'

को ही जायदाद या सम्पत्ति समझा जाता था। इस युगमें 'भूमि' (Land) और 'धन' (Money) पृथक्-पृथक् होगये। आवश्यक भी था, क्योंकि इस युगमें व्यापार इतना बढ़गया था कि विनिमयकेलिए किसी ऐसे पदार्थकी आवश्यकता थी जिसे आसानीसे किसी भी वस्तुमें बदला जासकता था। रुपया-पैसा तो ऐसी चीज़ है जिसे कहीं भी रखा जासकता है, किसी भी चीज़में तब्दील किया जासकता है, दूसरी कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसे आसानीसे संभालकर रखा जासके या अन्य वस्तुओंकेसाथ अदला-बदला जासके। इसकेसाथ अबतक सम्पत्तिपर किसी व्यक्तिका स्वामित्व केवल प्रथाके आधारपर तो माना जाता रहा था, अन्य किसी आधारपर नहीं। इस युगमें मनुष्यकी निजी सम्पत्तिपर उसका स्वामित्व प्रथाके आधारपर नहीं, कानूनके आधारपर माना जाने लगा। यह समझा जाने लगा कि प्रत्येक व्यक्तिकी निजी सम्पत्तिकी रक्षा करना राज्यका काम है। कहां तो शिकारी अवस्थामें मनुष्यकी निजी सम्पत्ति ही नहीं थी, कहां अब मनुष्यकी निजी भूमि तथा रुपये-पैसेके रूपमें स्थावर एवं जंगम सम्पत्तिका निर्माण होगया।

(२) पूंजी तथा साख (Money and Credit)—पहले तो 'भूमि' से 'धन' का विचार अलग हुआ, फिर ज्यों-ज्यों व्यापार बढ़नेलगा त्यों-त्यों धनको जमा रखना भी कठिन होगया। इसके अतिरिक्त इतना सिक्का कहांसे आता। इसलिये 'पूंजी' (Money) के साथ-साथ पूंजीकेलिये 'साख' (Credit) का विचार उत्पन्न हुआ। साखका मतलब यह है कि रुपया न हो, तब भी काम चल सके। पहले कभी सम्पत्तिकेलिए 'भूमि' की ज़रूरत थी, फिर 'भूमि' की जगह 'धन' की ज़रूरत होने लगी, अब 'धन' की जगह भी 'साख' की ज़रूरत होगई। जिसके पास 'धन' नहीं, पर 'साख' है, वह जितना 'धन' चाहिये उससे भी ज्यादा रुपयेका व्यापार करसकता है।

(३) बड़े पैमाने पर पैदावार (Large-scale Production)—पहले घरमें छोटे-छोटे कारखाने लगे होते थे, अब नवीन आविष्कारोंके कारण औद्योगिक-क्रांति होजानेसे बड़ी-बड़ी मशीनें लगने लगीं, बड़े पैमानेपर पैदावार होने लगी। एक-एक श्रमीके पास मशीनकी इतनी ताकत होगई जिससे १८-२० आदमियोंका काम इकला आदमी करसकता था। इन साधनोंसे पहलेसे कई गुना माल पैदा होनेलगा।

(४) कौरपोरेशन (Corporation)—'संयुक्त-पूंजी-संगठन' (Joint Stock Company) का विकास होते-होते 'कौरपोरेशन' का विकास हुआ। वर्तमान युगका यह आर्थिक-संगठन अत्यन्त महत्व का है। इसके अनेक लाभ हैं, अनेक हानियां भी हैं। लाभ तो यह हैं :—

(क) इनके सदस्योंकी देनदारी उतने ही तक सीमित रहती है जितनी रकमकी इनकी पूंजी है। अगर १ करोड़ की एक कम्पनी है, और १० करोड़की उसकी देनदारी है, तो उस कम्पनी की कानूनी देनदारी १ करोड़तक ही है, उससे अधिक नहीं।

(ख) इस उपायसे थोड़ी-थोड़ी रकमोंसे एक बड़ी भारी रकम इकट्ठी होजाती है। एक व्यक्ति १० करोड़ रुपया किसी व्यापारमें नहीं लगा सकता, परन्तु १० लाख आदमी एक-एक सौ रुपया लगाकर एक बड़ा भारी व्यापार करसकते हैं।

(ग) साझीदारीमें तो अगर एक साझीदार मर जाय, तो साझीदारी ख़त्म करनी पड़ती है, या नई साझीदारी बनानी पड़ती है, परन्तु 'कौरपोरेशन' तो अमर है। कितने ही हिस्सेदार क्यों न मर जांय, कौरपोरेशन वैसे-का-वैसा बना रहता है। अबतक राज्य ही एक अमर संगठन था, परन्तु वर्तमान आर्थिक-व्यवस्थामें कौरपोरेशन भी एक अमर संगठन होगया है।

(घ) कौरपोरेशनके हिस्से आसानीसे बेचे जासकते हैं क्योंकि वे थोड़ी-सी रकमके होते हैं। अगर किसीको अपना रुपया वापस चाहिये, तो वह आसानी से उसे रोकड़में बदल सकता है।

(ङ) कौरपोरेशनका प्रबन्ध उसके हिस्सेदारोंको नहीं करना पड़ता। बड़े-से-बड़ा हिस्सेदार आरामसे घर बैठे व्यापारका मुनाफ़ा ले सकता है। प्रबन्ध-केलिये अच्छे-से-अच्छे व्यापारमें निपुण व्यक्ति ऊंचा वेतन देकर मिल सकते हैं।

कौरपोरेशनकी हानियां निम्न हैं :—

(क) कौरपोरेशनका संचालन केवल कानूनी दृष्टि-कोणसे होता है अतः कानूनकी चंगुलसे बाहर रहतेहुए जहांतक होसके वहांतक लोग इसे लूटनेका प्रयत्न करते हैं। कौरपोरेशनके पास इतना बेतहाशा रुपया होता है कि उसका फ़ायदा उठानेकी जिससे होसकता है कोशिश किये बगैर नहीं चूकता।

(ख) कौरपोरेशनको कोई एक छोटा-सा गुट जिधर चाहता है घुमाता है। कभी-कभी एक आदमी ५१ प्रतिशत हिस्से खरीदकर इसका मालिक बन बैठता है, कभी इससे कम हिस्से खरीदकर भी इसे जिधर चाहता है घुमाता है। इसके हिस्सेदार इतने ज्यादा होते हैं कि सब मिलकर इकट्ठे नहीं होसकते इसलिये जो लोग ज्यादा दिलचस्पी लेते हैं वे अपना गुट बनाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने लगते हैं।

(५) कारटल (Cartels)—जब एक ही स्वार्थसे काम करनेवाले भिन्न-भिन्न देशोंके कौरपोरेशन मिलकर एक गुट बना लेते हैं, और भिन्न-भिन्न

देशोंके व्यापारिक-क्षेत्रोंको वांट लेते हैं, अमरीकामें अमुक कम्पनी माल भेजेगी, दूसरी नहीं भेजेगी, जर्मनी-फ्रांसमें अमुक कम्पनी माल भेजेगी, दूसरी नहीं भेजेगी—इसप्रकार आपसमें वांट लेते हैं, तव उस अन्तर्राष्ट्रीय-आर्थिक-संगठनको 'कारटल' कहते हैं। इनका उद्देश्य 'प्रतियोगिता' (Competition) को बिल्कुल खत्म कर देना और संसारभरमें 'एकाधिकार' (Monopoly) प्राप्त करना होता है। वर्तमान-युगके नवीन-नवीन आविष्कारोंसे जो दिनोंदिन प्रतियोगिता वढ़ती जाती है उसका मुकाविला करके, किसीका भला न हो, अपना भला हो, अपना लाभ वढ़े—सिर्फ़ इसी उद्देश्यसे 'कार्टलों' का संगठन हुआ है।

(६) होल्डिंग-कम्पनियां (Holding Companies)—वर्तमान आर्थिक-संगठनमें कई ऐसी कम्पनियां वनी हैं जो दूसरी कम्पनियोंमें इतने हिस्से ख़रीद लेती हैं जिससे उन कम्पनियोंका स्वामित्व होल्डिंग-कम्पनीके हाथमें आजाता है। इसप्रकार ये होल्डिंग-कम्पनियां अन्य पचासों कम्पनियोंके अधिकांश हिस्से ख़रीदकर उनकी मालिक वन वैठती हैं। कई ऐसी होल्डिंग-कम्पनियां वनती हैं, जो इनके भी अधिकांश हिस्से ख़रीद लेती हैं, और इसप्रकार एक-के-ऊपर-एक होल्डिंग-कम्पनी वनती चली जाती है। अन्तमें जाकर कुछ इने-गिने लोगोंके हाथमें देशकी सारी सम्पत्ति आजाती है।

(७) मज़दूरी (Wages)—हम पहले देख आये हैं कि सामन्त-युगमें 'किसान' अथवा 'दास' (Vassal) अपनेको 'सामन्त' (Feudal lord) की शरणमें लेआता था, और उसीकेलिये काम करता था। वह खेती करता, कपड़े वुनता, टोकरियां वनाता तथा अन्य दस्तकारीके काम करता था, परन्तु यह सव-कुछ अपने 'सामन्त' के लिये। सामन्त-युगके वादका जो समय आया उसमें 'व्यापारी-संघ' (Merchant guilds) वने, जो इन किसानोंसे काम कराते थे, और उनके वनायेहुए मालको वाज़ारोंमें और मेलोंमें वेचते थे। व्यापारी लोग इन कारीगरोंको कच्चा माल और औज़ार देते थे, साथ-साथ कुछ मज़दूरी देते थे। इससमय वहुत-से 'दास-किसान' (Vassals) इन व्यापारियोंसे पैसा पैदा करके अपने मालिकोंकी दासतासे मुक्त होगये और स्वतन्त्र रूपसे मज़दूरी लेकर व्यापारियोंकेलिये माल वनाने लगे। होते-होते जैसे पूंजीपतिके पास धन था, वह उससे पैसा पैदा करता था, वैसे मज़दूर या कारीगरके पास अपना श्रम था, वह उसे खुले वाज़ारमें वेचकर पैसा पैदा करने लगा। पहले स्वामी और भृत्यका जो पारस्परिक स्नेहका भाव था वह अव न रहा। जैसे पहले भूमि ही धन था, अव धन भूमिसे अलग होगया था, वह पूंजीका रूप धारण करचुका था, किसीभी व्यापारमें इस धनको लगाया जासकता था, वैसे श्रम भी पहले भूमिके

साथ ही बंधा हुआ था, अब श्रम भूमिसे अलग होगया, मजदूर अपने श्रमको जगह-जगह बेचकर पैसा पैदा करने लगा। पूंजीवादके युगकी सबसे बड़ी देन यह थी कि 'पूंजी' और 'श्रम'--ये दोनों जो पहले ज़मीनकेसाथ बंधे हुए थे, अब ज़मीनसे स्वतंत्र होगये, पूंजीपतिके हाथमें 'पूंजी' आगई, मज़दूरके हाथमें 'श्रम' आगया, ये दोनों चीज़ें इनकी अपनी-अपनी ताकत थीं।

(८) श्रमियों तथा पूंजीपतियोंके संघ (Unions of Labourers and Associations of Employees)--मज़दूर जब अपनी मज़दूरी बेचनेको निकला तो उसका यह चाहना स्वाभाविक था कि उसे ज्यादा-से-ज्यादा मज़दूरी मिले, कम-से-कम घंटे काम करना पड़े। इकला तो कोई मज़दूर लड़ नहीं सकता था, इसलिये अपने हितोंकेलिये उन्होंने श्रमी संघ (Trade unions) बनाये। इनके मुकाबिलेमें अपने हितोंकी रक्षाकेलिये कारखानोंके मालिकोंने अपने संगठन बनाये। जब मजदूर असन्तुष्ट होते हैं तब सब एका करके काम छोड़ देते हैं, जब मालिक असन्तुष्ट होते हैं तब वे कारखानेमें ताला डाल देते हैं। इन दोनोंके स्वार्थोंको सुरक्षित रखनेकेलिये सरकार समय-समयपर कानून बनाती रहती है जिससे श्रमियोंके स्ट्राइक करने तथा मालिकोंके लौक-आऊट, अर्थात् कारखानेमें ताला डालदेनेपर प्रतिबन्ध रहे।

(९) ठेका (Contract)--हम देख चुके हैं कि सामन्तशाहीमें किसानका कर्तव्य था कि अपने सामन्तकेलिये काम करे, और सामन्तका कर्तव्य था कि अपने आधीन जितने किसान हैं उन सबकी रक्षा करे। इसी समझौतेपर दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध हुआ था। परन्तु अगर वे दोनों इस समझौतेको पूरा न करते, तो कौन क्या कर सकता था? यह ठेका कोई कानूनी ठेका नहीं था, इसका निभाना प्रथा तथा चलनकेऊपर आश्रित था। पूंजीवादी युगमें ऐसा नहीं रहा। इस युगमें ठेकेको कानूनी हैसियत प्राप्त होगई। अगर कोई किसी कामकेलिये पैसा लेलेता है, अथवा किसीप्रकारकी उनमें लेन-देनकी कानूनी वचन-बद्धता होजाती है, तो पैसा लेनेपर या वचन-बद्ध होनेपर उसे पूरा करना उसका कर्तव्य ही नहीं, उसकेलिये लाज़मी है, अगर वह उस कामको नहीं करता, तो हर्जानेका देनदार होता है।

(१०) प्रतियोगिता तथा एकाधिकार (Competition and Monopoly)--क्योंकि एक ही कामको करनेवाले कई व्यक्ति होते हैं अतः व्यापारकेसाथ-साथ 'प्रतियोगिता' रहती ही है। शुरू-शुरूमें प्रतियोगितासे ही व्यापार चला। व्यापारी व्यापारीका गला काटता था। इससे ग्राहकको बहुत लाभ था। प्रतियोगिता न होती, तो व्यापारी बेचारे ग्राहकका गला घोंट देता।

परन्तु व्यापारीका सदा लक्ष्य यह रहा है कि प्रतियोगिताको व्यापारमेंसे निकाल दे। इसी उद्देश्यसे 'कौरपोरेशन', 'कारटल' तथा 'होल्डिंग कम्पनियां' बनीं। इन सबका उद्देश्य 'प्रतियोगिता' (Competition) के स्थानमें 'एकाधिकार' (Monopoly) प्राप्त करना है ताकि मनचाहा मुनाफ़ा कमाया जासके।

(११) दलालीका मुनाफ़ा (Middleman's profit)—वर्तमान आर्थिक-व्यवस्थामें एक बिल्कुल नया संगठन उत्पन्न हुआ है जिसे दलाली कहते हैं। पहले कारीगर सामान बनाता था और स्वयं बेच आता था, फिर धीरे-धीरे सामन्तशाहीके बादके युगमें 'व्यापारी-संघों' ने मज़दूरोंसे सामान बनवा-बनवाकर बेचना शुरू किया। यही संगठन बढ़ते-बढ़ते एक व्यापक दलालीका रूप धारण कर गया। उद्योगीकरणके बादसे तो व्यापारका रूप ही लगभग दलालीका होगया। पूंजी कोई लगाता है, बनाता कोई है, बेचता कोई है। ग्राहकके पास माल सीधा बनानेवालेके पाससे न आकर बीचके आदमीसे पहुंचता है। यह बीचका दलाल अपना मुनाफ़ा लगाकर मालको बेचता है।

(१२) सहयोगी-संगठन (Co-operatives)—ग्राहकको बीचके दलालका मुनाफा देनेके कारण माल बहुत मंहगा पड़ता है इसलिये एक नये संगठनने जन्म लिया, जो मालकी सीधी खपत करनेवालोंका संगठन था। इसे सहयोगी-संगठन कहते हैं। जो मालका इस्तेमाल करनेवाले हैं वे थोड़ी-थोड़ी पूंजी लगाकर मिल जाते हैं, और इतने मुनाफ़ेसे माल बेचते हैं जिससे उन्हें चीजें मंहगी न पड़ें, और सालके अन्तमें जो मुनाफ़ा होता है उसे आपसमें ही बांट लेते हैं।

६. आर्थिक-संगठनोंका सामाजिक-प्रभाव

समाजके जीवनपर पिछले १५० सालोंमें आर्थिक-संगठनोंका इतना ज़बर्दस्त प्रभाव पड़ा है कि कई विद्वान् तो यह कहने लगे हैं कि समाज जो-कुछ है, आर्थिक-परिस्थितियोंके कारण ही है। इसे 'आर्थिक-भाग्य-निर्णय-वाद' (Economic determinism) का सिद्धान्त कहते हैं। इसका वर्णन हम ११वें अध्यायमें कर आये हैं। इसके समर्थकोंमें कार्ल-मार्क्स मुख्य है। यह ठीक है कि आर्थिक कारणोंसे समाजका जीवन बहुत-कुछ प्रभावित होता है, परन्तु यह कहना कि सामाजिक-जीवनको बनानेवाला यही एक कारण है, अत्युक्ति है। आज आर्थिक-संगठन समाजके जीवनको किसप्रकार प्रभावित कर रहे हैं यह नीचे लिखी कुछ-एक बातोंसे प्रकट होजायगा :—

(१) हमने देखा कि पहले-पहल 'वस्तु-विनिमय' (Barter) से व्यापार चला, फिर 'धन' (Money) की उत्पत्ति हुई, उसके बाद 'साख' (Cre-

dit) से काम चलनेलगा। साखसे काम तभी चलसकता है जब परस्पर विश्वास की मात्रा वहुत अधिक वढ़ जाय। आर्थिक-संगठनोंका उत्तरोत्तर विकास सिद्ध करता है कि वर्तमान आर्थिक ढांचेमें मनुष्यका मनुष्यके प्रति विश्वास वढ़ गया है, नहीं तो कोई किसीपर क्यों विश्वास करे, और क्यों किसीकी साख वने ?

(२) व्यापारसे मनुष्यको अपनी स्वाभाविक-प्रवृत्ति और योग्यताके अनुसार काम करनेका अवसर मिला। श्रम-विभागके द्वारा यह संभव हुआ कि हरेक व्यक्ति अपनी योग्यताके अनुसार अपना काम वांट ले, और उसमें कमाल हासिल करे। इसकेसाथ ही व्यापारसे देश-देश तथा जाति-जातिका पारस्परिक संवंध वढ़नेसे उनका एक-दूसरेसे सांस्कृतिक-सम्बन्ध वढ़ता है, वे एक-दूसरेसे कुछ लेते हैं, कुछ देते हैं। प्राचीन इतिहासके विद्यार्थी जानते हैं कि व्यापारियोंके साथ-साथ संस्कृतियां भी एक देशसे दूसरे देशको जाती हैं। भारतवर्षमें योरुपके व्यापारी ही पहले-पहल आये, और उनकेसाथ उनकी संस्कृतिने भी यहां इतना प्रवेश किया कि आज देशके स्वतन्त्र होजाने और अंग्रेजोंके चलेजानेपर भी उनकी संस्कृति यहां मौजूद है।

(३) व्यापारकी वढ़तीकेसाथ-साथ भिन्न-भिन्नप्रकारकी प्रगतियां समाजमें चल पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, पहले सामन्त और किसान थे, अव पूंजी-पति और मजदूर-वर्ग उत्पन्न होगये, पहले प्रतियोगिता थी, फिर एकाधिकारकी भावना जागी, अव सहकारिताकी भावना जाग रही है। भिन्न-भिन्न आर्थिक अवस्थाओंके कारण भिन्न-भिन्न सामाजिक रचनाओंका निर्माण होता रहता है।

(४) घरकी रचनापर तो आर्थिक-संगठनोंने वहुत वड़ा प्रभाव डाला है। पहले घर ही किसी आर्थिक उद्योगका केन्द्र था, इसलिये मनुष्य ज्यादा समय घरमें विताता था, अव आर्थिक-समस्याको हल करनेकेलिये मनुष्यको अधिक समय घरसे वाहर विताना पड़ता है, इसलिये घर टूटता-सा नजर आरहा है। पहले वाल-वच्चोंकी शिक्षा घरमें होती थी क्योंकि माता-पिताका अधिक समय घरमें ही वीतता था, अव घरमें वैठनेकी किसीको फुर्सत नहीं इसलिये वच्चे भी अधिक समय घरसे वाहर स्कूलमें विताते हैं। शिक्षा-संस्थाओंका घरसे वाहर खुल जाना वर्तमान आर्थिक-परिस्थितियोंका ही परिणाम है। साथ ही इसका यह लाभ भी हुआ है कि अव शिक्षा कुशल व्यक्तियोंके हाथमें आगई है, वाप-दादेकी उन्हीं पुरानी वातोंको सीखनेके वजाय वालक घरसे वाहर जाकर नयी-नयी वातें सीखने लगा है।

(५) औद्योगिक-क्रांतिके वाद समाजका आर्थिक-ढांचा विल्कुल वदल गया। इस वदलेहुए ढांचेका प्रभाव समाजपर चौमुखा हुआ। धर्मके क्षेत्रमें

'धर्म' एक वैयक्तिक बात मानी जाने लगी, उद्योगके क्षेत्रमें मजदूरोंके हितमें अनेक कानून बने, स्वास्थ्यके क्षेत्रमें सर्व-साधारणको छूतकी बीमारियोंसे बचानेका काम राज्यने लेलिया, अपराधोंके क्षेत्रमें अपराधीको दण्ड देनेके बजाय उसके नैतिक सुधारकीतरफ़ ध्यान जाने लगा, शिक्षाके क्षेत्रमें अनिवार्य-शिक्षाके कानून बने। यह सब-कुछ आर्थिक कारणोंसे ही हुआ, ऐसा नहीं कहा जासकता, परन्तु व्यक्ति तथा राज्य आर्थिक-दृष्टिसे जब कुछ सम्पन्न अवस्थामें पहुंचे, तो उसका प्रभाव इन बातोंपर हुआ, ऐसा अवश्य कहा जासकता है।

७. आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टि

आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टिमें भेद—

आर्थिक-दृष्टि केवल मुनाफ़ेको देखती है। दूसरोंका कितना ही नुक्सान क्यों न हो, अगर अपनेको फ़ायदा है, तो आर्थिक-दृष्टिसे देखनेवाला उस कामको अवश्य करेगा। लड़ाईके समय जब देशके प्राण संकटमें होते हैं, तब भी कई पैसेके पीर देशको नुक्सान पहुंचाकर भी अपना फ़ायदा उठानेकी सोचते हैं। राजनैतिक-दृष्टिमें अपने लाभके स्थानमें सबके लाभका विचार होता है। जब राज्यकी तरफ़से सार्वजनिक उद्यान बनते हैं, हस्पताल खुलते हैं, तब किसीके वैय्यक्तिक-लाभकी बात नहीं सोची जाती, सारी जनताका लाभ सोचा जाता है। जबतक कोई वस्तु आर्थिक-क्षेत्रमें रहती है, तबतक उसका विनिमय होसकता है, जब राजनैतिक-क्षेत्रमें आजाती है, तब वह विनिमयके दायरेसे बाहर निकल जाती है। तब कितना भी दाम कोई क्यों न दे, उस वस्तुका अदला-बदला नहीं होसकता। आर्थिक-दृष्टिमें वैय्यक्तिक स्वामित्व है, राजनैतिक-दृष्टिमें सामाजिक-स्वामित्व है, आर्थिक-दृष्टिमें निरा स्वार्थ है, राजनैतिक-दृष्टिमें किसी व्यक्ति-विशेषका स्वार्थ नहीं, एक तरहसे परमार्थ है, दूसरोंका भला करनेकी भावना है, इसीलिये व्यक्ति पैसा कमानेकेलिये और राष्ट्र जन-कल्याणकेलिये बाग लगाते हैं, हस्पताल खोलते हैं, और दूसरे काम करते हैं।

आर्थिक तथा राजनैतिक-दृष्टिका संघर्ष—

हमने देखा कि आर्थिक-विकासकी दिशा वैयक्तिक-लाभकीतरफ़ रही है, मुनाफ़ा ही उसका उद्देश्य रहा है। इसीकारण पूंजीवादी युगमें 'न्यूनतम हस्त-क्षेप' (Laissez-faire) की नीतिका प्रयोग किया गया, जिसका अभिप्राय यह था कि राज्यको व्यापारमें हस्त-क्षेप नहीं करना चाहिये, उसे स्वतन्त्र चलने देना चाहिये। परन्तु इसका क्या परिणाम हुआ ? इसका परिणाम यह हुआ कि व्यापारियोंने निरे स्वार्थके दृष्टिकोणसे सब काम शुरू किया, इस बातका ख्याल नहीं किया कि इससे देशको, या दूसरोंको, लाभ है या नुक्सान।

इसकी प्रतिक्रियाका होना लाजमी था। प्रतिक्रियाके दो रूप होसकते थे। एक तो यह कि राज्य जहां देखे वहां हस्त-क्षेप करे, और व्यापारियोंके बढ़तेहुए स्वार्थ-परक दृष्टि-कोणपर लगाम लगाये। दूसरा यह कि आर्थिक-व्यवस्थाको व्यापारियोंके हाथसे बिल्कुल छीन ले, और व्यापारकी सारी मशीन राज्य अपने हाथमें ले ले ताकि वैय्यक्तिक-स्वामित्वके कारण दूसरोंको जो हानि होती है वह न होसके; और सामाजिक-स्वामित्वके कारण जो दूसरोंको लाभ होसकता है वह मिल जाय। आजकी आर्थिक-रचना इन्हीं दो दिशाओंकीतरफ़ बढ़ रही है। किसी-किसी देशमें आर्थिक-संगठनोंपर राज्यकीतरफ़से प्रतिबन्ध लग रहे हैं, और रूसमें तो व्यापारको ही राज्यने व्यापारीके हाथसे छीनकर अपने हाथ में लेलिया है।

प्रश्न

१. वर्तमान आर्थिक-संगठनोंका बीज शिकारी-जीवन, पशु-पालनका जीवन तथा कृषि-जीवनमें कहांतक उसका पाया जाता है?
२. योरुपके सामन्तशाही जीवनमें आर्थिक-संगठनका क्या रूप था, उसके बाद औद्योगिक-क्रांतिसे पहलेतक उसका क्या रूप रहा?
३. पूंजीवादके युगमें आर्थिक-संगठनके मुख्य-मुख्य क्या रूप थे?
४. कौरपोरेशन, कार्टल, होल्डिंग-कम्पनी, प्रतियोगिता तथा एकाधिकारको दृष्टिमें रखतेहुए एक सिलसिलेवार निबन्ध लिखिये।
५. आर्थिक-संगठनोंका सामाजिक-प्रभाव क्या है?
६. आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टि-कोणमें क्या भेद है, और इस भेदके कारण जो संघर्ष उत्पन्न हुआ उसका क्या परिणाम हुआ?
७. राज्यको आर्थिक-व्यवस्थामें दखल देना चाहिये या नहीं, इस सम्बन्ध में क्या-क्या दृष्टियां उत्पन्न होगई हैं?

[२१]

'महा-समितियां'—सांस्कृतिक-संगठन

(GREAT ASSOCIATIONS—CULTURAL ASSO.)

किस संगठनको हम सांस्कृतिक कहें, किसे न कहें ? हम पहले १२वें अध्यायमें 'सभ्यता' (Civilization) तथा 'संस्कृति' (Culture) में भेद दर्शा चुके हैं। 'सभ्यता' साधन का नाम है, 'संस्कृति' उस साधनके लक्ष्यका नाम है, रेडियो 'सभ्यता' का सूचक है, रेडियोद्वारा संगीतका प्रसार 'संस्कृति' का सूचक है, 'सभ्यता' को उपयोगिता और कार्य-क्षमता (Utility and efficiency) की दृष्टि से जांचा जाता है, 'संस्कृति' को मूल्य (Valuation) करनेवाले माप-दंडकी दृष्टिसे जांचा जाता है, राजनैतिक तथा आर्थिक-संगठन जिनका हम अभी वर्णन कर चुके हैं, 'सभ्यता' के अन्तर्गत हैं, धार्मिक तथा शिक्षा के तथा इसीप्रकारके अन्य-संगठन 'संस्कृति' के अन्तर्गत हैं। परन्तु प्रश्न होता है कि क्या राज्यका संगठन जनताके हितकी साधना नहीं करता ? अगर करता है, तो क्या यह सांस्कृतिक ध्येय नहीं है ? क्या आर्थिक-संगठन इसलिये भी नहीं बनते कि वे साहित्यका निर्माण करें, जीवनमें जो अच्छी-अच्छी बातें हैं, उनको बढ़ावा दें। अगर बनते हैं, तो क्या ये काम सांस्कृतिक नहीं हैं ? तो फिर, 'सांस्कृतिक' क्या वस्तु है, इसका आर्थिक, राजनैतिक आदि संगठनोंसे क्या भेद है, किस कसौटीपर कसकर हम कह सकते हैं कि यह संगठन सांस्कृतिक ही है, आर्थिक या राजनैतिक नहीं है, इसकी 'संस्कृति' में गणना है, 'सभ्यता' में गणना नहीं है ?इनका आपसका भेद जाननेकी निम्न दो कसौटियां हैं:—

(१) 'समूह' (Group) के अध्यायमें हम देख आये हैं कि 'समूह' दो प्रकारके होते हैं—'प्रथम-समूह' (Primary groups) तथा 'द्वितीय-समूह' (Secondary groups)। 'प्रथम-समूह' वह है जिसमें व्यक्तियों का एक-दूसरेसे आमने-सामने का, वैय्यक्तिक सम्बन्ध होता है। 'सांस्कृातक-संगठन' (Cultural association) में आमने-सामनेका सम्बन्ध होना आवश्यक है, इसलिये यह 'प्रथम-समूह' (Primary group) है। संगीत-समाज, साहित्य-गोष्ठी, नाटक-मंडली, सत्संग—ये सब सांस्कृतिक-संगठन हैं, परन्तु अगर

इन संगठनोंमें आमने-सामनेका, वैय्यक्तिक संबंध न हो, तो ये संगठन किस कामके ? आर्थिक अथवा राजनैतिक संगठनोंमें आमने-सामनेका संबंध नहीं होता। अगर कोई व्यक्ति किसी कम्पनीका हिस्सेदार है, तो उसका कम्पनीके डायरेक्टरोंसे वैय्यक्तिक-संबंध होनेकी आवश्यकता ही नहीं होती । किसी राज्यका अंग बननेकेलिये भी मैजिस्ट्रेट या जज से परिचय प्राप्त करनेकी कोई ज़रूरत नहीं है । आर्थिक या राजनैतिक संगठन 'द्वितीय-समूह' (Secondary group) में आजाते हैं, उनमें आमने-सामनेके संबंधकी आवश्यकता नहीं होती। सांस्कृतिक-संगठनमें जितना निजीपन है, अन्य संगठनोंमें उतना निजीपन नहीं है, और जितने अंश में अन्य संगठनोंमें निजीपन, आमने-सामनेपना आता है, उतने अंशमें वे भी सांस्कृतिक हैं। इसीलिये बड़ी-बड़ी मिलोंमें छोटे-छोटे ग्रुप बने होते हैं, बड़े-बड़े राज्योंमें छोटी-छोटी पार्टियां बनी होती हैं—ये आर्थिक तथा राजनैतिक संगठन के अन्तर्गत होती हुई भी सांस्कृतिक हैं।

(२) अन्य संगठनोंमें 'एकता' तथा सांस्कृतिक-संगठनोंमें 'भिन्नता' की प्रवृत्ति होती है। उदाहरणार्थ, एक देशमें दो राज्य नहीं रह सकते, एक राज्य ही रहता है। आर्थिक-क्षेत्रमें भिन्न-भिन्न आर्थिक-संगठन होसकते हैं, परन्तु सब एक सूत्रमें बंधे होते हैं। यह नहीं होसकता कि एक ही आर्थिक-संगठनमें रुपया भी चले, पौंड भी चले, और डालर भी चले। इससे अव्यवस्था फैलनेकी संभावना रहती है। आर्थिक-संगठनका राजनैतिक संगठनसे इतना गठबंधन है कि एक राज्यकेसाथ एक आर्थिक व्यवस्था होना स्वाभाविक है । परन्तु एक राज्य और एक आर्थिक-संगठनके साथ-साथ एक ही संस्कृति हो, यह आवश्यक नहीं है । एक राजमें अनेक संस्कृतियां साथ-साथ रह सकती हैं, और रहती हैं। उदाहरणार्थ, धर्म संस्कृतिका ही एक रूप है। कोई समय था जब राज्य और धर्म एक थे, परन्तु जब अनुभवने सिखा दिया कि ये अलग-अलग हैं, तबसे एक राज्यके अन्दर अनेक धर्मोंका पाया जाना कोई विलक्षण बात नहीं है। इतना ही नहीं कि एक धर्मकी भिन्न-भिन्न शाखाएं हरेक देशमें साथ-साथ पायी जाती हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न, और कभी-कभी विरोधी धर्म एक ही देशमें पाये जाते हैं, यहांतक कि एक ही देशमें आस्तिक, नास्तिक—सभीतरहके लोग पाये जाते हैं। संस्कृति अन्तरात्माके विकास का नाम है। मनुष्यकी प्रवृत्तियां भिन्न-भिन्न हैं, अतः उनको भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकसित होनेकी स्वतंत्रतासे ही मनुष्य पूर्णताकी तरफ़ जासकता है, और इस भिन्नता से ही नूतन विचारों तथा आविष्कारोंका विकास कर सकता है । अगर मनुष्यकी इस स्वाभाविक विकासशीलता पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय, तो संसारकी उन्नति रुक जाय। अगर पिछले इतिहाससे मनुष्यने कुछ सीखा है, तो यही कि सांस्कृतिक-विकास जबतक समाजकेप्रति विरोधी

रूप ही ग्रहण न कर ले, तबतक उसमें किसीप्रकारका हस्तक्षेप करना उन विकासोन्मुखी शक्तियोंका दमन करना है, जो मानव-समाज का कल्याण कर सकती हैं। आर्थिक तथा राजनैतिक संगठनोंका काम इन सांस्कृतिक-धाराओंको दूर बैठकर देखते रहना, और समय-समयपर इनकी प्रवृत्तिमें रुकावट बननेके स्थानपर इनमें सहायता पहुँचाना है ।

सांस्कृतिक-संगठन कई प्रकार के हैं, उन सबका वर्णन करना इस पुस्तकका विषय नहीं है । इन सांस्कृतिक-संगठनोंमें सबसे मुख्य धार्मिक-संगठन है । हम अगले अध्याय में इसी पर कुछ विचार करेंगे ।

प्रश्न

१. आर्थिक तथा राजनैतिक संगठनोंको सांस्कृतिक नहीं कहा जा सकता । क्यों ?
२. आर्थिक तथा राजनैतिक संगठनों एवं सांस्कृतिक तथा धार्मिक संगठनोंमें आधारभूत भेद क्या है ?
३. क्या कोई ऐसी भी स्थिति हो सकती है जिसमें आर्थिक संगठन को सांस्कृतिक कहा जा सके ?

[२२]

'महा-समितियां'—धार्मिक-संगठन

(GREAT ASSOCIATIONS—RELIGIOUS ASSO.)

१. धर्मका स्वरूप

समाज-शास्त्रको इससे कोई मतलब नहीं कि जिस धर्ममें हम विश्वास करते हैं, वह सच्चा है या नहीं। समाज-शास्त्रका काम सामाजिक-जीवन पर धर्मके प्रभाव का अध्ययन करना है। धर्मका स्वरूप क्या है ? धर्म हमें भिन्न-भिन्न संस्थाओंके रूप में दिखाई देता है, कोई ईसाइयतको धर्म समझता है, कोई इस्लाम को, कोई हिन्दुत्व को, परन्तु ईसाइयत ही तो धर्म नहीं, इस्लाम या हिन्दुत्व ही तो धर्म नहीं। कुछ ऐसी बातें हैं, जो प्राय: सब धर्मोंमें एक-सी पायी जाती हैं, वे ही धर्म हैं। वे क्या हैं ?

(१) आध्यात्मिक-शक्तिमें विश्वास (*Belief in Supernatural*)—मनुष्य जंगली हो या सभ्य, वह हर बातका कारण जानना चाहता है। भौतिक बातों का कारण उसे अपनी आंखोंसे दीखता है, परन्तु कई बातें ऐसी हैं जिनका कारण उसे आंखोंसे नहीं दीखता। बादल गरजते हैं, बिजली कड़कती है, आसमान में इन्द्र-धनुप दिखाई देता है—यह सब कैसे होता है ? आज तो विज्ञानने इन सबका समाधान हमें बता दिया है, परन्तु आदिकालीन-मनुष्य जब इन घटनाओंको देखता था, तब कल्पना का सहारा लेकर अपना एक काल्पनिक संसार बना लेता था। जैसे हम सब काम करते हैं, वैसे इन कामों को भी कोई महान् सत्ता करती होगी। वह सत्ता एक शक्ति के रूपमें है, या व्यक्तिके रूपमें है ? कोई अशरीर महा-शक्तिकी कल्पना करते थे, कोई सशरीर महा-व्यक्तिकी कल्पना करते थे, कोई समुद्र, पहाड़, नदी, नालेमें ही चेतनकी कल्पना करते थे, कोई एक देवताकी, कोई अनेक देवताओंकी कल्पना करते थे। इसी पारलौकिक आध्यात्मिक सत्ताका नाम ही वे परमात्मा रखते थे। अशरीर शक्तिको मानने वाले 'निर्गुण-ब्रह्म' के उपासक, सशरीर-व्यक्तिको मानने-वाले 'सगुण ब्रह्म' के उपासक थे। 'सगुण' माननेवालों में जो सूर्य, चंद्र, तारे, पहाड़, नदी, नाले, पृथिवी, वायु, अग्निको अपने-जैसा चेतन समझते थे, वे 'भूत-चेतनवादी' (Animists), जो सिर्फ़ एक सर्व-शक्तिमान् को मानते थे, वे 'एकेश्वरवादी'

(Monotheists), जो अनेक शक्तियोंमें विश्वास करते थे, वे 'बहु-देवतावादी' (Polytheists), जो सूर्यका वर्णन करतेहुए सूर्यको ही सब-कुछ, चन्द्रका वर्णन करतेहुए चन्द्रको ही सब-कुछ, और अन्य किसी देवताका वर्णन करतेहुए उसीको सब-कुछ कहते थे, वे 'हीनोथीयिस्ट' (Henotheists) कहाते थे। देवी, देवता, भूत, पिशाच आदिका मानना भी किसी पारलौकिक-शक्तिमें विश्वासके कारण ही था।

(२) धर्म तथा मानसिक-उद्वेग (Religion and Emotion)—प्रत्येक धर्ममें भय, चिंता, आतंक, श्रद्धा, प्रेम, आनन्द तथा इसीप्रकारके अन्य मानसिक-उद्वेगोंका सम्मिश्रण रहता है। जो महान् शक्ति है उसका आतंक, उससे भय तो बना ही रहता है। इसी भयके परिणाम-स्वरूप नरककी कल्पना की गई है, और इसीलिये उसकेप्रति श्रद्धा तथा उसकी आज्ञा पालनेसे मनुष्य आनन्दका अनुभव करता है। उस आध्यात्मिक-शक्तिको प्रसन्न करनेकेलिये जो संसारका नियन्त्रण करती है, कई लोग अपने शरीरको कष्ट देना एक धार्मिक-कृत्य समझते थे। धर्मके साथ 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है, इसीका परिणाम है कि धर्म प्रायः असहिष्णु होता है। धार्मिक-व्यक्तिमें सहिष्णुता हो तो वह भी पराकाष्ठातक पहुंच जाती है, असहिष्णुता हो तो उसकी भी कोई सीमा नहीं रहती। अन्धापन 'उद्वेग' (Emotion) का स्वाभाविक गुण है। जो व्यक्ति किसी 'उद्वेग' (Emotion) के आधीन होता है, वह बुद्धिसे काम नहीं लेता। धर्मके साथ 'उद्वेग' के मेल होनेके कारण ही धर्मने इतिहासमें क्षुद्र-मनस्कता, असहिष्णुता तथा मतान्धताका परिचय दिया है, और 'उद्वेग' के कारण ही धर्ममें सेवा, त्याग, निःस्वार्थ-भाव खिल उठते हैं। 'उद्वेग' के कारण ही ईसाइयतमें इन्क्वीजीशन की स्थापना हुई, इस्लाममें जिहाद का नारा बोला गया, और उद्वेगके कारण ही दधीचि ऋषिने अपनी हड्डियोंको दे दिया, राजा हरिश्चन्द्रने अपने-आपको वचनकी रक्षाकेलिये बेच दिया। मानसिक-उद्वेगकी, समाधिकी, अपनेको पारलौकिक दैवीय-शक्तिमें खोदेनेकी भावना से ही मन्दिरोंमें घंटा-घड़ियाल बजाते हैं, ढोल पीटते हैं, प्राणायाम करते हैं, कहीं-कहीं भांग और धतूरा चढ़ाते तथा दूसरे नशे करते हैं।

(३) धार्मिक-कृत्य (Religious activities)—धर्मके सम्बन्धमें अनेक प्रकार के कृत्य, विधि-विधान किये जाते हैं जिनमेंसे कुछ तो ऐसे हैं, जिनका उद्देश्य दैवीय-शक्तिको जादू-टोनेके द्वारा अपने वशमें करना होता है, कुछका उद्देश्य दैवीय-शक्ति की आराधना करके उसकी कृपा का पात्र बनना होता है, कुछका उद्देश्य दैवीय-शक्ति के कोपसे बचनेकेलिये उससे दूर रहना होता है।

(क) जादू-टोनेसे दैवीय-शक्तिको वशमें करना (Magic)—दैवीय-शक्ति संसारका संचालन करती है। रोग, दुःख सब इसीकेद्वारा होता है।

जादूके जोरसे उस शक्तिपर अधिकार प्राप्त कर लिया जाता है । मन्त्रोंका उच्चारण इसी उद्देश्यसे करते हैं। जादूके जोरसे मनुष्यमें देवता की अपेक्षा अधिक शक्ति आजाती है, और वह जैसा चाहे देवताको नचाता है। इसे 'मन्त्र सिद्ध करना' कहते हैं। जादू दो तरहका माना गया है—'संक्रामक-जादू' (Contagious magic) तथा 'सम-वेदन जादू' (Sympathetic magic)। 'संक्रामक-जादू' में शत्रुके नख आदि किसी वस्तुको भस्म कर दिया जाता है ताकि शत्रु नष्ट होजाय, यह समझा जाता है कि शत्रुके नखका शत्रुके शरीरकेसाथ संबंध होनेके कारण नखपर कीगई क्रिया उसके शरीरतक पहुँचेगी। 'सम-वेदन जादू' में शत्रुकी मोमकी प्रतिमा बनाई जाती है, और प्रतिमाको बींधने से समझा जाता है कि शत्रु बिंध जायगा, मोमकी प्रतिमाकी वेदना शत्रुकी वेदना बन जायगी।

(ख) आराधनासे दैवीय-शक्तिको वश करना (Prayer)—दैवीय-शक्ति को जबर्दस्ती वशमें करनेका तरीका तो ओझाओंका, जादू-टोनेका है, परन्तु उसे रिझाकर, उसकी खुशामद करके भी उससे मनचाही मांग पूरी कराई जासकती है। यह तरीका प्रार्थना, स्तुति, स्तोत्र, वेदीके सामने नत-मस्तक होने तथा कभी-कभी अपनेको उस दैवीय-शक्तिकेप्रति आत्म-समर्पण कर देनेका, बलि चढ़ा देनेका है।

(ग) दैवीय-शक्तिसे दूर रहना (Taboo)—दैवीय-शक्तिके कोप से बचनेका तरीका यह भी है कि उससे दूर रहा जाय। जिन मकानोंमें भूत रहनेकी बात चल पड़ती है उनमें फिर कोई नहीं रहता, कभी-कभी उन्हें गिरवा दिया जाता है। कभी-कभी खास-खास भोजन 'निषिद्ध' (Taboo) माने जाते हैं। इसका अभिप्राय भी दैवीय कोप से बचना होता है। कई लोग अलौकिक शक्तियों से बचनेके बजाय उन्हें ही डराते-धमकाते हैं। जिन्न, भूत आदि को रिझाया भी जाता है, धमकाया भी जाता है।

(४) धार्मिक-सामग्री (Religious objects)—प्रत्येक धर्म में कुछ भौतिक वस्तुएं होती हैं, जो उस धर्मकेलिये उपयोगी तो समझी जाती हैं, परन्तु साथ-ही-साथ उनका एक विशेष रूप निश्चित होता है। वेदीकी उपयोगिता है, परन्तु वेदी किसतरफ़ बने, पूर्वाभिमुख हो, या पश्चिमाभिमुख, यह भी महत्वकी वस्तु है। गंडा, तावीज, कवच भी धार्मिक-सामग्री है, जो दैवीय-शक्तिको वश कर लेती है। धूप-बत्ती-आचमनी-आसन-हवनकुंड-हवनकुंडकी अग्नि-समिधा—ये सब उपयोगी हैं, परन्तु साथ ही अगर अग्नि अरणियोंसे जलाई जाय, समिधा पलाशकी हो, जल गंगाका हो तो विशेष महत्व रखता है।

(५) धार्मिक-प्रतीक (Religious symbols)—धर्ममें हर वस्तु किसी बातकी प्रतीक होती है। प्रतिमा भगवानकी प्रतीक है, मोम-बत्ती आत्मिक

प्रकाशको प्रतीक है, धूप-बत्ती आध्यात्मिक-सुगन्धकी प्रतीक है । यहांतक कि एक खासप्रकारकी पोशाक धार्मिक समझी जाती है । हिन्दुओंमें कुशाके आसन पर और रेशमी वस्त्र धारण करके सन्ध्या करना पवित्रताका प्रतीक है । बायबल, कुरान तथा वेद ईश्वरीय-ज्ञान के प्रतीक हैं।

२. धर्म तथा समाज

'धर्म' समाजकी हित-साधक प्रवृत्ति है—

धर्मने आदि-कालसे मनुष्यकी समाज-विरोधी प्रवृत्तियोंको काबूमें रखा है। इसकेसाथ ही धर्मने मनुष्यकी शारीरिक तथा मानसिक-शक्तिको समाजके हितमें लगानेका प्रयत्न किया है । मनुष्यकेलिये स्वाभाविक तो यह था कि वह दूसरेपर जबर्दस्ती अपनी इच्छाको आरोपित करे, परंतु धर्मके प्रभावमें आकर उसने इस समाज-विरोधी प्रवृत्तिको बढ़ने नहीं दिया । धार्मिक-दृष्टिसे जो ठीक समझा जाता था वही वह करता था, जो अनुचित समझा जाता था, उसे करनेका कितना ही बड़ा प्रलोभन क्यों न हो, वह नहीं करता था । सभ्यताके आदि-युगमें कानूनकी कोई सत्ता नहीं थी, परन्तु उसके न होतेहुए भी धार्मिक-भावनासे प्रेरित होकर परिवार, बिरादरीके नियमोंका अविचल रूपमें पालन होता था । उससमय जब कि कानून नहीं था, कानूनको चलानेवाला कोई संगठन नहीं था, समाजको व्यवस्थामें रखनेका काम धर्मका ही था । शुरू-शुरूमें राजाके डरसे नहीं, परन्तु ईश्वर के दण्डके भयसे लोग सदाचारका उल्लंघन नहीं करते थे, उसके बाद जब आत्माकी अमरताका विचार उत्पन्न हुआ, तब स्वर्ग या नरक के ख्यालसे अच्छा काम करते थे, बुरे कामसे बचते थे । इसमें सन्देह नहीं कि अच्छा क्या है और बुरा क्या है, इस विषयमें उस समयके विचार और आजके विचारमें मत-भेद होसकता है । आज हम सती-प्रथाको बुरा समझते हैं, आजसे डेढ़-सौ साल पहले इसे अच्छा समझा जाता था। सती-प्रथाको रोकने का धर्मने विरोध किया था। इस दृष्टिसे धर्म कभी-कभी जिस बुरी बातको भी अच्छा समझ बैठता है, उसे हटने नहीं देता। धर्मकी इस बुराई के होतेहुए भी धर्मने मनुष्य-समाजको पथ-भ्रष्ट होनेसे बचाया है । धर्मने जिन बातोंको मनुष्य-समाजके सामने रखा था उससमय वे ठीक ही थीं, पीछे उनकी आवश्यकता न रही, परन्तु रूढ़ीके पीछे चलतेहुए हम वही लकीर पीटते रहे, यह धर्मकी गलती थी । जब राज्यका उदय नहीं हुआ था, कायदे-कानून नहीं बने थे, दंड-विधान नहीं रचा गया था, तब ईश्वरका भय ही तो परिवारको, बिरादरीको, और सम्पूर्ण सामाजिक-व्यवस्थाको थामे हुए था । जब किसी जाति पर दूसरी जाति आक्रमण करती थी, तब अपने धर्मकी रक्षा करनेकेलिये ही जातियां युद्ध करती थीं, तब धर्म ही उनके हृदयमें देश-भक्तिका स्रोत बहाता था । हमें स्मरण रखना

होगा कि संसारकी बड़ी-बड़ी क्रांतियां धर्म-प्रवर्तकोंने की हैं। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद ने संसारको आमूलचूल बदल दिया, परन्तु उनकी विचार-धाराएं धर्मकी उर्वरा भूमि में पनपी थीं, और धर्मको आधार बनाकर ही उनके विचारोंका जन्म हुआ था।

'धर्म' समाजका अहित भी करता है—

जब समाजमें राज्य तथा कायदे-कानून की सृष्टि नहीं हुई थी, तब धर्मने राज्यका काम किया, इसलिये जब राज्य तथा कायदे-कानूनकी सृष्टि होगई, तब इसने समाजपर शासन करनेके अपने अधिकारको छोड़नेसे इन्कार कर दिया। सदियोंतक धर्मका यह दावा रहा कि समाजपर शासन करनेका उसीका अधिकार है। इसी-कारण देरतक राजापर भी धर्म ही शासन करता रहा। राज्य तथा धर्ममें लगातार सदियोंके संघर्ष के बाद मानव-समाजने धर्म तथा राज्यको अलग-अलग करना सीखा। धर्म एक सांस्कृतिक-प्रवृत्ति है, यह एक देशमें अनेक होसकते हैं, राज्य एक सभ्यता के विकासकी प्रवृत्ति है, यह एक देशमें एक ही होसकता है—यह पाठ था, जो सदियोंकी कश्मकशके बाद मानवने सीखा। आज भी कई लोग राज्यको धर्मके पीछे चलाना चाहते हैं। इसका एक ही अर्थ होसकता है। वह यह कि जैसे एक देशमें एक राष्ट्र रह सकता है, वैसे एक देशमें एक ही धर्म रह सकता है, जैसे एक देशमें दो राष्ट्र रहें, तो उनमें युद्ध छिड़ना लाजमी है, वैसे एक देशमें दो धर्म रहें, तो उनमें भी युद्ध छिड़ना लाजमी है। पाकिस्तानका आधार यही नीति है। परन्तु क्या यह स्थिति युक्ति-युक्त है ? क्या एक देशमें दो धर्म नहीं रह सकते, रहें तो क्या उनमें युद्ध छिड़ना लाजमी होना चाहिये ? मानव-समाजने इस परीक्षणको किया, और करके सदियां हुईं जब छोड़ दिया। धर्म तो मनुष्यकी अन्तरात्माका विकास है, संस्कृतिकी देन है। मनुष्यका आभ्यन्तर नाना प्रवृत्तियोंसे बना है, उनके निर्बाध विकास से ही मानव-समाज उन्नति करता है। कला, संगीत, धर्म—ये सब एक कोटि की वस्तुएँ हैं, इनमें एकता लाना जोर-जबसे ही होसकता है, परन्तु इनकी एकता मनुष्यको विकासके पथसे भ्रष्ट कर देती है। इसीलिये भारतने धर्म-निरपेक्ष-राज्य (Secular State) की कल्पनाको अपने विधानमें स्थान दिया है। धर्मने राज्यके काममें हस्तक्षेप करके समाजका कई बार गला घोंटा है। अनेक सुधार जो समाजकेलिये आवश्यक थे, धर्मके नामपर उनका विरोध किया गया है। स्त्रियों को धर्मके नामपर दहकती चितामें धकेल कर सती-प्रथाको देर तक जीवित रखा गया। आज भी स्त्रियोंको पुरुषोंके समान अधिकारोंको देनेवाले हिन्दू कोड बिलका धर्मके नामपर विरोध किया जा रहा है। योरप में गैलिलियोको यह कहनेपर कि सूर्य पृथिवीके गिर्द नहीं घूमता, पृथिवी सूर्यके गिर्द घूमती है, जेलमें डाल दिया गया, ब्रूनोको यह कहनेपर कि पृथिवी नहीं, सूर्य इस विश्वका केन्द्र है, आगमें जला दिया

गया। धर्मने समाजका हित किया, तो अहित भी कम नहीं किया। धर्म समाजका अहित इसलिये कर सका क्योंकि धर्मके हाथ में राज-सत्ता थी। राज-सत्ता सदा एकताकी तरफ़ जाना चाहती है, अनेकता से इसे वैर होता है, इसलिये जब राज्य तथा धर्म मिले होते हैं, तब धर्म भी एकता की तरफ़ जाना चाहता है, और अनेकतासे, भिन्न विचारसे इसमें असहिष्णुता उत्पन्न होजाना स्वाभाविक है। धर्म यह भूल जाता है कि यह स्वयं संस्कृतिकी उपज है, और संस्कृतिके विशाल-वृक्षमें भिन्न-भिन्न शाखाओं से ही इसकी शोभा है।

फिर धर्म जीवित क्यों है ?—

धर्म के दो काम थे। पहला काम तो समाजको कायदे-कानूनमें बांधकर रखना था, दूसरा काम विश्वकी गुत्थी को सुलझाना था। कायदे-कानूनकेलिये राज्यकी सृष्टि होगई है, विश्वकी गुत्थियां विज्ञान सुलझाने लगा है। आज धर्मके बनाये कायदे-कानूनको कोई नहीं मानता, इनमें क्षुद्र-दृष्टि से काम लिया जाता है, न ही कोई सूर्य कैसे उत्पन्न हुआ, पृथिवीकी क्या आयु है—इन बातोंको समझनेकेलिये धर्मकीतरफ़ देखता है। फिर धर्म अब भी क्यों जीवित है ? धर्म की आजके युगमें क्या आवश्यकता है ? यह कहना कि सिर्फ़ मूर्ख लोगोंकेलिये धर्म बचा हुआ है, ग़लत धारणा है। धर्मका मुख्य काम समाजको कायदे-कानूनमें बांधना या विश्व की गुत्थियोंको सुलझाना नहीं है। धर्म यह काम करता रहा है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु इसका मुख्य काम मनुष्यको क्रियाकेलिये प्रेरित करना है। मनुष्यमें दो मानसिक-प्रक्रियाएं हैं—'ज्ञान' तथा 'कर्म'। ज्ञान भी तो कर्म के लिये है। जो ज्ञान सिर्फ़ ज्ञान बना रहता है, वह किस कामका ? ज्ञानका परिणाम होना चाहिये—'कर्म'। आज हम ज्ञानी हैं, परन्तु वह ज्ञान हमारे कर्ममें नहीं दिखाई देता। धर्मका काम मनुष्यको 'कर्म' केलिये प्रवृत्त करना है। धर्मके क्षेत्रमें, सही या ग़लत, जो-कुछ ज्ञान था, उसका उद्देश्य भी सिर्फ़ मनुष्यको कुछ करनेकेलिये प्रेरित करना था। आदि-कालसे मनुष्यमें यह भावना, यह विश्वास कि संसारमें मनुष्य से भी कोई ऊंची शक्ति है, ऐसी शक्ति जिसके दरबार में, अन्याय की कोई संभावना नहीं, मनुष्यको भिन्न-भिन्न संकटोंमें सहन-शीलता तथा साहस देती रही है, इसी विश्वासके आधारपर मनुष्य अबतक जिन्दा है, इसीविश्वासके आधारपर वह आत्मघात नहीं कर बैठता। इसमें सन्देह नहीं कि आजके मानवको वर्षासे बचनेकेलिये, उत्तम खेतीकेलिये, रोग से मुक्त होनेकेलिये धर्मकी आवश्यकता नहीं, आदि-कालका मनुष्य इन बातोंकेलिये भी धर्मकी तरफ़ ताकता था, परन्तु अन्यायसे चारोंतरफ़से पटे हुए इस विश्व में अगर कहीं प्रकाशकी किरण दीखती है, अगर मनुष्य अत्याचारको इन शक्तियोंकेसाथ जूझता है, तो इसी आशा से, और इसीविश्वासके कि विश्वकी संचालक शक्ति संसार

को असत्यसे सत्यकीतरफ़ और अन्यायसे न्यायकीतरफ़ ले जारही है । यही निष्ठा, यही विश्वास जो मनुष्यको कर्म करनेको, बुराईकेसाथ लड़ते चलेजानेकी प्रेरणा देता है, धर्म है, और इस निष्ठा को जागरूक रखनेकेलिये, मनुष्यमें कर्म करनेकी भावना बनाये रखनेकेलिये धर्म ज़िन्दा है, और ज़िन्दा रहेगा।

प्रश्न

१. आर्थिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक-संगठनोंमें आधारभूत भेद क्या है ?

२. कौन-कौन-सी बातें हैं जो सब धर्मोंमें एक-सी पायी जाती हैं ?

३. क्या यह कहा जा सकता है कि धर्मने समाजका हित किया है ?

४. धर्मने समाज का अहित किया है, तो क्या, और धर्मसे यह अहित क्यों हुआ है।

५. क्या आजके युगमें धर्मके जीवित रहनेकी आवश्यकता है ?

[२३]

सामाजिक-सम्बन्ध या सामाजिक-प्रक्रिया

(SOCIAL RELATIONS OR SOCIAL PROCESSES)

१७वें अध्यायमें हम वता आये हैं कि 'सामाजिक-सम्बन्ध' (Social relation) के उत्पन्न होने का मनोवैज्ञानिक आधार 'स्वार्थ' (Interest) है। मनुष्यके दो तरहके स्वार्थ हैं—'एक-से' (Like) और 'एकही' (Common)। हरेक व्यापारीके दूसरे व्यापारीके साथ 'एक-से' स्वार्थ हैं, परन्तु जब दो व्यापारी साझेदारीमें मिलजाते हैं, तव उनके स्वार्थ 'एक-से' (Like) से हटकर, 'एक-ही' (Common) होजाते हैं। 'एक-से' स्वार्थ, और 'एक-ही' स्वार्थ—ये दो प्रकारके सामाजिक-सम्वन्धोंको सूचित करते हैं। 'एक-से' स्वार्थोंमें स्वार्थोंकी एकताकेसाथ भिन्नता भी रहती है, 'एक-ही' स्वार्थोंमें भिन्नता नहीं रहती, एकता ही रहती है।

'एक-से' तथा 'एक-ही'—ये दो भेद स्वार्थोंकी एकताको दृष्टिमें रखकर किये गये हैं। परन्तु हमने अभी देखा, स्वार्थोंमें एकता होती है, तो भिन्नता भी होती है। 'एक-से'—शब्दका प्रयोग ही भिन्नताको दृष्टिमें रखकर किया गया है। यदि स्वार्थोंमें भिन्नता भी होती है, तो भिन्नताको सामने रखतेहुए भी स्वार्थोंके दो भेद किये जासकते हैं। 'सहकारी स्वार्थ' (Associative interests) तथा 'असहकारी-स्वार्थ' (Dissociative interests)। 'एक-से' तथा 'एक-ही' स्वार्थ तो 'सहकारी-स्वार्थ' में आजाते हैं, एक दूसरेसे भिन्न स्वार्थ 'असहकारी-स्वार्थ' में आजाते हैं। 'स्वार्थ' (Interest) ही 'सामाजिक-सम्वन्ध' (Social relation) का कारण है। 'सहकारी-स्वार्थों' (Associative interests) से 'सहकारी-सामाजिक-सम्वन्ध' (Associative social relations) उत्पन्न होजाते हैं; 'असहकारी-स्वार्थों (Dissociative interest) से 'असहकारी-सामाजिक-सम्वन्ध' (Dissociative social relations) उत्पन्न होजाते हैं। 'सहकारी-सामाजिक-सम्वन्ध' हैं—'सहयोग' (Co-operation), 'अनुकूलीकरण' (Accommodation), तथा 'सात्मीकरण' (Assimilation); 'असहकारी सामाजिक-सम्वन्ध' हैं—'प्रतिस्पर्धा' (Competition) तथा 'संघर्ष'

(Conflict)। अन्य सब 'सामाजिक-सम्बन्ध' इन्हींमेंसे किसी एकमें समा जाते हैं। इस अध्यायमें हम इन्हीं 'सामाजिक-सम्बन्धों' की व्याख्या करेंगे।

१. सहयोग (CO-OPERATION)

सैमुअल बटलरका कथन है कि हमारे एक-दूसरेके साथ संबंध या तो मानो रस्सीसे बंधे होते हैं, या चाकूसे कटे होते हैं। लोग विवाह करते हैं, तलाक करते हैं; काम करते हैं, स्ट्राइक कर देते हैं; अपनेको धर्मका भाई-भाई कहते हैं, या एक दूसरेका खून बहाने लगते हैं। जब वे एक-दूसरेसे मेल करते हैं, तो इसे 'सहयोग' (Co-operation) कहते हैं, जब एक-दूसरेसे मेल नहीं कर सकते, एक-दूसरेको हानि पहुंचाते हैं, तो इसे 'विरोध' (Opposition) कहते हैं। 'सहयोग' के भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे निम्न भिन्न-भिन्न भेद किये गये हैं:—

(१) 'सहयोग' तीन तरहका होसकता है। पहला सहयोग तो वह है जब हम किसी अपनी या दूसरेकी आवश्यकताके कारण सहयोग नहीं करते, दिल-बहलावके कारण सहयोग देते हैं। घरमें नौकर खाना बना रहा है, गृह-पत्नी रसोई में जाकर बैठ जाती है, वह भी पूरी बेलने लगती है। दूसरा सहयोग वह है जब हम किसीकी आवश्यकताको पूरा करते हैं। एक यात्रीकी मोटर कीचड़में फंस गई, वह इकला उसे निकाल नहीं सकता, हम भी मोटरको कीचड़मेंसे निकालनेकेलिये अपना हाथ लगा देते हैं। तीसरा सहयोग वह है जिसमें भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न काम कर रहे होते हैं, परन्तु उन सबके मिलनेसे एक काम बन जाता है। लोहार लोहा बनाता है, बढ़ई लकड़ी घड़ता है, पथेरा ईंटें पाथता है, राज चिनाई करता है, और इन सबके सहयोगसे मकान बनकर खड़ा होजाता है।

(२) कई लोगों ने एक अन्य दृष्टिसे 'सहयोग' के दो भेद किये हैं—'प्रत्यक्ष' (Direct) तथा 'अप्रत्यक्ष' (Indirect)। 'प्रत्यक्ष-सहयोग' वह है जहां व्यक्तियोंका आमने-सामने का, वैय्यक्तिक सम्बन्ध होता है, वे किसी कामको एक-साथ करते हैं। एक-साथ खेलना, एक-साथ पूजा-पाठ, एक-साथ खेती-बाड़ी 'प्रत्यक्ष–सहयोग' के उदाहरण हैं। जिन कामोंको लोग इकले भी कर सकते हैं उन्हें भी वे 'प्रत्यक्ष-सहयोग' में मिलकर करते हैं। मिलकर क्यों करते हैं? इसलिये क्योंकि मिलकर करनेसे एक तो काम करनेमें उत्साह बढ़ता है, मनुष्य ज्यादा जोरसे काम करता है, और कुछ दिल-बहलाव, कुछ सन्तोष भी होता है। परन्तु यह जरूरी नहीं कि 'प्रत्यक्ष-सहयोग' में वे ही काम गिने जांय, जिन्हें मनुष्य इकला भी कर सकता है। जिन्हें इकला नहीं भी कर सकता, उन्हें भी 'प्रत्यक्ष-सहयोग' द्वारा करता है। उदाहरणार्थ, जब मोटर कीचड़में धंस गई तब वह इकला तो उसे नहीं निकाल सकता। दूसरे आकर जो सहारा देते हैं वह 'प्रत्यक्ष-सहयोग' ही

है । 'अप्रत्यक्ष-सहयोग' क्या है ? जब लोहार लोहा बनाता है, बढ़ई लकड़ी बनाता है, पथेरा ईंटें पाथता है, राज चिनाई करता है, तब मकान बन जाता है । मकान बनानेमें इन सबका आपसमें 'अप्रत्यक्ष-सहयोग' है । सारा-का-सारा 'श्रम-विभाग' (Division of labour) 'अप्रत्यक्ष-सहयोग' का दृष्टांत है ।

वर्तमान समाजमें प्रत्यक्ष-सहयोगका स्थान अप्रत्यक्ष-सहयोग लेरहा है । इसका मुख्य कारण यह है कि ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता जारहा है, त्यों-त्यों ऐसे संगठन बनते जारहे हैं जिनमें व्यक्ति-व्यक्तिका आमने-सामने का संबंध संभव नहीं रहा है । एक मजदूर मिलमें काम करता है, उसे नहीं मालूम कौन मैनेजर है, कौन मालिक है, उसका मिल-मालिकोंकेसाथ 'अप्रत्यक्ष-सहयोग' ही होसकता है । यही बात हमारे सम्पूर्ण सामाजिक-संगठनमें बढ़ती जारही है । इसका बुरा परिणाम भी निकलता है । मैनेजर और मालिक को अपने आधीन कार्य करनेवालों की समस्याओंका ठीक-ठीक पता नहीं चलता, इससे कई समस्याएँ भी उठ खड़ी होती हैं । इस सबका प्रतीकार यही है कि अप्रत्यक्ष-सहयोगके होतेहुए भी भिन्न-भिन्न संगठनोंके मालिकोंको प्रत्यक्ष-सहयोग, आमने-सामनेके वैय्यक्तिक संपर्कको स्थापित करते रहना चाहिये, इससे समस्याएं उतना उग्र रूप नहीं धारण करेंगी जितना प्रायः वे धारण कर लेती हैं ।

२. अनुकूलीकरण (ACCOMMODATION)

मनुष्यके मनकी दो अवस्थाएं हैं—प्रेम तथा द्वेष । जब प्रेम-भावना प्रबल होजाती है तब 'सहयोग' उत्पन्न होता है, जब द्वेष-भावना प्रबल होजाती है तब 'विरोध' उत्पन्न होता है । परन्तु मनुष्यका स्वभाव द्वेष-भावना में देरतक रहनेका नहीं है । जेरसिल्ड (Jersild) ने ५४ बच्चोंपर परीक्षण किया, और इस परिणामपर पहुंचा कि हर पांचवें मिनटमें उनमें झगड़ा होता था, परन्तु झगड़ा २० से ३० सेकेन्डसे ज्यादा नहीं रहता था । सोरोकिन (Sorokin) ने पाश्चात्य देशोंकी भिन्न-भिन्न मुख्य-जातियोंके इतिहासका अध्ययन करनेपर यह परिणाम निकाला कि इन जातियोंका युद्धकी अपेक्षा शांतिमें अधिक समय बीता । गत महायुद्ध में जब युद्ध स्थगित करनेकी घोषणा की गई, तो शत्रु-देशोंके सिपाही बड़ी उत्सुकतासे आपसमें गले-गले मिले । मनुष्यका स्वभाव देरतक द्वेष-भावनाको नहीं पाल सकता इसलिये जब लड़ाई-झगड़ेसे देरतक फ़ैसला नहीं होता तब वह अपने दिलको समझाकर न द्वेष-भावना रखता है, न प्रेम-भावना रखता है, अपितु इन दोनोंके अतिरिक्त मनकी एक ऐसी वृत्ति बना लेता है जिसमें न द्वेष होता है न प्रेम होता है, द्वेष तथा प्रेम दोनों को गुंजाइश रहती है । इस मानसिक-अवस्थाको 'अनुकूलीकरण' (Accommodation) कहते हैं ।

बालकका जीवन 'अनुकूलीकरण' की प्रक्रियाका बहुत अच्छा उदाहरण है। शुरू-शुरूमें माता-पिता बच्चोंको खूब लाड़-प्यार करते हैं, जो आता है उसे दिखाते हैं, उसे चूमते हैं, प्यार करते हैं, दो साल का होजाय तो उससे आशा करते हैं कि वह कहेपर चले, अपनी मर्ज़ीसे जो चाहे न करे। ठीक इस समय माता-पिता तथा बच्चे में संग्राम छिड़ जाता है। बच्चा अपनी मर्ज़ी से चलना चाहता है, माता-पिता उसे अपनी मर्ज़ीसे चलाना चाहते हैं। बच्चा रोता है, चिल्लाता है, हाथ-पैर पटकता है, परन्तु धीरे-धीरे समझ जाता है कि उसे अपनेको बदलना होगा, माता-पिताकी आज्ञाके अनुकूल चलन होगा। यही प्रक्रिया 'अनुकूलीकरण' (Accommodation) है। जब वह १६–१७ वर्षका होजाता है तब फिर दोबारा उसमें माता-पिता के प्रति विद्रोह उठ खड़ा होता है, वह अपनी स्वतंत्र इच्छासे अपने रास्तेपर चलना चाहता है। अगर पिता-माता उसे दबाते हैं, तो उसके हृदयमें उनकी हर बातसे नफ़रत पैदा होजाती है। जिस धर्मको वे मानते हैं उसका वह विरोध करता है, जिस खेल में वे दिलचस्पी लेते हैं उसकी वह मज़ाक उड़ाता है, उनके कामसे, धन्धेसे, उनकी हरबातसे उसे चिढ़ होजाती है। यह समय फिर 'अनुकूलीकरण' (Accommodation) का समय है। पहले छुटपनमें वह असहाय था अतः उसे अपनेको बदलना पड़ा था, अब वह प्रौढ़ होगया है, इसलिये कुछ माता-पिताको, कुछ उसे बदलना होता है, दोनों एक-दूसरेका ख्याल करके अगर अपनेको नहीं बदलते, एक-दूसरेके अनुकूल नहीं बनाते तो घरमें कलह मचा रहता है। यह 'अनुकूलीकरण' की प्रक्रिया व्यक्तियोंमें, समूहोंमें, देशोंमें, जातियोंमें, संस्कृतियोंमें सबजगह चलती रहती है। 'अनुकूलीकरण' के निम्न भेद किये जा सकते हैं:—

(१) तुल्य-बलवालोंका अनुकूलीकरण (Co-ordinate accommodation)—जब समान-बलके व्यक्ति या देश आपसमें टकरा जाते हैं, तब देरतक झगड़ा न रखनेकी इच्छासे कुछ फैसला करते हैं। दोनों कुछ लेते, कुछ देते हैं, ऐसा फ़ैसला करते हैं जिससे दोनोंकी बात रह जाय, किसी एककी ही न चले। पति-पत्नी के झगड़े इसीप्रकार निपटते हैं। बड़े-बड़े देशों में, जो एक-सी शक्ति रखते हैं, जब झगड़े उठ खड़े होते हैं तब किसी तीसरी शक्ति को बीचमें डालकर फ़ैसला करना इस कोटिमें आता है। तुल्य-बल वालोंका आपसमें जो फ़ैसला होता है, उसके कई उपाय हैं, जिनमें 'समझौता' (Compromise), 'सहिष्णुता' (Toleration), 'समाधान' (Arbitration or Conciliation) तथा 'विचार-परिवर्तन' (Conversion) मुख्य हैं।

(२) बली-निर्बल का अनुकूलीकरण (Superordinate-subordinate accommodation)—जब विषम बलके व्यक्ति या देश आपसमें

टकरा जाते हैं, तब अगर उन दोनोंमेंसे कोई एक अपना पराजय स्वीकार करले, तो लड़ाई समाप्त होजाती है। अगर स्वीकार न करे, तो उसके सामने दो ही रास्ते हैं——या तो वह शत्रुको हरा दे, या स्वयं नष्ट होजाय। जिसमें शत्रुको हरानेका सामर्थ्य होता है वह पराजय को स्वीकार नहीं करता, जिसमें सामर्थ्य नहीं होता वह नष्ट होनेसे वचनेके स्थानपर आत्म-समर्पण कर देता है। आत्म-समर्पणका अर्थ है अपनेको निर्वल तथा दूसरेको वलवान् स्वीकार करलेना।

मनुष्यका जव पहले-पहल किसीकेसाथ सम्पर्क होता है, तव वह तय करलेना चाहता है कि उसका दूसरे व्यक्तिकेसाथ किसप्रकारका सम्वन्ध होगा। क्या वह दूसरे व्यक्तिके मुकाबिलेमें समान-बलका है, उससे ज्यादा वलशाली है, या उससे किसी वातमें कमजोर है? वलका अभिप्राय शारीरिक-वलसे नहीं। शारीरिक, मानसिक, आत्मिक, सामाजिक——सभीप्रकारका वल होसकता है। अगर उसका दूसरेके वरावर वल है, तो वह उसीतरहसे पेश आता है, अगर वह दूसरेसे ज्यादा वल रखता है, तो अहंकारकी भावनासे पेश आता है, अगर वह दूसरेसे कमजोर है, तो हाथ जोड़कर मस्तक नंवाकर पेश आता है। देशोंका, जातियोंका और संस्कृतियोंका भी जव आपसमें संपर्क होता है, तो इसी दृष्टि-कोणसे वे अपनेको एक-दूसरेके अनुकूल वना लेते हैं। जिस भावनाको हमने समाज-शास्त्रमें 'वली-निर्वलका अनुकलीकरण' (Superordinate-subordinate accommodation) कहा है उसीको मनोविज्ञानमें 'ऊर्ध्व-निम्न भावना' (Ascendance-submission) कहा जाता है।

३. सात्मीकरण (ASSIMILATION)

'सात्मीकरण' उस प्रक्रियाका नाम है जिससे भिन्न प्रकृतिके व्यक्ति या समूह एक प्रकृतिके होजाते हैं, उनका भिन्न-स्वार्थ एक-स्वार्थ होजाता है, भिन्न दृष्टि-कोण एक दृष्टि-कोण होजाता है। जब कोई संस्कृति दूसरी संस्कृतिके साथ अपनेको एक कर देती है, उसमें घुल-मिल जाती है, अपनी पृथक्-सत्ताको खोकर उसमें अपनेको विलीन करदेती है, तव 'सात्मी-करण' (Assimilation) की प्रक्रिया होती है। जव किसी देशमें दूसरे देशके लोग आकर उसकी संस्कृतिमें अपनेको एक कर देते हैं, तव जो प्रक्रिया होती है उसे समाज-शास्त्री 'संस्कृति-करण' (Acculturation) कहते हैं। 'संस्कृति-करण' में क्या होता है? अमरीका में भिन्न-भिन्न देशोंसे लोग आये। अपनी-अपनी संस्कृतिको लेकर आये, परन्तु अमरीका में आकर वे वहीं की संस्कृतिके रंगमें रंग गये। यह 'संस्कृति-करण' की प्रक्रिया है। संस्कृतिकी इस प्रक्रियाका आधार 'सात्मीकरण' (Assimilation) की प्रक्रिया है। शरीर में जो भोजन जाता है वह भोजनके रूपमें न रहकर भिन्न-भिन्न

अंगोंका रस बन जाता है । यह भोजनका 'सात्मीकरण' है । बच्चेके जीवनमें 'सात्मीकरण' की प्रक्रिया लगातार होती रहती है । बच्चा बड़ा होकर युवक-समाज में घुल-मिल जाता है, जिन बच्चोंको दूसरे घरोंमें पाला जाता है वे अपने निजी माता-पिताकी विचार-परंपराको भूलकर अपने पालक माता-पिता की विचार-परंपरामें रल-मिल जाते हैं, पति-पत्नी एक-दूसरेमें अपनेको एक कर देते हैं। यह सब 'सात्मीकरण' है ।

'सात्मीकरण' (Assimilation) तथा 'अनुकूलीकरण' (Accommodation) में भेद है । यह होसकता है कि कोई जाति दूसरे देशमें अपनेको अनुकूल तो बना ले, परन्तु उस देशमें अपनेको घुला-मिला न सके । अमरीकामें चीनी तथा जापानी अपनेको अनुकूल तो बना सके हैं, परन्तु अमरीकामें अपनेको अमरीकनोंकेसाथ एक नहीं कर सके, दूसरे शब्दोंमें उनका 'अनुकूलीकरण' (Accommodation) तो होगया है, 'सात्मीकरण' (Assimilation) नहीं हुआ । जब तक कोई समूह अहंकार से ओत-प्रोत रहता है, तबतक 'सात्मीकरण' की प्रक्रिया नहीं होसकती । अमरीकाके अहंकारके कारण एशियाई जातियोंका वहां 'सात्मीकरण' नहीं होसका । जहां 'सात्मीकरण' (Assimilation) न होसके वहां 'अनुकूलीकरण' (Accommodation) की प्रक्रियासे संघर्ष तथा विरोधको मिटाया जाता है ।

४. प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता (COMPETITION)

प्रतिस्पर्धा या प्रतियोगिता किसे कहते हैं ?—

'प्रतिस्पर्धा' (Competition) तथा 'विरोध' (Conflict) में इतना बारीक फ़र्क है कि इस फ़र्कको समझे बिना 'प्रतिस्पर्धा' को समझना कठिन है । कई लेखकोंका मत है कि 'प्रतिस्पर्धा' में वैय्यक्तिक सम्पर्क नहीं होता, 'विरोध' में होता है; 'प्रतिस्पर्धा' लगातार रहनेवाली प्रक्रिया है, 'विरोध' कभी होता है, कभी हट जाता है, हरसमय नहीं रहता । परन्तु यह लक्षण ठीक नहीं है । यह ठीक है कि एक अमरीका और दूसरा जापानका व्यापारी एक-दूसरेके सम्पर्कमें आये बिना व्यापारमें एक-दूसरेसे होड़ कररहे होते हैं, भिन्न-भिन्न स्कूलोंके विद्यार्थी एक-दूसरेको बिना जाने परीक्षामें प्रथम आनेकी प्रतिस्पर्धा कररहे होते हैं, परन्तु क्या एक ही गलीमें और एक ही स्कूलमें एक-दूसरेको जाननेवाले, वैय्यक्तिक सम्पर्कमें आनेवाले व्यापारी और विद्यार्थी प्रतिस्पर्धा नहीं करते ? उनकी 'प्रतिस्पर्धा' होती है, 'विरोध' नहीं होता । इसी प्रकार यह भी ठीक है कि 'प्रतिस्पर्धा' लगातार रहनेवाली प्रक्रिया है, परन्तु आजके युगमें जहां एकाधिकार द्वारा कहीं-कहीं 'प्रतिस्पर्धा' को ख़त्म किया जारहा है, क्या इसे लगातार रहनेवाली

प्रक्रिया कहा जासकता है ? तो फिर, 'प्रतिस्पर्धा' तथा 'विरोध' में क्या भेद है ?

(१) प्रतिस्पर्धा अहिंसात्मक तथा विरोध हिंसात्मक है—जब कोई व्यक्ति या समूह दूसरे व्यक्ति या समूहोंकेसाथ किसी एक ही बातकेलिये अहिंसात्मक उपायोंसे होड़ करता है तो उसे 'प्रतिस्पर्धा' कहते हैं, जब इस होड़में हिंसात्मक उपायोंका प्रयोग होने लगता है तो उसे 'विरोध' कहते हैं। उदाहरणार्थ, कुछ लोगोंमें नौकरीकेलिये होड़ होसकती है, माल बेचनेकेलिये होड़ होसकती है, कौन-सा धर्म ठीक है कौन-सा नहीं है, कौन-सी शिक्षा-प्रणाली ठीक है कौन-सी नहीं है, कौन-सी वैज्ञानिक खोज ठीक है कौन-सी नहीं है, कौन-सी आर्थिक-व्यवस्था समाजके हितमें है कौन-सी नहीं है, कौन-सी शासन-प्रणाली ठीक है कौन-सी नहीं है, कौन-सी संस्कृति हमारा भला करसकती है कौन-सी नहीं—इन बातोंका निर्णय अपना गुण दिखलाकर शान्तिमय उपायोंसे भी किया जा सकता है, एक दूसरेपर डंडे चलाकर भी किया जा सकता है। यह होसकता है कि एक व्यापारी अपना माल सस्ता बेचे, यह भी होसकता है कि दूसरेके मालको आग लगाकर अपने मालकेलिए ग्राहक पैदा करे, यह होसकता है कि एक विद्यार्थी दिन-रात पढ़कर दूसरे विद्यार्थीसे आगे निकल जाय, यह भी होसकता है कि वह दूसरेकी किताबें चुराकर उसे पढ़ने ही न दे। शान्तिमय अहिंसात्मक उपायोंद्वारा अन्योंके मुकाबिलेमें एक वस्तुको प्राप्त करनेकी प्रक्रिया 'प्रतिस्पर्धा' है, अशान्तिमय हिंसात्मक उपायोंद्वारा उसी वस्तुको प्राप्त करनेकी प्रक्रियाका नाम 'विरोध' है।

(२) प्रतिस्पर्धामें दोके अतिरिक्त तीसरा भी होता है—'विरोध' में तो दो पक्ष होते हैं, वे जोर-जबसे किसी बातका फैसला करना चाहते हैं, परन्तु 'प्रतिस्पर्धा' में दोनों पक्षोंकी बातका निर्णय करना किसी तीसरेके हाथमें होता है। व्यापारी अपने-अपने मालको बढ़िया बतलाते हैं, परन्तु ग्राहकके हाथमें इस बातका निर्णय करना होता है कि किसका माल उत्तम है। हर विद्यार्थी अपनेको दूसरेसे योग्य समझता है, परन्तु परीक्षक इनके बीचका निर्णायक है। दो प्रेमी जब किसी लड़कीको प्रेम करते हैं, तो लड़की इन दोनोंमेंसे किसी एकको चुन लेती है

इस दृष्टिसे 'प्रतिस्पर्धा' (Competition) तथा 'विरोध' (Conflict) का लक्षण क्या हुआ ? 'प्रतिस्पर्धा' उस सामाजिक-प्रक्रियाका नाम है जिसमें दो पक्ष किसी एक ही बातकेलिये अहिंसात्मक उपायोंद्वारा होड़ करते हैं और निर्णयकेलिये अपनेसे अतिरिक्त किसी तीसरेकीतरफ़ देखते हैं; 'विरोध' उस सामाजिक-प्रक्रिया का नाम है जिसमें दो पक्ष किसी एक ही बातकेलिये हिंसात्मक उपायोंद्वारा एक-दूसरेकेसाथ जूझ पड़ते हैं और निर्णयकेलिये अपने बलपर भरोसा रखते हैं, किसी तीसरेका मुंह नहीं ताकते।

प्रतिस्पर्धाके दो 'प्रकार' (Types)—

'प्रतिस्पर्धा' के दो प्रकार हैं—'वैय्यक्तिक' (Personal) तथा 'अवैय्यक्तिक' (Impersonal)। 'वैय्यक्तिक-स्पर्धा' में कुछ व्यक्ति किसी नौकरी, किसी व्यापार या अन्य किसी वातकेलिये होड़ करते हैं। 'अवैय्यक्तिक-स्पर्धा' में व्यक्तिका स्थान समूह लेलेता है। उदाहरणार्थ, आर्थिक-क्षेत्रमें एक कम्पनी दूसरी कम्पनीकेसाथ प्रतिस्पर्धा कर रही है, एक धार्मिक-समाज दूसरे धार्मिक-समाजकेसाथ शास्त्रार्थ करके अपने मतको जनताके सामने सत्य सिद्ध करना चाहता है, एक संस्कृति दूसरी संस्कृतिके मुकाविलेमें अपनी श्रेष्ठता जतलाती है। इन सवमें 'प्रतिस्पर्धा' का रूप वैय्यक्तिक न होकर अवैय्यक्तिक है, सामूहिक है। आजके विकसित समाजमें वैय्यक्तिक-स्पर्धाके स्थानमें सामूहिक-स्पर्धाका स्थान वढ़ता जाता है। समाजवाद ठीक है या जन-सत्तावाद, संसारके प्रारंभमें भिन्न-भिन्न योनियां उत्पन्न हुईं या विकासवादके कथनके अनुसार प्राणियोंमें विकास होते-होते मनुष्य वना—ये सव सिद्धान्तोंकी समस्याएं 'अवैय्यक्तिक-प्रतिस्पर्धा' के दृष्टांत हैं।

प्रतिस्पर्धाके चार 'रूप' (Forms)—

'प्रतिस्पर्धा', अर्थात् प्रतियोगिताके चार रूप हैं—आर्थिक, सांस्कृतिक, स्थिति-संवंधी तथा जन्म-सम्वन्धी। ये चार रूप क्या हैं?

(१) आर्थिक-प्रतियोगिता (Economic competition)—जव उत्पादन कम होता है, और लेनेवाले ज्यादा होते हैं, तव ग्राहकोंमें खरीदनेकी प्रतियोगिता होती है, रद्दी माल भी वाजारमें निकल जाता है; जव उत्पादन अधिक होता है तो दुकानदारोंमें प्रतियोगिता होती है, और माल वनानेवाले एक-दूसरेसे अच्छा माल वनानेकी कोशिश करते हैं। आजके युगमें जहां मशीनें धड़ाधड़ माल वनाती हैं, कम उत्पादनकी गुंजाइश नहीं है, अतः अच्छा माल पैदा करनेकी कोशिश होती है। इस दृष्टिसे 'प्रतियोगिता' अच्छा माल पैदा करनेकीतरफ़ स्वयं प्रेरित करती है। समाजमें 'प्रतियोगिता' के कारण हरेक आदमी जिस स्थानके लायक होता है उसमें पहुँच जाता है। डार्विनके सिद्धांतके अनुसार 'प्रतियोगिता' का नाम ही जीवन-संग्राम है, इस संग्राममें जो समर्थ होता है वह रह जाता है, असमर्थ नष्ट होजाता है। परन्तु 'प्रतियोगिता' का यह एक पहलू है। 'प्रतियोगिता' का काम सिर्फ़ संघर्ष ही नहीं, सहयोग भी है। समाजमें श्रम-विभाग चल रहा है। इसमें 'प्रतियोगिता' है, परन्तु क्या यह 'प्रतियोगिता' संघर्ष उत्पन्न करनेकेलिये ही है? इस 'प्रतियोगिता' का उद्देश्य यह है कि सव अपने-अपने कामके विशेषज्ञ हों, और विशेषज्ञ होनेके वाद परस्पर सहयोग करें जिससे

इनके सहयोगसे समाजकी गाड़ी आगे चले । क्रोपोटकिन (Kropotkin) ने यह दर्शानेका प्रयत्न किया है कि डार्विनने जीवनमें 'प्रतियोगिता' को आवश्यकतासे अधिक महत्व दे दिया है । प्रकृतिमें जितना स्थान 'प्रतियोगिता' का है, उससे कम स्थान 'सहयोग' का नहीं है । छोटे-से-छोटे प्राणियोंमें 'सहयोग' पाया जाता है । जब अमरीकामें जंगल-ही-जंगल थे, और योरुपसे लोग आकर वहां वसे थे, तो कभी-कभी उन्हें जंगली जानवरोंके गिरोह-के-गिरोहोंका सामना करना पड़ता था । ये जानवर आपसमें सहयोगसे रहते थे । अस्लमें, क्रोपोटकिनके कथनानुसार प्राणियोंमें आपसमें इतना संघर्ष नहीं है, जितना सहयोग है । हां, उन्हें प्रकृतिकेसाथ संघर्ष करना पड़ता है, प्रकृतिकी शक्तियोंकेसाथ संघर्ष करना पड़ता है, परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उन्हें आपसमें भी संघर्ष करना पड़ता है । इस दृष्टिसे देखा जाय, तो प्रकृतिमें अगर 'प्रतियोगिता' है, तो वह 'सहयोग' के लिये है । हम एक-दूसरेके विचारकी क्यों आलोचना करते हैं ? क्यों कहते हैं, यह ठीक है, यह ग़लत है ? हम यह सब-कुछ इसलिये करते हैं कि इस 'प्रतियोगिता' मेंसे सत्य निखर आवे, और उससे समाजका भला हो । 'प्रतियोगिता' संघर्ष पैदा करनेकेलिये नहीं होती, सहयोग पैदा करनेकेलिये होती है ।

(२) सांस्कृतिक-प्रतियोगिता (Cultural competition)—किसी भी देशकी संस्कृतिमें भिन्न-भिन्न विचारोंमें प्रतियोगिता होती रहती है । पाश्चात्य-सभ्यतामें यह समझा जाता है कि जो मरतेहुए लाखों रुपया छोड़ जाय वह सफल है, अमरीकाकी डैकोटा जातिके किसी व्यक्तिकी स्त्री या लड़की मरती थी, तो वह अपनी सारी सम्पत्ति लुटा देता था, भारतके प्राचीन-कालमें लड़केके बड़े होनेपर घर-बार छोड़ देना, वानप्रस्थ-संन्यास लेलेना व्यक्तिके विकासका सूचक था । अन्य देशोंमें प्रतियोगितासे रुपया जमा करना जीवनका लक्ष्य है, रूसमें आर्थिक प्रतियोगितासे जो दूसरोंसे बहुत आगे निकलनेका प्रयत्न करता है उसे घूरकर देखा जाता है । आज स्त्री आर्थिक-दृष्टिसे स्वतन्त्र होगई है । आज घरेलू उद्योगोंकी जगह कल-कारखाने खुल गये हैं । इन सबसे नई आर्थिक व्यवस्था उत्पन्न होगई है । स्त्री स्वयं कमाने लगेगी, तो पतिपर कम निर्भर रहने लगेगी । इस नवीन आर्थिक-व्यवस्थाकी पुरानी परिवार-पद्धतिसे प्रतियोगिता होने लगी है, और परिवारका संगठन बच रहेगा, या नष्ट होजायगा, यह समस्या उठ खड़ी हुई है । ये सब सांस्कृतिक 'प्रतियोगिता' के दृष्टांत हैं, परन्तु यह सारी सांस्कृतिक 'प्रतियोगिता' फिर एक विशाल सहयोगकेलिये है, इसलिये है ताकि जीवनका एक ऐसा क्रम उत्पन्न होजाय जिसमें मनुष्य अशान्तिसे शान्तिकीतरफ़,

असन्तोषसे सन्तोषकीतरफ़ कदम बढ़ा सके। जैसा हम पहले कह चुके हैं 'प्रतियोगिता' किसीतरहकी भी हो, आर्थिक हो, सांस्कृतिक हो, उसकी सफलता 'सहयोग' उत्पन्न करनेमें है।

(३) स्थिति-संबंधी प्रतियोगिता (Competition for status)—प्रत्येक व्यक्ति समाजमें ऐसी स्थिति चाहता है जिससे दूसरे उसे 'कुछ' समझें। जबतक वह ऐसी स्थिति नहीं प्राप्त कर लेता, तबतक वह स्थिति-संबंधी प्रतियोगिता करता रहता है। यह प्रतियोगिता समूह रूपमें घरानोंके, धर्मके, जातिके, देशके अभिमानके रूपमें प्रकट होती है, और व्यक्ति-रूपमें व्यक्तिके समाजमें अपनी स्थिति बनानेके रूपमें प्रकट होती है। हरेक व्यक्ति कहीं-न-कहीं चौधरी बनना चाहता है। कोई पंचायतका चुनाव लड़ता है, कोई सिटी बोर्डका, कोई एसेम्बलीका, कोई पार्लियामेंटका। जो जहां अपनी स्थिति बनासकता है बना लेता है, यह जरूरी नहीं कि यह स्थिति योग्यताके आधारपर ही हो। नालायक लोग ऊपर चढ़ जाते हैं, लायक नीचे पड़े रह जाते हैं। सिफ़ारिश, मेल-जोल, हो-हुल्ला सभी चलता है। परन्तु इस सब 'प्रतियोगिता' का लक्ष्य भी यही है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपनी-अपनी स्थिति प्राप्त होजाय, और फिर समाजकी गाड़ी एक-दूसरेके सहयोगसे आगे चले। जबतक व्यक्तिको समाजमें ठीक-ठीक स्थिति नहीं प्राप्त होती तबतक वह समाजमें गड़बड़ मचाया करता है। २८ वें अध्यायमें 'सामाजिक-विगठन' (Social Disorganisation) पर लिखते हुए हम इस विषयपर अधिक प्रकाश डालेंगे।

(४) जन्म-संबन्धी प्रतियोगिता (Racial competition)—जन्म-सम्बन्धी भेदके कारण भी मानव-समाजमें 'प्रतियोगिता' चलती है। काले-गोरोंकी, सफ़ेद-पीलोंकी 'प्रतियोगिता' का आधार जन्म है। भारतकी ब्राह्मण तथा ब्राह्मणेतरों, जात-बिरादरियों, छूत-अछूतोंकी 'प्रतियोगिता' भी जन्म-जात है। असलमें हरेक व्यक्ति आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक फ़ायदा उठाना चाहता है, और क्योंकि 'प्रतियोगिता' के क्षेत्रमें बहुत लोग हैं, अतः किसीको काला होनेकेकारण, किसीको नीच जातिका होनेकेकारण, किसीको किसी अन्य कारणसे 'प्रतियोगिता' के क्षेत्रमेंसे हटा देना चाहता है। खुली 'प्रतियोगिता' हो तो काले गोरोंको और अछूत छूतोंको भी पटक सकते हैं, परन्तु मनुष्य 'प्रतियोगिता' को कम-से-कम करना चाहता है, इसलिये और कुछ नहीं तो जन्मके भेदोंको बढ़ाने-चढ़ाने लगता है और कहता है कि अमुक क्योंकि जन्मसे ही अयोग्य है इसलिये उसे प्रतियोगिताके क्षेत्रमें मेरे साथ खड़े होनेका भी अधिकार नहीं।

५. संघर्ष (CONFLICT)

संघर्ष सामाजिक-सम्बन्धोंकी वह प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति या समूह अपने ध्येयकी प्राप्तिकेलिये हिंसात्मक उपायोंका अवलंबन करते हैं। संघर्षके निम्न रूप होसकते हैं :—

(१) वैय्यक्तिक-संघर्ष (Personal conflict)—जब दो व्यक्ति मिलते हैं, तो कभी-कभी वे एक-दूसरेपर ऐसे गुर्राते हैं जैसे कुत्तेको देखकर कुत्ता गुर्राता है। वे एक-दूसरेको गाली देते हैं, और कभी-कभी हाथापाईकी नौबत आजाती है। सबप्रकारके संघर्षोंमें घृणाका केन्द्र कोई व्यक्ति बन जाता है। प्रथम विश्व-युद्धमें मित्र-राष्ट्रोंकी घृणाका केन्द्र कैसर था, द्वितीय विश्व-युद्धमें हिटलर तथा मुसोलिनी थे।

(२) नस्ल-सम्बन्धी संघर्ष (Racial conflict)—वैय्यक्तिक-संघर्षोंके अतिरिक्त सामूहिक-संघर्ष भी होते हैं। इनमेंसे मुख्य नस्लपर आश्रित संघर्ष हैं। अमरीकामें नीग्रो और गोरोंका संघर्ष, आफ्रीकामें वहांके आदिवासियों एवं भारतीयोंके मुकाबिलेमें मलानकी गोरी-सरकारका संघर्ष इसके उदाहरण हैं। असलमें जीवन-संग्रामकी प्रतियोगितामें एक पक्ष अपनेलिये रास्ता साफ़ करना चाहता है, और नस्लके भेदके सवालको खड़ा करके यह सिद्ध करना चाहता है कि दूसरी नस्लके लोग जन्मसे ही इस योग्य नहीं हैं कि उन्हें दूसरोंके बराबर अधिकार दिया जाय। अंग्रेज भारतमें क्या करते रहे? यही करते रहे कि हिन्दुस्तानी स्व-शासनके योग्य ही नहीं हैं। परन्तु ऐसी बात तो नहीं थी। अपने आर्थिक-स्वार्थको सुरक्षित रखनेकेलिये दूसरोंको नीचा समझनेकी प्रवृत्ति मानव-समाजमें सर्वत्र पायी जाती है। इस प्रवृत्तिके विरोधमें संघर्ष उठ खड़ा होता है।

(३) वर्गोंका संघर्ष (Class conflicts)—मानव-समाजके प्रारंभसे आजतक अपने-अपने स्वार्थको सुरक्षित रखनेकेलिये भिन्न-भिन्न वर्ग बनते रहे हैं, और इस वर्ग-निर्माणमें जिनको घाटा रहता है वे वर्गोंको तोड़नेका यत्न करते रहे हैं। जातिके आधारपर वर्ग बने, शासक-शासितोंके आधारपर वर्ग बने, यन्त्रीकरणके इस युगमें धनी-निर्धन, मालिक-मजदूरके नामपर वर्ग बन रहे हैं। औद्योगिक-क्रांतिसे पहले मालिक-मजदूर एक ही जगह बैठकर काम करते थे, उनका आपसका संघर्ष नहीं उत्पन्न होता था। मशीन बननेके बाद मालिक-मजदूरकेलिये एक जगह बैठकर काम करना असंभव होगया। पहले दस-बीस मजदूरोंसे काम चलता था, अब हजारों मजदूर एक ही कारखानेमें काम करने लगे। घरमें इतने आदमी कहां काम करसकते थे। बड़ा भारी कारखाना बना,

मालिकका दफ्तर बना, मैनेजर बना। मालिक-मजदूर-मैनेजरका कोई आमने-सामनेका संबंध नहीं रहा। मजदूरको सिर्फ़ मजदूरीके पैसे मिलने लगे, और उसे सिर्फ़ इतना पता चलता कि बड़ा मुनाफ़ा होरहा है, सब मुनाफ़ा मालिक हज़म कर रहा है। बस, इसीसे मालिक और मज़दूरका संघर्ष चल पड़ा, मज़दूरोंने हड़तालें शुरू कर दीं, मिल मालिकोंने कारखानों पर ताले डालने शुरू कर दिये। पिछले दिनोंमें कलकत्तामें ट्रामोंकी हड़ताल हुई, बसें और ट्राम गाड़ियां जला दी गईं, खूब मार-पीट हुई। आज जिसप्रकार सम्पत्तिका असमान विभाग होरहा है, उससे इसप्रकारका वर्गोंका संघर्ष अनिवार्य है। १९२९ में अमरीकाकी सारी सम्पत्तिका ४२.५ प्रतिशत केवल २.३ प्रतिशत व्यक्तियोंके हाथमें था, बाकी ५७.५ प्रतिशत सम्पत्ति ९७.७ प्रतिशत व्यक्तियोंमें बंटी हुई थी। यह असमान विभाग अब और अधिक बढ़गया है। मनुष्य कबतक इसप्रकारकी असमानताको बर्दाश्त करसकता है? वर्गोंके संघर्षका यही कारण है।

(४) राजनैतिक-संघर्ष (Political conflict)—राजनैतिक-संघर्ष दो तरहका होता है—आन्तरिक-संघर्ष तथा बाह्य-संघर्ष। जिस देशमें भी राजनैतिक स्वतन्त्रता है, लोग अपने विचारोंको आज़ादीसे प्रकट करसकते हैं, उसमें अनेक राजनैतिक दल होते हैं। कांग्रेस है, समाजवादी हैं, जन-संघी हैं, हिन्दु-सभाई हैं—ये सब जनतासे वोट मांगते हैं, कभी-कभी एक-दूसरेपर हमला भी कर बैठते हैं। जबतक ये अपने मतका प्रचार करते हैं, तबतक ये 'प्रतियोगिता' के क्षेत्रमें हैं, जब ये गाली-गलौजपर उतर आते हैं, लट्ठ चलाने लगते हैं, तब 'संघर्ष' के क्षेत्रमें आजाते हैं। बाह्य-संघर्ष तब होता है जब एक देश दूसरे देशपर आक्रमण कर देता है। यह युद्धकी अवस्था है। इस संघर्षमें देशके अन्दर जितने भी समूह हैं, वे सब पारस्परिक प्रतियोगिता तथा संघर्ष छोड़कर एक होजाते हैं। कभी-कभी राजनैतिक नेता जब देखते हैं कि देशमें पारस्परिक-संघर्ष बढ़ता जारहा है, तब वे बाहरके असली या काल्पनिक खतरेका शोर मचाने लगते हैं। उनका उद्देश्य यह होता है कि उस खतरेका मुकाबिला करनेकेलिये देशके भीतर सब लोग एक होजायं, और जो फिर भी अपना अलग सुर अलापें उन्हें दबानेका शासक-वर्गको मौका मिल जाय।

प्रश्न

१. 'सहकारी-सामाजिक-सम्बन्ध' (Associative social relation) तथा 'असहकारी-सामाजिक-सम्बन्ध' (Dissociative social relations) क्या है? दोनोंकी गणना कीजिये।

२. 'प्रत्यक्ष' (Direct) तथा 'अप्रत्यक्ष' (Indirect) सहयोगके दृष्टान्त दीजिये।
३. 'अनुकूलीकरण' (Accommodation) क्या है? इसके क्या-क्या भेद हैं?
४. 'सात्मीकरण' (Assimilation) क्या है, इसका 'अनुकूलीकरण' (Accommodation) से क्या भेद है?
५. 'प्रतिस्पर्धा' (Competition) की व्याख्या कीजिये।
६. 'वैय्यक्तिक' (Personal) तथा 'अवैय्यक्तिक' (Impersonal) प्रतिस्पर्धाको समझाइये।
७. 'प्रतिस्पर्धा' के चार रूप क्या हैं? 'प्रतिस्पर्धा' के साथ 'सहयोग' भी रहता है—इसका क्या अर्थ है?
८. इस कथनको स्पष्ट समझाइये कि 'प्रतिस्पर्धा', अर्थात् 'प्रतियोगिता' के आधारमें 'संघर्ष' रहता है, परन्तु प्रतिस्पर्धा, अर्थात् प्रतियोगिता का उद्देश्य 'संघर्ष' को हटाकर 'सहयोग' को पैदा करना होता है।
९. 'संघर्ष' के क्या-क्या रूप हैं?

[२४]

सामाजिक स्मृति-विधान

(SOCIAL CODES)

मनुष्य परिस्थितियोंके अनुसार अपनेको वदलता रहता है, और क्योंकि मनुष्य ही सामाजिक-संगठनको वनाता है, इसलिये समाज भी वदलता रहता है। परिवर्तन समाजका प्राण है, अगर परिवर्तन न हो, और परिस्थितियोंके वदल-जानेपर समाज न वदले, तो परिस्थितियां समाजको नष्ट करदें। समाजमें धनी-निर्धनका भेद न हो, तो एक संगठन वनेगा, इनका भेद वढ़ जाएगा, तो दूसरा संगठन वनेगा; पुरुषोंकी संख्या स्त्रियोंसे वहुत अधिक बढ़ जाय, तो एक संगठन वनेगा, स्त्रियोंकी संख्या पुरुषोंसे वढ़ जाय, तो दूसरा संगठन वनेगा। परन्तु इस अविरत परिवर्तनके वीच कई ऐसी भी शक्तियां हैं जो समाजको वांधेहुए हैं, समाजको इतना नहीं वदलने देतीं कि यह विल्कुल ही वदल जाय, पहचाना ही न जासके, जो समाजकी स्थिरता को वनाये रखती हैं। समाजकी स्थिरता वनाये रखनेवाली ये शक्तियां 'सामाजिक स्मृति-विधान' (Social codes) हैं, 'सामाजिक-परम्पराएं' (Social traditions) हैं, 'सामाजिक-विरासत' (Social heritage) हैं, 'सामाजिक-प्रथाएं' (Social customs) हैं, 'सामाजिक-रूढ़ियां' (Mores) हैं। ये सव भिन्न-भिन्न शव्द हैं, परन्तु इन सवका लक्ष्य सामाजिक-संगठनको तितर-वितर होनेसे वचाना, उसे एक वनाये रखना, उसका नियन्त्रण करना है।

'सामाजिक-परंपरा' (Social tradition) तथा 'सामाजिक-विरासत' (Social heritage) एक ही चीज़ हैं। वे 'विचार' (Ideas), वे प्रथाएं (Customs) तथा वे रूढ़ियां (Mores) जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती-चली आरही हैं, 'सामाजिक-परंपरा' अथवा 'सामाजिक-विरासत' हैं। इनका जन्म भूतमें हुआ था। 'सामाजिक स्मृति-विधान' (Social codes) में भूत तथा वर्तमान दोनों कालोंकी वातें होसकती हैं, भूतके विचार, प्रथाएं तथा रूढ़ियां भी इसमें हो सकती हैं, वर्तमानके नवीन विचार भी इसमें होसकते हैं। हम इस प्रकरणमें समाजको स्थिर वनायेरखनेवाले इन सव तत्वोंकी चर्चा न करके

केवल 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social codes) की चर्चा करेंगे, यद्यपि बहुत-सी बातें जो हम 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social codes) के विषयमें कहेंगे, वे 'सामाजिक-परंपरा' (Social traditions), 'सामाजिक-विरासत' (Social heritage), 'सामाजिक-प्रथाओं' (Social customs) तथा 'सामाजिक-रूढ़ियों' (Social Mores) पर भी बहुत अंशतक चरितार्थ होंगी।

१. 'सामाजिक-स्मृति-विधान' का क्या अर्थ है ?

'मनु-स्मृति' का नाम सबने सुना है। 'स्मृति' (Code) क्या है ? 'स्मृति' उन शृंखला-बद्ध सामाजिक नियमोंको कहते हैं, जो प्राचीन-कालसे याद-दाश्त, अर्थात् स्मृतिके आधारपर चले आरहे हैं, या पुराने अनुभवकी स्मृतियोंके आधारपर नये बनाये जारहे हैं। 'स्मृति' का संबंध मुख्यतः भूतसे है, परन्तु स्मृतिमें भूतके आधारपर वर्तमानमें भी नियमोंका निर्माण होसकता है। 'मनु-स्मृति' जिससमय बनी थी, उससमय, जो भूत-कालसे, परंपरासे, पुराने अनुभवसे प्रथाएं तथा रूढ़ियां चली आरही थीं, उन्हींको शृंखलाबद्ध कर दिया गया था। आज जो भूत-कालके अनुभव हैं, उनके आधारपर 'हिन्दू-स्मृति' (Hindu code) बन रही है। इसे 'स्मृति' इसलिये कहते हैं क्योंकि पुरानेकी याददाश्त इसमें किसी-न-किसी रूपमें बनी रहती है। 'विधान' का अर्थ नियम है, और क्योंकि स्मृति, या पुराने और नये अनुभवके आधारपर बने इन नियमोंका काम समाजका नियन्त्रण करना होता है, इसलिये स्मृति-विधानके ये नियम 'सामाजिक-नियम' (Social laws) हैं, और इन्हीं नियमोंके आधारपर बने विधानको 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social code) कहा जाता है।

हमने अभी देखा कि 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social code) के आधारमें 'सामाजिक-नियम' (Social laws) काम कर रहे होते हैं। इन 'सामाजिक-नियमों' (Social laws) का काम समाजमें व्यवस्था पैदा करना, उसे मर्यादामें रखना है। परन्तु 'सामाजिक-नियमों' (Social laws) तथा 'भौतिक-नियमों' (Physical laws) में भेद है। 'भौतिक-नियम' भी व्यवस्था पैदा करते हैं, 'सामाजिक-नियम' भी व्यवस्था पैदा करते हैं, परन्तु 'भौतिक-नियम' जड़ पदार्थोंमें व्यवस्था पैदा करते हैं, 'सामाजिक-नियम' चेतन पदार्थोंमें, उनमेंभी खासकर मानव-समाजमें व्यवस्था पैदा करते हैं। 'भौतिक-नियमों' के अनुसार सूर्य अपनी परिधिसे नहीं हिलता, पृथिवी सूर्यके गिर्द चक्कर काटती है, 'सामाजिक-नियमों' के अनुसार विवाहित स्त्री-पुरुष

ही साथ-साथ रह सकते हैं, अविवाहित नहीं। 'भौतिक-नियमों' का काम भौतिक जगत्में स्थिरता पैदा करना है, 'सामाजिक-नियमों' का काम मानव-जगत्में स्थिरता पैदा करना है। परन्तु इन दोनोंप्रकारके नियमोंकी समानता होते हुए भी इनमें भिन्नता है। 'भौतिक-नियमों' को कोई वदल नहीं सकता। यह नहीं होसकता कि पृथिवी, जवतक वह नष्ट ही नहीं होजाती, किसी भी अवस्थामें सूर्यके गिर्द घूमना छोड़दे। 'सामाजिक-नियमों' में ऐसा नहीं होता। वे समाजमें स्थिरता उत्पन्न करते हैं, परन्तु समाजकी परिस्थितियां वदल जांय, तो स्वयं मनुष्य ही उन नियमोंको वदल देता है। 'भौतिक-नियम' अपरिवर्तन-शील हैं, 'सामाजिक-नियम' परिवर्तन-शील हैं। इसके अतिरिक्त 'भौतिक-नियम' परमाणुसे सूर्यतक एक-समान हैं। जो गुरुत्वाकर्षण अणुमें है, वही अन्ततक चला गया है, ये नियम 'निरपेक्ष' (Absolute) हैं। 'सामाजिक-नियम' निरपेक्ष नहीं, 'सापेक्ष' (Relative) हैं। परिवार का जो स्वार्थ है वह समूहका नहीं है, समूहका जो स्वार्थ है वह समाजका नहीं है, एक देशका जो स्वार्थ है वह दूसरे देशका नहीं है। हरेकके स्वार्थोंकी आपसमें टक्कर लगती है, मानव-समाजका काम इन विरोधी स्वार्थोंका समन्वय करना है, यही सामाजिक-नियमोंकी 'सापेक्षता' (Relativity) है।

२. 'स्मृति-विधान' (CODE) समाजका नियन्त्रण कैसे करता है?

हमने देखा कि 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social codes) का काम भौतिक नियमोंकीतरह तो नहीं, परन्तु फिर भी, नियम वनाकर समाजका नियन्त्रण करना है। ये नियम कई तरहके होसकते हैं। कई नियम व्यक्ति वनाते हैं, कई समितियां वनाती हैं, कई संस्थाएं वनाती हैं, कई समुदाय वनाते हैं, कई राष्ट्र वनाते हैं, परन्तु इन नियमोंद्वारा समाजका नियन्त्रण कैसे होता है? 'राष्ट्र' (State) जिन नियमोंको वनाता है उनको तोड़नेसे तो दंड मिलता है, इसलिये दंडके भयसे उन नियमोंको कोई नहीं तोड़ता, उनका सव लोग पालन करते हैं, परन्तु 'समाज' (Society) के वनाये नियमोंका लोग क्यों पालन करते हैं, समाजकेपास नियन्त्रणकी क्या व्यवस्था है, दंडका क्या विधान है?

यह स्पष्ट है कि 'स्मृति-विधान' (Code) तवतक नहीं चल सकता जवतक उसकी पीठपर कोई 'वल' न हो। 'स्मृति-विधान' (Code) का क्या 'वल' (Sanction) है? हम इससमय उन नियमोंकी चर्चा नहीं कर रहे, जो राष्ट्रद्वारा वनाये जाते हैं। उन्हें तो राष्ट्र दंडके जोरसे मनवाता है। प्रश्न यह है कि जो 'स्मृति-विधान', जो 'नियम' राष्ट्र नहीं वनाता, जो परंपरासे चले आते हैं, जिन्हें समाजने ही वनाया है, जिन्हें हम प्रथा, रुढ़ि, परंपरा कहते हैं, इन्हें किस भयसे लोग

पालते चले जाते हैं ? कभी-कभी ये प्रथाएँ, ये रूढ़ियां, ये परंपराएँ मानव-समाजपर इतना जबर्दस्त असर रखती हैं कि इन्हें बदलनेमें विप्लव होजाता है, क्रांति होजाती है। समाजमें इन नियमोंकेपीछे आंखें मूंदकर चलनेके दो कारण हैं। एक तो यह है कि सहस्रों वर्षोंकी निन्दा-स्तुतिके कारण हमें इन नियमोंको पालनेकी आदत पड़ गई है। समाजने जिस प्रथा, जिस रूढ़िको किसीसमय चलाया, उस समय अपनी जरूरत को देखकर ही चलाया होगा। जो उस प्रथाके अनुसार चले, उनकी प्रशंसा होती होगी, जो उसे भंग करते होंगे, उनकी निन्दा होती होगी। मनुष्य प्रशंसाका भूखा है, इसलिये उन नियमोंको पालना आसान हुआ होगा। इसके अतिरिक्त समाजके पास बहिष्कार का सबसे बड़ा यन्त्र है। जो समाजके बनाये नियमको न माने, उसका हुक्का-पानी बन्द कर देना, उसके साथ रोटी-बेटीका संबंध तोड़ देना, उसे बिरादरी-मेंसे निकाल देना, उसे जुर्माना कर देना—ये सब समाजके पास 'बल' (Sanctions) हैं, जिनके आधारपर 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social Code) समाज में नियन्त्रण और व्यवस्था कायम रख सकता है। समाजके बनाये इन नियमों का पालनकरनेका दूसरा कारण समाजके दंडका भय नहीं, परन्तु सबकी अपनी-अपनी 'आन्तरिक-प्रेरणा'—भी है। हम यह नहीं कहसकते कि चिकित्सा-संबंधी जो नियम बनेहुए हैं, उन्हें सब चिकित्सक इसलिये पालन करते हैं क्योंकि उन्हें समाजका भय है, वे इसलिये भी उनका पालन करसकते हैं क्योंकि उन नियमोंको उनकी अन्तरात्मा कहती है कि यही होना चाहिये, इससे उल्टी बात होनी ही नहीं चाहिये। हम यह नहीं कह सकते कि बाजारमें चलतेहुए सबलोग दुकानदारको इसलिये नहीं लूट लेते क्योंकि उन्हें पुलिसका डर है, कुछ इने-गिने ऐसे होंगे, परन्तु ज्यादातर लोग लूट-पाट इसलिये नहीं करते क्योंकि उनकी अन्तरात्मा इसे उचित नहीं समझती। असल में, प्रथा, रूढ़ि, परंपरा बनती ही इसलिये है क्योंकि जिससमय यह बनती है उससमय मनुष्यकी अन्तरात्मा इसे उचित समझती है, एक मनुष्यकी नहीं, उससमयके मानव-समाजकी यह पुकार होती है, तभी कोई प्रथा या रूढ़ि बनती है। यह बात दूसरी है कि जब परिस्थितियां बदल जांय, तब भी प्रथा या रूढ़ि बनी रहती है, परन्तु तब बदली हुई परिस्थितियोंमें ऐसे लोग उठ खड़े होते हैं, जो उन प्रथाओं तथा रूढ़ियों को जड़से उखाड़ फेंकते हैं। ऋषि दयानन्द तथा राजा राममोहन राय इसी कोटि के महापुरुष थे।

३. 'सामाजिक-स्मृति-विधान' के चार रूप

समाज अपने नियन्त्रणकेलिये भिन्न-भिन्न प्रकारके 'स्मृति-विधान' (Code) बनाता है। समाजमें कौन-कौन हैं ? समाज में व्यक्ति (Individuals) हैं, व्यक्तियोंके छोटे-बड़े समूह हैं, जिन्हें 'समिति (Association) कहते हैं, समितिके

बाद 'समुदाय' (Community) हैं, फिर राष्ट्र (State) हैं। ये चारों अपने-अपनेलिये कुछ विधान, कुछ नियम बना लेते हैं, जिनका उल्लंघन करना अनुचित समझा जाता है, इसलिये इन चारोंको दृष्टिमें रखतेहुए मुख्य-मुख्य 'स्मृति-विधान' (Codes) चार कहे जा सकते हैं। इन चारोंका संक्षिप्त विवरण हम करेंगे :—

(१) 'वैय्यक्तिक-स्मृति-विधान'—कभी-कभी समाज जिन नियमोंको बनाता है उन्हें व्यक्तिका अन्तरात्मा मानता है, कभी-कभी उन्हें नहीं भी मानता। हमने अभी कहा था कि हम बाजारमें चलतेहुए दुकानदारको सिर्फ़ इसलिये ही नहीं लूटते क्योंकि हमें पुलिसका डर है, परन्तु इसलिये नहीं लूटते क्योंकि इसे हमारा अन्तरात्मा ठीक नहीं मानता। परन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि समाज जिसे गलत समझता है उसे वैय्यक्तिकतौरपर हम ठीक समझते हैं, समाज जिसे ठीक समझता है उसे हमारा अन्तरात्मा गलत समझता है। उदाहरणार्थ, भ्रूण-हत्या समाजकी दृष्टिसे पाप है, परन्तु अगर एक अजनबी-सा दो-सिर और चार टांगोंका बच्चा पैदा होजाय, तो कोई डाक्टर तो उसे मारदेना उचित समझेगा, कोई इसे अनुचित समझेगा। एक तड़पतीहुई गाय है। कोई उसे गोलीमारकर उसका कष्ट समाप्त कर देना ठीक समझेगा, कोई गायको कष्टसे छुड़ानेकेलिये भी उसकी हत्या न करना ठीक समझेगा। यदि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होजाय जब व्यक्ति सामाजिक-विधानके विरुद्ध अपने आत्माके दृष्टि-कोणसे सोचता है, तो उस अवस्थामें व्यक्ति 'वैय्यक्तिक-स्मृति-विधान' की दृष्टिसे सोच रहा होता है। इसे समाज-शास्त्र की पुस्तकोंमें 'नैतिक-स्मृति-विधान' (Moral Code) कहा जाता है। इस विधान में व्यक्तिकी नैतिक-दृष्टि तथा समाजकी नैतिक-दृष्टिमें भेद पड़ जाता है। समाज कुछ कहता है, व्यक्ति का आत्मा कुछ दूसरी बात कहता है।

(२) 'समितिके स्मृति-विधान'—व्यक्तियोंके बाद छोटे-बड़े समूह आते हैं। कोई क्लब है, सभा है, सोसाइटी है, परिवार है, इनकी अपनी-अपनी प्रथाएं, रूढ़ियां, रीति-रिवाज, लिखित तथा अलिखित नियम होते हैं—ये सब इनके 'स्मृति-विधान' (Codes) हैं। इनका जो पालन न करे उसे सदस्यता से पृथक् कर दिया जाता है, उसे उस समाजमें घृणासे देखा जाता है, उसकी निन्दा होती है। इन समूहोंके बने रहनेका, इनके न टूटनेका, निन्दा-स्तुति, सदस्यता-सदस्यता-भंग आदि ही 'बल' (Sanction) हैं। समाज-शास्त्रकी पुस्तकोंमें इसप्रकारके नियमोंको 'सामितिक-स्मृति-विधान' (Associational Codes) कहा जाता है।

(३) 'सामुदायिक-स्मृति-विधान'—'समिति' (Association) के बाद 'समुदाय' (Community) आता है। 'समिति', अर्थात् क्लब, सभा, सोसाइटी आदिके नियमोंका भंग करनेसे व्यक्तिको सदस्यता से हटा दिया जाता है,

'समुदाय' के नियमों का भंग करने से व्यक्ति 'समुदाय' का अंग तो बना रहता है परन्तु उसका सब जगह मजाक उड़ता है, जग-हंसाई होती है । इसी भय से हिंदू हिन्दुओंके रीति-रिवाजों, प्रथाओं तथा रूढ़ियोंको पालता चला जाता है, मुसल्मान मुसल्मानोंके रीति-रिवाजों, प्रथाओं तथा रूढ़ियोंको पालता जाता है । हिन्दुओं की प्रथाओंको तोड़नेसे हिन्दू, और मुसल्मानोंकी प्रथाओंको तोड़नेसे मुसल्मान अपने समुदायसे तो किसीको नहीं निकाल देते, परन्तु जो ऐसा करता है उसे घृणाकी दृष्टिसे जरूर देखने लगते हैं। सोसाइटीमें अगर कोई नियमोंका उल्लंघन करे, तो उसे तो सदस्यतासे ही पृथक् कर देते हैं, समुदायोंमें इतना जबर्दस्त कदम नहीं उठाते, परन्तु जैसा हमने अभी कहा, उसे बुरी दृष्टिसे जरूर देखने लगते हैं। सभा, सोसाइटी तो किसी खास उद्देश्यसे बने होते हैं, अगर कोई उनके विरुद्ध जायगा तो वह उन संगठनों का सदस्य कैसे रह सकता है, समुदाय तो किसी खास लक्ष्य को लेकर नहीं बनाये जाते, ये तो मानव-समाजकी दीर्घ-कालीन विकास-यात्रामें बन जाते हैं, इसलिये समुदायोंके स्मृति-विधानके विरुद्ध चलनेवालेको सख्त सजा न देकर निन्दा-स्तुति-उपहास की हल्की सजा दी जाती है, परन्तु यही मनुष्यको समुदाय के नियमोंका भंग नहीं करने देते । समाज-शास्त्रकी पुस्तकोंमें इसप्रकारकी नियम-व्यवस्थाको 'सामुदायिक-स्मृति-विधान' (Communal code) कहते हैं ।

(४) 'कानूनी-स्मृति-विधान'—जो नियम 'व्यक्ति', 'समिति' या 'समुदाय' नहीं, 'राष्ट्र' बनाता है, उनका उल्लंघन करना तो महा-कठिन है । उनके पीछे डंडेका 'बल' (Sanction) है। अन्य 'सामाजिक-स्मृति-विधानों' (Social codes) का पालन न करने से तो बहिष्कार, निन्दा, घृणा, उपहास आदि ही का सामना करना पड़ता है, राष्ट्रके नियमोंका उल्लंघन करनेसे जेल और कभी-कभी मृत्यु-दंडका शिकार होना पड़ता है। अन्य 'स्मृति-विधान' (Codes) बल-प्रयोग नहीं करते, राष्ट्रका 'स्मृति-विधान' (Code) दंड-प्रयोग करता है। समाज-शास्त्रमें इसप्रकारको नियम-व्यवस्थाको 'कानूनी-स्मृति-विधान' (Legal code) कहते हैं।

४. उक्त चार के अतिरिक्त 'स्मृति-विधान' के रूप

हमने मुख्य चार 'स्मृति-विधानों' (Codes) का वर्णन किया है, परन्तु हरेक सामाजिक-संगठनके अपने-अपने नियम, अपना-अपना विधान है । इन नियमोंका काम संगठन को दृढ़ बनाये रखना, उसे नियंत्रित तथा सुव्यवस्थित रखना है । प्रारंभिक-समाजमें धार्मिक, कानूनी, आर्थिक 'स्मृति-विधान' अलग-अलग नहीं होते, ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता जाता है, धर्म अलग हो जाता है, आर्थिक-व्यवस्था अलग होजाती है, परिवार अलग होजाता है, त्यों-त्यों समाजके

हर क्षेत्रके अलग-अलग नियम, अलग-अलग रीति-रिवाज, अलग-अलग प्रथाएं, रूढ़ियां तथा परिपाटियां बनती जाती हैं। इनके अनुसार 'धार्मिक-स्मृति' (Religious code), 'आर्थिक-स्मृति' (Economic code), 'पारिवारिक-जीवनकी स्मृति' (Code of family life) आदि हर क्षेत्रके, अपने-अपने क्षेत्रकेलिये नाना-प्रकारके नियम, नाना-प्रकारकी प्रथाएँ, रूढ़ियां तथा परंपराएं बनती जाती हैं। इस दृष्टिसे 'स्मृति' (Code) चार ही नहीं, अनेक होसकती हैं। भिन्न-भिन्न 'स्मृति-विधानों' (Codes) को चित्रमें इसप्रकार प्रकट किया जा सकता है :—

'स्मृति-विधान' तथा उसके पीछे 'बल'
(Codes and their Sanctions)

'स्मृति' को बनाने-वाला संगठन	'स्मृति-विधान' (Code)	स्मृति का 'बल' '(Sanction)
१. राष्ट्र (State)	कानूनी-विधान (Legal code)	शारीरिक बल-प्रयोग, जुर्माना, जेल, मृत्यु-दंड, मुआविज़ा देना।
२. धार्मिक-संस्था (Church)	धार्मिक-विधान (Religious code)	प्रायश्चित्त, धर्म-बहिष्कार, ईश्वरका कोप।
३. भिन्न-भिन्न व्यवसाय (Professions)	भिन्न-भिन्न व्यवसायोंके अपने-अपने कायदे-कानून, प्रथा (Occupational codes)	सदस्यता से पृथक् कर देना।
४. परिवार (Family)	पारिवारिक-विधान (Familial code)	पितृ-क्रोध, विरासतसे ख़ारिज कर देना, पैत्रिक-सम्पत्तिसे वंचित कर देना।
५. सभा-सोसाइटी (Club)	नियम-उपनियम (Rules and regulations)	सदस्यता में रुकावट या सदस्यतासे पृथक् कर देना।
६. डाकू-लुटेरे (Gangs)	लुटेरोंके कायदे-कानून (Codes of the 'under-world')	मृत्यु-दंड
७. समुदाय (Community)	प्रथा (Custom)	निन्दा, उपहास
८. व्यक्ति (Individual)	नैतिक-विधान (Moral code)	उचित-अनुचित की आन्तरिक भावना, आत्माकी आवाज़

प्रश्न

१. जब राष्ट्र नहीं बना था, और इसीलिये कानून भी नहीं बना था, तब सामाजिक-संगठनकी स्थिरताका क्या कारण था ?

२. 'सामाजिक-स्मृति-विधान' के नियमों (Laws of Social code) की 'भौतिक-नियमों' (Physical laws) के साथ तुलना कीजिये ।

३. राष्ट्रके नियमोंके पीछे शारीरिक 'बल' है, इसलिये कोई उनका उल्लंघन नहीं करता। सामाजिक-नियमोंके पीछे कौन-सा 'बल' है, जो उनका भी कोई उल्लंघन नहीं करता ? क्या यह 'बल' सिर्फ़ सामाजिक-भयका है, या इसमें कोई और बात भी काम करती है ?

४. 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social codes) के चार भिन्न-भिन्न रूप कौन-से हैं ? इन चारके अतिरिक्त अन्य भी क्या 'स्मृति-विधान' (Codes) होसकते हैं ? अगर हां, तो कौनसे ? उन स्मृति-विधानोंके पीछे क्या 'बल' (Sanction) है ?

[२५]

'धर्म' तथा 'नीति'

(RELIGIONS AND MORALS)

हमने देखा कि जब राष्ट्रकी उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब भी समाजको बांधनेवाले एक प्रकारके नहीं, अनेक प्रकारके नियम थे। राष्ट्रकी उत्पत्तिके बाद तो कानूनके डरसे हरेक आदमी सामाजिक-नियमोंका पालन करने लगा, परन्तु जब राष्ट्र नहीं उत्पन्न हुआ था, तब भी अनेक प्रकारके नियमोंका पालन होता था, जिसकी जो मर्जी आयी नहीं कर बैठता था। समाजने जिस बातको ठीक समझ लिया था, वह बात यदि हमारे आजके दृष्टि-कोणसे सही थी या नहीं थी, उसका हरेक व्यक्ति पालन करता था। इसका यही कारण था कि उस समय समाजको बांधे रखनेवाला कानून तो नहीं उत्पन्न हुआ था, परन्तु धार्मिक-नियम, प्रथाके नियम, आर्थिक-नियम, परिवारके नियम—हरेक क्षेत्रके अपने-अपने नियम बने हुए थे, और समाजमें अपनी स्थिति बनाये रखनेकेलिये, निन्दा तथा उपहाससे बचनेकेलिये, जात-बिरादरीमें बने रहनेकेलिये, हुक्का-पानी और रोटी-बेटी का व्यवहार टूट न जाय इसलिये, समाजके नियमोंका पालन करना हर व्यक्ति आवश्यक समझता था। ये धार्मिक-नियम ही 'धार्मिक-स्मृति-विधान' (Religious code) था, ये प्रथाके नियम ही 'प्रथाका स्मृति-विधान' (Code of Custom) था, ये आर्थिक-नियम ही 'आर्थिक-स्मृति-विधान' (Economic code) था, ये परिवारके नियम ही 'परिवारका स्मृति-विधान' (Familial code) था।

ये नियम हरेक समाजके भिन्न-भिन्न थे। किसी समाजमें एक-विवाहका नियम था, किसीमें बहु-विवाहका, किसी में हरेक वस्तु को जीवित माना जाता था, हर वस्तुमें परमात्मा प्रकट होरहा था, किसी में परमात्मा सातवें आस्मान में बैठा संसारका शासन कर रहा था, किसीमें रुपये-पैसेको दांतसे पकड़ा जाता था, किसीमें उसे लुटा दिया जाता था, किसीमें स्त्रीको देवी समझकर पूजा जाता था, किसीमें उसे पैरकी जूती समझा जाता था। जिस समाजकी जैसी संस्कृति थी, उसीके रंगमें उसके नियम, उसका स्मृति-विधान रंगा जाता था, उस-उस समाजमें संस्कृति-सम्बन्धी जो आदर्श-कल्पना की हुई थी, उसीको जीवनमें उतारनेकेलिये धार्मिक,

नैतिक, आर्थिक, पारिवारिक नियम तथा स्मृति-विधान बनाया हुआ था, और उस स्मृति-विधानका पालन करनेकेलिये समाजके पास निन्दा-स्तुति, प्रतिष्ठा-परिहास, सदस्यता-बहिष्कार—ये ही शस्त्र थे, यही बल थे, समाजके पास इन्हें पालन करानेका और कोई बल नहीं था, परन्तु फिर भी समाज इनका पालन करता चला आता था।

प्रारंभिक-समाजमें जीवनके इतने क्षेत्र नहीं थे जितने आजके विकसित समाजमें होगये हैं। उस समय धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक आदि सब क्षेत्र मिले-जुले थे, इसलिये उनके स्मृति-विधान भी अलग-अलग नहीं थे। 'धार्मिक-स्मृति-विधान' (Religious code) ही सब-कुछ था। धर्म जो कहता वही परिवारको करना, वही सत्य, वही प्रथा, और वही हर मनुष्यकेलिये मानना और करना लाजमी था। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों समाजका विकास होने लगा, मनुष्यके क्रियाके क्षेत्र बढ़ने लगे, उसे हर क्षेत्रकेलिये अलग-अलग नियमोंकी, अलग-अलग 'स्मृति-विधान' बनानेकी आवश्यकता अनुभव हुई। हम सब स्मृति-विधानों की यहां चर्चा नहीं कर सकते। हम मुख्य-मुख्य चार 'स्मृति-विधानों' (Codes) को लेकर उनकी चर्चा करेंगे। वे चार 'स्मृति-विधान' हैं—'धार्मिक-स्मृति-विधान' (Religious codes), 'नैतिक-स्मृति-विधान' (Moral code), 'प्रथा-सम्बन्धी स्मृति-विधान' (Code of Custom) तथा 'कानूनी-स्मृति-विधान' (Legal code)। इन 'स्मृति-विधानों' में 'धर्म' (Religion) तथा 'नीति' (Morality) का क्षेत्र एक-सा है, 'प्रथा' (Custom) तथा 'कानून' (Law) का क्षेत्र एक-सा है, इसलिये इस अध्यायमें हम 'धर्म तथा नीति' (Religion and Morality) तथा अगले अध्यायमें 'प्रथा तथा कानून' (Custom and Law) का वर्णन करेंगे।

१. धार्मिक तथा नैतिक स्मृति-विधानमें भेद

'धर्म' (Religion) तथा 'नीति' (Morality) को आम बोलचालकी भाषा में एक ही समझा जाता है, क्योंकि दोनोंका क्षेत्र एक ही है। दोनोंका विषय मनुष्यका आचार-व्यवहार, उसकी रोजमर्राकी दिनचर्या है, परन्तु एक ही क्षेत्रके होते हुए भी दोनोंका दृष्टि-कोण अलग-अलग है। इनके दृष्टि-कोणमें निम्न भेद हैः—

(१) 'धर्म' (Religion) की दृष्टिसे वही बात ठीक है, जो वेद-शास्त्र, बाईबल-कुरान, पंडित-मौलवी-मुल्ला-पादरीने कही है। जिस बातको देवी-देवताकी दृष्टिसे ठीक समझा जाय, वह हमारे वैयक्तिक दृष्टि-कोणसे कितनी ही बुरी क्यों न प्रतीत होती हो, ठीक है; जो बात हमारी आत्माकी दृष्टिसे ठीक मालूम पड़ती

है, वह अगर शास्त्रकी दृष्टिसे, पंडितों-मौलवी-पादरीकी दृष्टिसे ग़लत है, तो वह ग़लत है । 'नीति' (Morality) में ऐसी बात नहीं है । नीतिकी दृष्टि, धर्म-शास्त्र की, पंडित-मौलवीकी दृष्टि नहीं है । यह अन्तरात्मा-की-दृष्टि है, व्यक्तिकी अपनी दृष्टि है, 'स्वस्य च प्रियमात्मनः'-की दृष्टि है । 'पाप' (Sin) और 'अनुचित' (Wrong)--इन दो शब्दोंमें जो भेद है, वह 'धर्म' और 'नीति' में भेद है। 'पाप' वह होता है जिसे 'धर्म' (Religion) बुरा समझे, 'अनुचित' वह होता है जिसे 'नीति' (Morality) बुरा समझे। यह होसकता है कि एक बातको हम अपने विचारकी दृष्टिसे उचित समझते हों, परन्तु धर्मकी दृष्टिसे वह पाप कही जाती हो, यह भी होसकता है कि दूसरी बात धर्मकी दृष्टिसे ठीक हो, परन्तु हमारा अन्तरात्मा उसे न मानता हो । 'धर्म' (Religion) का आधार मनुष्य नहीं, ईश्वर है, 'नीति' (Morality) का आधार ईश्वर नहीं, मनुष्य है। 'धर्म' कहता है, यह करो, इसलिये नहीं क्योंकि यही बात ठीक है, परन्तु इसलिये क्योंकि यही ईश्वर-का विधान है, यही ईश्वरकी इच्छा है; 'नीति' कहती है, यह करो, इसलिये नहीं क्योंकि यह ईश्वरीय-विधान है, परन्तु इसलिये क्योंकि यही ठीक है, यही उचित है, यही हमारा आत्मा कहता है, यही युक्ति-युक्त है । 'नीति' का आधार युक्ति है, 'धर्म' का आधार युक्ति नहीं है, 'नीति' बुद्धि-पूर्वक है, 'धर्म' बुद्धि-पूर्वक नहीं है । इसका यह मतलब नहीं कि धर्म बुद्धिका तिरस्कार करता है, इसका मतलब सिर्फ़ इतना है कि मनुष्यकी बुद्धि और ईश्वरके विधानके मुकाबिलेमें धर्म मनुष्यके निर्णयके स्थान में जिसे, सही या ग़लत, ईश्वरका निर्णय समझता है, उसे महत्व देता है ।

(२) आज हमारे 'सामाजिक-स्मृति-विधान' (Social codes) समाजकी आवश्यकताको आधार बनाकर बनते हैं । जैसी स्थिति होती है, जिस बातकी समाजको आवश्यकता होती है, वैसा 'स्मृति-विधान' (Code) बना दिया जाता है । आदि-समाजमें भी बहुत-कुछ ऐसा ही हुआ होगा । परन्तु 'धार्मिक-स्मृति-विधान' (Religious code) मनुष्यकी आवश्यकताओंको सामने रखकर नहीं बना था, वह तो देवी-देवताओंके भयसे, प्राकृतिक-शक्तियोंके यथार्थ ज्ञान न होनेसे बना था। धार्मिक रीति-रिवाजोंको इसलिये चलाया गया था जिससे देवी-देवताओंका क्रोध शान्त किया जाय। इसका यह परिणाम था कि अनेक समाज-विरोधी बातोंका धर्ममें समावेश था। उदाहरणार्थ, यहूदियोंमें अपने पहले बच्चेको देवतापर बलि चढ़ा दिया जाता था, हिन्दुओंमें माइसोर, मद्रास आदि में लड़कीको मन्दिर के देवता के साथ व्याह दिया जाता था, इस प्रथाको 'देवदासी' कहा जाता था, कहीं-कहीं देवता पर अपने किसी अंगको काटकर चढ़ाया जाता था, कलकत्तेमें कालीके मन्दिरपर बकरोंको मारकर चढ़ाया जाता है । ये सब समाज-विरोधी काम

'धर्म' के आधारपर चल सकते हैं, 'नीति' के आधारपर नहीं चल सकते, ये कहनेको भले ही धार्मिक कृत्य कहे जांय परन्तु अनैतिक हैं।

२. धार्मिक तथा नैतिक दृष्टि-कोणमें विरोध

'धार्मिक' तथा 'नैतिक' दृष्टि-कोणमें जो भेद है, इसके कारण इन दोनोंमें विरोधका उठ खड़ा होना स्वाभाविक है। जिस बातको 'धार्मिक-स्मृति' (Religious code) ठीक कहती है, उसे 'नैतिक-स्मृति' (Moral code) गलत कह देती है। यह विरोध निम्न रूपमें दिखाई देता है:—

(१) मनुष्य जब नयी-नयी सचाइयोंको देखता है, तब वह अपना नैतिक कर्तव्य समझता है कि उनके अनुसार व्यवहार करे, परन्तु ऐसे मौकों पर धर्म उसके रास्तेमें रुकावट बनकर खड़ा होता रहा है। जब गैलिलियोने इस बातका पता लगाया कि सूर्य पृथिवीके गिर्द नहीं घूमता, पृथिवी सूर्यके गिर्द घूमती है, तो उसने अपना नैतिक कर्तव्य समझा कि इस सचाई को जाहिर करे। उसने जब इस सत्य को प्रकट किया, तब धर्मके ठेकेदारों ने उसे जेल में डाल दिया, और उसे तब छोड़ा जब उसने कह दिया कि मेरा विचार गलत था। संसारका इतिहास इस बातका साक्षी है कि धर्म सत्यको दबाता रहा है, रूढ़िवाद बुद्धिवादका विरोध करता रहा है। इस दृष्टिसे 'धर्म और विज्ञान' (Religion and Science) की लड़ाई एकतरहसे 'धर्म और नीति' (Religion and Morality) की लड़ाई है। संसारका उद्भव कैसे हुआ, क्या बने-बनाये जीव-जन्तु परमात्मा ने घड़कर रख दिये, या डार्विन के विकासवाद के अनुसार उनका क्रमिक-विकास हुआ है—इस की जब चर्चा चली, तब ईसाइयतने इसका विरोध किया। जब दर्दको कम करनेकेलिये दवाइयों का प्रयोग हुआ, तब भी ईसाई धर्मने इसका विरोध किया। पादरियोंका कहना था कि बाइबलमें जब लिख दिया कि बनी-बनायी योनियां पैदा हुईं, तब यह कहना कि उनका क्रमिक-विकास हुआ अधार्मिक है, अनुचित है; दर्दका काम मनुष्यके पापों का फल है, तब दर्दको दवाईसे हटाना ईश्वरीय-विधानमें हस्तक्षेप करना है। आज हिन्दुओंमें तलाक के नाम पर कितना शोर उठ खड़ा होता है। स्त्री पर कितना ही अत्याचार क्यों न हो, उसका पति अत्याचारी, दुराचारी, जन्मका रोगी, कोढ़ी, कुछ भी क्यों न हो, धर्मके नाम पर तलाकका विरोध होता है, परन्तु क्या नैतिक-दृष्टिसे यह समझाया जासकता है कि दुराचारी, व्यभिचारी और कोढ़ी पति के साथ स्त्री जन्मभर क्यों बंधी रहे? असल बात यह है कि 'नीति' मनुष्यको आगे खींचती है, 'धर्म' उसे आगे बढ़ने से रोकता है।

(२) 'धर्म' सदा अपनेको सत्य मानता रहा है। 'धर्म' का यह दावा रहा है कि उसका उद्भव परमात्मा से हुआ है, इसलिये जो-कुछ 'धर्म' कहता है, वह सच

है, दूसरे लोग जो-कुछ कहते हैं, वह झूठ है। इसीका परिणाम यह रहा है कि धर्म के नाम पर संसार में जिहाद वोले गये हैं। मुसलमानों ने धर्म के नाम पर तलवार उठाई, ईसाइयों ने धर्म के नाम पर क्रूसेड किये। परन्तु नैतिक-दृष्टि से अगर कोई पूछे कि कौन-सा धर्म सच्चा है, कौन-सा झूठा, ईसाइयत सच्ची है या इस्लाम, ईसाइयतमें भी रोमन कैथोलिक सचाई पर हैं या प्रोटेस्टेंट, इस्लाम में शिया ठीक हैं या सुन्नी, तो धर्मके पास इसका क्या उत्तर है? धार्मिक तथा नैतिक दृष्टि-कोणमें यह विरोध सदा से चला आ रहा है, और जवतक इन दोनों दृष्टियों का समन्वय नहीं होजायगा, तवतक यह विरोध चलता चला जायगा।

३. धार्मिक तथा नैतिक दृष्टि-कोणका समन्वय

समाजकी प्रारंभिक-अवस्थामें जो 'धर्म' (Religion) था, वही 'नीति' (Morality) थी, जो 'नीति' थी, वही 'धर्म' था, परन्तु ज्यों-ज्यों समाज विकसित होने लगा, त्यों-त्यों मनुष्यको यह जान पड़ने लगा कि 'धर्म' अलग वस्तु है, 'नीति' अलग वस्तु है, जिसे 'धर्म' ठीक कहता है, वह 'नीति' की दृष्टिसे ठीक नहीं जंचता, जिसे 'नीति' ठीक कहती है, उसे 'धर्म' गलत कहता है। पहले मनुष्य वुद्धिसे काम नहीं लेता था, इसलिये उसे 'धर्म' और 'नीति' का विरोध नहीं दीखता था, अव वह वुद्धि से काम लेने लगा, सव-कुछ पंडित-मुल्ला-पादरीपर न छोड़कर स्वयं सोचने लगा, तो इन दोनों में उसे विरोध दीखने लगा।

परन्तु 'धर्म और 'नीति' का यह विरोध क्या विरोधके रूपमें वना रहेगा? आज मनुष्य विचारके जिस क्षेत्रमें पहुंच चुका है वहां 'नीति' (Morality) 'धर्म' (Religion) को प्रभावित करने लगी है, वुद्धिका प्रभाव वढ़ने लगा है, और 'धर्म' अपने-आपको नैतिक-विचारोंके अनुसार वदलने लगा है। अव 'धर्म' के क्षेत्रमें यही नहीं समझा जाता कि सचाईका ठेकेदार 'धर्म' ही रह गया है। 'धर्म' एक नहीं अनेक हैं, सभीमें एक-दूसरेसे विरोध है, इसलिये सव एक-समान सच्चे नहीं होसकते। इस वात का कोई प्रमाण नहीं है कि इन सवमें कोई एक ही सच्चा है। इस विचार-धारा का यह परिणाम है कि 'धर्म' अपने संकुचित दृष्टिकोणको वदलने लगे हैं। जहां प्रतीत होता है कि धार्मिक दृष्टि-कोण नैतिक दृष्टि-कोणके विरोधमें है, वहां धर्म-गुरु लोग अपने शास्त्रोंके भाष्य करके उसे नैतिक दृष्टि-कोणकेसाथ मिलाने लगे हैं, इन दोनोंका समन्वय करने लगे हैं। वेद, वाइवल, कुरानके जो नये-नये भाष्य होरहे हैं, वे सव इन ग्रन्थोंको वुद्धि-वादके साथ मिलानेका प्रयत्न कर रहे हैं, नैतिकदृष्टिके निकट लारहे हैं। आदि-समाजमें 'धर्म' और 'नीति' एक ही थीं, आगे चलकर इन दोनों का विरोध प्रकट हुआ, अव जव फिर 'धर्म' और 'नीति' के भेद को मिटा दिया जायगा, धर्ममें कोई अनैतिक वात न रहेगी, तव इन दोनोंका फिर

समन्वय होजायगा। भेद इतना है कि आदि-समाजमें इन दोनोंमें विरोधके रहते हुए भी क्योंकि विरोध दीखता न था, इसलिये समन्वय था, अब इन दोनोंका विरोध दीखने लगा है, इसलिये उस विरोधको मिटकर समन्वय होगा।

प्रश्न

१. 'धर्म' (Religion) तथा 'नीति' (Morality) का विषय एक ही है, परन्तु दृष्टि-कोण अलग-अलग है—इस कथनका अर्थ समझाइये।
२. धार्मिक तथा नैतिक स्मृति-विधानमें क्या भेद है ?
३. धार्मिक तथा नैतिक स्मृति-विधानमें क्या विरोध है, और इस विरोधको दूर कैसे किया जासकता है ?

[२६]

'प्रथा' तथा 'क़ानून'

(CUSTOM AND LAW)

१. प्रथा (Custom)

(१) जब कोई 'व्यक्ति' किसी कामको बारबार करता है, तब उस व्यक्ति को उस कामकी 'आदत' (Habit) होजाती है।

(२) जब कोई 'समाज' किसी कामको बार-बार करता है, तब उस कामको समाजकी 'आदत' न कहकर, 'प्रचलन' (Usage) कहते हैं।

(३) जब कोई समाज किसी कामको बार-बार करता है, और उसे करना उचित समझता है, उसे न करना अनुचित समझता है, तब उसे 'आदत' (Habit) या 'प्रचलन' (Usage) न कहकर, 'प्रथा' (Custom) कहते हैं।

मनोवैज्ञानिक-दृष्टिसे 'आदत'—'प्रचलन'—'प्रथा' इन तीनोंका आधार एक ही है। तीनोंमें एक बातको बार-बार करना है। जबतक यह बार-बार करना व्यक्तितक सीमित रहता है, इसे 'आदत' (Habit) कहते हैं, जब यह समाजके क्षेत्रमें आजाता है, तब इसे 'प्रचलन' (Usage) कहने लगते हैं। 'प्रचलन' (Usage) की तरह 'प्रथा' (Custom) भी एकतरहसे समाजकी 'आदत' (Habit) है, परन्तु 'प्रचलन' (Usage) में उचित-अनुचित का प्रश्न नहीं उठता, 'प्रथा' (Custom) में उचित-अनुचितका भेद उठता है। 'प्रचलन' (Usage) के विरुद्ध भी कुछ किया जाय, तो बड़ा अपराध नहीं माना जाता, 'प्रथा' (Custom) के विरुद्ध चलना तो अपराध माना जाता है।

प्रथाकी उत्पत्ति (Origin of Custom)—

'प्रथा' की उत्पत्ति कैसे होती है? 'आदत' (Habit) और 'प्रचलन' (Usage) में तो कुछ नई बात और कुछ पुरानी बात मिली-जुली रहती हैं, परन्तु 'प्रथा' (Custom) में नया कुछ नहीं होता। अगर कोई नई 'प्रथा' चलती है, तो वह भी किसी पुरानी 'प्रथा' से ही उत्पन्न होती है। संसारमें बिल्कुल नई कोई भी 'प्रथा' नहीं होसकती। 'प्रथा' का मतलब ही है—'पुरानी चाल'। एक व्यक्तिकी 'आदत' का जब किसी दूसरे व्यक्तिकी 'आदत' से टाकरा होता है, तब उन दोनोंकी

'आदतों' में कुछ-कुछ परिवर्तन होता है, दोनों अपनेको एक-दूसरेके अनुकूल बनानेके लिये कुछ अपना छोड़ते हैं, दूसरे का लेते हैं। इसप्रकार सहस्रों व्यक्तियोंकी 'आदतों' के आदान-प्रदान से, पारस्परिक-विनिमयसे समाज जिस 'आदत' को ठीक या उचित समझता है, वह वच रहती है, वाकी 'आदतें' छोड़ दीजाती हैं, वस, इसी प्रक्रियामेंसे गुजरते-गुजरते जिन वातोंको समाज ठीक समझकर पकड़ लेता है, उन्हींके संग्रहसे 'प्रथा' (Custom) उत्पन्न होजाती है। अव भी तो यही प्रक्रिया होरही है। कुछ व्यक्ति अपनी विचार-धाराको जन्म देते हैं, उनके मुकाविलेमें दूसरे व्यक्तियोंकी विचार-धारा फूट पड़ती है, इन सव विचारोंका मेल, इनका टाकरा, इनका संघर्ष होता जाता है, और इस संघर्षसे एक नवीन विचार-धारा उत्पन्न होती जाती है, जिसमें दोनोंका कुछ-कुछ अंश रह जाता है, और यही नई विचार-धारा अन्य व्यक्तियोंको प्रभावित करने लगती है। विचारोंके विकासकी जो प्रक्रिया आज होरही है, वही आदि-समाजमें हुई होगी, इस संघर्षमें जो विचार-धारा टिक सकी, वही 'प्रथा' वन गई।

प्रथाका उपयोग (Function of Custom)—

३२ वें अध्यायमें हमने 'सहज-क्रिया' (Reflex action) तथा 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) के विषयमें विस्तार-पूर्वक लिखा है, यहां इतना लिखना पर्याप्त है कि जो काम शरीरमें 'नैसर्गिक-क्रिया', अर्थात् 'सहज-क्रिया' (Reflex action) का है, जो काम शरीर-धारियों में 'नैसर्गिक-प्रवृत्ति', अर्थात् 'सहज-प्रवृत्ति' या 'प्राकृतिक-शक्ति (Instinct) का है, वही काम, समाजमें 'प्रथा' (Custom) का है। जो 'सहज-क्रियाएं' (Reflex actions) आज हमारा शरीर अपने-आप करता है, उन्हें कभी-न-कभी सीखा गया होगा। आज माता-पिताद्वारा वे 'सहज-क्रियाएं' हमें विरासतमें मिलती हैं। अगर हरेक 'सहज-क्रिया' को नये सिरेसे सीखना होता, तो मनुष्यका काम कैसे चलता? इसीप्रकार अगर प्राणीमें 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) न होती, और हर सन्ततिको हर वात नये सिरेसे सीखनी होती, तो कैसे काम चलता? आदि-कालमें जिस वातको प्राणियोंने वार-वार करके सीखा था, वह अव उन्हें वार-वार सीखनी नहीं पड़ती, जन्मसे ही उसका उन्हें ज्ञान होता है। 'प्रथा' भी वह ज्ञान-परंपरा है, जिसे हमारे पूर्वजोंने अनुभवके लम्बे-चौड़े सिलसिलेमेंसे गुजरकर प्राप्त किया था। आज उस ज्ञान को प्राप्त करनेकेलिये प्रत्येक व्यक्तिको हरप्रकारके अनुभवमेंसे गुजरनेकी जरूरत नहीं, 'प्रथा' (Custom) के रूपमें वह अनुभव हमतक पहुंच जाता है। इस दृष्टिसे 'प्रथा' (Custom) एकतरहकी 'सामाजिक-विरासत' (Social heredity) है, जो हर सन्ततिको अपने पूर्वजोंसे प्राप्त होती है।

प्रथाकी शक्ति (Power of Custom)—

'प्रथा' की शक्ति बड़ी प्रबल है। किसीने इसे मानव-जीवनकी कर्ता-धर्ता कहा है, तो किसीने 'प्रथा' को प्रकृतिसे भी ज्यादा शक्तिशालिनी बतलाया है। आदि-समाजके मनुष्यका सम्पूर्ण-जीवन प्रथाके इर्द-गिर्द घूमता था, आजके सभ्य-मानवके जीवनपर भी इसका प्रभुत्व कम नहीं है। शुरू-शुरूमें जब मनुष्यने जीवन-यात्रा शुरू की थी, तब समाजको नियमोंमें बांध रखनेकेलिये 'प्रथा' के बिना दूसरी कोई व्यवस्था नहीं थी। इसीलिये 'प्रथा' को एक ऐसा विधान माना गया था जिसके विरोध में चलना उससमयके मनुष्यकेलिये मानो दैवीय-विधानके विरुद्ध चलना था। जो 'प्रथा' के विरुद्ध चलता था, उसे बहिष्कृत कर दिया जाता था, इसलिये इसको तोड़नेकी किसीमें सामर्थ्य नहीं थी। जो सब लोग मानते हों, वही तो 'प्रथा' है, और सब लोगोंके खिलाफ़ कौन चल सकता था ? इसके अतिरिक्त मनुष्यका स्वभाव है जाने-पहचाने रास्तेपर चलना। जिस मार्गको वह जानता नहीं है, उसपर चलनेसे उसे भय लगता है। 'प्रथा' के अनुसार चलनेमें तो मनुष्य उसी रास्तेपर चलता है जिसपर दूसरे लोग अबतक चलते चले आये हैं। उस रास्तेमें खतरा होता, तो मानव-समाज उस मार्गपर अबतक क्यों चला आता ? इसलिये मनुष्य सदा 'प्रथा' का आदर करता आया है, और नवीन बातसे भय खाता रहा ह। यही कारण है कि अगर समाज-सुधारक कोई नई बात भी कहना चाहते हैं, तो यही कहते हैं कि यह कोई नई बात नहीं है, पहले भी यही बात चलती थी। एक लेखकने कहा है कि मनुष्य केलिये सबसे ज्यादा कष्ट-दायक बात कोई नया विचार है। नये विचारसे वह हौए की तरह डरता है। 'प्रथा' मनुष्यकी किसी-न-किसी आवश्यकताको पूरा करनेकेलिए चलती है, परन्तु 'प्रथा' में वह शक्ति है कि जब आवश्यकता नहीं भी रहती, तब भी वह 'प्रथा' बराबर समाजको जकड़े रहती है। ऐसी मरी हुई 'प्रथाओं' से समाजका पल्ला छुड़ानेकेलिये समाज-सुधारकोंको हिमालय-जैसे कठिन प्रयत्न करने पड़ते हैं।

२. कानून (LAW)

'प्रथा' की तथा 'कानून' की शक्तिमें भेद—

'प्रथा' तथा 'कानून' इन दोनोंका काम समाजको अव्यवस्थित होनेसे बचाना है, परंतु 'प्रथाके स्मृति-विधान' (Code of Custom) तथा 'कानूनके स्मृति-विधान' (Legal Code) में भेद यह है कि कानूनके पीछे राज्य-शक्ति है, प्रथाके पीछे राज्यकी नहीं, समाजकी शक्ति है। जो 'प्रथा' को तोड़े उसे समाजमेंसे बहिष्कृत किया जा सकता है, उसकी निन्दा होती है, उपहास होता है, इससे ज्यादा कुछ नहीं हो-सकता, परन्तु जो कानूनका भंग करे, उसे जेलमें डाला जासकता है, ऐसे भी अवसर

आसकते हैं कि जिनमें उसे मृत्यु-दंड भी दिया जासकता है। 'प्रथा' समाजकी उपज है, 'कानून' राष्ट्रकी उपज है; 'प्रथा' का स्वतः विकास होता है, 'कानून' बनाया जाता है; 'प्रथा' मनुष्यके अन्तरात्मातकको जकड़ लेती है, 'कानून' उसके आभ्यन्तरको नहीं, उसके बाह्य-व्यवहार पर प्रभाव डालता है; 'प्रथा' को तोड़नेकेलिये मनुष्यमें प्रेरणा ही नहीं होती, 'कानून' को वह दंडके भयसे नहीं तोड़ता।

वर्तमान-समाजमें 'प्रथा' अपर्याप्त है—

आदि-समाजमें थोड़े-से लोग थे, हरेक मनुष्य दूसरे को जानता था, उनका आमने-सामनेका दिन-रातका वैय्यक्तिक-सम्बन्ध था, अगर कोई समाजके नियमोंका उल्लंघन करता था, तो कानाफूसी शुरू होजाती थी, कोई बुरा-भला कहता, कोई हंसी उड़ाता, कोई निन्दा करता था, इसलिये लोग सीधे रस्तेपर रहते थे। आज वह हालत नहीं रही, समाज बहुत विकसित होगया है, लोग एक-दूसरेको जानते-पहचानते भी नहीं। ऐसी अवस्थामें समाजको व्यवस्थित रखनेकेलिये 'प्रथा' पर्याप्त नहीं रही, इसे 'कानून' का सहारा मिलने की जरूरत होगई है, इसीलिये समाजने 'कानून' का आविष्कार किया है। वर्तमानमें 'प्रथा' को 'कानून' का सहारा देना पड़ेगा। इसके निम्न कारण हैं :—

(१) अगर किसीने किसीको कोई नुकसान पहुँचाया है, तो 'प्रथा' के पास उस नुक्सानको पूरा करनेका क्या साधन है? वह यही तो करसकती है कि ईंट का जवाब पत्थरसे देनेकी इजाजत दे, जो एक थप्पड़ लगाये उसे दो मारने दे। परन्तु इसमें दण्ड-व्यवस्था सिर्फ़ उन दोके हाथमें रहजाती है जो झगड़ रहे हैं, और क्योंकि वे ही झगड़नेवाले पक्ष हैं, इसलिये कितने अपराधका कितना दण्ड होना चाहिये, यह निर्णय नहीं होपाता। छोटे-छोटे अपराधके बड़े बदले निकल सकते हैं इसलिये उन दोके अतिरिक्त किसी तीसरी शक्ति की आवश्यकता है, जो अपराध और दण्डका अनुपात निश्चित करे, वही 'कानून' है।

(२) आदि-समाजमें हर व्यक्तिका दूसरेकेसाथ आमने-सामनेका, वैय्यक्तिक सम्बन्ध था, इसलिये 'प्रथा' के अनुसार झट-से ठीक-गलत का फैसला होजाता था, आज समाज इतना विकसित होगया है कि कोई किसीको जानता नहीं, किसीका दूसरेकेसाथ वैय्यक्तिक-सम्बन्ध नहीं रहा। समाजकी नई-नई आवश्यकताएं पैदा होरही हैं, समाज दिनोंदिन बदलता जारहा है, इस बदलतेहुए समाजकी नई हालतोंको अपरिवर्तन-शील 'प्रथा' कैसे पूरा करे? ऐसी हालतमें 'कानून' ही ऐसी चीज है जो झट-झट बदला जा सकता है, जैसे ही समाज बदला वैसे ही, 'प्रथा' तो नहीं, परन्तु 'कानून' बदला जा सकता है।

(३) वर्तमान-समाज तो अनेक छोटे-छोटे समूहोंसे मिलकर बना है। हर समूहकी अपनी 'प्रथाएं' हैं। इन सबसे मिलकर जो समाज बना है, उसको रास्ते पर डालनेकेलिये किसी ऐसी व्यवस्थाकी जरूरत है जो व्यवस्था सबपर एक समान लागू होसके। हिन्दू अपने ढंगसे काम करता है, मुसलमान अपने ढंगसे। दोनोंके ढंग, दोनों की प्रथाएं कहीं-कहीं टकरा भी सकती हैं। ऐसी अवस्थामें दोनों अपने-अपने ढंगसे चलें, कोई किसी पर चोट न करे, यह व्यवस्था तो 'कानून' ही बना सकता है।

'कानून' की उत्पत्ति—

क्योंकि वर्तमान-समाजमें 'प्रथा' अपर्याप्त है, इसलिये 'कानून' की उत्पत्ति हुई। आदि-समाजमें 'प्रथा' तथा 'कानून' में भेद नहीं था। 'प्रथा' की उत्पत्ति समाजकी अपनी इच्छासे होती है। वर्तमान-समाजमें 'प्रथा' का पालन करना-न-करना, अपनी इच्छापर निर्भर है। 'कानून' की उत्पत्ति समाज नहीं, राष्ट्र करता है। 'कानून' का पालन करना-न-करना अपनी इच्छापर निर्भर नहीं है। परन्तु 'प्रथा' तथा 'कानून' का यह भेद आज प्रकट हुआ है, आदि-कालीन समाजमें जैसे 'धर्म' और 'नीति' में भेद नहीं था, वैसे 'प्रथा' तथा 'कानून' में भी भेद नहीं था। परिवार में पिता या माताके प्रभुत्वकी तरह, समाजमें जिस व्यक्तिका स्थान था, उसे भारतीय-परिभाषामें 'पितर' (Patriarch) कहा जाता था। धीरे-धीरे 'पितर' का स्थान 'राजा' को मिला। समाजमें 'प्रथा' तथा 'कानून' का भेद स्पष्ट हुआ। राजाके बननेके बाद शक्तिका प्रयोग, विवादास्पद बातोंमें निर्णयका अधिकार, युद्ध आदि करना 'पितर' के हाथमें न रहकर राजाके हाथमें चला गया। जैसे 'प्रथा' और 'कानून' अलग-अलग समझे जाने लगे, वैसे 'कानून' के भी दो हिस्से होगये। जो अपराध वचन-बद्धताको तोड़नेपर आश्रित थे, वे दीवानीके कानून (Civil laws) तथा जो मारने-पीटने, चोरी-डकैतीपर आश्रित थे, वे फ़ौजदारी के कानून (Criminal laws) कहलाये। समाजमें लगातार परिवर्तन होरहा है, नई-नई स्थितियां उत्पन्न होरही हैं, इसी कारण 'कानून' भी दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। शासक-वर्ग भी एक बार शासन-सूत्र अपने हाथ में आजानेके बाद शक्ति पर एकाधिकार जमाना चाहता है, इसलिये भी नये-नये 'कानून' बनते रहते हैं, ऐसे कानून जो शक्ति को उसके हाथसे निकलने न दें। परन्तु 'कानून' बनानेवाले एक बात भूल जाते हैं। 'कानून' का मनुष्यपर बाह्य शासन होसकता है, उसके अन्तरात्मापर अधिकार नहीं होसकता। जब जनताको दबानेवाले 'कानून' बनने लगते हैं, जिसे चाहा जेल डाल दिया, जिसे चाहा फांसीपर लटका दिया, जिसे चाहा अनिश्चित अवधिकेलिये बन्दकर दिया, जिसे चाहा बिना मुकदमा चलाये

पकड़े रखा, तब जनता उन्हें काला-कानून कहने लगती है, और समय आता है जब जनताका क्रोध इन कानूनों और कानून बनानेवालोंको ही समाप्त कर देता है। संसारके बड़े-बड़े राज्योंके समाप्त होनेकी यही कहानी है, परन्तु आश्चर्य इसी बातका है कि कानून बनानेवाले अपनी सत्ता को कायम रखनेके लोभमें इतने अन्धे होजाते हैं कि इतिहास के मोटे-मोटे अक्षरोंमें लिखी चेतावनियोंको भी नहीं पढ़ पाते।

३. 'कानून' तथा 'प्रथा' का संघर्ष

कभी-कभी समाजमें 'प्रथा' का ऐसा अनर्थकारी प्रभाव होता है कि उसे दबानेकेलिये 'कानून' बनाना पड़ता है। अपने देशमें सती-प्रथाको हटानेकेलिये 'कानून' बनाना पड़ा, बाल-विवाहको रोकनेकेलिये 'कानून' बनाना पड़ा, हरिजनोंकेसाथ अन्याय दूर करनेकेलिये 'कानून' बनाना पड़ा। जिस 'प्रथा' का 'कानून' को मुकाबिला करना पड़ता है, उसमें और 'कानून' में यह भेद रहता है कि 'प्रथा' का लोग बिना ननु-नचके पालन करते हैं, 'कानून' पर नुकताचीनी करने लगते हैं, और कभी-कभी यह नुकताचीनी 'कानून' के प्रति विद्रोहका रूप धारण कर लेती है। इसीलिये शासक-लोग जिस 'कानून' को बनाना चाहते हैं, उसकेप्रति पहले अनुकूल वातावरण उत्पन्न करलेते हैं, अनुकूल वातावरण न हो, तो किसी 'कानून' को 'प्रथा' के विरुद्ध चलाना कठिन होजाता है।

४. 'कानून' तथा 'प्रथा' का समन्वय

समाजका सम-विकास तभी होसकता है, जब 'कानून' तथा 'प्रथा' का विरोध न रहकर, समन्वय हो। समाजका शासक-वर्ग ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है जिससे अनुकूल वातावरण बनाकर 'कानून' बने, और 'कानून' बननेके बाद उसके गिर्द उसे पुष्ट करनेवाली 'प्रथाएं' बनती चली जांय। 'प्रथा' जब 'कानून' का विरोध करनेके स्थानमें उसे बल देने लगती है, तब समाजकी गाड़ी बड़े मज़ेमें चल पड़ती है।

प्रश्न

१. 'प्रथा' (Custom), 'आदत' (Habit), 'प्रयोग' (Usage) तथा 'कानून' (Law) में क्या भेद है ?
२. 'प्रथा' की उत्पत्ति, उसका उपयोग तथा उसकी शक्ति के विषयमें आप क्या जानते हैं ?
३. 'कानून' तथा 'प्रथा' की शक्तिमें क्या भेद है ?
४. क्या वर्तमान-समाजको नियन्त्रित रखनेकेलिये 'प्रथा' का बल काफ़ी नहीं है, जो 'कानून' की आवश्यकता अनुभव हुई है ?
५. 'कानून' की उत्पत्ति कैसे हुई ?
६. 'कानून' तथा 'प्रथा' के संघर्षका समन्वय कैसे हो सकता है ?

[२७]

समाज तथा व्यक्ति

(SOCIETY AND THE INDIVIDUAL)

१. 'समाज' तथा 'व्यक्ति' का पारस्परिक संबंध

मनुष्यको हम सामाजिक-प्राणी कहते हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि 'सामाजिक-प्राणी' कहनेसे हमारा क्या अभिप्राय होता है ? मनुष्यका, अर्थात् 'व्यक्ति' का 'समाज' से क्या संबंध है, और 'समाज' का 'व्यक्ति' से क्या संबंध है ? इस संबंधमें दो सिद्धान्त हैं। एक सिद्धान्त तो यह है कि 'व्यक्ति' ने 'समाज' का निर्माण किया है। इस सिद्धान्तको 'व्यक्ति-रचित समाज' (Social contract) कहते हैं। दूसरा सिद्धान्त यह है कि 'व्यक्ति' ने 'समाज' की रचना नहीं की, अपितु 'व्यक्ति' 'समाज' के शरीरका एक अंग है, अवयव है। इस सिद्धान्तको 'सामाजिक अवयवी' (Social organism) का सिद्धान्त कहते हैं। 'समाज' तथा 'व्यक्ति' के पारस्परिक संबंध को समझनेकेलिये इन दोनों सिद्धान्तोंका समझना आवश्यक है।

'व्यक्ति-रचित समाज' (Social Contract Theory) का सिद्धान्त—

इस सिद्धान्तको माननेवालोंका कहना है कि 'व्यक्ति' ने अपने उद्देश्यकी सिद्धिकेलिये 'समाज' की रचना की है। 'व्यक्ति' मुख्य है, 'समाज' व्यक्तिके उद्देश्यको पूरा करनेका सिर्फ़ एक साधन है। थॉमस हौब्स (Thomas Hobbes) का कथन था कि मनुष्यका स्वभाव उच्छृंखल है। एक-दूसरेकी उच्छृंखलतासे बचनेके लिये मनुष्यने 'समाज' का निर्माण किया है। अर्थ-शास्त्री एडम-स्मिथ (Adam Smith) का कथन था कि मनुष्यने आर्थिक-सहयोगकेलिये समाजको रचा है। १८ वीं शताब्दी के 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वादियों' (Individualists) का कथन था कि प्रकृतिने सब मनुष्योंको स्वतन्त्र तथा एक-समान उत्पन्न किया है, मनुष्यने नियम, व्यवस्था तथा आत्म-रक्षाकेलिये सामाजिक-बन्धनोंमें अपनेको बांध लिया है। इन सब सिद्धान्तोंका आधार-भूत विचार यही एक विचार है कि 'समाज' का निर्माण 'व्यक्ति' ने अपने लक्ष्यको सामने रखकर किया है। इस सिद्धांतको आधार बनाकर कई लोग तो यह कहते हैं कि क्योंकि 'समाज' को 'व्यक्ति'

ने पैदा किया है, इसलिये 'व्यक्ति' की स्वतंत्रताकी 'समाज' से रक्षा करनी चाहिये, ऐसा नहीं होना चाहिये कि 'समाज' ऐसे नियमोंका निर्माण करने लगे जिनसे व्यक्तिकी 'व्यक्ति'-रूपसे सत्ता ही नष्ट होजाय, कई लोग इसी सिद्धान्तके आधारपर यह कहने लगते हैं कि 'समाज' तबतक 'व्यक्ति' की रक्षा कर ही नहीं सकता जबतक यह अपना क्षेत्र विस्तृत न करे, दूसरे शब्दोंमें जबतक 'व्यक्ति' को किसी प्रकारकी भी स्वतंत्रता है तबतक 'समाज' उस लक्ष्यको पूरा नहीं कर सकता जिसकेलिये इसकी रचना हुई है। ये दोनों विरुद्ध बातें इसी सिद्धान्तको आधार बनाकर कही जाती हैं।

परन्तु 'समाज' के संबंध में यह दृष्टि कहांतक ठीक है ? जो लोग कहते हैं कि 'व्यक्ति' ने 'समाज' की रचना की, उनसे अगर पूछा जाय कि 'व्यक्ति' ने कब 'समाज' की रचना की, क्या कोई ऐसा समय था जब 'समाज' नहीं था, और 'व्यक्ति' था, तो उनके पास क्या उत्तर है ? असलमें, 'व्यक्ति' तथा 'समाज' अलग-अलग नहीं हैं, ये दोनों एक-दूसरेसे अभिन्न हैं, जब 'व्यक्ति' था, तब 'समाज' भी था, जब 'समाज' था, तब 'व्यक्ति' भी था, इन दोनोंमें कोई पहले-पीछे नहीं था, दोनों हरसमय एक-साथ थे। ऐसी अवस्थामें यह कैसे कहा जासकता है कि 'व्यक्ति' ने 'समाज' की रचना की ?

'सामाजिक-अवयवी' (Social Organismic Theory) का सिद्धान्त—

'समाज' के विषयमें दूसरा सिद्धान्त यह है कि 'समाज' एक अवयवी है। 'अवयवी' का अर्थ है, शरीर। ठीक इस तरह जैसे हम सबका प्राणि-शास्त्रीय शरीर है वैसे समाजका भी शरीर है। हमारा शरीर पैदा होता है, जवान और बूढ़ा होता है, मर जाता है, इसीतरह 'समाज' पैदा होता है, जवान होता है, बूढ़ा होजाता है, और मर जाता है। जैसे शरीरके 'जीवन-कोष्ठ' (Cells) होते हैं, इसीप्रकार 'समाज' के जीवन-कोष्ठ (Cells) 'व्यक्ति' हैं। सभा-समाज-संस्थाएं भी 'समाज' के 'जीवन-कोष्ठ' (Cells) हैं। कई लोग 'समाज' के मस्तिष्क, फेफड़े तथा अन्य अंगोंका वर्णन भी करते हैं। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत'—यह भी तो सामाजिक-शरीरकी प्राणि-शास्त्रीय कल्पना है। कई विचारक 'समाज' के शरीरकी चर्चा न करके उसके मनकी चर्चा करते हैं। विलियम मैक्डूगल (William Mc. Dougall) का कथन है कि 'समाज' का मन होता है, इसे उसने 'सामूहिक-मन' (Group-mind) का नाम दिया है।

जो लोग 'सामाजिक-अवयवी' (Social organism) या 'सामूहिक मन' (Group-mind) के सिद्धान्तको मानते हैं वे कहा करते हैं—'एशिया जाग गया है', 'भारत तेजीसे आगे बढ़ रहा है', 'इंग्लैंड बूढ़ा होगया है', 'टर्की योरप का

वीमार देश है'। ऐसे ही सिद्धान्तोंको लेकर हिटलर और मुसोलिनी कहते थे कि 'व्यक्ति' की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, 'व्यक्ति' तो 'समाज' का एक अंग है, देश एक जीवित-जागृत वस्तु है, उसकेलिये 'व्यक्ति' की आहुति देदेना लाज़मी वात है। परन्तु 'समाज' के शरीर अथवा मनसे क्या अभिप्राय है ? अगर शरीर तथा मन शब्दोंका प्रयोग आलंकारिक रूपमें है, तव तो किसीको कोई आपत्ति नहीं होसकती। अगर शरीरसे मतलव मनुष्य-जैसे जिन्दा शरीरसे नहीं तव दूसरी वात है, परन्तु इस सिद्धांतको माननेवाले, दिमाग़ी लोगोंको, सचमुचका समाजका शरीर मानते हैं, शत्रुओं-के साथ लड़नेवालोंको समाजकी भुजाएँ मानते हैं। अगर मनसे मतलव यह हो कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके जो मानसिक लक्षण होते हैं, वे व्यक्तियोंके कारण, समूहमें प्रतिविम्वित होजाते हैं, तव भी किसी को कोई आपत्ति न हो, परन्तु इस सिद्धान्तको माननेवाले तो कहते हैं कि समाजका अपना मन होता है, ऐसा मन जो व्यक्तिके मनसे भिन्न, समाजका मन है। जैसे यह सिद्धान्त ग़लत है कि 'व्यक्ति' ने 'समाज' को रचा है, वैसे यह सिद्धान्त भी ग़लत है कि 'समाज' का कोई शरीर या मन होता है। पहला सिद्धान्त 'समाज' को कुछ नहीं, और 'व्यक्ति' को सव-कुछ समझता है, दूसरा सिद्धान्त 'समाज' को सव-कुछ और 'व्यक्ति' को कुछ नहीं समझता। सचाईकी दृष्टिसे दोनों की वातमें आधी-आधी सचाई है।

सचाई यह है कि 'व्यक्ति' की सत्ता 'समाज' के विना कुछ नहीं, 'समाज' की सत्ता 'व्यक्ति' के विना कुछ नहीं। 'व्यक्ति' ने 'समाज' को वनाया, यह ग़लत है। यह भी ग़लत है कि 'व्यक्ति' 'समाज' का अंग है, इसप्रकारका अंग जैसे वृक्षका अंग पत्ता, या शरीरका अंग 'जीवन-कोष्ठ' (Cell) होता है। 'व्यक्ति' तथा 'समाज' की एक-साथ सत्ता है, दोनोंकी अलग-अलग सत्ता नहीं है। 'समाज' की इकाई 'व्यक्ति' है, और 'व्यक्ति' की दहाई 'समाज' है।

२. 'समाज' तथा 'व्यक्ति' एक-दूसरेपर आश्रित हैं

'समाज' तथा 'व्यक्ति' के विषयमें हमने अभी जिन दो सिद्धान्तोंका वर्णन किया, वे दोनों गलत हैं, ये दोनों एक-दूसरेसे अलग-अलग नहीं, एक-दूसरेपर आश्रित हैं। 'समाज' तथा 'व्यक्ति' का जो घनिष्ट सम्वन्ध है, वह निम्न वातोंसे पुष्ट होता है :

(१) जंगली वच्चोंके दृष्टांत (Feral cases)—कई लोगोंने वच्चेको समाजसे विल्कुल अलग रखकर यह जाननेका प्रयत्न किया है कि 'समाज' के सम्पर्कके विना 'व्यक्ति' का किसप्रकारका विकास होता है। अकवरने यह जाननेकेलिये कि विना सिखाये मनुष्य कौन-सी भाषा वोलता है, दस वच्चोंको विल्कुल अलग रखकर पाला था, वे ऐं-वें के सिवा कुछ नहीं वोलते थे। ईजिप्टके वादशाह सैमेटिकस तथा स्काटलैंडके राजा जेम्स चतुर्थ ने भी कुछ ऐसे परीक्षण किये

थ। इनके अतिरिक्त समाज-शास्त्र की पुस्तकोंमें तीन ऐसे दृष्टान्तोंका ज़िक्र आता है, जिनमें 'व्यक्ति' किसीप्रकार 'समाज' के सम्पर्कसे अलग पला। इन सबमें बिना सिखाये वह कुछ न सीख सका। पहला दृष्टान्त कास्पर हाउसर (Kaspar Hauser) का है। कुछ राजनैतिक कारणोंसे यह बालक 'समाज' के सम्पर्कसे सर्वथा अलग कर दिया गया। १८२८ में वह भटकता-भटकता न्यूरेम्बर्ग आनिकला। वह सीधा खड़ा होकर चल-फिर नहीं सकता था, सत्रह वर्षका था परन्तु बालक-जैसा उसका दिमाग़ था, एक-दो निरर्थक शब्दोंके सिवा कुछ बोल भी नहीं सकता था। वह जड़ पदार्थोंको भी चेतन समझता था, उनके साथ चेतन-जैसा ही व्यवहार करता था। दूसरा दृष्टान्त दो हिन्दू बच्चियोंका है, जो १९२० में भेड़ियोंकी गुफ़ामें पायी गयीं। इनमेंसे एक दो-वर्षकी और दूसरी आठ-वर्षकी थी। छोटी बच्ची तो मर गई, परन्तु बड़ी जिसका नाम कमला (Kamala) रखा गया, १९२९ तक जीवित रही। कमला जब मिली, तब उसमें शक्ल-सूरतको छोड़कर एक बात भी ऐसी नहीं थी जिससे उसे मनुष्य कहा जा सकता। वह खड़ा होकर चलना नहीं जानती थी, भेड़ियेकीतरह गुर्रानेके सिवा बोल नहीं सकती थी। बहुत-कुछ सिखानेके बाद मरनेसे पहले वह खड़ा होकर चलना, कपड़ा पहनना, खाना तथा थोड़ा-थोड़ा बोलना सीख सकी। भेड़ियेके इस मानवीय-बच्चेमें व्यक्तित्वकी भावना जो पहले बिल्कुल नहीं थी, बहुत धीरे-धीरे प्रकट हुई। तीसरा दृष्टान्त एक अमरीकी नाजायज़ बच्चीका है, जो पैदाइशके छः महीने बाद एक कमरेमें छोड़ दीगई, और पांच वर्ष बाद १९३८ में पायी गई। उसे दूधके सिवा कुछ नहीं दिया गया था, किसी प्रकारकी शिक्षा नहीं दीगई थी, मनुष्यके सम्पर्कमें वह नहीं आयी थी। इस बच्चीका नाम एना (Anna) रखा गया। जब यह बच्ची मिली तब न चल सकती थी, न बोल सकती थी। एना १९४२ में मर गई, परन्तु छोटी होनेके कारण कमलाकी अपेक्षा 'समाज' के सम्पर्कमें आकर अधिक सीख गई। इन सब दृष्टान्तोंसे सिद्ध होता है कि मनुष्यमें मनुष्यपना तभी विकसित होता है जब वह सामाजिक प्राणी बनता है, जब वह अन्य अनेक मनुष्योंमें एक मनुष्य होता है, जब 'व्यक्ति' तथा 'समाज' अपने को अलग-अलग न मानकर, एक इकाई मानते हैं।

(२) व्यक्तित्वका निर्माण (Formation of Individuality)—ऊपर के दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि 'व्यक्ति' तथा 'समाज'—इन दोनोंकी मिलकर इकाई बनती है। 'व्यक्ति' में 'मैं-पना'—'अहं-भाव'—'व्यक्ति-सत्ता' (Individuality or Self), कैसे उत्पन्न होती है—इसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया जाय, तो भी यह सिद्ध होता है कि समाजमें रहनेसे ही 'व्यक्तित्व' का निर्माण होता है। बच्चा जब पैदा होता है, तब पहले-पहल उसे जड़-चेतनका ज्ञान भी नहीं होता।

माताके स्तन अथवा बोतलकी रवड़से दूध पीना उसकेलिये एक-समान है। वह खिलौनेसे खेलता है, माताकी तरफ़ टुकर-टुकर देखता है, परन्तु अपनेको, खिलौनोंको, माता-पिताको, सबको एक कोटिमें रखता है। उसकेलिये सब एक हैं—वह स्वयं, सारा जगत्, इस जगत्में जड़-चेतन, माता-पिता, खिलौने—उसकेलिये किसीकी स्वतंत्र-सत्ता नहीं है। वह माता-पितासे बात करता है, तो खिलौनोंसे भी बातें करता है, उन्हें मारता है, पीटता है, पुचकारता है, प्यार करता है। धीरे-धीरे वह देखता है कि माता-पिता उसकी बातका उत्तर देते हैं, खिलौने कोई उत्तर नहीं देते। इस अवस्थामें वह 'व्यक्ति' (Person) तथा 'वस्तु' (Thing) का भेद समझ जाता है। परन्तु 'व्यक्ति' में भी यह कैसे समझे कि एक 'व्यक्तित्व' मेरा है, दूसरा 'व्यक्तित्व' दूसरोंका है ? बच्चा गुड़िया से खेल रहा है। जैसे माता-पिता उसे पुचकारते हैं, वैसे वह गुड़ियाको पुचकारता है, जैसे माता-पिता उसे निल्हाते, खिलाते, सुलाते हैं, वैसे वह गुड़ियाको निल्हाता, खिलाता, सुलाता है। माता-पिताका पार्ट स्वयं अदा करता है, अपना पार्ट गुड़ियासे अदा कराता है। इसप्रकार, अपनेसे बाहर, गुड़ियामें अपनेको रखकर, वह देख लेता है कि मेरा 'व्यक्तित्व' माता-पिताके 'व्यक्तित्व' से अलग है, माता-पिता तो मैं बन गया, और मैं यह गुड़िया बन गई, मेरा 'व्यक्तित्व' और माता-पिताका 'व्यक्तित्व'—ये दोनों अलग-अलग होगये ! परन्तु गुड़िया किसी बातका जवाब नहीं देती, कितना ही प्यार करें, प्यार नहीं करती, कितना ही मारें, मारती नहीं। बालक गुड़ियाको छोड़ देता है, जो नाटक गुड़ियाकेसाथ खेलता था, वही नाटक अपने-जैसे बालकोंकेसाथ खेलने लगता है। इस सारे खेलमें यह बात ध्यान देनेकी है कि जैसा पार्ट दूसरे उसके साथ खेलते हैं, वैसा ही वह दूसरोंके साथ खेलता है। अगर उसके माता-पिता उसको गाली देते हैं, तो वह दूसरोंको गाली देता है, अगर वे उससे प्यार करते हैं, तो वह दूसरोंको प्यार करता है। जिसतरहके 'समाज' में उसके 'व्यक्तित्व' का निर्माण होरहा है, अपने 'व्यक्तित्व' से वह वैसे ही 'समाज' का निर्माण करता जाता है। बड़ा होनेपर भी मनुष्य दूसरोंकेसाथ वैसे ही वरतता है, जैसे उसके साथ जीवनभर वरता गया होता है। 'व्यक्ति' वही-कुछ है, जो 'समाज' ने उसे बनाया है, और वह अगले 'समाज' को वही-कुछ बनाता जाता है, जो-कुछ उसका 'व्यक्तित्व' बन चुका होता है। 'व्यक्तित्व'-रूपी भवनके निर्माणकी एक-एक ईंट, जहां 'व्यक्तित्व' का निर्माण करती है, वहां 'व्यक्तित्व' के निर्माणके साथ-साथ 'समाज' का निर्माण कर जाती है। इससे स्पष्ट है कि 'व्यक्तित्व' की उत्पत्ति समाजमें रहनेसे होती है, कास्पर हाउसर (Kaspar Hauser) समाजमें नहीं रहा था, वह जड़-चेतनमें भेद नहीं कर सकता था।

(३) व्यक्तित्वका विकास (Development of Individuality)—जैसा हमने अभी देखा, 'व्यक्तित्व' का प्रथम निर्माण 'समाज' में होता है। इस प्रथम 'निर्माण' के बाद, व्यक्तित्वका 'विकास' भी 'समाज' में ही होता है। 'सामाजिक-परंपरा' (Social heritage) के बीच पलकर ही 'व्यक्ति' विकसित होता है। 'व्यक्ति' के लिये 'समाज' सिर्फ़ ऐसे ही नहीं है, जैसे बीजके लिये भूमि, यह उसकेलिये इससे बहुत-कुछ बढ़कर है। भूमि तो बीजके उगनेकेलिये सिर्फ़ परिस्थितिका काम करती है, उसके अन्दर कोई परिवर्तन नहीं करती, परन्तु 'समाज' 'व्यक्ति' की आन्तरिक भावनाओंका, व्यक्तिके आचार-व्यवहार, उसके धार्मिक-विश्वास, वह जो-कुछ है, उस सबका निर्माण करता है। बीज और भूमि अलग-अलग करके दिखाये जासकते हैं, 'व्यक्ति' तथा 'समाज' अलग-अलग करके नहीं दिखाये जासकते। 'सामाजिक-परंपरा' (Social heritage) के बिना 'व्यक्तित्व' प्रकट ही नहीं होसकता, प्रत्येक व्यक्ति 'सामाजिक-परंपरा' का ही बच्चा है। 'व्यक्ति' आदि नहीं है, अन्त भी नहीं है, 'समाज' के अनन्त-जीवनकी शृंखला में यह एक कड़ी है, इन अनन्त कड़ियोंके जुड़नेसे 'समाज' बनता है। शृंखलाका अस्तित्व कड़ीसे अलग नहीं है, और कड़ी शृंखलाके बिना बेकार है।

३. 'समाज' तथा 'व्यक्ति' का समन्वय

हमने देखा कि 'व्यक्ति-रचित-समाज' की कल्पना (Social Contract Theory) 'व्यक्ति' को जरूरतसे ज्यादा महत्व देती है, 'सामाजिक-शरीर' की कल्पना (Organismic Theory) 'व्यक्ति' को कोई महत्व ही नहीं देती, 'समाज' को ही सब-कुछ समझती है। हमने यह भी देखा कि ये दोनों विचार गलत हैं, 'व्यक्ति' तथा 'समाज' की सत्ता अलग-अलग नहीं है, 'व्यक्ति' से 'समाज' बनता है और 'समाज' व्यक्ति को बनाता है, ये दोनों मिलकर एक बनते हैं। अगर 'समाज' की शरीर रूपमें कल्पना की जाय, तो सबसे बड़ा प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि 'समाज' का वह अंग कौन-सा है, जिसे 'समाज' के लिये ज्ञानका 'केन्द्रीय-अंग' (Central organ) कहा जासके। मनुष्यके ज्ञानका केन्द्रीय-अंग मस्तिष्क है, 'समाज' का मस्तिष्क कहां है? 'समाज' में भिन्न-भिन्न व्यक्ति तो हैं, वे देखते हैं, सुनते हैं, मस्तिष्कसे सोचते हैं, उन्हींके देखने, सुनने तथा मस्तिष्कको समाजका मस्तिष्क कहा जासकता है, उनके अलावा समाजकी न आंख है, न कान है, न मस्तिष्क है। हमें दुःख हो, दर्द हो, तो दूसरे हमारे दुःख-दर्दमें हमारे साथ सहानुभूति तो प्रकट कर सकते हैं, परन्तु जो दर्द हमें अनुभव होरहा है, वह दुःख-दर्द दूसरोंको नहीं होसकता। हरेक 'व्यक्ति' अपने दुःख-दर्दको लेकर मानो इकला खड़ा है।

मानसिक-अनुभूतियां 'एक-सी' (Like) तो होसकती हैं, 'एक-ही' (Common) नहीं होसकतीं। 'व्यक्ति' अपने दुःख-दर्दको व्यक्ति रूपमें इकला अनुभव करता है, दूसरा उसे वैसे-का-वैसे अनुभव नहीं कर सकता। मनका मनकेसाथ संबंध है, परन्तु 'समाज' के सब मन मिलकर, एक अलग मन नहीं बन जाते। ऐसीहालतमें व्यक्तियों कीतरह एक अलग 'सामाजिक-शरीर की कल्पना' (Organismic theory) का कुछ अर्थ नहीं रहता। हमें 'समाज' का अगर कुछ ज्ञान है, तो 'व्यक्तियों' के रूपमें है, 'व्यक्तियों' के अतिरिक्त 'समाज' की सत्ता कहां है जिसके शरीरकी कल्पना की जाय ? परन्तु इसका यह मतलब भी नहीं कि समाजकी सत्ता ही कुछ नहीं है। हमने कैसपर हौसर, कमला तथा एनाके दृष्टान्तोंसे देखा था कि 'व्यक्ति' जो-कुछ है 'समाज' के कारण है, 'सामाजिक-विरासत' के कारण है। 'सामाजिक-विरासत' न हो, 'सामाजिक-परंपरा' न हो, तो व्यक्ति जंगली-का-जंगली रह जाता है। अंग्रेज़ अपनी परंपराके कारण अंग्रेज़ है, हिन्दुस्तानी अपनी परंपराके कारण हिन्दुस्तानी है। 'व्यक्ति' तथा 'समाज' का समन्वय ही असली सचाई है। इस सचाईको न समझनेका परिणाम है कि कुछ लोग जो 'व्यक्ति' पर बल देते हैं, कहा करते हैं कि 'व्यक्ति' तथा 'समाज' का पारस्परिक विरोध है। टॉमस हौब्स (Thomas Hobbes) का कथन था कि 'समाज' सदा 'व्यक्ति' की स्वतंत्रताको नियन्त्रित करनेका प्रयत्न करता है। इसीकारण आज विधान-परिषदोंमें 'व्यक्ति' की स्वतन्त्रताकी रक्षाकेलिये आवाज़ उठा करती है, और शासक-वर्ग की नियम-पर-नियम बनानेकी नीतिकी कड़ी आलोचना की जाती है। इसके विरोधमें जो लोग 'व्यक्ति' पर बल न देकर 'समाज' पर बल देते हैं, उनका कहना है कि 'व्यक्ति' का कोई अधिकार नहीं है, 'समाज' के लिये 'व्यक्ति' का बलिदान देना पड़े तो हिचकना मूर्खता है, हमें 'व्यक्ति' का भला नहीं, 'समाज' का भला देखना है। हिटलर तथा मुसोलिनी आदि इसी कोटिके व्यक्ति थे, वे वैय्यक्तिक स्वतंत्रताको मूर्खता समझते थे। ये दोनों दृष्टियां एकांगी हैं, इन दोनोंका आधार 'व्यक्ति' तथा 'समाज' की स्वतंत्र सत्ता माननेका विचार है, परन्तु जैसा हमने देखा, बीज और भूमि तो अलग-अलग हैं, व्यक्ति तथा समाज अलग-अलग नहीं हैं, व्यक्तियोंके मिलनेसे समाज बनता है, और सामाजिक-परंपरा व्यक्ति का निर्माण करती है, दोनोंका विरोध नहीं, समन्वय है।

४. 'समाज' में 'वैय्यक्तिक-सत्ता' का स्थान

'व्यक्ति' तथा 'समाज' की अलग-अलग सत्ता नहीं है, व्यक्तियोंसे 'समाज' बनता है, और समाज अपनी परंपरा द्वारा 'व्यक्ति' को बनाता है, इन दोनोंकी समता है, एकता है, भिन्नता नहीं है। परंतु 'समाज' तथा 'व्यक्ति' की इस एकताका क्या

रूप है ? क्या 'व्यक्ति' को 'समाज' में रहतेहुए अपनी स्वतंत्र 'वैय्यक्तिक-सत्ता' (Individuality) रखनेका अधिकार है, या नहीं ? क्या 'व्यक्ति' को अपनी 'वैय्यक्तिक-सत्ता' (Individuality) समाजकी सत्तामें मिटा देनी होगी ?

इस प्रश्नका उत्तर पानेकेलिये पहले हमें यह देखना होगा कि 'वैय्यक्तिक-सत्ता' (Individuality) का क्या अर्थ है ? 'वैय्यक्तिक-सत्ता' (Individuality) को तीन दृष्टियों से देखा जासकता है:—

(१) 'भौतिक वैय्यक्तिक-सत्ता' (Physical Individuality)—किसी पदार्थ की 'भौतिक वैय्यक्तिक-सत्ता' तब मानी जाती है जब वह दूसरोंसे अलग दीखे। टेबलपर चार पुस्तकें रखीहुई हैं, चारों अलग-अलग दीखती हैं, इन चारोंकी अलग-अलग 'भौतिक वैय्यक्तिक-सत्ता' है। इस दृष्टिसे 'समाज' तथा 'व्यक्ति' की अलग-अलग 'भौतिक वैय्यक्तिक-सत्ता' नहीं है, क्योंकि व्यक्तियों से अलग समाजकी सत्ता हमें कहीं दिखाई नहीं देती।

(२) 'प्राणि-शास्त्रीय वैय्यक्तिक-सत्ता' (Biological Individuality)—जीवन का लक्षण प्रतिक्रिया करना है। जहां 'उत्तेजक-पदार्थ' (Stimulus) के सामने होनेपर 'प्रतिक्रिया' (Response) होती है, वहां जीवन है। परन्तु प्रतिक्रिया तो एक नहीं, अनेक प्रकारकी होसकती है। अनेक प्रतिक्रियाओंमेंसे जो प्रतिक्रिया जीवनकेलिये सबसे ज्यादा उपयोगी है, उस प्रतिक्रियाको जो प्राणी करेगा वही जीवन-संग्राममें टिक सकेगा। अनेक संभव प्रतिक्रियाओंमेंसे सबसे उपयोगी प्रतिक्रिया को करना, यह सब प्राणियोंके अपने-अपने व्यक्तित्वपर निर्भर है। कई प्राणी ऐसी प्रतिक्रिया करसकते हैं, जो उन्हें मृत्युके पास लेजाये, कई ऐसी प्रतिक्रिया करसकते हैं, जो कुछ थोड़े समयकेलिये उनको रक्षा करे, कई ऐसी प्रतिक्रिया कर सकते हैं, जो उनकी पूरी-पूरी रक्षा कर दे। जो प्राणी बहुत थोड़ी प्रतिक्रियाएं कर सकेगा, उसकी 'प्राणिशास्त्रीय वैय्यक्तिक-सत्ता' (Biological Individuality) बहुत थोड़ी विकसित हुई होगी, जो अनेक किन्तु जीवनोपयोगी प्रतिक्रियाएँ करसकेगा, उसकी वैय्यक्तिक-सत्ता अधिक विकसित होगी। इस दृष्टिसे मनुष्यकी 'प्राणि-शास्त्रीय वैय्यक्तिक-सत्ता' (Biological Individuality) तो है, किन्तु 'समाज' का क्योंकि 'व्यक्ति' से पृथक् कोई अस्तित्व नहीं, उसके अंग-प्रत्यंग नहीं, इसलिये उसकी 'प्राणिशास्त्रीय वैय्यक्तिक-सत्ता' भी नहीं मानी जासकती।

(३) 'सामाजिक वैय्यक्तिक-सत्ता' (Sociological Individuality)—एक मनुष्यकी दूसरे मनुष्यसे भिन्न भौतिक-सत्ता है, जब वह परिस्थितिमें अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया करता है, तब उसकी प्राणि-शास्त्रीय

सत्ता उत्पन्न होजाती है, जब वह 'समाज' में सिर्फ़ दूसरोंका अनुकरण या दूसरोंके कहे के अनुसार ही नहीं चलता, सिर्फ़ रूढ़ि तथा प्रथाकी लकीर ही नहीं पीटता, जिधर नाक में नकेल डालकर उसे चलाया जाय उधर ही नहीं चल पड़ता, परन्तु समाजमें रहताहुआ देख-भालकर, क्या उचित है, क्या अनुचित, किधर जानेमें उसका भला है, किधर जाने में नुक्सान है, यह सब-कुछ समझकर चलता है, जब कोई मनुष्य-समाजमें सिर्फ़ समाजका सदस्य ही नहीं, कुछ अपनापन भी रखता है, तब उसमें 'समाज-शास्त्रकी दृष्टिसे वैय्यक्तिक-सत्ता' (Sociological Individuality) कही जा सकती है। हम अक्सर कहा करते हैं—'अपने को समझो'—'अपनेको बिल्कुल खो मत दो'—इस कहनेका क्या अर्थ है ? इसका यही अर्थ होता है कि प्रत्येक 'व्यक्ति' के अन्तरात्माके विकास की एक दिशा है, उस दिशा में विकास ही उसका अपना-आपा है, उस विकासको पाकर ही वह ठीक अर्थों में विकसित कहा जा सकता है । गीता में 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' कहा है, इसका यही अर्थ है । एक व्यक्ति दार्शनिक है, वह बाजारमें तराज़ू लिये बैठा है, दूसरा बनिया-वृत्तिका है, वह कालेजमें दर्शनका प्रोफ़ेसर है। यह व्यक्तिके अपने-आपेका विकास नहीं है । हरेक 'व्यक्ति' में उसका अपना बीज है, अपनी भिन्नता है, जब 'व्यक्ति' अपनी भिन्नताको समझ लेता है, उसे पकड़ लेता है, उसीके विकासमें जुट जाता है, तब अपनी ठीक 'समाज-शास्त्र की दृष्टि की वैय्यक्तिक-सत्ता' को पालेता है। 'व्यक्ति' की तो 'समाज-शास्त्रीय वैय्यक्तिक-सत्ता' है, 'समाज' की ऐसी-कोई सत्ता नहीं है, क्योंकि 'व्यक्ति' के अतिरिक्त समाज कोई वस्तु नहीं है ।

जब हम कहते हैं, 'व्यक्तित्व' का 'समाज' में क्या स्थान है, तब हमारा क्या अभिप्राय होता है ? 'व्यक्ति' तथा 'व्यक्तित्व' में भेद है । 'व्यक्तित्व' (Individuality) का अर्थ है वह भेद, वह भिन्नता, जो एक 'व्यक्ति' (Individual) को दूसरे 'व्यक्ति' से पृथक् करती है । दुरखीम (Durkheim) का कथन है कि 'समाज' जितना विकसित होता जाता है, उतना 'व्यक्ति'-'व्यक्ति' में भेद बढ़ता जाता है । आदि-समाजके सब व्यक्ति एक-समान सोचते थे, एक-समान रहते थे, एक-समान रीति-रिवाजके अनुसार चलते थे। ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों 'एकता'-'एक-समानता' (Likeness) के अलावा 'भिन्नता'-'असमानता' (Difference) भी बढ़ती जाती है । 'समाज' का काम 'एकता' को ही अपने अन्दर खपाना नहीं है, 'भिन्नता' को भी अपने भीतर खपाना है । प्राथमिक-समाज के व्यक्तियोंमें वह भिन्नता, जिसे हमने 'समाज-शास्त्रीय वैय्यक्तिक-सत्ता' (Sociological Individuality) का नाम दिया है, होती ही नहीं, अतः उस समाजमें 'एकता'-'एक-समानता' ही

दृष्टि-गोचर होती है, परन्तु विकसित-समाज में 'व्यक्ति' के अन्दर रहनेवाली 'भिन्नता' भी प्रकट होने लगती है । इस 'भिन्नता' को पनपनेका पूरा-पूरा मौका देना—यही 'समाज' में 'व्यक्तित्व' (Individuality) को विकसित होने का मौका देना कहाता है ।

अगर 'समाज' में 'वैय्यक्तिक-सत्ता' (Individuality) को विकसित होनेका मौका नहीं दिया जायगा, तो इसका अर्थ यह होगा कि 'समाज' में 'एक-समानता' (Unity) तो दिखाई देगी, स्वतंत्र 'वैय्यक्तिक-सत्ता' के आधार पर पनपनेवाली 'भिन्नता' (Difference) नहीं दिखाई देगी। उस 'समाज' में सब एक-समान सोचेंगे, विचारेंगे, एक-समान वर्तेंगे, सबको एक पैमानेसे मापा जायगा। क्या ऐसी समानता मनुष्यको सन्तोष देसकती है ? नवीनता न हो, तो संसार उन्नति ही नहीं करसकता, सारा विकास नवीनताका ही दूसरा नाम है, परन्तु नवीनता हो नहीं सकती अगर 'समाज' में 'वैय्यक्तिक-सत्ता' (Individuality) को स्थान नहीं। 'समाज' के विकास, उसकी उन्नतिकेलिये 'व्यक्ति' का जहां 'एकता' के तानेको कातनेका कर्तव्य है, वहां 'भिन्नता' के बानेको कातने का अधिकार है । व्यक्तिकी इस 'एकता' और 'भिन्नता' के ताने-बाने से ही समाजका कपड़ा बुना जा सकता है । मुसोलिनी, हिटलर आदि सिर्फ़ 'एकता' के तत्वपर बल देते थे, समाजको एक पैमानेपर, एक सांचेमें ढाल देना चाहते थे। रूस भी आज यही कर रहा है। जो देश सैन्यी-करण की दिशाकीतरफ़ चल देगा, वह 'एकता' के तत्वको ही सब-कुछ कहने लगेगा । उस देशमें व्यक्ति-व्यक्तिमें कोई भेद नहीं दिखाई देगा । हिटलरके जर्मनी, मुसोलिनीके इटली तथा स्टालिन के रूसके विरोध में अन्य देशोंका जन-सत्ता-वाद 'भिन्नता' के तत्व पर बल देता है, हर व्यक्ति को एक ही पैमाने में नहीं ढालना चाहता, हर व्यक्तिको अपने विकास में स्वतन्त्रता देता है । जैसा हम देख आये हैं, 'व्यक्ति' के अलावा 'समाज' कुछ नहीं है, परन्तु फिर भी 'समाज' ही 'व्यक्ति' का निर्माण करता है, 'सामाजिक-परंपरा' न हो तो व्यक्ति कुछ नहीं बनता, इसलिये 'व्यक्ति' की भिन्नता तथा 'समाज' की 'एकता' इन दोनोंके समन्वयसे ही 'व्यक्ति' तथा 'समाज' के संघर्ष को ख़तम किया जासकता है। 'व्यक्ति' अपने भिन्नताके तत्वका विकास करे, परन्तु 'समाज' के 'एकता' के तत्वका नाश न करे, 'समाज' एकता के तत्व पर जोर दे, परन्तु 'व्यक्ति' के 'भिन्नता' के तत्व-को समाप्त न कर दे, तभी 'व्यक्ति' तथा 'समाज' की एक-तानता, समन्वय, होसकता है, तब व्यक्ति अपने व्यक्तित्वको रखता हुआ समाजमें रह सकता है, नहीं तो 'व्यक्ति' तथा 'समाज' के संघर्षके बने रहने की संभावना है । 'व्यक्ति' तथा 'समाज' की एकता शरीरके अंग-प्रत्यंग की एकताकीतरह नहीं है, 'शारीरिक-

एकता' (Organic unity) में तो अंग-प्रत्यंग मिलकर शरीर को बनाते हैं, उनका शरीर के अतिरिक्त स्वतंत्र कोई काम नहीं होता, 'व्यक्ति' अपने स्वतंत्र व्यक्तित्वसे 'समाज' को बनाता है, 'समाज' के अतिरिक्त वह विकसित नहीं हो सकता, फिर भी उसकी स्वतंत्र 'समाज शास्त्रीय वैय्यक्तिक-सत्ता' (Sociological Individuality) होती है। 'व्यक्ति' तथा 'समाज' की एकता मशीनकी एकताकेसमान भी नहीं है। 'यान्त्रिक-एकता' (Mechanical unity) 'शारीरिक-एकता' से भिन्न है, मशीनका एक-एक पुर्जा दूसरे पुर्जोंके साथ मिलकर मशीनको चलाता है। 'सामाजिक एकता' (Social unity) शारीरिक तथा मशीन की एकता से भिन्न है। अंगोंके मिलनेसे शरीर बनता है, पुर्जोंके मिलने से मशीन बनती है, व्यक्तियोंके मिलनेसे समाज बनता है, परन्तु अंग और पुर्जे अपना स्वतंत्र 'व्यक्तित्व' नहीं रखते, व्यक्तिका समाजसे स्वतंत्र 'व्यक्तित्व' है, उस 'व्यक्तित्व' के आधार पर ही 'व्यक्ति' समाजमें नवीनताका संचार करता है, उसे विकासके मार्ग पर डाल देता है।

प्रश्न

१. 'व्यक्ति-रचित-समाज' (Social contract) तथा 'सामाजिक-अवयवी' (Social organism) के सिद्धान्त क्या हैं, और उनमें क्या भेद है ?
२. 'व्यक्ति' अपने विकासकेलिये 'समाज' पर आश्रित है—इस कथनको पुष्ट कीजिये।
३. 'व्यक्तित्व' का विकास कैसे होता है ?
४. 'व्यक्ति' तथा 'समाज' के विरोधका समन्वय कैसे होता है ?
५. 'समाज' के विकासमें 'वैय्यक्तिक-सत्ता' (Individuality) का क्या स्थान है ?
६. 'एकता' तथा 'भिन्नता' ये दोनों तत्त्व मिलकर 'व्यक्ति' तथा 'समाज' के संघर्षको दूर कर सकते हैं—इस कथनकी व्याख्या कीजिये।

[२८]

सामाजिक-विगठन

(SOCIAL DISORGANISATION)

१. सामाजिक-संगठन क्या है ?

'सामाजिक-संगठन' (Social organisation) तथा 'सामाजिक-विगठन' (Social disorganisation) दोनों सापेक्षिक शब्द हैं। जैसे बीमारीको जाननेकेलिये स्वास्थ्यको जानना आवश्यक है, वैसे 'विगठन' को जाननेकेलिये 'संगठन' को जानना आवश्यक है। 'सामाजिक-संगठन' क्या है ? किसी वस्तुको जाननेकेलिये उसके बाह्य तथा आभ्यन्तर रूपको जान लेनेसे हम उस वस्तुको जान लेते हैं। 'सामाजिक-संगठन' का बाह्य रूप 'समाजकी रचना' (Structure of Society) है, 'सामाजिक-संगठन' का आभ्यन्तर रूप 'समाज की आन्तरिक प्रक्रिया' (Process of Society) है। इन दोनोंको जान लेनेसे 'सामाजिक-संगठन' का वास्तविक रूप हमारे सामने स्पष्ट होजाता है।

(१) 'संगठित-समाज' (Organised Society) की 'रचना' (Structure) कैसी होगी ? एक मकान है, जिसकी एक-एक ईंट अपनी जगह लगीहुई है, छत, दीवार, खिड़की, दरवाजे—सब ठीक हैं, ऐसे मकानको संगठित, सुव्यवस्थित मकान कहा जा सकता है। भूचाल आजाय, तो ईंटें हिल जायंगी, दरवाजे टूट जायेंगे, फिर वह मकान संगठित, सुव्यवस्थित नहीं कहा जासकता। एक स्वस्थ मनुष्य है, अंग-अंग अपनी जगह ठीक सज रहा है, हरेक अंग अपना काम कर रहा है, वह सुसंगठित, सुव्यवस्थित मनुष्य है। रोग आजाय, अंजर-पंजर ढीले पड़ जांय, तो शरीर असंगठित, अव्यवस्थित होजाता है। इसीप्रकार समाजमें जब प्रत्येक व्यक्ति, अपनी-अपनी जगह बैठा हुआ है, अपनी स्थितिके अनुसार अपना-अपना काम कर रहा है, किसीको अपनी स्थितिसे असन्तोष नहीं, तब समाज सुसंगठित और सुव्यवस्थित है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी 'जगह' बैठा, और अपनी-अपनी जगह 'काम' कर रहा है—इसका क्या अर्थ है ? समाजमें प्रत्येक व्यक्तिका अपना 'स्थान' अपनी 'जगह' (Status) होती है—यह सब-कोई जानता है। जब तक उसका समाज में वह 'स्थान', वह 'जगह' (Status)

कायम रहती है, तवतक समाजका संगठन वना रहता है । जवतक वड़ोंका वड़ा छोटोंका छोटा, पुरुषोंका पुरुषोंका-सा, स्त्रियोंका स्त्रियोंका-सा, लायक आदमियोंको लियाकत के मुताबिक, नालायकोंको उनके अनुकूल स्थान मिलेगा, तवतक समाजमें व्यवस्था, संगठन, शान्ति बनी रहेगी। वड़े स्थानका क्या मतलव है ? वड़े स्थान का यह मतलव है कि जिसका वड़ा 'स्थान' (Status) है, उससे वड़ेपनका ही 'कार्य' (Role) लिया जाय, यह न हो कि वड़ा स्थान हो, और छोटा काम हो। वुजुर्ग वुजुर्गोंके तौरसे वर्ते, छोटा छोटे के तौरसे वर्ते, वुजुर्ग छोटोंके तौरसे और छोटे वुजुर्गोंके तौरसे वरतने लगेंगे, तो गड़वड़ मच जायेगी। सामाजिक-संगठनको कायम रखनेकेलिये यह आवश्यक है कि समाजमें हर व्यक्ति का 'स्थान' हो, और जैसा 'स्थान' (Status) हो, उसके मेलका ही उसका 'कार्य' (Role) हो। समाज में व्यक्ति के 'स्थान' (Status) तथा 'कार्य' (Role) के समन्वयसे समाज संगठित कहाता है, नहीं तो समाजमें अशान्ति और असन्तोष होजाता है।

(२) समाजकी वाह्य-रचनाके संगठित रहनेके अलावा 'सामाजिक संगठन' (Social organisation) को वनाये रखनेवाली दूसरी-चीज 'समाज की आभ्यन्तर–प्रक्रिया' (Process of Society) है। समाजमें अधिकांश व्यक्तियोंका अधिकांश वातों में एकतरहसे सोचना-विचारना 'आभ्यन्तर-प्रक्रिया' है। यह प्रक्रिया 'सामाजिक-संगठन' के लिये आवश्यक है। समाजकी कई समस्याएँ होती हैं, परन्तु अगर एक व्यक्तिका एक विचार है, दूसरेका दूसरा, तो समाज संगठित कैसे रहसकता है । जवतक समाजमें किन्हीं वातों पर एकमति नहीं होती, तवतक वह किसीवातको क्रियामें कैसे परिणत कर सकता है ? समाजकी वाह्य-रचनाका रूप व्यक्तिके समाजमें 'स्थान' (Status) तथा 'कार्य' (Role) का समन्वय है, परन्तु समाज की यह वाह्य-रचना तभी टिक सकती है, जव उसकी आन्तरिक-रचनामें विचारोंकी एकता हो। समाजकी इस आभ्यन्तर-एकता को 'एकमतिता' (Consensus) कहा जाता है । अगर समाजकी आभ्यन्तरिक 'एकमतिता' (Consensus) नहीं होगी, तो समाज वाहरसे एक दीखता हुआ भी भीतरसे टूटाहोने के कारण शीघ्र ही वाहर से भी टूट-फूट जायगा, क्योंकि जो-कुछ वाहर है वह भीतर से निकलता है। समाजमें परिवारका, व्यक्तिका क्या स्थान है, सम्पत्ति-जायदादके विषयमें हमारे क्या विचार हैं—इन सव वातोंके सम्वन्धमें जव सवकी एक विचार-धारा होगी तभी समाज संगठित रह सकता है, अन्यथा नहीं।

२. सामाजिक विगठन क्या है ?

हमने देखा 'सामाजिक-संगठन' क्या है । 'संगठन' को जानलेना 'विगठन' को जान लेना है। 'सामाजिक-संगठन' के हमने दो भाग किये—वाह्य

्या आभ्यन्तर । वाह्यको हमने समाजकी 'रचना' (Structure) तथा आभ्यन्तरको समाजकी 'प्रक्रिया' (Process) कहा। अब हमने यह देखना है कि समाजकी 'रचना' (Structure) में विगठनका क्या रूप है, और समाजकी 'प्रक्रिया' (Process) में विगठनका क्या रूप है। इन दोनोंका हम क्रमशः वर्णन करेंगे ।

(१) 'समाजकी रचनामें विगठन' (Disorganisation in the Structure of Society)—हमने देखा कि संगठित समाजमें प्रत्येक व्यक्तिका 'निश्चित-स्थिति' (Status) होती है, और उस निश्चित-स्थितिके अनुसार वह 'काम' (Role) करता है । जब समाजमें व्यक्तिकी 'स्थिति' (Status) ौर 'काम' (Role) का मेल टूट जाता है, तब समाज असंगठित कहाता है। 'स्थान' तथा 'काम' में मेल न रहनेकी तीन अवस्थाएँ होसकती हैं :—

(क) एक अवस्था तो वह है जब समाजमें ऐसी नवीन स्थिति उत्पन्न ोजाय कि व्यक्तियोंकी समाजमें जो निश्चित 'स्थिति' (Stutus) थी, वह न हे, और 'स्थिति' न रहनेकी वजहसे उन्हें समझ न पड़े कि समाजरूपी रंग-मंच पर वे किस भूमिकामें उतरें, क्या पार्ट अदा करें, क्या 'कार्य' (Role) करें। अगर दुर्भिक्ष पड़ जाय, लोग भूखे मरने लगें, तो एकदम व्यक्तिको नई परिस्थितिका सामना करना पड़ता है, कोई इस परिस्थितिका सामना करसकता है, कोई नहीं करसकता । मशीनके आविष्कारसे पहले घर ही उद्योगका केंद्र था, मशीन निकलनेके वाद घरके वाहर कल-कारखाने खड़े होगये। इस नवीन परिस्थितिमें गृह-पत्नीकी पहली 'स्थिति' (Status) में परिवर्तन आगया। वह घरसे वाहर जानेका 'कार्य' (Role) करे, या न करे—यह समस्या उसके सामने खड़ी होगई। वहुत अधिक व्यक्तियोंके शिक्षित होजानेसे आज सैंकड़ों युवकोंको समाजमें कोई जगह नहीं, कोई स्थान नहीं। जब परिस्थितियां व्यक्तिको अपनी पहलेकी निश्चित-'स्थिति' (Status) से हिला देती हैं, वह मानो जड़ से उखड़ जाता है, तब समाजमें एक ऐसा व्यक्ति पैदा होजाता है जिसका जीवन असंगठित होगया। जब ऐसे व्यक्तियोंकी संख्या समाजमें वढ़ जाती है तब समाज असंगठित होजाता है ।

(ख) दूसरी अवस्था वह है जब व्यक्तिकी समाजमें ऊंची 'स्थिति' (Status) तो वनी रहती है, परन्तु वह अपनी ऊंची स्थितिके अनुरूप 'कार्य' (Role) या तो स्वयं करना छोड़ देता है, या समाजकी अवस्थाओंसे वाधित होकर वह काम उससे छूट जाता है। ऐसी अवस्थामें समाज तवतक संगठित नहीं होता जबतक 'स्थिति' (Status) नीचे गिरकर 'कार्य' (Role) के स्तरपर नहीं आजाती,

या 'कार्य' (Role) ऊपर उठकर 'स्थिति' (Status) के स्तरपर नहीं पहुँच जाता। हिन्दू-समाज में ब्राह्मणोंकी 'स्थिति' ऊंची थी, 'काम' नीचा होगया, यह अवस्था समाजके 'विगठन' की अवस्था थी। यह 'विगठन' बना रहेगा, जबतक 'स्थिति' तथा 'काम' का समन्वय नहीं हो जायगा। जात-पातके विरुद्ध आन्दोलन इस विगठनको दूर करनेका ही एक प्रयत्न है। कर्म नीच होतेहुए भी जन्म या नस्लसे किसी को ऊंचा मानना 'सामाजिक-विगठन' के अन्तर्गत है। जिस व्यक्ति को नीच-कर्म के होते हुए भी जन्मके कारण ऊंचा माना जाता है उसके विरुद्ध समाज में प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। यह प्रतिक्रिया ही समाजमें असन्तोष, बेचैनी, विद्रोह पैदा करती है, और जबतक समाजमें यह बेचैनी बनी रहती है तबतक समाज विगठित है। यह होसकता है कि किसी समाजमें इसप्रकारकी स्थितिकेप्रति विद्रोह न हो, ऊंची स्थितिके लोग नीच काम करते रहें, नीच स्थितिके लोग ऊंचे काम करते रहें, परन्तु पहलोंको ऊंचा दूसरोंको नीचा ही समझा जाता रहे, किसीके हृदयमें इस अवस्थाकेप्रति असन्तोष उत्पन्न न हो। हिन्दू-समाजमें सदियोंतक ऐसा ही होता रहा। अच्छा कर्म होतेहुए भी जन्मकेकारण किसीको अछूत और व्यभिचारी होतेहुए भी जन्मके ब्राह्मण होनेकेकारण किसीको पूज्य समझा जाता रहा, इस स्थितिके विरुद्ध किसीने आवाज नहीं उठाई। ऐसी अवस्थामें समाज विगठित नहीं, संगठित ही कहा जायगा। समाजके विगठित होनेकेलिये 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) का बेमेलपन होना ही नहीं, परन्तु बेमेलपनको अनुभव करना आवश्यक है। समाज जब 'स्थिति' और 'काम' के बेमेलपनेको अनुभव कर लेता है तब इसे दूर करनेका प्रयत्न करता है। सामाजिक-संगठनका अर्थ ही 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) की विषमताको दूरकर इन दोनोंमें समताका स्थापन करना है। जबतक व्यक्तिको समाजमें 'स्थिति' (Status) नहीं मिलती, और उस स्थितिके अनुकूल 'कार्य' (Role) नहीं मिलता, तबतक वह समाजके शरीरमें रड़क पैदा करता रहता है, और समाज विगठित रहता है।

(ग) तीसरी अवस्था वह है जब व्यक्तिकी समाजमें 'स्थिति' (Status) नीची हो, परन्तु उसका 'कार्य' (Role) ऊंचा हो। ऐसी अवस्था तब आती है जब किसी देशमें नीच कही जानेवाली जातियोंको राजनैतिक-क्षेत्रमें विशेषाधिकार दिया जाता है। आज अपने देशमें हरिजन कहे जाने वाले लोगोंको योग्यताके आधार पर नहीं, नीची 'स्थिति' के कारण कुछ विशेष अधिकार दिये गये हैं। जब कभी कोई ऐसा व्यक्ति मिनिस्टर बन जाता है, तब ऊंचा 'कार्य' (Role) रखतेहुए उसकी समाजमें नीची 'स्थिति' (Status) होती है। परन्तु यह अवस्था

भी नहीं रहने पाती। समाजमें 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) को एक स्तरपर लानेकी प्रक्रिया लगातार होती रहती है, और समय आता है जब ऊंचे 'काम' वालेको ऊंची 'स्थिति' स्वयं मिल जाती है।

समाजमें व्यक्तिकी उक्त तीनों प्रकारकी 'स्थिति' (Status) तथा 'काम' (Role) या तो 'जन्म' से होता है, या 'कर्म' से। व्यक्तिकी समाजमें जो 'जन्म' से स्थिति होती है उसे समाजने निश्चित किया होता है, उसे 'समाज-प्रदत्त' (Ascribed by society) कहा जाता है, अपने उद्योगसे व्यक्तिने जो स्थिति प्राप्त की होती है, वह 'कर्म-प्राप्त' (Achieved by effort) कही जाती है। समाजमें जबतक 'जन्म' तथा 'कर्म' में विषमता रहती है, तबतक समाज विषम, असंगठित अवस्थामें रहता है, जब 'जन्म' तथा 'कर्म' में समता स्थापित होजाती है तब समाज समावस्था, संगठित अवस्था में आजाता है।

(२) 'समाजकी प्रक्रियामें विगठन' (Disorganisation in the Process of Society)—समाजका बाहरका ढांचा तो व्यक्तिकी समाजमें 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) के मेल, इनके समन्वयसे बना रहता है, इनके मेलके हट जानेसे टूट जाता है; अन्दरका ढांचा 'एकमतिता' (Consensus) से बना रहता है, 'एकमतिता' (Consensus) के न होनेसे टूट जाता है। समाजकी आभ्यन्तर-प्रक्रियामें जहां एक दिशामें सोचनेके स्थानमें हर व्यक्तिने भिन्न-भिन्न दिशामें सोचना शुरू किया, वहीं समाजके भवनमें तरेड़ आजाती है, और बिना मरम्मतके इसका टिकना असंभव होजाता है। समाजके आभ्यन्तरमें किन कारणोंसे 'एकमतिता' (Consensus) नष्ट होजाती है, किन कारणोंसे विगठनकी प्रक्रिया उत्पन्न होजाती है, उनपर विचार करना आवश्यक है।

३. सामाजिक-विगठनके चार कारण

समाजके आभ्यन्तरको जो कारण छिन्न-भिन्न कर देते हैं, जो 'एकमतिता' (Consensus) नहीं रहने देते, जिनके कारण समाजका अन्तरात्मा विगठित होजाता है, और क्योंकि अन्तरात्मा विगठित होजाता है इसलिये शरीर भी विगठित हो जाता है, वे चार हैं :—

(१) सामाजिक-विगठन का पहला कारण 'सामाजिक-परिवर्तन' (Social change)—पहलेका समाज सैकड़ों नहीं, हजारों सालोंतक एक-जैसा रहा। जबसे योरुपमें औद्योगिक-क्रांति हुई है तबसे रहन-सहन, आचार-विचार सबमें परिवर्तन हो नहीं हुआ, जो परिवर्तन हजारों सालों में नहीं हुआ वह देखते-देखते होगया। मनुष्यका जीवन, अबतक जो रूढ़ियां, प्रथाएं, रीति-रिवाज, दृष्टिकोण

बने हुए थे, उनके आधारपर चल रहा था, अब एकदम नई-नई परिस्थितियां उत्पन्न होगई। इन नई परिस्थितियोंके अनुसार प्रथाएँ और रूढ़ियां एकदम कैसे वदलें ? अगर कोई समाज वदलीहुई परिस्थितियोंके अनुसार अपनी प्रथाओं, रूढ़ियोंको उठाकर फेंक देता है, और नये ढंगसे चलने लगता है, तव तो उसका विगठन नहीं होता, परन्तु ऐसा कव हुआ है ? प्रथाएँ और रूढ़ियां, जो किसी समय समाजकी रक्षाकेलिये वनी थीं, अव परिवर्त्तित परिस्थितियोंमें भी समाजको वांधे रखती हैं, परिस्थितियां वदल जाती हैं, प्रथाएँ और रूढ़ियां नहीं वदलतीं। लड़कियां पढ़-लिख गईं, ऊंची-ऊंची वातें करने लगीं, परिस्थितियां कहती हैं कि पढ़ने-लिखनेके वाद तो पर्दा मत करो, प्रथा कहती है पर्दा करो, परिस्थितियां कहती हैं स्त्रीको आर्थिक स्वतन्त्रता दो, प्रथा कहती है उसे घर में वन्द रखो। हम क्योंकि परिस्थितियोंके अनुसार अपने विचारोंको नहीं वदलते इसलिये समाज विगठनकी, वेचैनीकी, विषमताकी अवस्थामें रहता है। हम विचारोंको क्यों नहीं वदलते, क्यों रूढ़िके दास वने रहते हैं, इसका एक कारण है। हमारी संस्कृतिके दो रूप हैं—'भौतिक' (Material) तथा 'अभौतिक (Non-material)। भौतिक-संस्कृतिका स्थूल-रूप हमारी 'सभ्यता' है, अभौतिक-संस्कृतिका रूप हमारे 'विचार' हैं। 'सभ्यता' की वस्तुएँ हमें दीखती हैं। मोटर है, हवाई-जहाज़ है, रेलगाड़ी है—ये सव दीखने वाली वस्तुएँ हैं। वैलगाड़ीसे मोटर गाड़ी अच्छी है, हल चलानेसे ट्रैक्टर चलाना अच्छा है, यह निर्णय करनेमें हमें देर नहीं लगती। दोनोंके परिणाम आंखों के सामने दीखते हैं। परन्तु अभौतिक वस्तुओंमें, विचारके क्षेत्रमें हमें यह नहीं दीखता कि यह विचार दूसरे विचारसे अच्छा है। विचार तो दीखनेवाली वस्तु ही नहीं है। हम कैसे मान लें कि जिस विचारको हमारे वाप-दादा, सैंकड़ों-हज़ारों सालोंसे मानते चले आये, वह आजके नवीन विचारसे किसी प्रकार भी निकृष्ट है। इसलिये भौतिक-परिस्थितिके परिवर्तनको, वैल-गाड़ीकी जगह मोटरके प्रयोगको हम वर्दाश्त कर लेते हैं, विचारोंके परिवर्तनको हम वर्दाश्त नहीं कर सकते। परन्तु कई ऐसे परिवर्तन हैं जिनको भौतिक-क्षेत्रमें अगर हम मान जाते हैं, तो उनसे सम्वन्ध रखनेवाले अभौतिक-क्षेत्रके विचारोंको मानना हमारे लिये लाज़मी होजाता है। परन्तु विचारके क्षेत्रमें परिवर्तनकेलिये मनुष्य आसानीसे तय्यार नहीं होता। परिणाम यह होता है कि भौतिक-क्षेत्रमें जिस वातको हम मान रहे होते हैं, उससे सम्वद्ध वातको, अभौतिक, अर्थात् विचारके क्षेत्रमें नहीं मान रहे होते। तभी कोट-पतलून पहननेवाले भी विल्ली रास्ता काट जाय तो सोचमें पड़ जाते हैं। भौतिक-क्षेत्रमें हम आगे निकल गये होते हैं, अभौतिक-क्षेत्रमें पीछे पड़-जाते हैं। इसी अवस्थाका नाम हमने १२वें अध्यायमें 'संस्कृतिके एक भागका

पछड़ जाना' (Cultural lag) कहा था। आज दूरी लगभग खतम होचुकी है। दूर-दूरके देशोंकी सीमाएँ मिलने लगी हैं। संसारके देश मानो हथेली पर आबैठे हैं। यह भौतिक-संस्कृतिका परिणाम है। इसका अवश्यंभावी परिणाम यह होना चाहिये कि संसारके देश अपनी-अपनी कौम, जाति, नस्लका अभिमान छोड़ दें, मनुष्य-मात्रको एक समझने लगें। दूरी दूर होनेसे ही तो एकता होती है। परन्तु फिर भी एक देश दूसरे देशसे जो दूर होता जारहा है वह इसीलिये तो है क्योंकि हम बदलतीहुई परिस्थितियोंमें भी अपने विचारोंके बदलनेकेलिये तय्यार नहीं हैं। यह अवस्था सामाजिक-विगठनकी अवस्था है।

(२) सामाजिक-विगठनका दूसरा कारण 'सामाजिक-धारणाएँ' (Social attitudes)—अभी हमने परिवर्तनका वर्णन किया। परिवर्तनके कारण परिस्थितियां आगे निकल जाती हैं, मनुष्यका विचार पीछे रह जाता है। परिवर्तित परिस्थितियोंकेसाथ वह पुराने विचारोंका मेल नहीं करसकता। यह अवस्था 'सामाजिक-विगठन' को जन्म देती है। यह विगठनकी अवस्था परिवर्तन के कारण तो पैदा होती है, परन्तु पैदा अपने-आप होजाती है। समाजमें हर-क्षण जो लगातार यान्त्रिक तथा आर्थिक परिवर्तन होरहे हैं, उनका यह स्वाभाविक परिणाम है। कभी-कभी 'विगठन' की अवस्था स्वयं नहीं पैदा होती, समाज उत्पन्न करता है। एक रूसी बच्चेको पाठशालामें शिक्षा देतेहुए पूंजीवादके विरुद्ध भर दिया जाता है। वह पूंजीवादके विरुद्ध दूसरी बात सोच ही नहीं सकता। अमरीकामें सामाजिक-परंपरा द्वारा प्रत्येक व्यक्ति नीग्रोके विरुद्ध ही सोचता है। भारतमें ब्राह्मणकेप्रति श्रद्धाकी भावना बच्चा-बच्चा यहां के वायु-मंडलसे सीखता है। मनकी ये अवस्थाएँ जो मनुष्यको एक खास दिशामें चलनेकेलिये मानो बाधित करदेती हैं, उसे उधर चाहे-अनचाहे खेंचती हैं, मनुष्यकी 'धारणाएँ' (Attitudes) हैं। ये 'धारणाएँ' अगर पुरानी 'धारणाओं' के अनुकूल हैं, तब तो ठीक, नहीं तो नवीन धारणाएँ पुरानी धारणाओंसे टकराती रहती हैं। कभी-कभी मनुष्य ऐसे समूहमें जन्म लेता है, या परिस्थितियोंके कारण पड़ जाता है, जिसकी धारणाएँ प्रचलित सामाजिक-धारणाओंसे उल्टी होती हैं। चोरों, लुटेरों, डाकुओंके बच्चोंकी धारणाएँ उन्हें समाज-विरोधी कामोंकेलिये प्रवृत्त करती हैं, उनकी ऐसी धारणाएँ बन जाती हैं, जो समाजके अधिकांश व्यक्तियोंकी धारणाओंके विरुद्ध होती हैं। कई बच्चोंको जन्मसे ही कटु अनुभव होने लगते हैं, माता-पिता उन्हें मारते-पीटते हैं, गाली देते हैं। जुल्मोंके बीच और लाड़-प्यारके बीच पले बालककी धारणाएँ अलग-अलग होजाती हैं। जिसकी जैसी धारणाएँ बन जाती हैं, वह उन धारणाओं को लेकर ही समाजमें व्यवहार करता है। कोमल धारणाओंका व्यक्ति संसारमें

कोमलता वहाता है, कठोर धारणाओंका व्यक्ति हरेक व्यक्तिपर तनी आंखोंस देखता है । प्रेमकी धारणाएं समाजमें 'संगठन' पैदा करती हैं, द्वेषकी, कठोरताकी, तनातनीकी धारणाएँ समाजको 'विगठित' कर देती हैं ।

(३) सामाजिक-विगठनका तीसरा कारण 'सामाजिक-मूल्य' (Social values)--'धारणा' (Attitude) से 'मूल्य' (Value) पैदा होता है । 'धारणा' शून्यके प्रति तो नहीं होती, किसी वस्तु, किसी पदार्थ या किसी विचारके प्रति होती है । अगर किसी वस्तु या विचारकेप्रति यह 'धारणा' होगई कि यह आवश्यक है, तो उसका 'मूल्य' उत्पन्न होगया, अगर यह धारणा होगई कि वह अनावश्यक है, तो उसका 'मूल्य' कुछ न रहा। समाज जिस चीजको मूल्यवान् समझ लेता है, उसकी जी-जानसे रक्षा करता है। जिस चीजकेप्रति हमारी अनुकूल धारणा है उसका सामाजिक-मूल्य बढ़ा-चढ़ा है, जिसकेप्रति प्रतिकूल धारणा है उसका सामाजिक-मूल्य कुछ नहीं है । सामाजिक-मूल्यकी वस्तु जहां हायसे जाती दीखती हो, वहां समाज उद्विग्न होउठता है। विवाहके प्रति समाजकी अनुकूल धारणा है, अतः समाजकी दृष्टिमें इसका मूल्य है । तलाकसे विवाह टूटता नजर आता है, अतः तलाकका विचार हमारी ऐसी संस्थापर आक्रमण करता है जो हमारेलिये मूल्यवान् है। परन्तु विवाहमें पति-पत्नीके आपसमें वेमेलपनका क्या इलाज है ? इस वेमेलपनके कारण तलाक का विचार उत्पन्न हुआ, इसलिये इस विचारकेप्रति भी समाजके कुछ लोगोंकी अनुकूल धारणा वन गई। अनुकूल धारणा वनगई, तो इस विचारका भी कुछ मूल्य उत्पन्न होगया। विवाह तथा तलाक इन परस्पर-विरोधी विचारोंका मूल्य पड़ जानेके कारण दोनों मूल्योंमें संघर्ष उत्पन्न होगया। कोई विवाहके मूल्यको वढ़ा-चढ़ाकर कहने लगा, कोई तलाकके मूल्यको वढ़ा-चढ़ाकर कहने लगा। जवतक तलाकके प्रति सवकी विरोधी धारणा थी, तवतक तलाकके विचारका कोई मूल्य न था, और संघर्ष की यह प्रक्रिया भी उत्पन्न नहीं हुई थी। एक वस्तु या विचारकेप्रति एक धारणाका वना रहना 'संगठन' को पैदा करता है, दो धारणाओंका उत्पन्न हो जाना 'विगठन' को उत्पन्न कर देता है, क्योंकि दो धारणाओंसे समाजकी 'एकमतिता' (Consensus) टूट जाती है, 'वहु-मतिता' उत्पन्न होजाती है । वर्तमान-समाजमें किसी वातमें 'एकमतिता' नहीं है, किसी वातमें हम सवकी एक-सी धारणाएं नहीं हैं, इसलिये किसी वातका एक-सा मूल्य नहीं है। यही कारण है कि आजका समाज प्रगतिशील तो है, परन्तु अत्यन्त विगठित है । आजके समाजमें धर्म, अर्थशास्त्र, राजनीति, स्त्रीकी समाजमें स्थिति, यौन-संवंध--सव वातोंमें नई-नई धारणाएँ उत्पन्न होरही हैं, अतः नये-नये मूल्य वनरहे हैं—'विगठन' वढ़ता चला जारहा है ।

'सामाजिक-मूल्यों' (Social values) का सामाजिक-विगठनपर कैसे प्रभाव पड़ता है ? प्रत्येक समाजके अपने कुछ 'सामाजिक-मूल्य' बनेहुए होते हैं। इनके विषयमें हम यह नहीं सोचते कि ये अच्छे हैं या बुरे हैं, सही हैं या गलत हैं। ये जो-कुछ हैं, उसीके मापसे हम अपने व्यवहारको ठीक या गलत कहते हैं। इन 'सामाजिक-मूल्यों' में परिवर्तन नहीं होता, परन्तु क्या मनुष्यकी परिस्थितियों में भी परिवर्तन नहीं होता ? परिस्थितियां बदलती रहती हैं, उनके अनुसार मनुष्यका 'कार्य' (Role) भी बदलता रहता है, परन्तु 'सामाजिक-मूल्य' तो नहीं बदलता। परिस्थितियां बदल गईं, उनके अनुसार हमारा 'कार्य' (Role) बदल गया, परन्तु 'सामाजिक-मूल्य' नहीं बदला—इसका क्या परिणाम होता है ? इसका परिणाम यह होता है कि बदलीहुई अवस्थाओंमें किसी बातके संबंधमें जो 'स्थिति' (Status) होनी चाहिये, उसे स्वीकार करनेकेलिये हम तय्यार नहीं होते। उदाहरणार्थ, स्त्रीका वर्तमान-युगमें 'कार्य', (Role) बदलगया। कल-कारखानोंके कारण वह घरमें काम करनेके स्थानमें फ़ैक्टरीमें काम करने लगी। 'कार्य' (Role) बदल गया, तो स्त्रीकी 'स्थिति' (Status) भी बदल जानी चाहिये, वह पैसा पैदा करके घर लाती है, इसलिये उसकी पराश्रिता की 'स्थिति' (Status) भी नहीं रहनी चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता। 'कार्य (Role) बदल जानेपर भी उसकी 'स्थिति' (Status) पहले की-सी पराश्रित बनी रहती है। ऐसा क्यों होता है ? ऐसा इसलिये होता है क्योंकि 'स्थिति' (Status) का निर्धारण होना तो 'कार्य' (Role) से चाहिये, परन्तु 'कार्य' (Role) से न होकर 'सामाजिक-मूल्य' (Social value) से होता है। 'सामाजिक-मूल्य' किसे कहते हैं ? समाजने सदियोंसे जो रीति-रिवाज, प्रथाएँ, धारणाएँ, परिणाम बना रखे हैं, वे समाजकेलिये असंदिग्ध-निर्णय बन चुके हैं, उनके विषयमें समाज किसीप्रकारका विवाद खड़ा ही नहीं होने देता। इन निर्णयों के अनुसार स्त्रीकी समाजमें पराश्रित 'स्थिति' (Status) निश्चित होचुकी है। अब नवीन-परिस्थितियोंके अनुसार स्त्री नया 'कार्य' (Role) करने लगी है, नये 'कार्य' के अनुसार उसे नयी 'स्थिति' मिलनी चाहिए, परन्तु हमारे पुराने 'सामाजिक-मूल्य' (Social values) कहते हैं—'नहीं मिलेगी'। स्त्रीका 'कार्य' कहता है, मिलनी चाहिये, 'सामाजिक-मूल्य' कहते हैं, नहीं मिलनी चाहिये—यह सारे झगड़ेकी जड़ है। 'सामाजिक-मूल्य' जल्दी-जल्दी नहीं बदलते, ये तो वे 'प्रतिमान' (Patterns) हैं जिनके अनुसार हम अपने प्रत्येक व्यवहारको मापते हैं, जो बात इनके मापसे ठीक उतरे वह ठीक, जो ठीक न उतरे वह गलत। ये ही स्त्रीकी 'स्थिति' (Status) का निर्धारण कर रहे हैं, ऐसी अवस्थामें जबतक

ये 'प्रतिमान' (Patterns), ये 'सामाजिक-मूल्य' नहीं वदलते, तबतक स्त्रीकी 'स्थिति' (Status) नया 'कार्य' (Role) करने पर भी डांवाडोल है, और समाज विगठित है। वर्तमान समाजके विगठित होनेका सबसे बड़ा कारण यह है कि नवीन-युगकी मांग के अनुसार हरेक वस्तुका 'कार्य' (Role) तो रेल-गाड़ीकी रफ्तारसे वदल रहा है, इसके अनुसार उसकी 'स्थिति' (Status) भी वदल जानी चाहिये, परन्तु हमारे 'सांस्कृतिक–प्रतिमान' (Cultural patterns), हमारे 'सामाजिक-मूल्य' (Social values) किसी प्रकारकी 'स्थिति' (Status) में परिवर्तन नहीं आने देते। जो वात सदियोंसे जैसी चली आरही है वह वैसी ही रहेगी, उसकी स्थितिमें वालके वरावर भी परिवर्तन नहीं आयेगा। समाज-सुधारकका काम 'सांस्कृतिक-प्रतिमानों' (Cultural patterns) को, 'सामाजिक-मूल्यों' (Social values) को ललकारना है, उन्हें ढीला करना है, उन्हें वदल देना है ताकि हर वस्तुका जो वर्तमान स्वरूप है उसके अनुसार ही उसकी स्थितिको मान लिया जाय। परिस्थितियां जो स्थिति उत्पन्न कर रही हैं, उसके अनुसार जव हमारे 'सांस्कृतिक–प्रतिमान' (Cultural patterns) और 'सामाजिक-मूल्य' (Social values) वदल जायेंगे, तव 'कार्य' (Role) के अनुसार 'स्थिति' (Status) उत्पन्न होजायगी, और तव सामाजिक-विगठन अपने-आप मिट जायगा। जो वात हमने स्त्रीकी 'स्थिति' (Status) के संवंध में कही है, वही अन्य वातोंपर लागू है। हमारा 'स्थिति' से अभिप्राय पुरुष या स्त्रीकी 'स्थिति' से ही नहीं है। समाजमें जो-कुछ है, हम जो-कुछ मानते हैं, जो वातें चल रही हैं, पुरुषकी स्थिति, स्त्रीकी स्थिति, शिक्षा-संवंधी हमारी धारणाएँ, धार्मिक-विचार, आर्थिक-विचार—इन सवकी 'स्थिति' (Status) आजकी नई परिस्थितिमें, नये-नये परिवर्तनों में वदल जानी चाहिये, परन्तु पुराने 'सामाजिक-मूल्य' (Social values) और 'सांस्कृतिक'-प्रतिमान' (Cultural Patterns) इनमेंसे किसीको वदलने नहीं दे रहे। परिणाम यह हो रहा है कि हरेक वस्तु जिस स्थानपर होनी चाहिये वहांसे हिल गई है, स्थान-भ्रष्ट होगई है, अपना ठीक-ठीक स्थान ढूंढ रही है, हरेक वस्तु और हरेक विचार डांवाडोल होरहा है, और अव सीधा हमला 'सामाजिक-मूल्यों' (Social values) पर होने लगा है, लोगोंको समझ आ रहा है कि जवतक इन मल्योंकी जगह दूसरे मूल्य नहीं आवैठते, तवतक समाजकी हर वात अनिश्चित अवस्थामें रहेगी। 'सामाजिक-मूल्यों' की इस लड़ाईमें जिन विचारोंमें आन्तरिक वल होगा वे टिकेंगे, दूसरे देर-अवेर में, मैदान छोड़ देंगे।

(४) सामाजिक -विगठन का चौथा कारण 'सामाजिक-संकट' (Crisis) —जव कभी समाजमें एक विल्कुल नवीन परिस्थिति उत्पन्न होजाती है तव व्यक्ति

या समूह उस परिस्थितिका मुकाविला नहीं कर सकते। उस समय समाजके सामने संकट उपस्थित होजाता है, और समाज विगठित होजाता है। संकट दो प्रकार का होसकता है—'आकस्मिक' (Precipitate) तथा 'क्रमिक' (Cumulative)। 'आकस्मिक-संकट' भारतके विभाजनके समय, महात्मा गांधी की अकस्मात् मृत्युके समय, विहार तथा क्वेटाके भूचाल के समय, वंगालके दुर्भिक्षके समय, पीपल्स वैंकके फ़ेल होनेके समय आया था। जव अप्रत्याशित अवस्था सामने आखड़ी हो, समझ न पड़े क्या करें, क्या न करें, एकदम सैंकड़ों, हजारों व्यक्तियोंकी 'स्थिति' (Status) तथा 'काम' (Role) एकदम टूट जाय, तव आकस्मिक संकट होता है। इसमें समाज एकदम 'विगठित' होजाता है। कभी-कभी संकट धीरे-धीरे वढ़ता है, यह संकटकी क्रमिक-अवस्था है। राजपूतानाका रेगिस्तान धीरे-धीरे वढ़ रहा है, परन्तु इससे दिल्लीके आस-पास गर्मी वढ़ रही है, वारिश कम होने लगी है। इन संकटोंका जो समाज सामना कर लेगा वह संगठित, और जो नहीं कर सकेगा वह विगठित कहलायेगा। योरुपमें औद्योगिक-क्रांतिके वादसे आर्थिक-संगठन वदलने लगा। परिवार धीरे-धीरे टूटने लगा, स्त्री भी पुरुषके साथ मजदूरी करने लगी, होते-होते पूंजीवाद उत्पन्न हुआ, पूंजीवादसे मजदूरोंके संघ वने, अव हड़तालें होती हैं, कारखानोंमें क्रोध भड़क उठनेपर आग लगा दी जाती है। ये सव संकट उद्योगीकरण और यन्त्रीकरणके कारण हैं, परन्तु धीरे-धीरे वरसोंमें प्रकट हुए हैं। ये सव समाजको विगठित कर रहे हैं।

४. सामाजिक-विगठनके परिणाम

आदि-समाजकी अवस्थामें 'सामाजिक-विगठन' नहीं होता, ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों 'सामाजिक-विगठन' वढ़ता जाता है। समाजकी आदि-अवस्था 'स्थिर-अवस्था' (Static) है, वर्तमान-अवस्था 'गति-शील' (Dynamic) अवस्था है। स्थिरतामें भिन्नता नहीं होती, गतिमें भिन्नता होती है। आदि-अवस्था 'संगठित' (Integrated) थी, वर्तमान-अवस्था 'असंगठित' (Disintegrated) है, आदि-अवस्थामें प्रत्येक व्यक्तिकी 'स्थिति तथा काम' (Status and role) निश्चित था, वर्तमान-अवस्थामें अनिश्चित होगया है, आदि-अवस्था 'जन्म' पर आश्रित थी, वर्तमान-अवस्था 'कर्म' पर आश्रित है, किसीको कुछ नहीं सूझता वह क्या करे, क्या न करे, उसकी समाजमें क्या 'स्थिति' है, इस सवका परिणाम यह है कि आदि-अवस्थामें 'विगठन' (Disorganisation) नहीं था, वर्तमान-अवस्थामें दिनोंदिन 'विगठन' वढ़ रहा है, आदि-अवस्थामें 'एकमतिता' (Consensus) थी, वर्तमान

अवस्था में 'बहुमतिता' बढ़ रही है, और इन सबके बढ़नेके साथ-साथ बेकारी, बीमारी, अपराध, गरीबी, व्यभिचार, दुराचार, अत्याचार न जाने क्या-क्या बढ़ रहा है । हम इनमेंसे कुछ एकका वर्णन अगले अध्यायोंमें करेंगे, परन्तु इसका यह मतलब नहीं समझना चाहिये कि ये सब बढ़ते ही रहेंगे। समाजकी प्रक्रिया तबतक सन्तोष से नहीं बैठती जबतक 'विगठन' की प्रक्रिया फिर से 'संगठन' की तरफ़ नहीं चल देती। बीमारी आरोग्यता प्राप्त करनेकी तरफ़ ध्यान खेंचती है, विगठन संगठन की आवश्यकताको उग्र कर देता है ।

प्रश्न

१. 'सामाजिक-संगठन' (Social organisation) से आप क्या समझते हैं ?
२. 'सामाजिक-विगठन' (Social disorganisation) से आप क्या समझते हैं ?
३. प्रत्येक व्यक्तिकी समाजमें 'स्थिति तथा कार्य' (Status and role) होता है। 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) में विषमता की कौन-कौन-सी अवस्थाएँ हैं ?
४. समाजकी 'रचना' (Structure) में 'स्थिति तथा कार्य' (Status and role) का क्या भाग है ?
५. 'एकमतिता' (Consensus) का सामाजिक-संगठन तथा विगठनमें क्या हाथ है ?
६. सामाजिक-परिवर्तन (Social change), सामाजिक-धारणाएँ (Social attitudes), सामाजिक-मूल्य (Social values) तथा सामाजिक-संकट (Social crisis) से सामाजिक-विगठन किसप्रकार होता है ?
७. सामाजिक-विगठन से समाजमें क्या-क्या दोष आजाते हैं ?
८. 'समाजमें विगठनकी प्रक्रिया हमारा ध्यान समाजके संगठनकी तरफ़ खींचती है'—इस कथनकी व्याख्या कीजिये ।

[२६]

निर्धनता तथा पराश्रयता

(POVERTY AND DEPENDENCY)

समाजके 'विगठन' के अनेक रूपोंमें 'निर्धनता' तथा 'पराश्रयता'—ये भी एक रूप हैं। इस अध्याय में हम 'निर्धनता' तथा 'पराश्रयता' पर विचार करेंगे।

१. निर्धनता

जब धन नहीं था, तब धनी-निर्धनका भेद भी नहीं था। आदि-कालमें तो वस्तुओंको जोड़कर रखनेकी जरूरत नहीं थी। धीरे-धीरे बुरे वक्तके लिये जोड़नेकी भावना उत्पन्न हुई, और इसके साथ ही सम्पन्न और असम्पन्नका भेद उत्पन्न हुआ। योरुपमें 'सामन्त-पद्धति' (Feudal system) के समय यही भेद मालिक और गुलामका रूप धारण करगया, और औद्योगिक-क्रांतिके बाद जब भूमिके स्वामित्वके बिना भी व्यक्ति धनका मालिक बनने लगा, जिनके पास जमीन नहीं थी वे भी कल-कारखाने खड़े करके रुपये-पैसेवाले होगये, तब उन लोगोंको जो असम्पन्न थे, जो पहले कभी सामन्त-युगमें गुलाम कहे जाते थे, अब मजदूर कहा जाने लगा। पूंजीवादके युगमें दो वर्ग बड़े स्पष्ट रूपमें समाजके सामने आगये—एक पूंजीपति थे, दूसरे पूंजी-विहीन थे। इस समय धनी-निर्धनका भेद अत्यन्त स्पष्ट हो गया, और समाजमें ये दो श्रेणियां बनगई।

धनी तथा निर्धन सापेक्षिक शब्द हैं। जिसे हम धनी समझते हैं वह दूसरेकी अपेक्षा अपनेको निर्धन समझता है, जिसे हम निर्धन कहते हैं वह दूसरेकी अपेक्षा धनी होता है। परन्तु फिर भी निर्धनताकी परिभाषा की जासकती है। निर्धनता मनुष्य की उस अवस्थाका नाम है, जिसमें आमदनी की कमी या फिजूलखर्ची से, वह अपनी तथा अपने आश्रितोंकी भौतिक तथा मानसिक आवश्यकताओं को पूरा करनेके अपने उस स्तरको कायम नहीं रख सकता, जिसकी समाजके दूसरे लोग उससे आशा रखते हैं। अपनी दृष्टिमें तो हरेक अपनी अपेक्षा और दूसरेका धन अधिक समझता है। निर्धनताकी असली परख यह है कि दूसरे भी यह समझें कि जो स्तर इसका होना चाहिये, वह नहीं है। हरेक देशका अपना-अपना स्तर है, अपनी-अपनी वह रेखा है जिससे ऊपरके लोग धनी गिने जाते हैं, जिससे नीचेके

लोग निर्धन गिने जाते हैं। अमरीकाके स्तरके अनुसार जिसे निर्धन कहा जायगा, भारत के स्तरके अनुसार उसे धनी कहा जायगा, भारतके स्तरके अनुसार जिसे धनी कहा जायगा, अमरीकाके स्तरके अनुसार उसे निर्धन कहा जायगा। निर्धनों की समस्या उन लोगोंकी समस्या है जो समाजकी दृष्टिमें जीवनके स्तरको कायम नहीं रख सकते । निर्धनताके अनेक कारण हैं, जिनमें से मुख्य निम्न हैं :—

(१) 'वैय्यक्तिक-असमर्थता' (Incapacity of the Individual)—मनुष्यकी निर्धनताका एक कारण, उसकी 'असमर्थता' है । 'असमर्थता' के दो कारण होसकते हैं—एक वंशगत-असमर्थता, दूसरी परिस्थितिगत-असमर्थता। एक आदमी पैदाइशसे बहुत ही छोटे दिमाग़का है, न पढ़ सकता है, न लिख सकता है, न कोई काम कर सकता है । दूसरा जन्मसे कोढ़ी है, अन्धा है, बहरा है। ऐसे लोग वंशगत-असमर्थताके कारण 'निर्धन' (Poor) होते हैं, इनमें कई तो 'दरिद्र' (Pauper) होते हैं। परिस्थितिके कारण व्यक्तिमें असमर्थता तब उत्पन्न होती है जब वह बीमारीके कारण, मशीनमें हाथ कट जानेके कारण, लड़ाईमें लंगड़ा होजानेके कारण, दिमाग़ बिगड़ जानेकेकारण जीवन-संग्रामकेलिये अनुपयुक्त होजाता है।

(२) 'भौतिक-परिस्थिति' (Physical Environment)—भौतिक-परिस्थितिमें कई ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न होजाती हैं, जिनके कारण निर्धनता उत्पन्न होजाना स्वाभाविक है । इनमेंसे मुख्य हैं—(क) प्राकृतिक पदार्थोंकी कमी, (ख) ऋतुकी प्रतिकूलता, (ग) जीव-जन्तुओंका उत्पात तथा (घ) प्रकृतिका कोप। इन चारोंके विषय में थोड़ा-थोड़ा विचार करना आवश्यक है।

(क) भूमिके सम्बन्धमें कियेगये अन्वेषणोंसे ज्ञात हुआ है कि कई भूमियां ऐसी होती हैं, जो दूसरोंकी अपेक्षा अधिक उपजाऊ होती हैं, उपजाऊ भूमिके तत्व भी कुछ समयके बाद वर्षाके कारण बह जाते हैं, उन्हें भूमिमें फिरसे डालनेकी आवश्यकता रहती है, कभी-कभी भूमिको एक-एक मौसम छोड़कर जोतना होता है ताकि उसकी नष्टहुई ताकत फिर-से लौट आये । कृषिके अतिरिक्त भूमिके खनिज पदार्थोंकी मात्रा भी परिमित होती है, अतः जब किसी स्थानका कोयला, लोहा, सोना, चांदी समाप्त होजाता है, तब वह स्थान उजड़ जाता है, जो लोग पहले धनी होरहे थे वही निर्धन होजाते हैं। भूमिकी उपजाऊ-शक्ति तथा उसके खनिज पदार्थोंका कम हो जाना निर्धनता लानेका एक कारण है ।

(ख) कभी-कभी भारी सर्दी या ओले पड़नेसे फ़सल नष्ट होजाती है, बहुत ज्यादा गर्मी भी कभी-कभी खेती को सुखा देती है। जहां नहरें हों वहां खेती को बचाया जा सकता है , जहां पानी न मिले वहां क्या किया जाय ? ऐसे स्थानोंमें किसानोंको बड़े कष्टोंका सामना करना पड़ता है । पंच-वर्षीय योजनामें इसीलिये

बड़े-बड़े बांध बनाकर बड़ी-बड़ी नहरोंके बनानेकी योजना की गई है ताकि ऋतुकी प्रतिकूलताके कारण वर्षा आदि न पड़े तो किसानोंकी समस्याका हल किया जा सके।

(ग) भारत में टिड्डी-दल अक्सर खेतोंको नष्ट कर देते हैं। खेतोंमें तरह-तरहके कीड़े, जीव-जन्तु फ़सलको नष्ट किया करते हैं। हर पेड़को कोई-न कोई कीड़ा लगा करता है। किसानके पास इस सबके लिये साधन न होनेके कारण उसकी आर्थिक समस्या विकट होजाती है।

(घ) प्रकृतिका कोप भी मनुष्यको भटकाया करता है। बिहारमें बाढ़से करोड़ों रुपये का नुक्सान होगया। भूचाल, आग लग जाना, ज्वालामुखी फूट पड़ना, जहाज़का डूब जाना, हवाई जहाज़का गिर पड़ना—ऐसे अनेक उपद्रव हैं, जो उन लोगोंकेलिये आजीविकाकी समस्याको खड़ा कर देते हैं जिन्हें इनका शिकार होना पड़ता है।

(३) 'आर्थिक-कारण' (Economic factors)—निर्धनताको उत्पन्न करनेवाला सबसे बड़ा कारण आर्थिक है। कोई समय था जब यह समझा जाता था कि संसारमें मनुष्य बढ़ते जा रहे हैं, उनकी आवश्यकताओंको पूरा करनेके लिये 'उत्पत्ति' (Production) कम होरही है। यह समझा जाता था कि जिस मात्रा में 'जन-संख्या' बढ़ रही है, अगर उसी मात्रा में 'उत्पत्ति' बढ़ती रहे, तो सबकेलिये खाने-पहननेको मिलता रहे, कोई निर्धन न रहे। जबसे औद्योगिक-क्रांति हुई है, तबसे 'उत्पत्ति' पहलेसे कई गुना बढ़ गई है, मशीनके जरिये 'उत्पत्ति' की मात्रा इतनी बढ़ गई है कि जितना उत्पन्न होरहा है उतना खप नहीं रहा। परन्तु क्या कारण है कि फिर भी धनी-निर्धनका भेद बढ़ता जारहा है, घटता ही नहीं जारहा, पहलेसे कहीं अधिक होगया है? इसका यह कारण है कि 'उत्पत्ति' तो बढ़ गई है, परन्तु उत्पत्तिका 'वितरण' (Distribution) ठीक नहीं है। थोड़े व्यक्तियों के हाथ सब-कुछ आता जारहा है, अधिक व्यक्तियोंके हाथ कुछ नहीं आरहा। 'उत्पादनके साधनों' (Means of Production) पर पूंजीपतियोंका प्रभुत्व है, अतः इन साधनों से जो 'उत्पादन' होता है, वह पूंजीपतियोंके हाथ में केन्द्रित होता जाता है। 'धनका अव्यवस्थित वितरण' (Maldistribution of wealth) आजके व्यक्तिको निर्धनताका सबसे बड़ा कारण है। इस अव्यवस्थाको राज्य के सिवाय कौन रोक सकता है? इसका एक उपाय तो यह है कि राज्य ही 'उत्पादन के साधनों' को अपने हाथ में ले ले, और जो आमदनी हो, उसे वस्तुओंके दाम कम करके, या जनता को शिक्षा, स्वास्थ्य, अच्छे मकान आदि पर खर्च करके जनताको ही लौटा दे। ऐसा प्रयोग रूस में होरहा है, दूसरे देश भी धड़े-धड़े

व्यवसायोंको अपने हाथ में लेने लगे हैं। दूसरा उपाय यह है कि वस्तुओंके दाम निश्चित कर दिये जांय, यह तय कर दिया जाय कि इतनेसे अधिक कोई मुनाफ़ा नहीं ले सकता। यह काम भिन्न-भिन्न व्यवसायोंके लोग स्वयं कर सकते हैं, परन्तु इसकी संभावना वहुत कम है, ऐसी हालतमें यह काम भी राज्यका होजाता है।

(४) 'सामाजिक-कारण' (Social factors)—उक्त कारणोंके अतिरिक्त कई सामाजिक कारण हैं जो आजके व्यक्तिकी निर्धनताके कारण बन रहे हैं। वे हैं—(क) त्रुटिपूर्ण शिक्षा-प्रणाली, (ख) त्रुटि-पूर्ण स्वास्थ्य-रक्षा-प्रणाली तथा (ग) त्रुटि-पूर्ण मकानोंकी व्यवस्था। इन तीनों के सम्वन्ध में संक्षिप्त विचार कर लेना ठीक होगा :—

(क) त्रुटि-पूर्ण शिक्षा-प्रणाली—आज हमारी शिक्षा-प्रणाली अत्यन्त दूषित होरही है। पढ़नेके बाद आर्थिक-समस्याको किस प्रकार हल किया जायगा, इसे कोई नहीं जानता। हरेक यूनीवर्सिटी हज़ारों ग्रेजुएटोंकी भरमार करती जारही है, ऐसे ग्रेजुएट जो अपनेको किसी कामके योग्य नहीं पाते। शिक्षित-व्यक्तियों की इस वेकार हालतको देखकर शिक्षा-विज्ञोंने शिक्षा-प्रणाली में सुधार शुरू किये हैं, दस्तकारी आदि विषयोंको पाठ्य-क्रममें सम्मिलित किया जारहा है, परन्तु अभी-तक यह हालत है कि किसानोंके लड़के वी० ए०, एम० ए० वनना चाहते हैं, और पढ़कर न वे घरके काम के रहते हैं न घाटके, न उन्हें नौकरी मिलती है, न वे खेती कर सकते हैं। फ़ैशन करना वे सीख जाते हैं, पैसा पैदा करना नहीं सीखते, यह शिक्षाका दोष है।

(ख) त्रुटि-पूर्ण स्वास्थ्य-रक्षा-प्रणाली—हमारी स्वास्थ्य-रक्षा सम्वन्धी व्यवस्था भी त्रुटि-पूर्ण है। सैंकड़ों, हज़ारों व्यक्ति रोगी होनेके कारण कमाई नहीं कर सकते। रोगी होजाने पर रोगका इलाज करनेकी अपेक्षा ऐसे उपायों का अव-लम्वन करना चाहिये जिससे व्यक्ति रोगी ही न हो। ऐसी हालतमें रोगी होनेके कारण जो दिन विना कमाईके निकल जाते हैं उनमें कमाई करसकनेके कारण निर्धनतामें कमी होसकती है। मजदूर को दिहाड़ीपर काम मिलता है। वह रोज़ काम करता है, रुपया-डेढ़ रुपया कमा लाता है, और गुज़ारा चलाता है। जितने दिन वह वीमार रहता है, उतने दिनोंका उसे रुपयोंमें नुक्सान होजाता है।

(ग) त्रुटि-पूर्ण मकानोंकी व्यवस्था—इससमय मकानोंकी व्यवस्था पैसेवालोंके हाथ में है। जिनका अपना मकान नहीं, उन्हें किराये के मकानोंमें रहना पड़ता है। पैसेवाले किरायेकेलिये मकान बनाते हैं, सुविधा, आराम, स्वास्थ्यकी दृष्टि से नहीं। परिणाम यह होता है कि बहुत थोड़े लोग हैं जिनको अपनी सुविधा

के अनुसार मकान मिलता है, अधिकांश व्यक्ति ऐसी गन्दी-गन्दी झोंपड़ियों में गुज़र करते हैं जिनमें आदमी सिर्फ़ सिर ढक सकता है, परन्तु अपना स्वास्थ्य नष्ट कर लेता है। ऐसे मकानोंमें निर्धन व्यक्ति ही रह सकता है, सम्पन्न व्यक्ति नहीं। समाज के निर्धन व्यक्तियोंके इस कष्टके दूर करनेकेलिये राष्ट्रकीतरफ़से मकान बनने चाहियें, उनका स्वामित्व राष्ट्रके पास हो, सिर्फ़ किरायेकी दृष्टिसे नहीं, रहनेवाले की सुविधा, आरामकी दृष्टिसे बनाये जांय, राष्ट्र उनका किराया ले, परन्तु किराये-दारको बिल्कुल तबाह न कर दे। अमरीका तथा इंग्लैंडमें राज्यकीतरफ़से इस-प्रकारके मकान बनानेका परीक्षण होरहा है।

(५) 'युद्ध' (War)—निर्धनताका सबसे बड़ा कारण युद्ध है। युद्धके समय रोटीतक मिलना कठिन होजाता है, हरेक वस्तु लड़ाईमें चली जाती है, जो लोग मैदान में लड़ रहे होते हैं वे गिन-गिनकर दिन काटते हैं, जो पीछे रह जाते हैं वे दाने-दानेको तरसकर जीते हैं। युद्ध जातिको धन-धान्यमें ही निर्धन नहीं बनाता, मनुष्यतामें भी दरिद्र बना देता है। उभरी छातीके बांके नौ-जवान युद्धकी अग्निमें झोंक दिये जाते हैं, मरे-सड़े लोग समाजका सूत्र चलानेकेलिये पीछे रह जाते हैं। जबतक लड़ाई चलती है तबतक नौ-जवान सन्तान नहीं उत्पन्न करते, यही बचे-खुचे, भले-बुरे लोग जो रह जाते हैं, कमज़ोर सन्तानोंको उत्पन्न करते रहते हैं। ऐसी सन्तान जीवन-संग्राममें मुकाबिलेमें नहीं टिक सकती, इसलिये जब ये बड़ी होती हैं, तब समाजकेलिये एक विषम समस्या बन जाती है। युद्धके बाद जब सेनाएं भंग की जाती हैं, तब वे बेकारोंकी संख्या इतनी बढ़ा देती हैं कि चारोंतरफ़ निर्धनता-ही-निर्धनताका राज्य दीखने लगता है। इसलिये युद्धके बाद जीवनका स्तर गिर जाता है, वस्तुओंका मूल्य बढ़ जाता है, और समाज अपनी पूर्ण विघटित अवस्थामें दीखने लगता है।

२. पराश्रयता

जैसे 'निर्धनता' (Poverty) समाजकी एक विगठित अवस्था है, वैसे 'पराश्रयता' (Dependency) भी विगठित अवस्था है? बालक माता-पिता के आश्रित हैं, पत्नी पतिके आश्रित है, परन्तु जब हम समाजकी विगठित अवस्थाका वर्णन कर रहे होते हैं, तब इनको पराश्रित नहीं कहते। हां, जो बालक माता-पिताके मर जानेके कारण अनाथ होजाता है, जिस पत्नीको पति छोड़ देता है, वह पराश्रित अवश्य है। पराश्रित व्यक्ति मुख्यतौरपर तीन प्रकारके हैं—(क) अनाथ, (ख) वृद्ध, तथा (ग) अपंग। हम इन तीनोंका थोड़ा-थोड़ा वर्णन करेंगे:—

(क) अनाथ—जिस बालकके माता-पिता नहीं हैं, उसकी देख-रेख कोई नहीं करता। वह समाजमें आवारा फिरता है। कई ऐसे बालक भी हैं, जिनके

माता-पिता हैं, परन्तु वे इतने निर्धन हैं कि बालकोंका पालन-पोषण नहीं करसकते। वे खुद भीख मांगते हैं, बच्चे भी भीख मांगते हैं। ऐसे बालक निर्धन होनेकेसाथ-साथ चोरी, गांठ कतरना आदि सब बुरी आदतें सीख जाते हैं। समाजकेलिये उनके भरण-पोषणका ही प्रश्न नहीं है, उनको शिक्षा देकर योग्य नागरिक बनानेका भी प्रश्न है। ऐसे बालकोंको भीख देकर उन्हें जन्मभरकेलिये अपाहिज बना देना है। अनाथालयोंमें रखना उनके मनमें सदाकेलिये अनाथ-भावना उत्पन्न कर देना है। ऐसे बच्चोंकेलिये १९५२ में उत्तर-प्रदेशमें 'बाल-सुधार-कानून' (Children's Act) पास हुआ है, जिसके अनुसार १६ वर्षके नीची आयुके बच्चोंको आवारा फिरता देखकर पुलिस पूछ सकती है कि उनके अभिभावक कौन हैं? अगर कोई न हो, और हों तो बच्चोंकी देख-रेख न करसकते हों, उन्हें इन बाल-सुधार-आश्रमोंमें रखकर जीवनोपयोगी सब काम सिखाये जायेंगे। अभी यह कानून ही बना है, ऐसे आश्रम नहीं खुले। इसी आशयका विधेयक विधान-परिषद्में भी उपस्थित है।

(ख) वृद्ध—वृद्धावस्थामें मनुष्य पराश्रित होजाता है। बालक तो इसलिये पराश्रित है क्योंकि वह कमा ही नहीं सकता, वृद्ध इसलिये पराश्रित है क्योंकि उसने वृद्धावस्थाकेलिये काफ़ी बचाया नहीं होता। जो मज़दूर सिर्फ़ उस दिनकेलायक मज़दूरी कमाता है जिस दिन वह काम करता है, वह बचा कहां सकता है! इसलिये या तो हरेक आदमीका बीमा होना आवश्यक है, या बुढ़ापेमें उसकी देख-भाल करना राज्यकेलिये आवश्यक है। बीमा खुद करे, या उसका मालिक कराये। कुछ राज्योंमें वृद्धोंकी रक्षाकेलिये आश्रम खुलेहुए हैं, इन आश्रमोंको 'निर्धनालय' (Poor House) कहते हैं। अस्लमें, हरदेशमें भीख न मांगनेका नियम है, और जो भीख मांगता पाया जाता है उसे इन दरिद्रालयोंमें भर्ती कर दिया जाता है। वैसे तो प्रत्येक वृद्धके पुत्र-पौत्र उसकी देख-भाल करते हैं, परन्तु जहां किसीकी देख-भाल करनेवाला कोई नहीं होता, वहां उसे इन दरिद्रालयोंमें भर्ती कर दिया जाता है। जो लोग जवानीमें अच्छे दिन गुज़ार चुके होते हैं उन्हें इन दरिद्रालयोंमें रख देना कुछ अन्याय-सा दीखता है। उनकेलिये 'वृद्धालय' (Old Peoples' Houses) खुलने चाहियें, जहां अच्छी स्थितिके वृद्ध लोग अपना जीवन व्यतीत कर सकें। वृद्धावस्थाकी पेंशनोंका भी प्रबन्ध होना चाहिये। दरिद्रालयमें प्रत्येक वृद्ध-व्यक्तिपर जो खर्च होता है, वह पेंशनके रूपमें दे दिया जाय, तो खर्च अधिक नहीं बढ़ता। परन्तु ये सब संस्थाएं योरुपमें हैं, भारतमें नहीं हैं।

(ग) अपंग—बालक तथा वृद्धके अलावा तीसरी श्रेणी अपंगोंकी है, जो पराश्रित कहे जासकते हैं। पागल, मृगीके शिकार, जन्मके रोगी, अंग कटेहुए, अन्धे, लूले, लंगड़े—ये सब अपंग हैं। गरीब आदमियोंकी जिन बीमारियोंको दूर किया जासकता है, उन्हें दूर करना राज्यका काम है, नहीं तो इतने ही निराश्रितोंकी संख्या बढ़ती जाती है, और राज्यपर आर्थिक बोझ भी बढ़ता जाता है।

३. 'निर्धनता' तथा 'पराश्रयता' का इलाज

जबतक 'निर्धनता' और 'पराश्रयता' को परमात्माकी देन, कर्मोंका फल तथा अनिवार्य समझा जाता था, तबतक दान-पुण्यसे इन लोगोंकी सहायता की जाती थी, परन्तु विज्ञानके युगमें अनिवार्य बातें बहुत थोड़ी रह गई हैं। ऐसे लोगोंको भीख देकर सहायता करके उनकी रक्षा करना धर्म नहीं है, परन्तु स्वास्थ्य आदिके कानून बनाकर, रोगी तथा अपाहिज सन्तान उत्पन्न करनेवाले व्यक्तियोंको उत्पादनके अयोग्य बनाकर ऐसे व्यक्तियोंकी तथा समाजकी रक्षा की जासकती है। बीमारी, वृद्धावस्था, अपंगता आदिके समय पराश्रय न होना पड़े, इस बातको ध्यानमें रखकर ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड में बीमा करनेकी व्यवस्था है। यह बीमेका धन मालिकको देना होता है। इन व्यवस्थाओंके अतिरिक्त सबसे बड़ा काम समाज-सेवक (Social Worker) का है। जो काम राज्य जबर्दस्ती कराना चाहता है, वही समाज-सेवक समझा-बुझाकर, उन लोगोंकेसाथ उठ-बैठकर करता है। समाज-सेवकका काम अपने क्षेत्रके निर्धन तथा पराश्रित व्यक्तियोंकी गणना करना, किसको क्या काम मिल सकता है, किसे दवा-दारूकी जरुरत है, यह सब देखकर उनकी सहायता करना है। इस दिशामें 'भारत-सेवक-समाज' के कार्यकर्ता बहुत अच्छा काम कर सकते हैं। इसप्रकार राज्यके कानून तथा समाज-सेवककी प्रेम-पूर्ण सेवाके सहयोगसे 'निर्धनता' तथा 'पराश्रयता' की समस्या थोड़ी-बहुत हल होसकती है। इसका असली हल तो सारे-के-सारे आर्थिक ढांचेको बदलना है।

प्रश्न

१. 'निर्धनता' को क्या व्याख्या है ?

२. समाजमें 'निर्धनता' के क्या कारण हैं, और उन्हें कैसे दूर किया जासकता है ?

३. 'पराश्रयता' के क्या प्रकार हैं, और उनका क्या इलाज है ?

४. 'निर्धनता' तथा 'पराश्रयता' को दूर करनेमें समाज-सेवक क्या काम करसकता है ?

[३०]

बेकारी

(UNEMPLOYMENT)

किसी ऐसे काममें लगे रहना जिसमें अर्थ-प्राप्ति हो, बारोजगारी, और सशक्त-व्यक्तियोंकी इच्छा रहते भी काम न मिलना बेकारी कहाता है। कई काम मौसमी होते हैं, ऐसे होते हैं जिन्हें कुछ आज, और कुछ एक-दो दिन छोड़कर करना होता है, इसलिये किसी देशमें पूर्ण रोजगारी होतेहुए भी कुछ-न-कुछ बेकारी तो रहती ही है। संयुक्त-राष्ट्र-संघने अपने सदस्य देशोंको पूर्ण रोजगारीका मान-दंड निश्चित करनेको कहा था। उसके आधारपर कहा जासकता है कि २ से ५ प्रतिशत तक बेरोजगारी होनेपर भी उस देशमें पूर्ण रोजगारी कही जाती है, इससे ऊपर बेकारी चली जाय, तो वह बेकारी समझी जाती है।

भारतवर्षमें कहांतक बेकारी है, यह बात ठीक-ठीक नहीं कही जासकती। कुछ-कुछ अन्दाज 'कार्यान्वेषक-विभाग' (Employment Exchange) के आंकड़ोंसे लगाया जासकता है। परन्तु ये अंक विश्वसनीय नहीं कहे जासकते क्योंकि इनके आंकड़ोंमें शहरोंके उन व्यक्तियोंकी ही गणना है जिन्होंने अपना नाम रजिस्टर में लिखवा दिया है। इसके अतिरिक्त ये केवल शहरोंके आंकड़े हैं। गांवोंकी बेरोजगारीका भी इनसे कुछ पता नहीं चलता। फिर भी इन आंकड़ोंके अनुसार जून १९५२ से जुलाई १९५३ तक बेकार व्यक्तियोंकी संख्या में पहलेसे ५० प्रतिशतकी वृद्धि हुई। अब इस विषयमें ठीक-ठीक जानकारी हासिल करनेकेलिये केन्द्रीय 'अर्थ-मन्त्रालय' (Finance Ministry) कीतरफ़से 'जातीय-किंचित्पर्यवेक्षण' (National Sample Survey) प्रारम्भ हुआ है। इस तरीकेको संस्कृतमें 'स्थाली-पुलाक-न्याय' कहा जाता है। जैसे एक चावल देखकर जान लेते हैं कि सब चावल पक गये या नहीं, वैसे देशके कुछ हिस्सोंकी परीक्षासे वहांकी समस्याको समझ लेते हैं। इस किंचित्-पर्यवेक्षणका काम कुछ-कुछ हिस्सोंको लेकर, उनकी जांच करके, उसके आधारपर बेकारी तथा अन्यप्रकारके आंकड़े तैयार करना होगा। उदाहरणार्थ, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, अमृतसर आदिके आस-पास चार-चार हजार घरोंके आंकड़े तय्यार करके वहांकी

भिन्न-भिन्न अवस्थाओंकी जानकारी हासिल करनेसे जहां और बातोंका पता चलेगा, वहां उन स्थानोंकी वेकारीका भी पता चलेगा। यह समझा जाता है कि इसप्रकारकी जांचसे जो परिणाम निकलते हैं वे प्रायः सारे देशपर ठीक बैठते हैं।

भारतकी वेकारीकी समस्याको तीन हिस्सोंमें बांटा जासकता है। गांवोंमें लोग खेती-बाड़ीका काम करते हैं, उनकेपास भूमि न रहनेसे 'कृषि-बेकारी' (Agricultural unemployment) बढ़ रही है। शहरोंमें कल-कारखाने बढ़ रहे हैं। इन कारखानोंमें नये-नये आविष्कारोंके परिणाम-स्वरूप आदमीका काम यन्त्र करने लगे हैं, इससे 'यान्त्रिक-बेकारी' (Technological unemployment) बढ़ रही है। तीसरी बेकारी पढ़े-लिखे लोगोंमें है। हमारे शिक्षित नौ-जवान नौकरीके सिवाय दूसरा काम कर नहीं पाते इसलिये इस वर्गमें 'शिक्षितोंकी बेकारी' (Educational unemployment) बढ़ रही है।

१. कृषि बेकारी

भारत कृषि-प्रधान देश है। यहांकी दो-तिहाई जनता भूमि-माताका वरदान पाकर ही पेट पालती है, परन्तु जन-संख्याके बहुत अधिक बढ़ जाने तथा भूमिके घट जानेके कारण लाखों लोग बेकार होगये हैं। जिनके पास भूमि है भी, वह इतनी थोड़ी है कि उसकी उपजसे उनके कुटुम्बका भरण-पोषण नहीं होपाता। पहले कृषि आमदनीका साधन थी, अब वह आमदनीका साधन नहीं रही, इसलिये किसान खेती छोड़कर मजदूरी करना ज्यादा पसन्द करते हैं। १९४८-४९ के सम्बन्धमें 'राष्ट्रीय-आय-कमेटी' (National Income Committee) की रिपोर्ट १९५१ में प्रकाशित हुई थी। इस रिपोर्टके अनुसार भारतके ६८ प्रतिशत व्यक्ति जो कृषिमें लगेहुए थे, उनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय १८० और अन्य व्यवसायोंमें लगेहुए व्यक्तियोंकी आय ४१६ रुपया कूती गई थी, जो कृषिकी अपेक्षा अढ़ाई गुणाके लगभग थी। इसी कारण १९४१ से १९५१ तक दस सालके भीतर १ करोड़ आदमी गांव छोड़कर शहरोंमें कामकी तलाशमें आये—इससे स्पष्ट है कि या तो उनकेपास भूमि थी ही नहीं, थी तो काफ़ी नहीं थी, काफ़ी थी तो उपजाऊ नहीं थी। किसान इसलिये भी बेकार रहता है क्योंकि सालभर तो जमीनमें वह पैदा कर नहीं सकता। एक खेती बो देनेके बाद उसके पकनेतक उसे प्रतीक्षामें बैठे रहना पड़ता है। जहां नहरें आदि हैं, हरसमय पानी मिल सकता है, वहां भी दो-अढ़ाई महीने उसे बेकार बैठना पड़ता है, परन्तु

जहां पानीकी पूरी व्यवस्था नहीं है, वहां पांच-छः महीने आसमानमें बादलोंकी ताकमें वह गिन-गिनकर दिन निकाल देता है। हमारा किसान खेतीकेलिये ज्यादा तर वर्षापर निर्भर करता है।

इस सब समस्याका हल यही है कि बंजर ज़मीनोंको नहरों, वैज्ञानिक खादों आदिसे उपजाऊ बनाया जाय, उन्हें भूमिहीन किसानोंमें बांटा जाय, जिनके-पास ज़रूरतसे ज्यादा ज़मीन पड़ी है उस भूमिको वे भूदान-यज्ञमें दान दे दें, या राज्यकीतरफ़से कानूनद्वारा वे ज़मीनें लेकर उन्हें किसानोंमें बांट दिया जाय, किसानोंकी जो भूमियां इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं उनका ऐसा बटवारा किया जाय जिससे एक किसानकी सारी ज़मीन एकजगह आजाय। बंजर भूमिको उप-जाऊ बनानेकेलिये 'पंचवर्षीय योजना' के अनुसार जो उपाय किये जारहे हैं, उनसे १९५६ के अन्ततक कृषि-योग्य भूमिमें निम्न प्रकार वृद्धि करनेका प्रस्ताव है :—

बड़ी सिंचाई योजनाओंसे	—	८० लाख एकड़
छोटी सिंचाई योजनाओंसे	—	७० लाख एकड़
ऊसरमें खेती करनेसे	—	४० लाख एकड़
केन्द्रीय-ट्रेक्टर-संगठनद्वारा भूमि-सुधारसे	—	१५ लाख एकड़

अगर इसप्रकार २०५ लाख एकड़ भूमिको कृषियोग्य बनाया जासके, तो किसानोंकी बड़ी भारी समस्याका हल होजाय। जो-कुछ प्रथम पंच-वर्षीय योजनामें नहीं होसकेगा, वह द्वितीय पंच-वर्षीय योजनामें कियेजानेका प्रयत्न होगा। विभाजनसे पूर्व समुद्रको बह जानेवाले जलमेंसे कुल ६ प्रतिशत जलका सिंचाईकेलिये उपयोग होसकता था, अब विभाजनके बादसे इस जलका पूर्ण उपयोग करनेकेलिये १७० छोटी-बड़ी नई योजनाओंको चलाया जारहा है। मद्रासमें सिंचाईकी योजनाओंको तीन हिस्सोंमें बांटा गया है। अल्पकालीन योजनापर ५ करोड़ रुपया खर्चकरके ४ लाख एकड़ भूमिको सींचा जायगा, मध्य-आकारकी योजनापर ३० करोड़ रुपया खर्च करके ५ लाख एकड़ भूमिको सींचा जायगा, बड़ी योजनाओंपर ७८ करोड़ रुपया खर्च करके ३० लाख एकड़ भूमिको सींचनेके-लिये नहरें बनाई जायेंगी। उत्तर-प्रदेशमें रिहंद नदीके आर-पार २८० फुट ऊंचा बांध बनाया जायगा जिसपर १६.४ करोड़ रुपया खर्च होगा, यह ४० लाख एकड़ भूमिको सींचेगा। नायर नदीपर एक बांध बनेगा, जिससे २ लाख ३८ हज़ार एकड़ भूमिकी सिंचाई होगी। रामगंगा योजनासे ८ लाख एकड़ भूमिकी सिंचाई कीजायगी। पश्चिमी-बंगालमें दामोदर-घाटी-बांध-योजनासे वहांके किसानोंकी ६ करोड़ आय बढ़ जायगी। इसी प्रांतमें मूराकेही नदीपर जो बांध बंधेगा उससे ६ लाख एकड़की सिंचाई होगी। बिहारमें कोसी-योजनापर ९०

करोड़ रुपये लगेंगे जिससे २० लाख एकड़ सिंचेगा। गंडक घाटी-योजनाद्वारा सारन जिलेकी ६ लाख तथा मुंगेर जिलेकी ५० हजार एकड़ भूमिको सींचा जायगा। बम्बईमें मेश्वा, माही, वरदला, गंगापुर तथा अशोक योजनाओंपर ३४ करोड़ रुपया खर्च होगा जिससे ७ लाख ६० हजार एकड़ भूमिकी सिंचाई होगी। मध्य-प्रदेशमें नर्मदा-ताप्ती नदियोंके बांध तथा अन्य ११ योजनाओंपर ४ करोड़ रुपया खर्च होगा जिससे १० लाख एकड़ भूमि उपजाऊ बनेगी। पंजाबमें नांगल-योजनाद्वारा ४४ लाख एकड़ भूमिको सींचा जायगा। उड़ीसामें ४७ करोड़ ८१ लाख रुपयेसे महानदी-घाटी-योजनाका विकास किया जायगा। ये जितनी योजनाएं हैं इनमें 'दामोदर-घाटी-योजना', 'महानदी-घाटी-योजना' तथा 'भाकरा-नांगल-योजना'—ये तीन योजनाएं सबसे बड़ी हैं, और इनसे पानीके अतिरिक्त बिजली भी बहुत भारी तादादमें उत्पन्न की जायगी।

पानीके अतिरिक्त भूमिको उपजाऊ बनानेकेलिये वैज्ञानिक खादों तथा ट्रेक्टर आदिके उपयोगसे भी कृषिकी उपज बहुत बढ़ सकती है। १९४८ में भारतमें प्रतिव्यक्ति कृषि-योग्य भूमिका क्षेत्र-फल .७१ एकड़ था, जापानमें प्रतिव्यक्ति एक-तिहाई एकड़ था, परन्तु भारतके किसानकी अपेक्षा थोड़ी भूमि होतेहुए भी जापानके किसानकी उपज भारतके किसान से ज्यादा है। भारतका किसान अगर बेकारीसे बचना चाहता है, तो उसे फसलोंको अच्छीतरहसे अदल-बदलकर, अच्छे बीजोंको लेकर, अच्छा वैज्ञानिक खाद देकर, वैज्ञानिक यन्त्रोंका इस्तेमाल-करके, सहकारिताके उपायोंका प्रयोग करके अपनी स्थितिको सुधारना होगा। उसे यह भी जान लेना होगा कि खेती छोड़कर सिर्फ शहरकीओर चलदेनेमें उसकी समस्याका हल नहीं होसकता, क्योंकि शहरोंकी बेकारी गांवोंकी बेकारीसे भी ज्यादा भीषण रूप धारण करती जारही है।

२. यांत्रिक-बेकारी

बेकारीका एक बहुत बड़ा कारण यांत्रिक-युग है। यंत्र-युगमें मनुष्यका स्थान यन्त्र लेरहे हैं। जहां दस आदमी काम करते थे वहां एक आदमी यन्त्रद्वारा दस मनुष्योंका काम कर रहा है। इसका यही मतलब है कि जितना यन्त्रीकरण बढ़ता जायगा, उतनी बेकारी बढ़ती जायगी। योरपमें 'यन्त्रीकरण', (Mechanization) से पहले बेकारीकी समस्या नहीं थी। ज्यों-ज्यों 'यान्त्रिक-आविष्कार' (Technological inventions) बढ़ते गये, त्यों-त्यों मनुष्यका स्थान यन्त्र लेते गये। १९३२ में अमरीकामें १ करोड़ ४० लाख आदमी बेकार होगए। जो लोग किसीके सामने सिर नहीं झुकाते थे, वे दर-दर भीख मांगने लगे। इसकालको 'महा-मंदी' (The Great Depression)

का नाम दिया जाता है। असलमें, पूंजीवादका स्वाभाविक परिणाम वेकारी है। यन्त्रका काम थोड़े-से-थोड़े मनुष्यों द्वारा ज्यादा-से-ज्यादा पैदा करना है। आवश्यकतासे अधिक उत्पादन होजानेपर वह खपे कहां ? अगर देशके अन्दर नहीं खप सकता, तो देशके वाहर माल भेजना पड़ता है। परन्तु वाहर भेजनेवाले भी तो एक नहीं, अनेक देश हैं। समय आता है, मुकाविलेमें मालका भाव गिराना पड़ता है। भाव इतना गिर जाता है कि अन्दर तथा वाहर लागतके भाव भी नहीं विकता। कारखाने वन्द कर देने पड़ते हैं, जो थोड़े-वहुत लोग काममें लगे थे, वे भी वेकार होजाते हैं। जो देश जवर्दस्ती दूसरे देशोंको अपने आधीन रखसकते हैं, वे जवर्दस्ती दूसरोंके गले माल उतारते हैं, परन्तु अव तो सभी देश जागने लगे हैं, कोई देश दूसरेके आधीन रहनेको तैयार नहीं है, भारत स्वतन्त्र होगया है, अन्य एशियाई देश भी करवट वदल रहे हैं। वढ़तेहुए मालकी खपत न हो, तो कारखानोंका वन्द होना स्वाभाविक है, कारखानोंके वन्द होनेसे वेकारीका और अधिक वढ़ जाना स्वाभाविक है। परन्तु अन्य देशों तथा भारतमें एक भेद है। योरुपके देशोंकी जन-संख्या अधिक नहीं है, भारतकी जन-संख्याका कोई अन्त नहीं। अन्य देशोंमें जन-संख्याकी कमीके कारण यन्त्रोंकी वृद्धि की जासकती है, भारतमें जन-संख्या इतनी अधिक है कि यहां जितना 'यन्त्रीकरण' होगा, उतनी वेकारी वढ़ेगी।

भारतमें यन्त्रीकरणके सम्वन्धमें दो पक्ष हैं। एक पक्षका कथन तो यह है कि 'यन्त्रीकरण' को और अधिक वढ़ानेकी आवश्यकता है। जितने कल-कारखाने खुलेंगे, उतनी ही उत्पत्ति वढ़ेगी, जितनी उत्पत्ति वढ़ेगी, उतना दाम कम होगा। वस्तुओंके दाम कम होनेसे हरेक व्यक्ति सव-तरहकी वस्तुओंको खरीद सकेगा। दूसरे पक्षके लोगोंका कहना है कि 'यन्त्रीकरण' तो मजदूर कम करनेका तरीका है। जव मजदूर कम होजायेंगे, तो जो लोग मजदूरी तक नहीं कर सकते, वे सस्ती वस्तुओंको भी कैसे खरीद सकेंगे ? खरीदनेकेलिये क्रय-शक्तिका स्तर ऊंचा होना चाहिए, परन्तु वेकारीमें तो क्रय-शक्ति ही नहीं रहती। इस सारी स्थितिको सोच-समझकर महात्मा गांधीने वड़ी दूर-दर्शितासे स्वदेशी-आन्दोलन खड़ा किया था। स्वदेशी-आंदोलन केवल अंग्रेजोंकेसाथ ही लड़ाईका साधन नहीं था, यह वेकारी दूर करनेका भी सवसे उत्तम उपाय था। यह ठीक है कि जो वड़े-वड़े कल-कारखाने हैं, वे हटाये नहीं जासकते, परन्तु इतना तो किया जासकता है कि जो काम छोटे कारखानोंसे नहीं चलसकता वही वड़ोंसे लिया जाय, जो काम छोटे कारखानोंसे चल सकता है, वह वड़ोंसे न लिया जाय। दस्तकारीमें मशीनके वजाय मनुष्य काम करता है, इसलिये जिस देशके पास जनसंख्या कम हो, उसे

मशीन, तथा जिसके पास जन-संख्या अधिक हो, उसे मनुष्यद्वारा काम लेना होगा। मशीनकी आवश्यकता तो तब होनी चाहिए जब मनुष्य काम न करसके, अगर मनुष्यके रहते मशीन काम करेगी, तो मनुष्य स्वयं वेकार होजायगा।

उद्योगोंको तीन हिस्सोंमें वांटा जासकता है—'बड़े पैमानेके उद्योग' (Large scale Industries), 'छोटे पैमानेके उद्योग' (Small scale Industries) तथा 'गृहोद्योग' (Cottage industries)। 'गृहोद्योगों' के स्थानमें जितने 'छोटे पैमानेके उद्योग' बढ़ेंगे, उतना ही कम आदमियोंसे काम चलेगा, और 'छोटे पैमानेके उद्योगों' के स्थानमें जितने 'बड़े पैमानेके उद्योग' बढ़ेंगे, उतनी ही वेकारी बढ़ेगी। इसके-साथ ही जितने आविष्कार बढ़ते जायेंगे, उतनी ही ऐसी मशीनें निकलती आयेंगी जिनकेद्वारा विना कारीगरके भी काम चलने लगेगा। ये स्वयं चलनेवाले यन्त्र मनुष्यको विल्कुल वेकार करके छोड़ेंगे। ऐसी अवस्थाको देखकर भारतको अपनी आर्थिक-नीतिमें परिवर्तन करना होगा, और बड़े-बड़े कारखाने खोलनेके वजाय गृहोद्योग जारी करने होंगे। गृहोद्योगों में सारा काम मनुष्य करता है, इसलिए जितने ये उद्योग बढ़ेंगे, उतनी वेकारी घटेगी।

इसमें सन्देह नहीं कि शुरू-शुरूमें गृहोद्योगोंके पनपनेकेलिये सरकारको उनकी मदद करनी पड़ेगी। इन उद्योगोंद्वारा जो माल बनेगा, वह मशीनोंके मालके मुकाबिलेमें कुछ घटिया दर्जेका होगा, उसपर व्यय भी अधिक पड़ेगा, परन्तु जनतामें स्वदेशीकी भावनाको जागृत करना होगा। हमारे सामने दो विकल्प हैं—या तो गृहोद्योगोंद्वारा बनीहुई सादी चीजोंका इस्तेमाल करके वेकारीको कम करें, या मशीनोंद्वारा बनीहुई फ़ैशनकी चीजोंको बढ़ाकर वेकारीको बढ़ायें। देश-भक्ति इसी बातमें है कि हम गृहोद्योगोंको बढ़ाकर अधिक-से-अधिक व्यक्तियोंको काममें लगायें। जबतक एक-एक व्यक्ति काममें नहीं लग जाता, तबतक बड़े कल-कारखाने खोलना वेकारीको बढ़ाना है। राज्यको इन गृहोद्योगोंको बढ़ानेकेलिये इन्हें सहायता देनी होगी। इसी दृष्टिको सामने रखकर जहां पंच-वर्षीय योजनामें पहले २०६९ करोड़ रुपयेका खर्च रखा गया था, वहां १७५ करोड़ रुपया और बढ़ा दिया गया है, और अब खर्च २०६९ के स्थान में २२४४ करोड़ कर दिया गया है। खादीके विस्तारकेलिये २ करोड़ रुपया स्वीकृत किया गया है। खादी एक गृहोद्योग है। इस २ करोड़की स्वीकृतिका यह परिणाम है कि खादीके दाममें रुपये पीछे ३ आना कम होगया है। मिलके कपड़ेकी जगह खादीका जितना प्रचार बढ़ेगा उतनी वेकारी कम होगी क्योंकि खादीको पैदा करनेकेलिये मिलोंमें काम करनेवालोंकी अपेक्षा अधिक व्यक्ति काम करेंगे। आवश्यकता आविष्कारकी जननी है। जैसे बड़े-बड़े कारखानोंकेलिये

आविष्कार होते हैं, वैसे गृहोद्योगोंमें उत्तम माल पैदा करनेकेलिये, कारखानोंमें बने मालका मुकाबिला करनेकेलिये नवीन-आविष्कार भी होने लगेंगे, और ऐसी अवस्था स्वयं आजायेगी जब गृहोद्योगोंका माल मिलोंके मालसे किसी कदर कम नहीं होगा। खादीकी तरह घानीका तेल, हाथसे कुटा चावल, गांवमें बनी शक्कर और खांड, हाथसे बने जूते, घरमें बना साबुन, रेशमी कीड़े पालना, उनका सूत, करघेपर बुना सूती-ऊनी तथा रेशमी कपड़ा आदि अनेक ऐसे गृहोद्योग हैं जिनके विकाससे लाखों-करोड़ों व्यक्ति जीविका उपार्जन करनेमें लग जायेंगे, और इन सब उद्योगोंद्वारा बनाहुआ माल नये-नये आविष्कारोंसे, ऐसे आविष्कारोंसे जो छोटे पैमानेपर बने मालको मिल जैसा बना सकेंगे, उत्कृष्ट कोटिका बन सकेगा। मशीनका काम मालको सस्ता तथा अच्छा बनाना है। मशीन मालको सस्ता इसलिये बनाती है क्योंकि कई आदमियोंको बेकार कर देती है। नये आविष्कार गृहोद्योगोंमें बने मालको सस्ता तथा उत्तम बनानेमें सहायता दे सकेंगे, और साथ ही गृहोद्योगोंद्वारा बेकारीकी समस्या भी दूर होगी। आख़िर, आविष्कार तो आविष्कार है। जैसे बड़ी मशीनोंकेलिये आविष्कार हुए हैं, वैसे ऐसे आविष्कार भी होसकते हैं जो गृहोद्योगोंका माल सस्ता भी बनासकें, और उत्तम भी बनासकें ताकि बेकारी हटसके।

गृहोद्योगोंसे यह भी फ़ायदा होगा कि जो किसान सालमें कई महीने बेकार बैठे रहते हैं उन्हें ख़ाली समयमें अपनी आमदनी बढ़ानेका अवसर मिलेगा, और करोड़ों किसान जो खेतीको घाटेका धंधा समझकर शहरोंमें चल देते हैं, वे फिरसे गांवोंको लौटने लगेंगे, और भारतकी बेकारीकी समस्या हल होजायगी।

हमारे कहनेका यह मतलब नहीं है कि हमें बड़े-बड़े कल-कारख़ाने बन्द कर देने होंगे। कई वस्तुएं तो बड़े कारख़ानोंद्वारा हीं बन सकती हैं। लोहेके कारख़ाने इसी श्रेणीके हैं। कई प्रकारका ऐसा कच्चा माल है, जो अपने देशमें बहुत ज्यादा होता है, दूसरे देशोंमें होता ही नहीं। ऐसे मालको कच्ची हालतमें भेजनेके बजाय उसको पक्का बनाकर भेजनेसे देशकी आय बढ़ सकती है, और उस मालको तय्यार करनेकेलिये बड़े-बड़े नये कारख़ाने खोलना भी जरूरी है। बाहरसे जिस मालका 'आयात' (Import) होता है, उसे यहां पैदा करनेके-लिये भी कल-कारख़ाने खोलनेकी आवश्यकता है। इस प्रकारके जितने बड़े-बड़े कारख़ाने खुलेंगे, वे भी बेकारीकी समस्याको हल करेंगे। इन कारख़ानोंको खोलनेकेलिये 'निजी-क्षेत्र' (Private sector) की पूंजीको प्रोत्साहन देना होगा, इस प्रकारकी पूंजी लगानेवालोंको 'निर्यात' (Export) की पूरी सुविधा देनी होगी, उनका कर भी कम करना होगा ताकि ऐसी पूंजी व्यापारके क्षेत्रमें

अधिकाधिक आये, परन्तु जो काम गृहोद्योगोंद्वारा होसकते हैं उनकेलिये बड़े-बड़े कारखाने खड़े करनेसे तो देशकी बेकारी बढ़ती ही जायेगी, इसलिये इतने अंश तक ही 'यन्त्रीकरण' करना होगा जितने अंशमें वह गृहोद्योगमें रुकावट न हो।

३. शिक्षितोंकी बेकारी

अपने देशमें शिक्षाका उद्देश्य रोजगार देना था। १८३५ में लार्ड मैकालेने इस शिक्षा-प्रणालीको जन्म ही इसलिये दिया था ताकि पढ़-लिखकर लोग सरकारी नौकरियोंमें भरती होसकें। इससमय पढ़े-लिखे व्यक्तियोंकी संख्या नौकरियोंकी संख्यासे कई गुना अधिक होगई है, परन्तु फिर भी पढ़ाई-लिखाई को आजीविकाका प्रश्न हल करनेका साधन समझा जाता है। इस दिशामें दृष्टि-कोण बदलनेकी आवश्यकता है। माध्यमिक-शिक्षाके बाद हर बालककी मान-सिक-परीक्षा होनी चाहिये। जो आगे चल सकने योग्य हों, वही आगे चलें, बाकीको किसी उद्योग-धंधेकी शिक्षा दीजाय, तो पढ़ाईके बाद बेकार रहनेकी आवश्यकता नहीं होगी। हरेक लड़का बी० ए०, एम०ए० ही हो, इसकी क्या जरूरत है? अगर पढ़ना-लिखना आजीविकाके प्रश्नको हल करनेकेलिये है, तो इतना ही पढ़ना चाहिए जितना अत्यन्त जरूरी है। पिछले दिनों पढ़े-लिखोंकी बेकारीको दूर करनेकेलिये योजना-कमीशनने प्रारम्भिक-शिक्षाकेलिये ८० हजार नये शिक्षकोंको नियुक्त करनेका निश्चय किया है। परन्तु इसप्रकार कहांतक भर्ती की जासकती है! असली हल शिक्षाकी दिशाको बदलना है। राधाकृष्णन कमीशनने यह देखकर कि देशकी अधिक संख्या खेतीके क्षेत्रसे आती है यह सिफ़ा-रिशकी थी कि सारी शिक्षाको, अन्य विषयोंकेसाथ-साथ, कृषिके विचारसे ओत-प्रोत कर दिया जाय। प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च-शिक्षामें कृषिको सर्वोत्तम स्थान मिलना चाहिये। कृषिकेसाथ दस्तकारीको भी ऊंचा स्थान देना होगा। विद्यार्थियों तथा माता-पिताका यह विचार कि पढ़-लिखकर लड़का नौकरी करेगा —यह दृष्टिकोण सर्वथा बदल देना होगा, तभी शिक्षितोंकी बेकारीकी समस्याका हल होसकेगा, अन्यथा नहीं। इस दिशामें हालमें उत्तर-प्रदेश की सरकारने यह घोषणा की है कि वह गांवोंके सभी प्राथमिक-शिक्षणालयोंको कृषि-विद्यालयोंका रूप दे देगी। इससे गांवोंकी ८० प्रतिशत आबादी जो प्राथमिक-स्कूलोंमें शिक्षा ग्रहण कर रही है, आत्म-निर्भर होना सीखेगी क्योंकि इस प्रकारकी शिक्षासे कमाई का एक साधन उनके हाथमें आजायगा। प्रत्येक शिक्षणालयके साथ एक १० एकड़का फ़ार्म होगा जिसमें विद्यार्थी तथा शिक्षक प्रतिदिन दो घंटे कृषि करेंगे। कृषिके साथ उन्हें पशु-पालन, ग्रामीण अर्थ-शास्त्र आदि विषयोंकी शिक्षा भी

दीजायगी। इसी उद्देश्यसे उत्तर-प्रदेश सरकार तीन हज़ार दो-सौ कृषि-पंडितोंकी भर्ती करनेका कार्यक्रम बना रही है जो विद्यार्थियोंको कृषिकी शिक्षा देंगे। उच्चतर-माध्यमिक-विद्यालयोंको उत्तर-प्रदेशकी सरकार पोलीटेक्नीक संस्थाओंका रूप दे देगी जिससे प्राथमिक-शिक्षणालयोंसे आनेवाले विद्यार्थी किसी हुनरकी विशेष योग्यता प्राप्त कर सकें। आशा की जानी चाहिये कि इस प्रयत्नसे शिक्षितों की बेकारीकी समस्याका कुछ हल होगा क्योंकि कृषिकी ही विशेषतौरपर तथा अन्य उद्योगोंकी शिक्षा ग्रहण करनेके अनन्तर विद्यार्थी इधर-उधर दूसरे धंधोंमें भागनेके स्थानपर कृषि तथा गृहोद्योगों में ही अपने ध्यानको केन्द्रित करेंगे।

४. बेकारीके विषयमें कुछ अन्य बातें

विस्थापितोंकी बेकारी—

१५ अगस्त १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ, और उसीदिनसे भारत तथा पाकिस्तानको एक अभूतपूर्व समस्याका सामना करना पड़ा। ५० लाख व्यक्ति पश्चिमी पाकिस्तानसे और ३२ लाख पूर्वीय पाकिस्तानसे भारतमें आये। यह संख्या १९५० तककी है, उसके बाद भी अनेक व्यक्तियोंको इस देशमें आना पड़ा। इनके बने-बनाये घर-बार मिनटोंमें उजड़गये, और भारतको एक अत्यन्त संकटका सामना करना पड़ा। भारतका करोड़ों रुपया इन विस्थापितोंको रोज़गार देनेमें लग गया, परन्तु इनके ठीक-ठीक पुनर्वासकेलिये 'कृषि' (Agriculture) तथा 'उद्योग' (Industry) के सम्बन्धमें जो विचार हम ऊपर प्रकट कर आये हैं उनका क्रियारूपमें परिणत होना आवश्यक है। जितना हम कृषि तथा गृहोद्योगोंमें उन्नति करेंगे उतना ही विस्थापितोंका पुनर्वास होगा, और उनकी बेकारी भी दूर होगी।

जन-संख्याकी बढ़तीके कारण बेकारी—

भारतकी जन-संख्या बड़ी तेजीसे बढ़ रही है। स्वास्थ्य आदि कारणोंके कारण मृत्यु-संख्यामें तो कमी होती जारही है, परन्तु उत्पत्तिमें कोई कमी नहीं है। १९४१ से १९५१ तक इस देशकी जन-संख्यामें १३.४ प्रतिशत वृद्धि हुई है। १९५१ में हमारे देशकी जन-संख्या ३६,१८,५१,६०४ थी। इसप्रकार जन-संख्याकी वृद्धिकेसाथ आर्थिक-स्थितिमें कोई सुधार नहीं हुआ। इस अवस्थाको नियंत्रित करनेकेलिये आवश्यक है कि सन्तति-निरोध पर बल दिया जाय। देशकी जनतामें यह विचार उत्पन्न हो जाना आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्तिको उतनी ही सन्तान उत्पन्न करनेका अधिकार है जिनको वह खिला-पिला सकता है, जिसकी देख-रेख करसकता है। यह निरोध ब्रह्मचर्य-पूर्वक हो, अविवाहद्वारा हो, सन्तति-

निरोधके उपायोंसे हो, किसीतरह भी हो, परन्तु जन-संख्याका बेतहाशा बढ़ना बेकारीको बढ़ानेमें ही कारण बनसकता है।

प्रश्न

१. 'कृषि-बेकारी' (Agricultural unemployment) क्या है ? इसे दूर करनेके क्या उपाय हैं ? भारत-सरकार इसे दूर करनेकेलिये क्या उपाय कर रही है ?
२. 'यन्त्रीकरण' (Mechanization) तथा 'गृहोद्योग' (Cottage Industries) में से भारतकी बेकारीकी समस्याको कौन-सी प्रक्रिया हल करसकती है ?
३. शिक्षितोंकी बेकारीको कैसे दूर किया जासकता है ?

[३१]

बालापराध तथा युवापराध

(DELINQUENCY AND CRIME)

१. अपराध पर दार्शनिक विचार

जो अपराध बालक करते हैं, उन्हें 'बालापराध' (Delinquency) तथा जो बड़ी आयुके व्यक्ति करते हैं, उन्हें 'युवापराध' (Crime) कहते हैं। बालकके विषयमें समझा जाता है कि उसका अपना दोष इतना नहीं है, वंशानुगत कारणों या परिस्थितिसे वह बिगड़ रहा है, उसका सुधार होसकता है; बड़े आदमीके विषयमें समझा जाता है कि वंशानुगत या परिस्थिति, जिस भी कारणसे वह बिगड़ा हो, अब अपनी जिम्मेवारीको समझने लगा है, फिर भी बिगड़ा है, इसलिये उसका दोष ज्यादा है। वैसे आधार-भूत दृष्टिसे देखा जाय, तो बालकों तथा युवाओंके अपराधके रूपमें विशेष भेद नहीं है।

अपराधपर दार्शनिक विचार दो दृष्टियोंसे किया जासकता है — (१) अपराध किसे कहते हैं, और (२) आपराधका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है? हम इन दोनों दृष्टियोंके संबंधमें यहां संक्षिप्त विचार करेंगे —

१. अपराध किसे कहते हैं ?—

सबसे पहला प्रश्न यह है कि अपराध कहते किसे हैं? समाजमें व्यक्ति भिन्न-भिन्न परिस्थितिमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रतिक्रिया करता है। भूखा होनेपर एक बालक मांसे रोटी मांगता है, दूसरा बालक जब कोई देख न रहा हो, तो दूसरेके घरसे रोटी उड़ा लाता है। पहले आचारको हम अपराध नहीं कहते, दूसरेको कहते हैं। परन्तु क्यों? इसका विश्लेषण करतेहुए श्री 'लिनटन' (Linton) ने 'आचार' को तीन भागोंमें बांटा है—'सार्वत्रिक' (Universals), 'वैशेषिक' (Specialities) तथा 'वैकल्पिक' (Alternatives)। प्रत्येक संस्कृतिमें कुछ ऐसे आचार, कुछ ऐसे व्यवहार होते हैं, जो समाजमें सर्व-मान्य कहे जाते हैं। उदाहरणार्थ, एक-पत्नी-विवाह, दूसरेकी वस्तुको बिनापूछे न लेना, ईमानदारी आदि सर्व-मान्य आचार हैं। परन्तु संस्कृति इतनेमें ही समाप्त नहीं होजाती। जितनी भी प्रथाएं तथा रूढ़ियां हैं, वे सर्व-मान्य

आचारोंमें आजाती हैं। बैठकर भोजन खाना, आटेकी रोटी बनाना, बड़ोंको नमस्ते करना, तैरना, नौका चलाना आदि भी सर्व-मान्य आचार हैं। इन 'सार्वत्रिक' (Universals) आचारोंमें से हरेक व्यक्तिको हर आचारको व्यवहारमें लानेका मौका नहीं मिलता। किसी भी संस्कृतिमें 'सार्वत्रिक'-आचार इतने अधिक होते हैं कि अगर हरेक आचारको क्रियामें लाने लगें, तो इसी परीक्षणमें आयु समाप्त होजाय। इन 'सार्वत्रिक'-आचारों को हर व्यक्ति जानता तो है, परन्तु व्यवहारमें कुछ इने-गिने आचार ही उसके काममें आते हैं। पढ़ाई एक 'सार्वजनिक' आचार है, सब मानते हैं कि यह ठीक है, पढ़ना चाहिये, परन्तु कई ऐसे भी हैं, जो पढ़ते-लिखते नहीं, पढ़ते हैं, तो थोड़ा पढ़नेके बाद किसी काममें लग जाते हैं। इन 'सार्वत्रिक'-आचारोंमेंसे कुछ आचार व्यक्ति करता है, कुछ नहीं करता। जिन आचारोंको वह करता है, वे 'विशेष-आचार' (Specialities) कहाते हैं। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति है जिसने पढ़ना-लिखना शुरू कर दिया। यह उसका 'सार्वत्रिक'-आचारोंमेंसे चुनाहुआ एक 'विशेष'-आचार है। परन्तु 'विशेष'-आचारको सिद्ध करनेकेलिये अनेक अन्य आचार किये जा सकते हैं। लिखनेकेलिये पेंसिलसे, कलमसे, फ़ौन्टनपेनसे, फ़ौन्टनपेनोंमें भी दर्जनों किस्में हैं उनमें से किसी भी एकसे लिखा जासकता है। इन अनेक आचारोंमेंसे किसी एकको चुनलेना 'वैकल्पिक-आचार' (Alternative) कहाता है। यह 'वैकल्पिक'-आचार दो तरह का होसकता है। एक तो ऐसा, जो 'सार्वत्रिक'-आचारसे मेल खाता हो, उसके विरुद्ध न जाता हो, दूसरा ऐसा जो 'सार्वत्रिक'-आचारसे मेल न खाता हो, उसकी भावनाके विरुद्ध हो। जो 'वैकल्पिक'-आचार 'सार्वत्रिक' से मेल खाते हैं, उसकी भावना के विरुद्ध नहीं है, उन्हें 'वैकल्पिक—सार्वत्रिक' (Alternate universals), तथा जो उससे मेल नहीं खाते, उसकी भावनाके विरुद्ध हैं, उन्हें 'विभेदक-विकल्प' (Variant alternatives) कहते हैं। उदाहरणार्थ, रुपया पैदा करना—यह एक 'सार्वत्रिक' (Universal)-आचार है। रुपया पैदा करनेकेलिये कई विकल्प हैं। मेहनत, मजदूरी करके, व्यापार करके भी रुपया पैदा किया जासकता है, चोरी-डकैतीसे, चोर-बाजारीसे, ठगीसे भी रुपया पैदा किया जासकता है। इनमेंसे व्यापार करके, मेहनत-मजदूरी करके रुपया पैदा करने के 'विकल्प' (Alternatives) हमारी संस्कृति में सर्व-मान्य हैं, इसलिये सर्व-मान्य होने के कारण इन्हें 'सार्वत्रिक' कहा जाता है। इन विकल्पों-द्वारा रुपया पैदा करना 'वैकल्पिक-सार्वत्रिक' (Alternate universal) है, चोरी-डकैतीसे, चोर-बाजारीसे, ठगीसे रुपया पैदा करना, सर्व-मान्य नहीं है। ये आचार सर्व-मान्य नहीं हैं, परन्तु रुपया तो इन तरीकों से भी

पैदा होता है। ये विकल्प 'सार्वत्रिक' से भिन्न हैं, इसलिये इन्हें 'विभेदक-विकल्प' (Variant alternatives) कहा जाता है। हमने अभी कहा कि 'वैकल्पिक-आचार' (Alternatives) कई होते हैं, इन वैकल्पिक-आचारों में संघर्ष होता रहता है, और जो 'विकल्प' (Alternative) हरपहलूसे ठीक जंचने लगता है, वह अन्त में 'सार्वत्रिक' (Universal) बन जाता है, जो 'विकल्प' समाजको ठीक नहीं जंचता, वह समाप्त कर दिया जाता है। रुपया पैदा करनेकेलिये मजदूरी या व्यापार करना हमारी संस्कृतिको ठीक जंचा, इसलिये यह आचार 'सार्वत्रिक' बन गया, रुपया पैदा करनेकेलिये चोरी-डकैती ठीक नहीं जंचा, इसलिये इस 'विकल्प' को समाप्त कर दिया गया। परन्तु कई लोग फिर भी इन 'विभेदक-विकल्पों' (Variant alternatives) को अपनाते हैं, रुपयेकेलिये व्यापार न करके चोरी करते हैं, अपने उद्देश्यकी सिद्धिकेलिये सच न बोलकर झूठ बोलते हैं, यौन-सम्बन्धकेलिये विवाह न करके व्यभिचार करते हैं, शिकायतको दूर करनेकेलिये अदालतमें न जाकर स्वयं लट्ठ चलाते हैं। ये 'विभेदक-विकल्प' (Variant alternatives) ही अगर साधारण हों, तो 'दोष' (Faults), और अगर समाजकी दृष्टिसे असाधारण हों, तो बालकोंके ऐसे आचार 'बालापराध' (Delinquency), और युवाओंके ऐसे आचार 'युवापराध' (Crime) कहाते हैं। जैसे, जब अनेक व्यक्तियोंका प्रश्न हो, तब समाजमें 'सार्वत्रिक'-'वैशेषिक'-'वैकल्पिक-सार्वत्रिक' तथा 'विभेदक-वैकल्पिक' आचार होते हैं, वैसे जब अनेक समाजोंका प्रश्न हो, तब समाजोंके 'सार्वत्रिक'-'वैशेषिक'-'वैकल्पिक-सार्वत्रिक' तथा 'विभेदक-वैकल्पिक' आचार हो सकते हैं। इन 'विभेदक-वैकल्पिक' (Variant alternatives)-आचारोंको ही जातियोंका, देशोंका, समाजों का अपराध कहा जासकता है।

अपराधका मनोवैज्ञानिक-आधार क्या है ?—

हमने देखा कि 'अपराध' क्या है। परन्तु 'अपराध' का मनोवैज्ञानिक-आधार क्या है ? प्रत्येक व्यक्तिकी आधार-भूत कुछ मानसिक-रचना होती है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरोंकी आंखों में उठना चाहता है, धनी होना चाहता है, स्त्री-पुत्र-कलत्र चाहता है। इन्हें भारतीय-शास्त्रोंमें 'एषणाएँ' (Urges) कहा गया है। लोकैषणा (Power urge), वित्तैषणा (Money urge) तथा पुत्रैषणा (Sex urge) सबमें भिन्न-भिन्न दर्जेकी पायी जाती है। इन एषणाओंको पूरा करनेकेलिये हरेक व्यक्ति समाजमें अपना स्थान चाहता है। सबके सामने एक ही प्रश्न है कि किस 'स्थिति' (Status) पर रहकर वह इन एषणाओंकी तृप्ति का 'कार्य' (Role)

पूरा कर सकता है ? समाजकी रचना ऐसी होसकती है कि हर व्यक्ति जिस 'स्थिति' (Status) में है, उसमें अपनी एषणाओंको तृप्तिके 'कार्य' (Role) को पूरा कर सके । अगर समाजका संगठन इसप्रकारका है, अगर उसीकी रूढ़ियां, प्रथाएं, नियम, कायदे-कानून इसप्रकारके हैं कि सबकी एषणाएं पूरी हो सकें, तब तो कोई इन नियमोंको नहीं तोड़ता, अगर ऐसा नहीं है, तब रूढ़ियां, प्रथाएं, नियम, कायदे-कानून टूटने लगते हैं, और समाजमें अपराध शुरू होजाते हैं। लोग अपराध क्यों करते हैं ? इसलिये, क्योंकि समाजकी रचना ऐसी नहीं है कि जिस 'स्थिति' (Status) पर वे हैं, उस स्थितिसे वे अपनी 'एषणाओं' (Urges) को पूरा कर सकें । एक आदमी निर्धन है, धनी होना चाहता है । समाजकी रचना ऐसी है कि विना मजदूरी किये, या विना व्यापार किये कोई धनी नहीं होसकता । उसकी 'स्थिति' (Status) ऐसी है कि आलसी होनेके कारण न वह मजदूरी करना चाहता है, और पूंजी न होनेके कारण न वह व्यापार कर सकता है । वह रूढ़ि, प्रथा, कायदे-कानूनको तोड़कर चोरी करने लगता है । एक लड़के-लड़की का प्रेम होगया । लड़का ऊंचे खानदान का है, लड़की नीचे खानदान की है । माता-पिता विवाहकी स्वीकृति नहीं देते । लड़के-लड़कीकी 'स्थिति' (Status) ऐसी है कि वर्तमान सामाजिक-रचनामें उनका विवाह नहीं होसकता । लड़का-लड़कीको भगा लेजाता है । कहनेका मतलब यह है कि अपराध तब होता है जब समाजकी रचना इसप्रकारकी हो कि व्यक्ति जिस 'स्थिति' (Status) में है, उसमें रहता हुआ, वह अपनी 'एषणाओं' (Urges) की पूर्ति न कर सके । ऐसी अवस्थामें अपराधसे बचनेके दो ही तरीके होसकते हैं । या तो व्यक्ति समाजको बदल दे, इसप्रकार बदल दे कि जो-कुछ वह चाहता है उसे समाज ठीक कहने लगे, समाज अपने 'सामाजिक-मूल्यों' (Social values) की जगह नये 'सामाजिक-मूल्य' बना ले, या व्यक्ति अपने को बदल दे, समाज जो-कुछ चाहता है उसके अनुसार अपने को बना ले, उन 'सामाजिक-मूल्यों' के अनुसार अपनी 'स्थिति' (Status) से संतोष कर ले । समाज-सुधारक तथा राजनैतिक-दल समाजको बदलनेमें प्रयत्न हैं, ये समाजके पुराने 'सामाजिक-मूल्यों' को छिन्न-भिन्नकर, उनके स्थानमें नये 'सामाजिक-मूल्य' खड़े कर देते हैं । ये प्रयत्न इस बातको अनुभव करनेके परिणाम हैं कि व्यक्ति अपनी 'एषणाओं' (Urges) को पूरा करनेकेलिये समाजमें जो 'स्थिति' (Status) चाहता है वह उसे वर्तमान संगठन में नहीं मिल रही । जबतक ये लोग 'सामाजिक-मूल्यों' (Social values), 'सांस्कृतिक-प्रतिमानों' (Cultural patterns) को अपने विचारोंके अनुसार नहीं बदल देते तबतक इन्हें अपराधी माना जाता है, इन्हें जेलमें डाला जाता, फांसियों पर लटकाया जाता, देश-निर्वासन

दिया जाता है, जब ये समाजकी धारणाओंको, उसके माप-दंडों तथा 'प्रतिमानों' को बदल देते हैं, तब ये समाजकी नये सिरेसे आर्थिक, सामाजिक या राजनैतिक रचना कर देते हैं, ऐसी रचना जिसमें इन्हें अपनी एषणाओं को अपनी इच्छानुसार पूरा करने का अवसर मिलता है । अनेक व्यक्ति समाजको बदलने के स्थानमें अपनी एषणाओंको बदल देते हैं, और चुप करके समाजकी रचनाके अनुसार अपने को ढाल लेते हैं। अधिकांश व्यक्ति इसी कोटिके होते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो किसी आदर्शको लेकर नहीं चलते, सामाजिक या राजनैतिक सुधारकोंकीतरह समाजको आमूल-चूल बदल देना उनका लक्ष्य नहीं होता, वे तो सिर्फ़ जिस 'स्थिति' (Status) में हैं उसमें, समाजके नियमोंके कारण, अपनी 'एषणाओं' (Fundamental wishes or urges) को पूरा नहीं करसकते, इसलिये उन नियमोंको तोड़ डालते हैं, और तोड़कर अपनी जो 'स्थिति' (Status) बनाना चाहते हैं उसे बनानेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु समाज इसप्रकार उन्हें अपनी 'स्थिति' (Status) नहीं बनाने देता, और उनके इस तरीकेको 'अपराध' कहता है । यह 'अपराध' का मनोवैज्ञानिक आधार है ।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्यों कुछ व्यक्तियोंकी ऐसी मानसिक-रचना होजाती है कि जहां दूसरे लोग अपनी एषणाओंको अपराव किये बग़ैर या तो पूरा कर लेते हैं, या उन्हें समाजके आदर्शोंके अनुकूल बना लेते हैं, या समाजको अपने आदर्श के अनुकूल बनानेका प्रयत्न करते हैं, वहां ये, समाजकी रचनाको ऐसा पाते हैं कि अपराध किये बग़ैर इनकी एषणाओंकी पूर्ति नहीं होपाती ? दूसरे शब्दों में, किन कारणोंसे मनुष्यकी मानसिक-रचना ऐसी होजाती है कि वह अपराध करने लगता है ?

२. अपराधके कारण

अपराध के कारणोंको छः भागोंमें बांटा जा सकता है :—

(१) परिस्थिति-संबंधी कारण (Physical environment),
(२) व्यक्तिके शारीरिक दोष (Physical characteristics),
(३) व्यक्ति के मानसिक दोष (Mental characteristics),
(४) आनुवंशिक कारण (Hereditary characteristics),
(५) आर्थिक कारण (Economic factors),
(६) सामाजिक कारण (Social factors)

१. परिस्थिति-संबंधी कारण—

अनुसंधान से मालूम हुआ है कि अपराध पर भौगोलिक अवस्थाओं, सर्दी-गर्मी, ऋतु तथा मौसमका बड़ा प्रभाव पड़ता है । लोम्ब्रोसो (Lombroso)

का कथन था कि मार-पीटके अपराध पहाड़ी इलाकोंमें सबसे ज्यादा, ऊबड़-खाबड़ इलाकोंमें उससे कम, और सम-स्थलोंमें सबसे कम होते हैं। बलात्कार पहाड़ी इलाकोंमें और सम-स्थलोंमें ज्यादा होता है । गर्म मुल्कोंमें मार-पीट, और सर्द मुल्कोंमें चोरी-डकैती की ज्यादा घटनाएँ होती हैं। शीत ऋतुमें सम्पत्ति तथा ग्रीष्म ऋतुमें व्यक्ति-संबंधी अपराध ज्यादा देखे गये हैं। जनवरी, फरवरी, मार्च, अप्रेलमें बच्चोंकी हत्या, जुलाईमें आक्रमण तथा मनुष्य-हत्या, जनवरी तथा अक्तूबरमें माता-पिताकी हत्या, मई, जुलाई तथा अगस्तमें बलात्कार, दिसम्बरमें बलात्कारों का अत्यन्त कम होजाना आदि पाया जाता है। सर्द देशों तथा सर्दीके मौसममें मार-पीट इसलिये कम होजाती है, क्योंकि लोग ज्यादातर घरोंमें बन्द रहते हैं, गर्म मुल्कों तथा गर्मीके मौसममें मार-पीट इसलिये बढ़ जाती है, क्योंकि उन्हें एक-दूसरेके सम्पर्कमें आनेका अधिक अवसर मिलता है। सर्दीमें चोरी आदि इसलिये बढ़ जाती है, क्योंकि सर्दीके कारण अर्थोपार्जनके साधन कम होजाते हैं। डैक्सटर (Dexter) ने देखा कि सर्दीके बढ़नेके साथ-साथ अपराध बढ़ जाते हैं, ऋतु मध्यम होनेके साथ-साथ लड़ाई-झगड़े बढ़ जाते हैं, ऋतुकी भयानकताके साथ-साथ अपराध घट जाते हैं। ये सब परिणाम अभी और देखने होंगे, परन्तु इन सबका कारण यही प्रतीत होता है कि ऋतुका सीधा अपराध करनेपर तो प्रभाव नहीं, परन्तु मनुष्यकी मनोवृत्तिपर अवश्य प्रभाव पड़ता है, और उस प्रभावके कारण मनुष्य अपराध करता है ।

२. व्यक्तिके शारीरिक दोष—

समाज की रचना इस बातको आधार मानकर हुई है कि व्यक्तिकी शारीरिक-शक्ति स्वाभाविक होनी चाहिये, देखनेमें वह बहुत बदसूरत या बेढंगा नहीं होना चाहिये । अगर किसीका शारीरिक-गठन अस्वाभाविक होगा, देखनेमें वह बहुत अजीब-सा होगा, तो उसे जीवनमें कई प्रकारकी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा। अगर कोई बीमार रहेगा, किसीका अंग-भंग होजायगा, तो वह आर्थिक-क्षेत्र में पछड़ जायगा। ऐसी अवस्थामें मनुष्य क्या करेगा ? होसकता है, शारीरिक असमर्थताके परिणाम-स्वरूप वह चोरी कर बैठे, ऐसा व्यक्ति अपराधी मनोवृत्तिके कारण नहीं, अपितु शारीरिक कारणोंसे चोर बन जायगा। कई जेलखानोंके कैदियों की शारीरिक परीक्षासे यह ज्ञात हुआ है कि अपनी आयुके अन्य व्यक्तियोंकी अपेक्षा अपराधियोंके शारीरिक-गठनमें कुछ कमी होती है । यौन-अपराधोंके बालक-बालिकाओं तथा पुरुष-स्त्रियोंकी परीक्षासे ज्ञात हुआ है कि उनकी शारीरिक-वृद्धि असाधारणतौरसे बढ़ीहुई होती है, इसलिये वे दुराचार-बलात्कार आदि कर बैठते हैं। पिछले दिनों शरीरकी ग्रन्थियोंके सम्बन्धमें जो-कुछ ज्ञात हुआ है उसके आधार-पर कहा जा सकता है कि अनेक अपराध 'ग्रन्थि-रस' (Glandular secretion)

के कम-अधिक होनेके कारण होते हैं। थॉयरायड-ग्रन्थिके घट जानेसे व्यक्ति मोटा, सुस्त होजाता है, काम नहीं करता, एड्रिनल-ग्रन्थिके बढ़ जानेसे मनुष्य लड़ाकू होजाता है, स्त्री पुरुष-जैसी होजाती है, जनन-ग्रन्थियोंके बढ़नेसे व्यक्ति विषयी होजाता है। सुस्त आदमी चोरी कर सकता है, लड़ाकू आदमी कत्ल कर सकता है, विषयी व्यक्ति बलात्कार कर सकता है—ये शारीरिक दोष व्यक्तिके अपराध का कारण होसकते हैं।

३. व्यक्तिके मानसिक दोष

(१) 'बालापराध' (Delinquency) तथा 'युवापराध' (Crime) में 'हीन-बुद्धिता' (Feeble-mindedness) का बड़ा हाथ है। गोरिंग (Goring) ने ९४८ अपराधियोंकी परीक्षा की, और यह परिणाम निकला कि झोंपड़ियोंमें आग लगा देनेवाले बालकों तथा युवा अपराधियोंमें ५२.९ प्रतिशत हीन-बुद्धिके थे। इसीप्रकार अन्य अपराधियोंकी परीक्षासे पता चला कि बच्चों पर बलात्कार करनेवालोंमें १५.८ प्रतिशत, डकैती डालने तथा हिंसाका प्रयोग करने वालोंमें १५.६ प्रतिशत, अप्राकृतिक व्यभिचार करनेवालोंमें १४.३ प्रतिशत हीन-बुद्धि थे। हीन-बुद्धि व्यक्ति सामाजिक-रचनाके अनुसार अपने व्यवहारको नहीं बना सकता। इसके साथ ही बुद्धिकी कमीके कारण वह समाज-विरोधी तत्वोंके प्रभावमें जल्दी आजाता है। बुद्धि-हीनताके कारण जो बालक अपराधी होते हैं, वे युवा होकर भी अपराध करते हैं, इसलिये 'बालापराध' (Delinquency) 'युवा-पराध' (Crime) का कारण बन जाता है।

(२) अनेक अपराधोंका कारण सीधे रास्तेसे इच्छाका पूर्ण न करसकना है। बालक या युवा के हृदयमें कोई इच्छा उत्पन्न हुई। समाजकी रचना ऐसी है कि जिस 'स्थिति' (Status) में वह व्यक्ति है, उसमें वह इच्छा पूर्ण नहीं होसकती। वह इच्छा सीधे रास्तेसे पूर्ण हो नहीं सकती, तो किसी दूसरे रूपमें पूर्ण होती है। यह दूसरा रूप ही अपराध है। किसी बहुमूल्य वस्तुको पानेकी हमारी इच्छा हुई। हमारे पास उसे प्राप्त करनेकेलिये पैसा नहीं है। ऐसी हालतमें, या तो व्यक्ति चुप करके बैठ जाता है, या अगर इच्छा अत्यन्त प्रबल है, तो वह चोरी करता, या डाका डालता है। यह तो युवा व्यक्ति की बात हुई।

बचपन में कई अवस्थाएं ऐसी आती हैं, जिनमें 'अवरुद्ध-इच्छा' (Repressed desire) के कारण व्यक्तिका सम्पूर्ण जीवनका व्यवहार बदल जाता है। 'अवरुद्ध-इच्छा' किस प्रकार बालकके व्यवहार को बदल देती है, इस विषयमें श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिक्षा-मनोविज्ञान' में निम्न चार बातों की तरफ़ ध्यान आकर्षित किया है :—

(क) दबीहुई इच्छाओंके विषयमें जाननेकी पहली बात यह है कि प्रत्येक 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) के साथ एक 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है। उदाहरणार्थ, 'पलायन' एक 'सहज-प्रवृत्ति' है, इसकेसाथ 'भय' का उद्वेग जुड़ा हुआ है। जब आदमी शेरको देखकर भागेगा, तो उसके हृदयमें डर अवश्य होगा। यह 'उद्वेग' एक प्रकारका 'क्षोभ' है, 'बेचैनी' है, इसका काम 'सहज-प्रवृत्ति' को वेग देना है। पशु इस 'उद्वेग' को रोकनेका प्रयत्न नहीं करता, मनुष्य प्रायः इसे रोकता है, इसलिये रोकता है क्योंकि 'उद्वेग' का इसप्रकारका नग्न-प्रदर्शन समाजमें उचित नहीं समझा जाता। एक लड़का एक लड़कीको चाहता है। लड़के-लड़कीका एक-दूसरे को चाहना एक 'सहज-प्रवृत्ति' है। इसमें प्रेम एक 'उद्वेग' है। परन्तु विवाहसे पहले इसप्रकार का प्रेम प्रदर्शित करना समाज ठीक नहीं समझता, इसलिये वे इसे दबा देते हैं। 'उद्वेग' का नियम यह है कि यह क्रियामें आकर ही निवृत्त होता है, अन्यथा यह वैसा ही बना रहता है, या दूसरा रूप धारण कर लेता है। जिस 'उद्वेग' को हमने दबा दिया, वह चेतनाके भीतरी तहमें जाकर भावनाकी एक गांठ बना देता है। यह गांठ वहां पड़ी-पड़ी रड़क पैदा किया करती है। इसीको 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) कहते हैं। ये 'कम्प्लेक्स'—अतृप्त-इच्छा—उद्वेगकी गांठ होती हैं, और हमारे व्यवहारको भीतरसे ही प्रभावित करती रहती हैं।

(ख) दबीहुई इच्छाओंके विषयमें जाननेकी दूसरी बात यह है कि जब कोई 'सहज-प्रवृत्ति' अवरुद्ध होकर 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) उत्पन्न करती है, तो भीतर जाकर इसकी बेचैनी इसीतक सीमित नहीं रहती। यह अपनी बेचैनी दूसरी इच्छाओंको भी दे देती है, और इसलिये धमकाये जाने पर बच्चा झूठ भी बोल सकता है, चोरी भी कर सकता है, घर से भाग भी सकता है। यही कारण है कि जो बच्चे या युवा अपराध करते हैं वे एक ही नहीं,सभी प्रकारके अपराध करने लगते हैं।

(ग) दबीहुई इच्छाओंके विषयमें जाननेकी तीसरी बात यह है कि दबाये जानेपर यह रूपान्तरित होकर प्रकट होती है। हमने किसी लड़केको किसी लड़कीके साथ मिलने-जुलने से मना किया। अब वह उस लड़कीकी फ़ोटोको उसकी जगह रखने लगा। फ़ोटो भी छीन लिया, तो अनजाने ही वह उसी लड़कीसे मिलती-जुलती किसी दूसरी लड़कीकेसाथ मिलने लगा। जिस अध्यापकने मना किया था उसके किसी प्रिय शिष्य पर उसने हमला कर दिया। दबी हुई इच्छा रूपान्तरित हुई, परन्तु फिर भी वह एक खास दिशा में चली। जिस लड़की से मिलने से उसे मना किया गया था उसके कोटमें एक फूल लगा हुआ था। वह लड़का बगीचे में जहां फूल देखता तोड़ लेता। लड़के में फूलोंको तोड़नेकी एक बुरी लत पड़ गई। 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) बालकके व्यवहारमें परिवर्तन ही नहीं करती,

एक खास दिशामें परिवर्तन करती है। जो 'सहज-प्रवृत्ति' दवाई गई है, उसके साथ मिलते-जुलते किसी 'स्थानापन्न'—'उपलक्षक'—(Substitute) को लेकर वालकके व्यवहारमें परिवर्तन होजाता है। परिणाम यह होता है कि वालक डरके कारण लड़कीका पीछा करना तो छोड़ देता है, परन्तु लड़कीके साथ जिस फूल का सम्बन्ध था उसे तोड़ने लगता है, लड़की की जो मित्र थी उसे मार वैठता है, जो-कुछ करता है, उसका उस लड़कीके साथ दूरका या निकटका कोई सम्बन्ध होता है।

(घ) 'अवरुद्ध-इच्छाओं' के विषयमें जाननेकी चौथी वात यह है कि ये 'अन्तर्द्वन्द्व' (Mental conflict) उत्पन्न कर देती हैं। वच्चा घरमें मिठाई देखता है। उसमें इसे लेनेकी इच्छा भी होती है—उठा लूंगा तो पिटूंगा, यह डर भी पैदा होता है। वालक में जो भावना प्रवल होगी उसीके अनुसार वह कर गुज़रेगा, और प्रायः मिठाईको उठाकर वह 'अन्तर्द्वन्द्व' को शीघ्र ही समाप्त कर देगा। अगर माता-पिताकेलिये सन्मानकी भावना उसमें प्रवल है, तो वह विना पूछे मिठाई को हाथ नहीं लगायेगा। परन्तु अगर उसे वार-वार वह मिठाई दीखे, और वार-वार ही माता-पिताके डर या सन्मानके कारण उसे अपनी इच्छा दवानी पड़े, तो दोनों भावनाओंके प्रवल होजानेके कारण 'अन्तर्द्वन्द्व' लम्वा होजायगा। साधारणतः अच्छे वातावरणमें पलाहुआ वालक दिलमें कहेगा—'मैं विना पूछे तो लूंगा नहीं, परन्तु मिठाईको छोड़ूंगा भी नहीं, मां से जाकर पूछ आता हूं, मिठाई ले लूं'? ऐसे वालक का 'अन्तर्द्वन्द्व' शीघ्र समाप्त होजायगा। परन्तु प्रायः या तो वालक ही इस इच्छाको दवा लेता है, या माता-पिता वच्चे की इच्छा पूरी न करके उसे दवा देते हैं। परन्तु यह दवीहुई इच्छा नष्ट होनेके स्थानमें 'अज्ञात-चेतना' में जाकर मानो अन्दरका फोड़ा वन जाती है। मवाद अन्दर रुक नहीं सकता, फोड़ा तो फूटकर रहेगा। कोई क्षण आता है कि माता-पिताके डर या सन्मान की भावनाको वालक परे फेंक देता है, वह मिठाई चुरा लेता है। वह अपने दिलमें कहता है—'मैं पकड़ा नहीं जाऊंगा, फिर मुझे क्या डर है'? परन्तु कुछ देर वाद वह क्या देखता है कि उसके आत्मापर एक वोझ-सा आपड़ा है, उसके अन्तरात्मामें एक गांठ-सी पड़ गई है, वह दुःखी रहने लगा है। कभी-कभी वालक इस प्रलोभनका मुकाविला करता है, वह दिल में कहता है—'मैं चोरी नहीं करूंगा'। कुछ देर वाद ही हम देखते हैं कि वह अनजाने चिड़चिड़ा होगया है, और यों ही किसीसे लड़ने लगा है। कभी-कभी हमारी ज्ञात-चेतनामें 'अन्तर्द्वन्द्व' होता है, हमें इसका पता होता है, प्रायः 'अन्तर्द्वन्द्व' अज्ञात-चेतना में 'भावना-ग्रन्थि' द्वारा चल रहा होता है, इसका हमें पता भी नहीं होता—हम सव-कुछ भूल चुके होते हैं। वच्चों तथा युवाओंके अनेक अपराधोंका कारण ये 'अन्तर्द्वन्द्व' (Mental conflicts) होते हैं।

४. आनुवंशिक कारण—

'अपराध' के आनुवंशिक कारण भी होते हैं। जिस अर्थमें काली आंखें और नीली आंखें माता-पिता से सन्तानमें अनुसंक्रान्त होती हैं, उस अर्थमें तो 'अपराध' माता-पितासे सन्तानमें अनुसंक्रान्त नहीं होता, परन्तु माता-पिताके ऐसे शारीरिक तथा मानसिक दोष अवश्य सन्तानमें अनुसंक्रान्त होते हैं जो अनुकूल परिस्थिति पाकर अपराधका रूप धारण कर लेते हैं। जो लोग बार-बार अपराध करके जेलोंमें पहुँचते हैं उनका अध्ययन करके श्री हीली (Healy) इस परिणामपर पहुँचे कि शिकागोमें ऐसे १ हजार 'बालापराधियों' (Juvenile delinquents) में से ६६८ बालकोंको माता-पितासे विरासतमें हीन-बुद्धिता मिली थी जिसके कारण माता-पिता तो अपराधी थे ही, उनके बालक भी अपराध करने लगे थे।

५. आर्थिक कारण—

आर्थिक-कारणों और अपराधों का पारस्परिक-सम्बन्ध है। गरीबी और बेकारीमें प्रायः अनेक व्यक्ति चोरी करते हैं, लड़कियां वेश्या-वृत्ति करती हैं, परन्तु यह भी होसकता है कि कोई व्यक्ति भयंकर-से-भयंकर संकट में भी चोरी न करे। आर्थिक-कष्ट एक ऐसी परिस्थिति अवश्य है जिसमें चोरी आदि समाज-विरोधी प्रतिक्रिया उत्पन्न होसकती है। भयंकर रूपमें बेकारी और गरीबी हो, तो देशमें लूट-मार, डकैती आदि शुरू होने लगते हैं, और कभी-कभी गरीबी और बेकारीके कारण राज ही पलट जाते हैं। प्रजासत्ताक देशों में प्रत्येक दल जनताको यह समझाने का प्रयत्न करता है कि वह गरीबी और बेकारी को दूर करेगा क्योंकि सुसंगठित राज्यमें आर्थिक व्यवस्थाके ठीक रहने से अपराध कम होते हैं।

६. सामाजिक कारण—

कई सामाजिक कारण हैं जिनसे बालकों तथा युवाओंको 'अपराध' करनेका अवसर मिलता है। उनमें से कुछ का वर्णन हम यहां करेंगे :—

(क) घर—कई घर ही बच्चोंको तबाह कर देते हैं। वहांके वातावरण में बच्चा अपराधी बने बगैर रह ही नहीं सकता। माता-पितामें रोज डंडा चलता है, शराब के नशेमें दोनों चूर होकर बालककेलिये एक अजीब तमाशा बन जाते हैं। जहां माता-पिता दुराचारी, व्यभिचारी हों, वहां बालकसे क्या आशा की जासकती है। कभी-कभी माता-पिताकी गरीबीसे भी बच्चे बिगड़ जाते हैं। घर इतने छोटे होते हैं कि उन्हींमें छः-छः, सात-सात बच्चे और माता-पिता इकट्ठे सोते हैं। जो बातें बच्चों की नजरमें नहीं आनी चाहियें वे भी आती हैं, अतः उनके चरित्र शुरूसे गिर जाते हैं।

(ख) खेल—बच्चे खेल-खेलमें बहुत-सी गन्दी बातें सीख जाते हैं। माता-पिता तो समझते हैं, बच्चा खेल रहा है, परन्तु वह किसी दूसरे साथी से कोई बुरी बात सीख रहा होता है। बच्चे सब तरहके होते हैं, अच्छे होते हैं, तो कई स्वभावके अपराधी भी होते हैं। ऐसोंकेसाथ खेलनेसे अच्छे भी बुरे हो जाते हैं। यही छोटे, बड़े होकर अपराध किया करते हैं।

(ग) पाठशाला—हमारे आजके स्कूल-कालेज जहां पढ़ाई सिखाते हैं, वहां लड़के-लड़कियोंकी भारी तादाद होनेके कारण अनेक अपराध भी सिखा देते हैं। समूह में बच्चा जहां अच्छी बातें सीखता है, वहां बुरी बातें भी सीखता है। प्रायः देखा गया है कि अशिक्षित व्यक्ति मार-पीटके और शिक्षित व्यक्ति चोरी, चालाकी, गबन आदि के अपराध अधिक करते हैं। स्कूलका वातावरण अगर पढ़ने-लिखने के अनुकूल नहीं है, तो लड़कोंको स्कूलसे भाग जानेकी आदत पड़ जाती है। माता-पिताके डरकेमारे वे घर तो जाते नहीं, अवारागर्दी किया करते हैं। इस अवारागर्दीमें ही वे सबतरहके अपराध सीख जाते हैं। स्कूलोंकी पाठविधि ऐसी रखनी चाहिये जिससे हर प्रकारके बालकको उसमें दिलचस्पी हो। दस्तकारी आदि कामों में लड़कोंको लगाये रखनेसे उनका ध्यान इधर-उधर कम जाता है।

(घ) समाज—हमारे चारोंतरफ़के समाजका बालक तथा युवाके चरित्र पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। अदालतोंमें अनेक ऐसे व्यक्ति अपराधोंकेलिये पकड़कर लाये जाते हैं, जो अच्छे-अच्छे घरानोंके होते हैं, परन्तु बुरी संगत और बुरे समाजके संपर्कसे बिगड़ जाते हैं। हमारा सामाजिक-वातावरण चारोंतरफ़से इतना गन्दा है, कहीं सिनेमा, कहीं नाच-घर, कहीं आकाशवाणी द्वारा गन्दे गीत माता-पिताके अच्छे-से-अच्छे संस्कारोंको भी मिटा देते हैं। ऐसे गन्दे संस्कारोंमें अपराधोंका अधिकाधिक बढ़ना आश्चर्य की बात नहीं है।

(ङ) सामाजिक-रचना—हमारे समाजकी रचनामें कई मूल-भत खराबियां हैं। इस समय समाजका आधार आर्थिक-विषमता है। एक बहुत अमीर, दूसरा बहुत ग़रीब है। पैसा पैदाकरने, और उसे दांतसे पकड़ रखनेकेलिये मनुष्य नीच-से-नीच काम करता है। जो व्यक्ति परले दर्जेके झूठे और गिरेहुए आचार के हैं, उनकी भी समाजमें धनी होनेके कारण प्रतिष्ठा है। ऐसे समाजकेप्रति विद्रोह होना स्वाभाविक है। जब कोई करोड़पति किसी अच्छे कामकेलिये रोता हुआ एक रुपया दान देता है, या उसकेलिये भी बीसियों झूठे बहाने बनाता है, तो समाज-सुधारकका मन उसे गोली से उड़ा देना चाहता है। वह बेचारा तो चुप हो बैठ रहता है, परन्तु क्रांतिकारी राजनैतिक-दल इस व्यवस्थाको बदलनेमें जुट जाता है, सीधे-तौर से वह इस व्यवस्थाको नहीं बदल सकता, तो अमीरोंकी लूट-पाट शुरू कर देता

है। समाजमें हरेक व्यक्तिकी 'स्थिति' (Status) ऐसी क्यों नहीं है कि हर-व्यक्ति अपनी उचित 'एषणाओं' (Urges) को पूरा करसके, हर व्यक्तिको समाजमें 'स्थिति' (Status) हो, और 'कार्य' (Role) हो ? हमारा समाज ऐसा नहीं है, समाजकी रचनाको इसप्रकार बदलना होगा जिससे सबकेसाथ न्याय हो—यह भावना कुछ व्यक्तियोंसे ऐसे काम करा देती है जिन्हें हम आजकी परिभाषा में 'अपराध' कहते हैं, परन्तु स्थिति बदल जानेपर वे अपराध नहीं, क्रांति कहे जा सकते हैं। आर्थिक-विषमताकी तरह जन्मके ऊंच-नीचका भेद है, अमरीका तथा आफ़्रीका में काले-गोरेका भेद है, इस भेदको मिटानेवाले झगड़ा-उत्पात करते हैं, इसप्रकारके भेद-भावको रखनेवाले इन झगड़ोंको 'अपराध' कहते हैं।

३. अपराधोंका इलाज

अपराधोंको दूर करनेकेलिये समाज जिन उपायोंका प्रयोग करता है उनका वर्णन करके हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे। वे उपाय हैं—(क) पुलिस, (ख) अदालत, (ग) बाल-सुधार, (घ) युवा-सुधार तथा (ङ) जेलखाना।

(क) पुलिस—अपराधीको पकड़नेका सबसे पहला काम पुलिसका है। पुलिसके लोग यूं ही भर्ती कर लिये जाते हैं, उन्हें किसीप्रकारकी शिक्षा नहीं होती। काम करते-करते वे जो थोड़ा-बहुत सीख जाते हैं वही उनकी शिक्षा होती है। जबतक समाज प्रारंभिक-अवस्थामें था, ग्रामीण-परिस्थितियां शहरी-परिस्थितियों के मुकाबिलेमें अधिक थीं, तबतक किसी भी व्यक्तिको शान्ति-स्थापनका कार्य दिया जा सकता था। आज परिस्थितियां बदल गई हैं। पुलिसका काम ज़िम्मे-वारीका काम है। अपने देश में तो पुलिसवाला बहुत ही ग़ैर-ज़िम्मेवार आदमी है। वह बदमाशोंका सहायक और भलेमानसोंका शत्रु है। चोर, जुआरी, सट्टेबाज़ पुलिसवालोंसे मिले रहते हैं। इस अवस्था को बदलनेकी ज़रूरत है। पुलिसके आदमीका काम बहुत ज़िम्मेवारीका काम है। उसे साधारण-शिक्षाके साथ-साथ कानूनी शिक्षा भी मिलनी चाहिये। आज तो जैसे अन्य अपराधी हैं, वैसे पुलिसवाले भी उसीतरहके अपराधोंमें पकड़े जाते हैं। पुलिसकी वर्दी पहनकर उन्हें अपराध करनेकी मानो खुली छूट मिलजाती है। इस अवस्थाको बदलना होगा, और पुलिस को पहले अपना सुधार करना होगा, तब सुधरीहुई पुलिस समाजको भी सुधारेगी।

(ख) अदालत—अपराधीको पकड़कर अदालतके सामने पेश किया जाता है। कानूनकी इतनी बारीकियां हैं कि जो अच्छा-तगड़ा वकील कर सकता है वह भारी-से-भारी जुर्म करके भी छूट जाता है, कभी-कभी बेगुनाह आदमी अच्छा वकील न करनेसे मारा जाता है। अगर हम उन व्यक्तियोंके मनोंमें प्रवेश करसकते, जो अपराध करके छूटजाते और बिना अपराध किये सज़ा पाजाते हैं, तो अमरीका

के प्रेजीडेन्ट टाफ्टकी इस उक्तिका हमें सत्य समझ आजाता कि न्यायालयोंमें जिसप्रकार न्याय किया जाता है वह देशकेलिये अत्यन्त लज्जा-जनक है। अमरीकामें न्यायालयोंकेसाथ मनोवैज्ञानिकों का सम्पर्क स्थापित करनेका प्रयत्न किया जा रहा है। न्यायाधीशके सम्मुख जो भी व्यक्ति लाया जाय, उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करनेसे सचाईका पता अधिक लग सकता है।

(ग) वाल-सुधार—इसके अतिरिक्त अनेक वालकों तथा युवाओंका सुधार होसकता है। उन्हें दंड देकर सीधा जेल भेज देनेसे वे पक्के अपराधी बन जाते हैं। अमरीकामें 'युवा-सुधार-कानून' (Youth Correction Act) बना हुआ है, जिसके अनुसार जजको २१ वर्ष से कम आयुके अपराधियोंको 'युवा-सुधार-अधिकारियों (Youth Correction Authority) के पास भेज देनेका अधिकार है। उत्तर-प्रदेश में १९५२ में 'वाल-सुधार-कानून' (Children's Act) स्वीकृत हुआ है जिसके अनुसार १६ वर्षसे कम आयुके बालकोंके सुधारकेलिये आश्रम खोले जायेंगे, और जो बालक अपराधी पाये जायेंगे, या अवारा फिरते मिलेंगे, जिन वालकों के घरका वातावरण उनके स्वस्थ विकासकेलिये ठीक नहीं होगा, उन्हें इन आश्रमोंमें रखकर दस्तकारी आदिकी शिक्षा दी जायगी। ऐसे कानून सारे देशमें बननेकी भी व्यवस्था होरही है।

वाल-सुधारकेलिये कुछ नये परीक्षण किये जारहे हैं। १९३८ में उत्तर-प्रदेशमें 'प्रथम-अपराधी-परीक्षा-कानून' (First Offender's Probation Act) पास हुआ। इस कानूनके अनुसार १८ वर्षसे छोटी आयुका व्यक्ति अगर कोई अपराध करे, तो न्यायाधिकारी उसे दंड तो दे देता है, परन्तु जेलमें भेजनेके स्थानमें 'सुधार-अधिकारी' (Probation Officer) के सुपुर्द कर देता है। इससमय उत्तर-प्रदेशमें प्रायः सभी जिलों में 'सुधार-अधिकारी' हैं। मैजिस्ट्रेट पहले 'सुधार-अधिकारी' से रिपोर्ट मांगता है कि उसकी सम्मतिमें अमुक अपराधीको उसकी देख-रेखमें छोड़ा जासकता है, या नहीं। 'सुधार-अधिकारी' जांच-पड़ताल करके पता लगाता है कि वह अपराधी कैसा है, प्रयत्नसे वह सुधर सकता है, या नहीं। अगर सुधर सकता है, तो अपराधी इस शर्तपर छोड़ दिया जाता है कि जितने समय का उसे दंड मिला है, उतने समयतक वह घरमें रहताहुआ 'सुधार-अधिकारी' के सम्पर्क में रहेगा। 'सुधार-अधिकारी' को अपराधी नियत दिनों में मिलता रहता है, 'सुधार-अधिकारी' भी समय-समयपर अपराधी के घरपर जाकर उसकी पड़ताल करता रहता है। वह कितना कमाता है, कमाई घर लाता है या नहीं, चाल-चलन कैसा है, पड़ोसियोंकी उसके विषयमें क्या सम्मति है—ये सब बातें पता

लगाकर 'सुधार-अधिकारी' बालक का सुधार करनेका यत्न करता हैं । दिल्ली बम्बई, विहार, मद्रास आदिमें भी ऐसे ही कानून बने हुए हैं।

(घ) युवा-सुधार—जो युवक बड़ी उम्रके हैं, उनका भी सुधार होसकता है। दण्डका उद्देश्य पहले कभी बदला लेना समझा जाता था, परन्तु ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक दृष्टि-कोण बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों यह समझा जाने लगा है कि अपराध का कारण बुरी मंशा ही नहीं, परिस्थितियोंकी प्रतिकूलता से भी व्यक्ति अपराध कर बैठता है। दण्डका प्रयोजन सुधार करना होना चाहिये । इसी दृष्टिसे १९३८ में उत्तर-प्रदेशमें 'वन्दीकी परीक्षार्थ मुक्तिका कानून' (Prisoner's Release on Probation Act) पास किया गया। इसके अनुसार कोई भी अपराधी एक-तिहाई समयतक सजा भुगतनेके बाद इस शर्तपर जेलसे रिहाई मांग सकता है कि वह अब ठीक चाल-चलन रखेगा । इसप्रकारकी प्रार्थना अपराधी स्वयं, उसके अभिभावक या 'सुधार-अधिकारी' (Probation Officer) कर सकते हैं । अपराधी को अपना सुधार करनेका इस कानूनसे अच्छा अवसर मिल जाता है ।

(ङ) जेलखाना—मनुष्यकी सबसे प्रिय-वस्तु स्वतंत्रता है, इसलिये अपराध करनेके कारण उसको सबसे कड़ा दंड जेलमें बन्द किये जानेका दिया जासकता है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति समाज-विरोधी कार्य करता हो, उसे समाजमेंसे हटा लेना ही हितकर है। परन्तु जेलका उद्देश्य यह नहीं है कि मनुष्य इसमें रहकर इसी योग्य रह जाय, समाजमें आकर भलेमानसकी तरह न रह सके । इससमय हमारी जेलोंकी जो हालत है, उसमें व्यक्तिका सुधार नहीं होपाता। जेलसे अपराधी समाजके कठोर अत्याचारोंके प्रति और विद्रोहकी भावनाको लेकर आता है । इसीका परिणाम है कि कई अपराधी बार-बार वन्दी-गृहोंके अतिथि बनते हैं। अवस्था यहां तक पहुंच गई है कि अगर कोई एकबार जेल पहुँच गया, तो अगर वह कच्चा अपराधी था तो पक्का अपराधी बनकर निकलता है, और इसी जीवन को बार-बार दोहराता है। हमें अपराधियोंके दो भाग कर लेने होंगे । एक तो वे, जो अपनेको सुधार ही नहीं सकते। उन्हें समाजको अन्य व्यक्तियोंसे सदाकेलिये अलग रखनेका निश्चय करना होगा। दूसरे वे, जो अपनी गलती समझ गये हैं, अपना सुधार करनेकेलिये तय्यार हैं । उनकेलिये अलग व्यवस्था करनी होगी । ऐसे अपराधियोंको उन अपराधियोंसे सर्वथा अलग रखना होगा जो किसी हालत में भी सुधर नहीं सकते। इनको सुधरनेकी सब सुविधाएँ देनी होंगी, इनको फिर से समाजमें प्रतिष्ठित-जीवन बिताने योग्य बनाना होगा । तभी समाजमेंसे अपराध कम हो सकता है ।

प्रश्न

१. अपराध किसे कहते हैं ? 'विभेदक-विकल्प' (Variant Alternative) का अर्थ समझाइये ।
२. अपराधका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है ?
३. अपराधके क्या-क्या कारण होसकते हैं ?
४. व्यक्तिके मानसिक-दोष किसप्रकार बालक या युवाको अपराधी बनाने में सहायक होते हैं ?
५. सामाजिक-कारण किसप्रकार बालक या युवाको अपराधी बनाते हैं ?
६. 'बाल-सुधार-कानून' (Children's Act) तथा 'प्रथम-अपराधी-परीक्षा-कानून' (First Offender's Probation Act) क्या है ?
७. 'सुधार-अधिकारी' (Probation Officer) के विषयमें आप क्या जानते हैं ?

[३२]

'सहज-प्रवृत्ति' तथा 'व्यवहार'

(INSTINCT OR HUMAN NATURE & BEHAVIOR)

१. व्यवहारके 'प्रेरक-कारण'
(MOTIVATIONS OF BEHAVIOR)

समाजमें सैंकडों आदमी दिखाई देते हैं। इन-सबके 'व्यवहार' (Behavior) का 'प्रेरक-कारण' क्या है ? एक व्यक्तिका व्यवहार अत्यन्त शिष्टताका व्यवहार है, दूसरा ऐसा व्यवहार कर बैठता है जिसकी हमें उससे कभी स्वप्नमें भी आशा नहीं थी। एक-सी परिस्थितियोंमें व्यक्ति-व्यक्तिके व्यवहारमें इतना असाधारण भेद क्यों है ? मनोवैज्ञानिकोंने मनुष्यके साधारण तथा असाधारण सामाजिक-व्यवहार के मुख्य तीन कारणोंका पता लगाया है, जो निम्न हैं :—

(१) 'आर्थिक प्रेरक-कारण' (Economic motivations)—एक शताब्दीके लगभग समय बीता, जब एडम-स्मिथ तथा उसके अनुयायियोंने इस मत का प्रतिपादन किया कि मनुष्यकी हर क्रियाका मूल-कारण आर्थिक होता है। उन्होंने मनुष्यकी सब प्रेरणाओंका मूल-स्रोत रुपये-पैसे में देखा। उनका कहना था कि हरेक व्यक्ति 'आर्थिक-मनुष्य' (Economic man) है, और हर कामको इसी दृष्टिसे करता है जिसमें उसे ज्यादा-से-ज्यादा आर्थिक लाभ हो। मनुष्यके आर्थिक दृष्टि-कोणको ही आधार बनाकर कार्ल-मार्क्सने 'श्रेणी-युद्ध' (Class-war) के सिद्धान्तको जन्म दिया। उसका कहना था कि राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक—जितने भी भवन मनुष्य खड़े करता है, सबकी नींवमें आर्थिक-शिला ही पड़ी होती है।

(२) 'मनोविश्लेषणवादी प्रेरक-कारण' (Psycho-analytical motivations)—मनोविश्लेषणवादी फ्रॉयड तथा उसके अनुयायियोंका कहना था कि मानव-समाजके सम्पूर्ण व्यवहारका प्रेरक-कारण मनुष्यकी 'यौन-सहज-प्रवृत्ति' (Sex instinct) है। 'यौन' भावनासे प्रेरित होकर ही मनुष्य बचपनसे मृत्यु-पर्यन्त सारा व्यवहार करता है। 'योनि-संबंधी सहज-प्रवृत्तियों' (Sexual instincts) को समाज बुरा समझता है, इसलिये बचपनसे ही

इन्हें दबानेका यत्न करता है, परन्तु ये दबती नहीं, मनुष्यकी 'अव-चेतना' (Subconscious Self) में जाकर उसके व्यवहारको प्रेरित करती रहती हैं। जिसका यौन-जीवन स्वस्थ होता है, उसका सारा व्यवहार स्वस्थ होता है, परन्तु प्रायः प्रत्येक व्यक्तिके यौन-जीवनमें कुछ-न-कुछ अस्वस्थता का अंश रहता है, अतः सभीके व्यवहारमें भी कुछ-न-कुछ अजनबीपन बना रहता है।

(३) 'सहज-प्रवृत्ति-संबंधी प्रेरक-कारण' (Instincts as motivations)—एडम-स्मिथ तथा कार्ल-मार्क्स ने मनुष्यकी आर्थिक-प्रवृत्तिको एवं फ़ॉयडने यौन-भावनाको हर बात का प्रेरक-कारण माना है, परन्तु अन्य विचारकों ने इन दो के अलावा अन्य अनेक 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) को मनुष्यके व्यवहारका प्रेरक 'प्रेरक-कारण' कहा है। 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) के विषयमें वर्तमान-युगके सबसे बड़े पंडित मैग्डूगल माने जाते हैं। उन्होंने कुछ 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) की गणना की है, और उनका कहना है कि ये प्रवृत्तियां मनुष्यके व्यवहारका मूल-स्रोत हैं। हमारा सारा व्यवहार बदलता रहता है, परन्तु ये प्रवृत्तियां नहीं बदलतीं, ये मनुष्यमें स्थिर रूप से रहती हुई उसके व्यवहार को प्रभावित करती रहती हैं। इनमें एडम-स्मिथ तथा कार्ल-मार्क्सकी 'अर्थ-लालसा' तथा फ़ॉयड की 'यौन-भावना' भी शामिल हैं, परन्तु इन दो के अलावा ये प्रवृत्तियां अनेक हैं जो मनुष्यके व्यवहारको प्रभावित करती रहती हैं।

२. 'सहज-प्रवृत्तियां' (INSTINCTS)

'सहज-प्रवृत्ति', अर्थात् 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) की उत्पत्ति—

जीवनके सबसे पहले रूप, जीवनकी इकाईका नाम 'कलल-रस' (Protoplasm) है। जहां जीवन है, वहां 'उत्तेजक' (Stimulus) के सामने होनेपर 'प्रतिक्रिया' (Response) होती है, 'उत्तेजक' हो, और 'प्रतिक्रिया' न हो, तो जीवन ही नहीं होता। जीवनका जो सबसे छोटा, पहला रूप है, उसमें पहली-पहल 'प्रतिक्रिया', एक ही बात के लिये एक न होकर, अनेक होती हैं। उदाहरणार्थ, 'कलल-रस' (Protoplasm) में 'उत्तेजक' के सामने होने पर अनेक 'प्रतिक्रियाएँ' होती हैं। इन 'प्रतिक्रियाओं' में से कई जीवनके लिये लाभ-प्रद सिद्ध होती हैं, कई हानिकर। जीवन-संग्राममें जो 'प्रतिक्रियाएँ' लाभ-प्रद साबित होती हैं, वे चुन ली जाती हैं, बाकी छोड़ दी जाती हैं। ये चुनी हुई प्रतिक्रियाएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती चली जाती हैं, अन्तमें, प्राणीके जीवनका अंग बन जाती हैं, इन्हें नये सिरेसे सीखना नहीं होता, प्राणी जन्मते ही इन्हें साथ लाता है। इन्हींको 'सहज-प्रवृत्ति' (Instincts) कहा जाता है। क्योंकि जो प्रतिक्रियाएँ लाभ-प्रद सिद्ध हुईं, वे प्रत्येक

नस्लके प्राणी में 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural Selection) द्वारा चुन ली गई इसलिये 'सहज-प्रवृत्तियों' को हिन्दीके कई लेखक 'प्राकृतिक-शक्ति' (Instinct) भी कहते हैं।

'सहज-प्रवृत्ति' की विशेषताएँ—

(१) सहज-प्रवृत्तियोंमें कोई-न-कोई 'प्रयोजन' (Purpose) होता है। पुराने मनोवैज्ञानिक यह मानते थे कि प्राणी में जो 'सहज-प्रवृत्ति' है, वह प्रयोजन या लक्ष्य को लेकर नहीं, केवल 'यान्त्रिक-प्रतिक्रिया' (Mechanical reaction) होती है। परन्तु अब मनोवैज्ञानिक यह कहने लगे हैं कि प्राणी की 'सहज-प्रवृत्ति' निष्प्रयोजन नहीं होती, उसका लक्ष्य, ध्येय होता है, और उस लक्ष्यका उसे ज्ञान अवश्य होता है। भूख लगने पर दाना मुंह में डालना क्या सिद्ध करता है ? यही कि मुंहमें भोजन डालनेसे क्षुधा की तृप्ति होगी। बच्चा पैदा होनेसेपहले ही चिड़िया घोंसला क्यों बनाती है ? इसीलिये कि जब बच्चे पैदा होजायेंगे, तब बनाना कठिन होगा। विचार की यह लम्बी-चौड़ी प्रक्रिया उसके मनमें नहीं उठती, परन्तु उसकी इस 'सहज-प्रवृत्ति' में 'प्रयोजन'—'लक्ष्य'—'उद्देश्य'—'ध्येय' (Purpose) अवश्य रहता है, यह प्रवृत्ति 'यान्त्रिक' (Mechanical) ही नहीं कही जासकती।

(२) 'प्रयोजन' की सफलता-असफलताका भेद भी प्राणी करसकता है। परिस्थिति के अनुसार अपने व्यवहारको थोड़ा-सा बदल भी लेता है। चिड़िया घोंसला बनानेका स्थान चुनतेहुए यह देख लेती है कि स्थान सुरक्षित है, या नहीं, वर्षाकी छींटें तो वहां नहीं पहुँचेंगी। किसी स्थानपर घोंसला बनातेहुए अगर बार-बार कोई उसे गिराता जाय, तो चिड़िया वह स्थान बदल देती है, वह समझ जाती है कि यह स्थान ठीक नहीं है।

(३) सहज-प्रवृत्तियां एक ही जातिके प्राणियोंमें एक-ही-सी होती हैं। ऐसा नहीं होगा कि कुछ चिड़ियों में ज़मीनको कुरेदने की सहज-क्रिया हो, कुछमें न हो, कुछ मनुष्योंमें कामकी वासना हो, कुछमें न हो। इनके वेगमें भेद होसकता है, किसीमें एक प्रवृत्ति ज्यादा है, दूसरेमें कम, परन्तु इनकी विद्यमानता उस-उस नस्लके सब प्राणियोंमें एक-ही-सी पायी जाती है।

(४) सहज-प्रवृत्तिमें कुशलता पायी जाती है। चिड़ियाका बच्चा पंख आते ही उड़ने लगता है, पशु पानीमें पड़ते ही तैरने लगता है।

(५) सहज-प्रवृत्तिकेद्वारा उत्पन्नहुए व्यवहारको बदला जासकता है, परन्तु कठिनतासे। पशु जन्मसे ही अपने व्यवहारमें कुशल होता है, वह शिक्षा क्या सीखेगा, क्योंकि शिक्षाका अभिप्राय भी प्राणीको सिखाकर कुशल बनाना ही होता है। परन्तु नहीं, पशु एक व्यवहार में कुशल होता है, सब व्यवहारोंमें

तो कुशल नहीं होता। जो व्यवहार उसकेलिये सहज नहीं है, उसे सीखनेकेलिये उसे कठिनता अवश्य होती है, परन्तु वह सीख भी जाता है। कुत्तेको लोग बहुत कुछ सिखा देते हैं। जैसे एक नये व्यवहारको वह सीख सकता है, वैसे अपने सहज व्यवहारको वह बदल भी सकता है। कुत्तेकेलिये भोजन देते ही लपक पड़ना सहज-व्यवहार है, परन्तु उसे शिष्टतासे भोजनकी रक्षा करना, और जबतक मालिक अपने हाथसे कुछ न दे, तबतक चुप बैठे रहना भी सिखाया जासकता है। शिक्षामें इस बातका बड़ा महत्व है। प्राणीका जितना व्यवहार है, वह 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) का परिणाम है, परन्तु उसमें परिवर्तन किया जासकता है। 'सहज-प्रवृत्ति' में परिवर्तनकी इस संभावनाके कारण ही तो मनुष्यका व्यवहार दिनोंदिन बदलता है।

(६) सहज-प्रवृत्तियां जन्मसे ही आती हैं, इन्हें सीखा नहीं जाता। इनका प्राणीको पहला कोई अनुभव नहीं होता।

'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) तथा 'सहज-क्रिया' (Reflex action) में भेद—

(१) कई लोग 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) तथा 'सहज-क्रिया' (Reflex action) में भेद नहीं करते। उनका कहना है कि 'सहज-क्रिया' (Reflex action) ही 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) है, 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) की अलग सत्ता नहीं है। परन्तु नहीं, इन दोनोंमें भेद है। इनका भेद समझनेकेलिये यह समझना जरूरी है कि क्रिया तीन प्रकारकी होसकती है—'यान्त्रिक-क्रिया' (Mechanical action), 'सहज-क्रिया' (Reflex action) तथा 'सहज-प्रवृत्तिकी क्रिया' (Instinctive action)। 'यान्त्रिक-क्रिया' में यन्त्रका अपना कोई 'प्रयोजन' नहीं होता, यन्त्रके मालिकका 'प्रयोजन' होता है, भीतरका नहीं, बाहरका 'प्रयोजन' होता है। 'सहज-क्रिया' तथा 'सहज-प्रवृत्तिकी क्रिया' में किसी दूसरेका नहीं, प्राणीका अपना 'प्रयोजन' होता है, बाहरका नहीं, भीतरका 'प्रयोजन' होता है। परन्तु 'सहज-क्रिया' (Reflex action) तथा 'सहज-प्रवृत्तिकी क्रिया' (Instinctive action) में क्या भेद है? हृदयकी गति, श्वासका चलना, आंतोंका अपने-आप भोजन पचाना, आंखका झपकना, गुदगुदानेसे स्वयं सिमिटजाना, कांटा चुभनेपर पांव खींचलेना—ये सब 'सहज-क्रियाएँ' (Reflex actions) हैं, इनका लक्ष्य प्राणीकी रक्षा करना है। भूख लगनेपर खाना, इच्छा पूर्ण न होने पर क्रोध भड़क उठना, अपने बच्चेको देखकर प्रेमका प्रकट होना, असहाय-दीनको देखकर दयाका भाव उमड़ पड़ना—ये-सब 'सहज-प्रवृत्तिकी क्रियाएँ' (Instinctive actions) हैं, इनका लक्ष्य भी प्राणीकी रक्षा करना है। जहांतक इन दोनोंका लक्ष्य प्राणीकी

रक्षा करना है, वहांतक दोनों 'जीवन-रक्षा-संबंधी' (Biological) क्रियाएँ हैं, परन्तु इस बातमें दोनोंकी समानता होते हुए भी दोनों में भेद है। हृदयकी गति, श्वासका चलना, आंखका झपकना, कांटा चुभनेपर पांव खींचलेना—इन-सबको मानसिक-प्रक्रिया नहीं कहा जासकता; प्रेम, क्रोध, भूख, प्यास आदिके व्यवहारको मानसिक कहा जा सकता है। 'सहज-क्रिया' (Reflex action) 'जीवन-रक्षा-संबंधी' (Biological) व्यवहार तो है, 'मानसिक' (Psychical) व्यवहार नहीं है; 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) 'जीवन-रक्षा-संबंधी' (Biological) व्यवहार तथा 'मानसिक-व्यवहार' (Psychical) दोनों है।

(२) 'सहज-क्रिया' (Reflex action) में 'निकटवर्ती-प्रयोजन' (Immediate purpose) होता है। कांटा लगा, और हाथ कांटेकीतरफ़ तत्काल गया। 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) में 'निकटवर्ती' के अतिरिक्त 'दूरवर्ती-प्रयोजन' (Remote purpose) भी होसकता है। बया घोंसला बनारहा है। उसका प्रयोजन अण्डे देने पर उन्हें घोंसलेमें सुरक्षित रखना है। अभी अंडे हुए भी नहीं, और घोंसला बन रहा है, यह 'निकटवर्ती' या 'तत्काल'-प्रयोजन नहीं, 'दूरवर्ती'-प्रयोजन है। दूसरे शब्दोंमें, 'सहज-क्रिया' (Reflex action) की अपेक्षा 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) में 'प्रयोजन' की मात्रा अधिक दिखाई देती है।

(३) 'सहज-क्रिया' (Reflex action) में शरीरका एक हिस्सा काम कर रहा होता है, 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) में सारा शरीर किसी प्रयोजनको पूरा कर रहा होता है। कांटा लगा, हमने पांव हटा लिया। इस प्रक्रिया में कई बातें शामिल नहीं हैं। घोंसला बनानेमें पक्षी बार-बार उचित सामग्री ढूंढनेकेलिये जाता है, उसे ढूंढता है, लाता है, जोड़ता है। इस दृष्टिसे 'सहज-क्रिया' (Reflex action) साधारण है, सरल है, 'सहज-प्रवृत्ति' असाधारण है, विषम है।

'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) तथा 'बुद्धि' (Intelligence) में भेद—

'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) जन्मसे पूर्ण मौजूद होती है, 'बुद्धि' (Intelligence) जन्मसे पूर्ण मौजूद नहीं होती। 'सहज-प्रवृत्ति' को प्राणी अनुभव से नहीं सीखता, 'बुद्धि' को अनुभवसे सीखता है। 'बुद्धि' में मनुष्यको अपने लक्ष्यका पूरा-पूरा ज्ञान होता है, 'सहज-प्रवृत्ति' में ऐसा नहीं होता। 'सहज-प्रवृत्ति' को आधार बनाकर 'बुद्धि' विकसित होती है, और ज्यों-ज्यों 'बुद्धि' विकसित होती जाती है, त्यों-त्यों प्राणी 'सहज-प्रवृत्ति' के अनुसार चलनेकी अपेक्षा 'बुद्धि' के अनुसार चलना शुरू कर देता है। 'बुद्धि' के अनुसार प्राणी आगेकी बात सोच सकता है, 'सहज-प्रवृत्ति' के अनुसार आगेकी बात नहीं सोच सकता। परन्तु

इसका यह मतलब नहीं कि 'सहज-प्रवृत्ति' में बुद्धिका कोई अंश नहीं। हम पहले देख आये हैं कि 'सहज-प्रवृत्ति' की उत्पत्ति अनुकूल अनुभवोंको चुनने और प्रतिकूल अनुभवोंको छोड़देनेसे होती है। जब कोई नस्ल बन रही थी, विकासके मार्गमें आगे-आगे बढ़ रही थी, तब इसकी कुछ जीवन-रक्षा के अनुकूल प्रतिक्रियाएं थीं, कुछ प्रतिकूल प्रतिक्रियाएं थीं। इन अनुकूल प्रतिक्रियाओंको प्राणीने संभाल लिया। इन्हें वंशपरंपरा द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे देना शुरू किया। इन्हींका नाम 'सहज-प्रवृत्ति' (Instincts) हुआ। अनुकूलको लेलेना, प्रतिकूलको छोड़देना, यह सब 'बुद्धि' के बिना कैसे होसकता है? हां, यद्यपि जहां 'सहज-प्रवृत्ति' है, वहां कुछ-कुछ 'बुद्धि' भी मौजूद है, तो भी इन दोनोंमें जैसा हमने ऊपर कहा, भेद है।

'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) तथा 'उद्वेग' (Emotion) का संबंध—

'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) एक 'मानसिक-प्रक्रिया' है। प्रत्येक 'मानसिक-प्रक्रिया' के तीन पहलू होते हैं—'ज्ञान' (Knowing), 'इच्छा' (Feeling) तथा 'कृति' (Willing)। यह तो हमने अभी देखा कि 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) में 'ज्ञान' (Intelligence) भी रहता है, परन्तु इसका विशुद्ध रूप 'ज्ञान' के साथ 'इच्छा' भी है। 'इच्छा' (Feeling) का ही दूसरा रूप 'उद्वेग' (Emotion) है। 'उद्वेग' भी कैसा? प्रत्येक 'उद्वेग' में अपनेको 'कृति' रूपमें लानेकी भावना निहित रहती है। अगर यह कहा जाय कि 'उद्वेग' ही 'इच्छा' को 'कृति', अर्थात् क्रियामें लेआता है, तो कोई अत्युक्ति न होगी। 'उद्वेग' न हो, तो 'इच्छा'; 'इच्छा' ही बनी रहे, 'इच्छा' के बाद 'क्रिया' न हो। इसीलिये 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) के साथ 'उद्वेग' (Emotion) सदा जुड़ा रहता है, यह 'उद्वेग' ही 'इच्छा' में वेग उत्पन्न करता है। मैग्डूगलने 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instinct) को निम्न भागोंमें बांटा है, और प्रत्येक 'सहज-प्रवृत्ति' के साथ उसके सहचारी 'उद्वेग' का भी निर्धारण किया है :—

'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct)	सहज-प्रवृत्तिका सहचारी 'उद्वेग' (Instinct and its Emotion)
पलायन–Escape	भय–Fear
युयुत्सा–Combat, Pugnacity	क्रोध–Anger
निवृत्ति–Repulsion	घृणा–Disgust
पुत्र-कामना–Parental	दया–Tender emotion
संवेदना–Appeal	दुःख–Distress
भोग–Mating, Sex	काम–Lust
जिज्ञासा–Curiosity	आश्चर्य–Wonder

दैन्य–Submission
आत्म-हीनता–Negative self-feeling
आत्म-प्रदर्शन–Self-assertion
आत्माभिमान–Positive self-feeling
सामूहिक-जीवन–Gregariousness
एकाकी-भाव–Loneliness
भोजनान्वेषण–Food-seeking
तृप्ति–Gusto
संचय–Acquisition
स्वत्व–Ownership
विधायकता–Constructiveness
कृति-भाव–Creativeness
हास–Laughter
आमोद–Amusement

मैग्डूगलके मतकी आलोचना—

मैग्डूगलका कथन है कि प्रत्येक 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) के साथ उसका सहचारी 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है। ड्रेवर तथा रिवर्स का कथन है कि 'सहज-प्रवृत्ति' के साथ 'उद्वेग' नहीं रहता, परन्तु जब 'सहज-प्रवृत्ति' के पूरा होनेमें देर होती है, या उसके पूरा होनेमें कोई रुकावट आजाती है, तब 'उद्वेग' प्रकट होता है; अगर 'सहज-प्रवृत्ति' के क्रिया-रूपमें परिणत होनेमें न देर हो, न बाधा हो, तो 'उद्वेग' प्रकट नहीं होता। शत्रुको सामने देखकर मनुष्य भागा जा रहा है, आगे दीवार आगई, इस रुकावटके कारण 'भय' का 'उद्वेग' पैदा होता है, इससे पहले नहीं। कई 'सहज-प्रवृत्तियों' का सहचारी 'उद्वेग' ठीक तौरसे बताया भी नहीं जा सकता। उदाहरणार्थ, 'संचय' तथा 'विधायकता' के साथ जो 'उद्वेग' कहे जाते हैं, वे शुद्ध अर्थोंमें 'उद्वेग' नहीं हैं।

सहज-प्रवृत्तियोंसे व्यवहार बनता है—

'सहज-प्रवृत्तियां' (Instincts) वंश-परंपरासे अनुसंक्रांत होती हैं। पशुमें वे शुद्ध 'सहज-प्रवृत्तियों' के रूपमें दिखाई देती हैं, परन्तु मनुष्यमें वे उसी रूप में नहीं रहतीं जिसमें वे प्रकृतिमें पायी जाती हैं, उनका रूप बदलता रहता है, फिरभी मनुष्यके व्यवहारका कारण 'सहज-प्रवृत्तियां' ही हैं। एडम-स्मिथ तथा कार्ल-मार्क्स अर्थोपार्जनकी सहज-प्रवृत्ति को मनुष्यके व्यवहारका आधार मानते हैं, फ्रॉयड यौन-प्रवृत्तिको व्यवहारका आधार मानता है, परन्तु 'सहज-प्रवृत्तियां' (Instincts) तो अनेक हैं। 'परिस्थिति' (Environment) के अनुसार 'वंश-परंपरा' (Heredity) से आनेवाली 'सहज-प्रवृत्तियों' में परिवर्तन हुआ करता है, और उसीसे मनुष्यका व्यवहार बनता है। हरेक मानवीय-व्यवहारके आधारमें कोई-न-कोई 'सहज-प्रवृत्ति' है, चाहे 'संचय' की आर्थिक-प्रवृत्ति हो, चाहे 'भोग' की यौन-प्रवृत्ति हो, चाहे ऊपर गिनाईहुई अन्य 'सहज-प्रवृत्तियों' में से अन्य कोई 'सहज-प्रवृत्ति' हो।

प्रश्न

१. एडम-स्मिथ, कार्ल-मार्क्स, फ्रॉयड तथा मैग्डूगलके कथनानुसार मानवीय-व्यवहारके क्या-क्या कारण हैं?
२. 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) की उत्पत्ति कैसे हुई?
३. 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) की क्या-क्या विशेषताएं हैं?
४. 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) तथा 'सहज-क्रिया' (Reflex action) में क्या भेद है?
५. 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) तथा 'बुद्धि' (Intelligence) में क्या भेद है?
६. 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) तथा 'उद्वेग' (Emotion) का क्या संबंध है?
७. 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) व्यवहार को कैसे प्रभावित करती है?

[३३]

समाजमें 'सहज-प्रवृत्ति'

(INSTINCT IN SOCIETY)

हमने पिछले अध्यायमें देखा कि मनुष्यके व्यवहारका आधार 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) है। हमने दस-बारह 'सहज-प्रवृत्तियों' की गणना भी की। ये 'सहज-प्रवृत्तियां' प्रत्येक प्राणीमें पायी जाती हैं। इनमेंसे कुछ 'सहज-प्रवृत्तियां' प्राणीकी आत्म-रक्षामें सहायक सिद्ध होती हैं। उदाहरणार्थ, पलायनकी 'सहज-प्रवृत्ति' से प्राणी भाग कर अपनेको शत्रुसे बचा सकता है। परन्तु समाज-शास्त्रमें हमारे सामने प्राणीकी आत्म-रक्षाका प्रश्न मुख्य नहीं है, हमारे सामने प्रश्न यह है कि हमारे सामाजिक-व्यवहार को उत्पन्नकरनेवाली कौन-सी 'सहज-प्रवृत्तियां' हैं ?

इस सम्बन्ध में मुख्यतौर पर तीन विचार हैं। पहला विचार मैग्डूगलका है। उसका कथन है कि कुछ आधार-भूत 'प्राथमिक-सहज-प्रवृत्तियोंकी अन्तः-प्रक्रिया' (Inter-play of some Primary Instincts) से सामाजिक-व्यवहार चल पड़ता है। उदाहरणार्थ, 'पुत्र-कामना' (Parental instinct) तथा उसकेसाथ जुड़ा 'दयाका उद्वेग' (Tender emotion) कईप्रकारके सामाजिक-व्यवहारको जन्म देता है। इसीतरह 'दैन्य' (Submission) तथा 'आत्म-प्रदर्शन' (Self-assertion) से अनेकप्रकारके सामाजिक व्यवहार उत्पन्न होते हैं। दूसरा विचार कुछ प्रवृत्तियोंको नहीं, अपितु किसी एक विशेष 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) को चुन लेता है, और कहता है कि इस खास 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) से सामाजिक-व्यवहार उत्पन्न होता है। उदाहरणार्थ, ट्रौटर (Trotter) का कथन है कि 'सामूहिक-जीवन' (Gregariousness) की 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) से सामाजिक-व्यवहार बनता है, फ्रॉयड (Freud) का कहना है कि 'काम-भावना' (Libido) तथा 'आक्रमण' (Aggression) की 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) सामाजिक व्यवहार का आधार है। तीसरा विचार 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instinct) को नहीं, तीन 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencies) को सामाजिक

व्यवहारका आधार मानता है। ये 'सामान्य-प्रवृत्तियां' हैं—'संकेत' (Suggestion), 'अनुकरण' (Imitation) तथा 'सहानुभूति' (Sympathy)। 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencies) में भेद यह है कि 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) के साथ कोई-न-कोई 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है, 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) के साथ 'उद्वेग' (Emotion) नहीं जुड़ा रहता, 'सहज-प्रवृत्तियां' (Instincts) चौदह हैं, कम व्यापक हैं, 'सामान्य-प्रवृत्तियां' (General tendencies) तीन-चार हैं, अधिक व्यापक हैं। हम इन तीनों विचारोंपर क्रमशः थोड़ा-थोड़ा विचार करेंगे।

१. मैग्डूगलका विचार

(१) मैग्डूगलका कथन है कि सामाजिक-व्यवहारका आधार 'दया-भाव' (Tender feeling) है। शुरू-शुरू में मातामें पुत्रकेलिये दया-भाव था, मातासे पितामें गया, बढ़ते-बढ़ते वह दोनों तथा असहायोंकी रक्षाका रूप धारण कर गया। मैग्डूगलका कथन है कि जितनी 'परोपकार' (Altruism) की भावनाएं हैं, उनका आधार पितृ-स्नेहकी प्राथमिक 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) है जिसके साथ 'दया' की 'भावना' (Emotion) जुड़ी रहती है। यह भावना पहले छोटे क्षेत्रमें सीमित होती है, फिर इसीका विस्तार विश्वके विशाल क्षेत्रमें होजाता है। हम पिछले अध्यायमें लिख आये हैं कि 'सहज-प्रवृत्ति' का यह नियम है कि जब उसके पूर्ण होनेमें कोई रुकावट पैदा होती है, तो 'उद्वेग' (Emotion) पैदा होजाता है। शत्रुको देखकर उससे बचनेकेलिये दौड़ते-दौड़ते अगर सामने कोई रुकावट आजाय, तो 'भयका उद्वेग' पैदा होजाता है। इसीप्रकार 'दया' की भावना के पूर्ण होने में जब रुकावट आपड़ती है, तब 'मन्यु' उत्पन्न होजाता है। गुस्सेको क्रोध तथा अच्छे काममें रुकावट पड़नेपर होनेवाले क्रोधको 'मन्यु' (Indignation) कहते हैं। हमारा बहुत-सा सामाजिक-व्यवहार 'दया'–'क्रोध'–'मन्यु' की ही कहानी है।

मैग्डूगल के इस विचारपर कइयोंने आलोचना की है। उनका पहला कहना तो यह है कि पितृ-स्नेहकी सहज-प्रवृत्तिसे परोपकारकी भावना पैदा नहीं होसकती। पितृ-स्नेहकी दया वहीं उत्पन्न होती है, जहां खूनका रिश्ता हो। प्रश्न यह है कि जिन लोगोंकेसाथ हमारा रुधिरका रिश्ता नहीं, जो हमारे सगे-सम्बन्धी नहीं, उनकेप्रति दया, उनका उपकार हम क्यों करते हैं? इन लोगोंका दूसरा कहना यह है कि जैसे माता-पिताके हृदयमें पुत्र तथा सगे-सम्बन्धियोंकेलिये स्नेह, दया, प्रेमकी भावना है, वैसे जो लोग हमारे सगे-सम्बन्धी नहीं, उनकेप्रति भी मनुष्यमें प्रेमकी

भावना होती है । यह भावना पितृ-स्नेहकी भावनाका ही विकास नहीं, एक स्वतन्त्र भावना होती है । जैसे हमने पितृ-स्नेहको एक स्वतंत्र-'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) माना, वैसे दूसरोंकेसाथ सहानुभूति, मदद, प्रेमकी भावना आदि को एक स्वतंत्र-'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct or impulse) माननेमें क्या आपत्ति है ? क्यों इन्हें सिर्फ़ मातृ-प्रेम या पितृ-प्रेमका ही विस्तार, उसीका विकास माना जाय ? क्यों न 'पितृ-स्नेह' (Parental instinct) तथा 'परोपकार' आदि (Altruism) सबको भिन्न-भिन्न, स्वतंत्र-'सहज-प्रवृत्ति' (Instincts) माना जाय ? जो प्राणी सन्तान उत्पन्न होनेसे पहले मर जाता है, उसे सन्तानके प्रति दया का तो अवसर ही नहीं मिला, उसमें दूसरोंकेप्रति दया क्यों होती है ? बाल-सन्यासी, जिसके कभी सन्तान नहीं हुई, वह क्यों दया करता है ? इसलिये, शैंड (Shand) आदि मनोवैज्ञानिकोंका कहना है कि मैग्डूगलका यह कथन कि माता-पिताका स्नेह ही विकसित होकर प्राणिमात्र के स्नेहका रूप धारण कर लेता है, ठीक नहीं जंचता, प्राणिमात्रके स्नेहको मनुष्यमें एक अलग स्वतंत्र-'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) है । इसके अतिरिक्त 'ज्ञान'-प्रेम, 'सौंदर्य'-प्रेम तथा इसीतरहके अन्य प्रेमोंको माता-पिताके स्नेहका विकास कैसे कहा जासकता है ? इन भावनाओंकी तो स्वतंत्र सत्ता माननी पड़ेगी, मैग्डूगल के 'प्राथमिक सहज-प्रवृत्तियोंकी अन्तःप्रक्रिया' (Inter-play of Primary Instincts) से काम नहीं चलेगा ।

(२) प्राथमिक 'सहज-प्रवृत्ति' से मनुष्य-समाजके व्यवहार उत्पन्न होते हैं, इस विषयमें मैग्डूगलके 'पितृ-प्रेम' तथा 'दया'-सम्बन्धी विचारका हमने अध्ययन किया । 'दया' की तरह 'दैन्य' (Submission) तथा 'आत्म-प्रदर्शन' (Selfassertion) की भी 'सहज-प्रवृत्तियां' हैं । मैग्डूगलका कथन है कि मनुष्यमें 'सदाचार' (Moral conduct) की भावना 'दैन्य' तथा 'आत्म-प्रदर्शन' की सहज-प्रवृत्तियोंके सम्मिश्रण से पैदा होती है । मनुष्य अपने समाजकी रूढ़ियों, प्रथाओं तथा रीति-रिवाजोंके सामने झुकता है । यह झुकना 'दैन्य' (Submission) की 'सहज-प्रवृत्ति' है, इससे, जिसके सामने वह झुकता है, उसका रोब बढ़ता है, वह धीरे-धीरे 'शासक' (Authority) का रूप धारण कर लेता है । शासकके हाथमें जब दंड तथा पुरस्कार आजाता है, तब दंडके भयसे व्यक्ति निषिद्ध कामको करनेसे रुक जाता, और पुरस्कारके लोभसे निर्दिष्ट कामको करनेकेलिये उत्सुक होजाता है । इसीको 'सदाचार' (Moral conduct) कहते हैं । 'दैन्य' की तरह 'आत्म-प्रदर्शन' (Self-assertion) की भी 'सहज-प्रवृत्ति' है, इससे, व्यक्ति अपने बड़ोंकी बातोंको एक कानसे सुनता और दूसरे कानसे निकाल देता है, अपनी बातको दूसरोंकी बातसे मुख्यता देने लगता है, बात-बातपर कहता

है—'मैं आपसे सहमत नहीं'। इसप्रकार समाजकी हां-में-हां मिलाना, समाजकी हर बातको मानना, 'दैन्य' (Submission) की, तथा समाजकी हर बातमें अपनी स्वतंत्र सम्मति प्रकटकरना, 'आत्म-प्रदर्शन' (Self-assertion) की 'सहज-प्रवृत्ति' से उत्पन्न होता है।

मैग्डूगलके इस कथनकी भी आलोचना कीजाती है। समालोचकोंका कहना है कि मानव-समाजमें दो तरहके व्यवहार पाये जाते हैं—समाजके 'अनुकूल' चलना, और 'प्रतिकूल' चलना। यह ठीक है कि अनुकूल चलनेकी प्रवृत्तिका स्रोत 'दैन्य' (Submission), तथा प्रतिकूल चलनेकी प्रवृत्तिका स्रोत 'आत्म-प्रदर्शन' (Self-assertion) है। परन्तु यह भी तो होता है कि एक व्यक्तिमें ही किसी विषयके अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों प्रकारकी प्रवृत्ति एक-साथ पायी जाती है। कोई नई चीज हो, तो जिज्ञासा-वश उसकी तरफ़, और डरसे, उससे दूर जानेको, मन करता है। अनेक अवसर ऐसे आते हैं जिनमें प्रवृत्ति ही नहीं, निवृत्ति ही नहीं, प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों एक-साथ होती हैं। पापके प्रति किसी-किसी में प्रवृत्ति होती है, किसी-किसीमें, और ज्यादातर लोगोंमें प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों होती हैं। पाप खींचता है, इसलिये उसकीतरफ़ मनुष्य जाता है, परन्तु यह बुरा है, इसलिये उससे हटता है। इसप्रकारका आचार, इसप्रकार का व्यवहार मनुष्य क्यों करता है? 'दैन्य' (Submission) तथा 'आत्म-प्रदर्शन' (Self-assertion) की 'सहज-प्रवृत्तियों' को 'सदाचार' का आधार माननेसे एक ही प्रकारका, निश्चित व्यवहार होना चाहिये, यह अनिश्चित-सा, डांवाडोलपनेका व्यवहार नहीं होना चाहिये। इन सब बातोंसे कुछ समालोचकोंका कहना है कि सामाजिक-व्यवहारका आधार प्राथमिक सहज-प्रवृत्तियोंका सम्मिश्रण नहीं है।

२. ट्रौटरका विचार

मैग्डूगल तो कई प्राथमिक 'सहज-प्रवृत्तियों' के सम्मिश्रणको सामाजिक-व्यवहारका कारण मानता है, ट्रौटर सिर्फ़ एक 'सहज-प्रवृत्ति' को सामाजिक-व्यवहारका कारण मानता है। उसका कथन है कि 'सामूहिक-भावना' (Gregarious instinct) ही सामाजिक-व्यवहारका, सामूहिक-जीवनका आधार है। प्राणी, समूहमें रहे बग़ैर रह नहीं सकता, समूहमें रहना उसकी मूल-प्रवृत्ति है। तभी सबसे कड़ी सज़ा देनी हो, तो व्यक्तिको समूहसे जुदा कर दिया जाता है। जब वह समूहमें रहता है तब जो-कुछ समूह चाहता है, वही वह करने लगता है, समूहकी इच्छा, समूहके विचार, समूहके रीति-रिवाज, चलन, कायदे-कानून उसकी अपनी इच्छा, विचार, रीति-रिवाज, चलन और कायदे-

क़ानून बन जाते हैं। तभी तो मनुष्य प्रायः ग़लत विचारों और धारणाओंको बिना ननु-नचके मानता है, उन्हें ठीक समझकर ही चलता है, उनके विषयमें सही-ग़लतका विचार ही नहीं करता, और अगर विचार करता भी है, तो युक्ति द्वारा उन्हें ठीक सिद्ध करनेका ही प्रयत्न करता है। एक हिन्दू जिस समाजमें पैदा हुआ है, उसमें विधवा शादी नहीं कर सकती, तलाक नहीं होसकता। ये विचार प्रत्येक हिन्दूके हिन्दू-समाजमें पैदा होनेके कारण, इसकारण कि जिस समूहमें वह रहता है उस समूहके यही विचार हैं, बने होते हैं, परन्तु तरह-तरहकी ग़लत-सही युक्तियों से हिन्दू इन्हें ठीक सिद्ध करनेका प्रयत्न करता है क्योंकि कोई अपनेको युक्तिहीन कहाना नहीं चाहता। वास्तवमें वह इन विचारों को समूहके विचार होनेके कारण मान रहा होता है। ट्रौटर कहता है, 'आत्माकी आवाज़' (Voice of Conscience) क्या है? जिस बातको समूह एक आवाज़से बुरा कहता है, वही 'आत्मा की आवाज' कहाती है। 'धर्म' क्या है? मनुष्य समूहपर आश्रित है, परन्तु समूह भी किसीपर आश्रित होना चाहिये। मनुष्य इस बातको अनुभव करता है कि वह स्वतंत्र नहीं रह सकता, इस बातको अनुभव करना ही उसे समूहपर आश्रित बना देता है, इसीप्रकार समूहका अनुभव करना कि वह भी दूसरेपर आश्रित है, इकला नहीं रह सकता, धर्मकी भावना को उत्पन्न करता है। आख़िर, धर्म वही आश्रय है जो सबका आधार है। आधारोंके आधार, परमात्माकी खोज इसबातकी साक्षी है कि मनुष्य सामूहिक-भावना (Gregarious instinct) के बिना नहीं रह सकता।

ट्रौटरके इस विचारके आलोचकोंका कहना है कि केवल एक 'सहज-प्रवृत्ति' को सम्पूर्ण सामाजिक-व्यवहार का आधार बताना ठीक नहीं प्रतीत होता। 'सामूहिक-प्रवृत्ति' (Gregarious instinct) का तो सिर्फ़ इतना अर्थ निकलता है कि प्राणी एक-साथ रहें, समूहमें रहें, परन्तु समूहमें रहकर वे एक-दूसरेका अनुकरण भी करें, एक-दूसरेके निर्देशसे भी चलें, एक-दूसरेकेसाथ समवेदना भी प्रकट करें—यह-सब 'सामूहिक-प्रवृत्ति' में कहां आजाता है? 'सामूहिक-प्रवृत्ति' के कारण सामाजिक-व्यवहार नहीं उत्पन्न होता, 'सामूहिक-प्रवृत्ति' से तो प्राणी इकट्ठे होते हैं, उसके बाद अनुकरण, निर्देश तथा समवेदन आदि अन्य प्रवृत्तियोंके कारण सामाजिक-व्यवहार उत्पन्न होता है।

३. फ़ॉयडका विचार

जैसे ट्रौटर ने 'सामूहिक-प्रवृत्ति' (Gregarious instinct) पर जोर दिया है, वैसे फ़ॉयडने 'काम-भावना' (Libido) तथा 'आक्रमण' (Aggression) पर जोर दिया है। फ़ॉयड का कहना है कि सामाजिक-व्यहारका आधार दो तत्व हैं—'प्रेम' (Love) तथा 'घृणा' (Hate)। 'प्रेम' को 'काम-भावना'

(Libido) तथा 'घृणा' को 'आक्रमण' (Aggression) कहा जासकता है। उसका कथन है कि 'घृणा' तथा 'प्रेम' के सन्तुलनसे सामाजिक-व्यवहार उत्पन्न होता है । एक जन्तु होता है जिसके शरीरपर बड़े-बड़े दस-दस इंचके कांटे होते हैं। इसे सेह कहते हैं। सर्दीसे बचनेकेलिये सेह एक-दूसरेकेसाथ सिकुड़ने लगते हैं, परन्तु जितना नजदीक सिकुड़ते हैं, उतने ही उनके कांटे एक-दूसरेको चुभने लगते हैं। परिणाम यह होता है कि वे एक-दूसरेके इतने ही निकट आते हैं जितनेसे उनके कांटे एक-दूसरेको न चुभें। यही अवस्था मनुष्य-समाज की है। हम एक-दूसरे से घृणा करते हैं, हरेक अपना स्वार्थ पूरा करना चाहता है, परन्तु निरे स्वार्थ के रास्ते पर चलने से स्वार्थ भी सिद्ध नहीं होता। अपने स्वार्थको सिद्ध करनेकेलिये दूसरेके स्वार्थको सिद्ध करना जरूरी है, हरेक कहता है मुझे जितना दोगे उतना ही मुझसे ले सकोगे। 'घृणा' तथा 'प्रेम' के इस संघर्ष में हमें पता चल जाता है कि एक-दूसरे से कितनी दूरीपर रहने पर हमें एक-दूसरेके कांटे भी नहीं चुभेंगे, और हम सर्दी से भी बच जायेंगे। 'प्रेम' तो हम उस मनोभावनाको कहते हैं जो समाजमें दीख पड़ता है, असलमें, प्रारंभिक-अवस्थामें, इसका रूप 'काम-भावना' (Libido) कहाता है, इसीप्रकार 'घृणा' उस मनोभावनाका नाम है जो समाजमें दिखाई देती है, प्रारंभिक-अवस्थामें इस भावनाका रूप 'आक्रमण' (Aggression) है। अगर 'घृणाकी प्रवृत्तियां' (Aggressive tendencies) प्रबल होजांय, तो समाज टुकड़े-टुकड़े होजाय, इसलिये 'प्रेमकी प्रवृत्तियों' (Libidinal tendencies) का रहना जरूरी है, अगर 'प्रेम' प्रबल होजाय, तो भी समाजका व्यवहार न चले, सब अपनेको लुटाने लगें। भिन्नतामें ही तो समाजका व्यवहार चलता है, विषमता ही समताको लानेकेलिये समाजको प्रगतिशील बनाती है। इसलिये जहां 'घृणा' पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है, वहां 'प्रेम' पर भी प्रतिबन्ध लगाया जाता है। दूसरोंके साथ घृणा न करो, प्रेम करो, परन्तु प्रेम इतना न करो कि अपनेपनको ही खो दो। हरेक जाति, देश अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखना चाहता है—यह 'आक्रमण' (Aggression) की प्रवृत्तिका परिणाम है, पृथक् अस्तित्व जब बहुत प्रबल होजाता है, तब लड़ाई शुरू होजाती है। पृथक् अस्तित्व रखता हुआ भी हरेक देश दूसरेसे मिलकर रहना चाहता है—यह 'काम-भावना' (Libido) की प्रवृत्तिका परिणाम है, मेल और एकता जब बहुत प्रबल होजाती है, देश अपना अस्तित्व दूसरेमें खोने लगता है, तब भी देशकेलिये वैसा ही खतरा होजाता है, जैसा खतरा लड़ाईसे पैदा होता है। यह 'काम-भावना' (Libido) जब बहुत संकुचित-क्षेत्रमें काम करती है, तब इसे 'यौन-संबंध' (Sex relation) कहते हैं, परंतु 'काम-भावना' (Libido) का अर्थ फ्रॉयडकी परिभाषामें यौन-संबंध ही नहीं है।

जैसा हमने ट्रौटरके विचार के विषयमें कहा था कि केवल एक भावनाको मानव-समाजके सम्पूर्ण विषम-व्यवहारका आधार बताना ठीक नहीं है, वैसे फ़्रॉयड के विचारके विषयमें भी कहा जा सकता है कि सामाजिक-व्यवहारका यह एक कारण तो होसकता है, सम्पूर्ण सामाजिक-व्यवहार इसके अन्तर्गत नहीं कहा जासकता।

४. तीसरा विचार

हमने देखा कि मैग्डूगल सामाजिक-व्यवहारका आधार भिन्न-भिन्न प्राथमिक सहज-प्रवृत्तियोंको कहता है, ट्रौटर तथा फ़्रॉयड विशेष-विशेष सहज-प्रवृत्तियोंको कहते हैं। अन्य मनोवैज्ञानिकोंका कहना है कि 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) में अन्धापन है, सुजाखापन नहीं है, इनके द्वारा मनुष्य अन्धा व्यवहार कर सकता है, बुद्धि-पूर्वक व्यवहार नहीं कर सकता। सहज-प्रवृत्तियोंको सुजाखा बनानेका काम जिन प्रवृत्तियोंका है, उन्हें 'सामान्य-प्रवृत्तियां' (General tendencies) कहा जाता है। वे भी प्राणि-मात्र में हैं, परन्तु उनमें और 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) में यह भेद है कि 'सामान्य-प्रवृत्तियां' (General tendencies) अधिक व्यापक हैं, 'सहज-प्रवृत्तियां' (Instincts) उतनी व्यापक नहीं हैं, 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencies) के साथ 'उद्वेग' (Emotion) नहीं रहता, 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) के साथ 'उद्वेग' रहता है, 'सामान्य-प्रवृत्तियां' तीन-चार ही हैं, 'सहज-प्रवृत्तियां' बारह-चौदह हैं। हम अगले अध्यायमें सामाजिक-व्यवहारकी आधार-भूत इन 'सामान्य-प्रवृत्तियों' का वर्णन करेंगे। वे हैं—'संकेत' (Suggestion), 'अनुकरण' (Imitation) तथा 'सहानुभूति' (Sympathy)। अगले अध्यायमें इन तीनोंका वर्णन होगा।

प्रश्न

१. 'सामाजिक-व्यवहार कुछ आधारभूत प्राथमिक-सहज-प्रवृत्तियोंके सम्मिश्रण (Inter-play of Primary Instincts) से बनता है'—मैग्डूगलके इस कथनकी व्याख्या करतेहुए उसकी आलोचना कीजिये।
२. 'दया की भावना' (Tender emotion) से 'परोपकार' (Altruism) एवं 'दैन्य' (Submission) तथा 'आत्म-प्रदर्शन' (Self-assertion) की भावना से 'सदाचार' (Moral conduct) बनता है—मैग्डूगलके इस कथनकी आलोचना कीजिये।
३. ट्रौटर समाजको किस प्रकार 'सामूहिक-भावना' (Gregarious instinct) का परिणाम कहता है? उसके कथन की आलोचना कीजिये।
४. फ़्रॉयड किसप्रकार 'काम-भावना' (Libido) तथा 'आक्रमण' (Aggression) की भावनासे सामाजिक-व्यवहारका समाधान करता है?

[३४]

संकेत, अनुकरण तथा सहानुभूति

(SUGGESTION, IMITATION AND SYMPATHY)

मानसिक-प्रक्रियाके तीन पहलू होते हैं—'ज्ञान' (Knowing), 'इच्छा' (Feeling) तथा 'कृति' (Willing)। पहले हमें किसी बातका ज्ञान होता है, ज्ञान होनेके बाद अगर अच्छी बात है, तो उसके अनुकूल-भावना, और बुरी बात है, तो प्रतिकूल-भावना होती है, उसके बाद हम क्रिया करते हैं, अनुकूल को ग्रहण और प्रतिकूल को त्याग देते हैं। 'ज्ञान' का सूचक 'संकेत' (Suggestion) है, 'इच्छा' की सूचक 'सहानुभूति' (Sympathy) है, और 'क्रिया' का सूचक 'अनुकरण' (Imitation) है। सामाजिक-व्यवहारकी आधार ये तीन प्रक्रियाएं हैं। हम इस अध्यायमें इन तीनोंका वर्णन करेंगे।

'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) तथा 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) में भेद—

इससे पहले कि हम इन तीन प्रवृत्तियों के विषयमें कुछ लिखें, इनका तथा 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) का भेद क्या है, यह स्पष्ट करदेना आवश्यक है। हमने पिछले अध्यायमें देखा कि कुछ लोग 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) को सामाजिक-व्यवहार का कारण मानते हैं, कुछ लोग किसी एक 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) को सामाजिक-व्यवहारका कारण मानते हैं, और कुछ लोग 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencies) को सामाजिक-व्यवहारका कारण मानते हैं। परन्तु 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) तथा 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) में भेद क्या है ? मैग्डूगलने मानसिक-शक्तियोंके दो भाग किये हैं जिन्हें उसने क्रमशः 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) तथा 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencies) का नाम दिया है। 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) के साथ 'उद्वेग' (Emotion) जुड़ा रहता है, 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) के साथ नहीं जुड़ा रहता। मैग्डूगलके अनुसार 'सहज-प्रवृत्तियां' (Instincts) चौदहके लगभग हैं, और कम व्यापक हैं, 'सामान्य-प्रवृत्तियां' (General tendencies) तीन-चार हैं,

और पहलोंकी अपेक्षा अधिक व्यापक हैं। उदाहरणार्थ, एक बच्चा बैठा मट्टीका घर बना रहा है, उसकी देखादेखी दूसरे भी बनाने लगते हैं। यहां, घर बनाना 'विधायकताकी सहज-प्रवृत्ति' (Instinct of Constructiveness) है, परन्तु क्योंकि बच्चा दूसरेकी देखादेखी घर बना रहा है, इसलिये 'अनुकरण' (Imitation) की 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) मट्टीका घर बनानेमें सहायक सिद्ध हो रही है। एक बालक पुस्तक उठाकर उसके चित्र देख रहा है, उसकी देखादेखी दूसरा भी आकर उसके साथ चित्र देखने लगता है। यहां पहले बालकका चित्र देखना 'जिज्ञासाकी सहज-प्रवृत्ति' (Instinct of Curiosity) है, दूसरेका देखादेखी आ बैठना, 'अनुकरण' (Imitation) की 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) है। इन दोनों दृष्टान्तोंमें 'अनुकरण' की 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) 'विधायकता' तथा 'जिज्ञासा' —इन दोनों 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) में मौजूद है, इसलिये इन दोनोंसे अधिक व्यापक है। 'अनुकरण' की 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) चौदह-की-चौदह 'सहज-प्रवृत्तियों' (Instincts) में होसकती है, और इसीप्रकार 'संकेत' तथा 'सहानुभूति' का भी व्यापक रूप होसकता है। 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) तथा 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) में यही मौलिक भेद है। अब हम तीनों 'सामान्य-प्रवृत्तियों' (General tendencies) के विषयमें यह दर्शानेका प्रयत्न करेंगे कि वे सामाजिक-व्यवहार को कैसे प्रभावित करती हैं।

१. संकेत (SUGGESTION)

मैग्डूगलके शब्दोंमें 'संकेत' उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको विचार देता है, और जिसे विचार दिया जाता है वह व्यक्ति, विचारके युक्ति-संगत होनेकी तरफ़ ध्यान न देकर, उस विचारको बिल्कुल ठीक स्वीकार कर लेता है। 'संकेत-ग्राहकता' (Suggestibility) मन की शान्त-ग्राहकता (Passive receptivity) ही है। जिसको 'संकेत' दिया जाता है, उसके मनमें एक ऐसी क्रिया-शील प्रवृत्तियां उत्पन्न होजाती हैं जिनके परिणाम-स्वरूप व्यक्तिके मनमें दो विचार, अर्थात् द्विविधा नहीं रहती, और जो 'संकेत' दिया जाता है, चेतनाका सारा वेग उसी विचारपर केंद्रित होजाता है। 'संकेत' द्वारा मनमें ऐसी 'सहज-प्रवृत्तियां' (Instincts) जाग उठती हैं, जिनके साथ जुड़ा 'उद्वेग' (Emotion) 'सहज-प्रवृत्ति' के वेगको इतना प्रबल कर देता है कि उस प्रवृत्तिसे भिन्न दूसरी कोई प्रवृत्ति चेतनामें रहती ही नहीं। 'संकेत' स्वयं कोई 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) नहीं है, परन्तु 'सहज-प्रवृत्ति' को दिशा बतलाने-

वाली, उसे जगा देनेवाली, उसे सोतेसे उठा देनेवाली प्रवृत्ति है। अगर यह 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) होती, तो सब प्राणियों की संकेत ग्रहण करनेकी योग्यता एक-सी होती। ऐसा न होता कि कोई संकेतको ग्रहण करता है, कोई नहीं। 'सहज-प्रवृत्ति' (Instinct) में तो सब प्राणी एक-सा व्यवहार करते हैं, 'सामान्य-प्रवृत्ति' (General tendency) में नहीं। 'संकेत' में ऐसा नहीं होता, अतः 'संकेत' 'सहज-प्रवृत्ति' नहीं, 'सामान्य-प्रवृत्ति' है।

'संकेत' को ग्रहण करनेमें तीन बातें होती हैं—(१) अगर किसी बातको बार-बार दोहराया जाय, तो व्यक्ति उस 'संकेत' को ग्रहण कर लेता है, (२) 'संकेत' देनेवाला जितने विश्वास से, आत्म-बलसे 'संकेत' देता है, लेनेवाला उसे उतना ही अधिक ग्रहण करता है, और (३) संकेत देनेवालेका जितना रोब-दाब होता है, उतना ही उसका 'संकेत' ग्रहण कर लिया जाता है। नेताओंकी बात कैसी भी हो, जनता उनके रोबके कारण उनकी बात मान जाती है। आपसमें लोग लड़ते हैं, नेताके पास जाकर वह जो-कुछ कहता है, उसे मान आते हैं। हरेक व्यक्तिकी संकेत ग्रहण करनेकी योग्यता भिन्न-भिन्न होती है। थकाहुआ आदमी हरबात में हां-हां कर देता है, स्वस्थ व्यक्ति इतनी जल्दी काबूमें नहीं आता। मूर्ख व्यक्तिको जो-कुछ कहा जाय, मान लेता है, पढ़े-लिखे, समझदार लोग अपनी चलाते हैं।

'संकेत' चार प्रकारके हैं। 'प्रभाव'-संकेत (Prestige suggestions) वे हैं जो माता-पिता, शिक्षक आदि की तरफ़से दिये जाते हैं। किसी जातिके पुरखा, बूढ़े व्यक्ति जो बात कहते हैं दूसरे लोग उन बातोंको प्रायः मान लेते हैं। 'बहु-संख्याक-संकेत' (Mass suggestions) वे हैं जब कोई व्यक्ति बहुमतको देखकर कुछ करने लगता है। अगर यह उड़ा दिया जाय कि अमुक व्यक्तिको वोट पड़ रहे हैं, तो न भी पड़ रहे हों तो पड़ने लगते हैं। 'आत्म-संकेत' (Auto-suggestions) वे हैं जो मनुष्य अपनेको दिया करता है। अक्सर लड़के अच्छे-भले मास्टरजी को—'आप बीमार दीखते हैं'—कहकर बीमार कर देते हैं। लड़कोंके संकेतसे मास्टरजी अपनेको बीमार समझने लगते हैं। 'विरुद्ध-संकेत' (Contra-suggestions) वे हैं जिनको सुनकर व्यक्ति उलटा करने लगता है। अगर चुनावके समय कोई दल यह कहने लगे कि जो उनको वोट नहीं देगा उसको लूट लिया जायगा, तो इस 'संकेत' का उलटा असर होगा, देनेवाला भी नहीं देगा।

२. अनुकरण (IMITATION)

(१) 'उद्वेग' का स्वाभाविक-अनुकरण—मैंक्डूगल का कथन है कि जब कोई प्राणी दूसरे प्राणी की सहज-प्रवृत्ति को उत्तेजित हुआ देखता है, तो वह भी उसी प्रकारका उत्तेजित व्यवहार करने लगता है। लड़तोंको देखकर लड़ पड़ना, भागतों

को देखकर भाग खड़े होना प्रतिदिन का अनुभव है । मैग्डूगल के इस कथन के आलोचकोंका कहना है कि लड़तोंको देखकर लड़पड़ना लाजमी नहीं हैं । होसकता है, एक लड़ाके को देखकर हमें आश्चर्य होने लगे, अगर वह हमारे शत्रुसे लड़ रहा है, तो उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होजाय । माता अपने बच्चेको जब पुचकारती है, तो देखनेवालोंके हृदयमें वैसी ही भावनाका उत्पन्न होजाना जरूरी नहीं है । जिसके भीतर वैसी भावना होगी, वह 'अनुकरण' करेगा, दूसरा नहीं करेगा । एक ही दृश्यको देखकर दो व्यक्तियोंमें पारस्परिक विरुद्ध-भावना पैदा होसकती है, और एक ही भावनावाले दो व्यक्तियोंमें, 'अनुकरण' से नहीं, परन्तु स्वतंत्र रूपसे वह भावना पैदा होसकती है । इसलिये मैग्डूगलका उक्त कथन कुछ अंश तक तो ठीक है, सब अंशोंमें ठीक नहीं है ।

(२) व्यक्तिद्वारा आदर्शका अनुकरण---कभी-कभी दूसरेके अनुरूप बननेकी भावनासे भी प्राणी 'अनुकरण' करता है । बच्चे प्रायः इसीकारण 'अनुकरण' करते हैं । कई बालक तो अपने अध्यापककी बिल्कुल प्रतिलिपि होने का यत्न करते हैं । अध्यापककेलिये आदर्श बनना कितना आवश्यक है यह इसीसे स्पष्ट हो जाता है । बालक अपने बड़ोंका यूंही अनुकरण नहीं करते । जिस अध्यापकके विषयमें उनके हृदयमें श्रद्धा बैठ जाय, जिसकी योग्यताके वे कायल होजांय, उसीका अनुकरण करते हैं । समाजमें नेताओंके फ़ैशनका भी लोग अनुकरण करते हैं, परन्तु सिर्फ़ ऐसे नेताओंका जिनके विषयमे उनके हृदयमें श्रद्धा हो, जिसे वे आदर्श समझें ।

(३) समाजद्वारा आदर्शका अनुकरण---तीसरा अनुकरण वह होता है जिसमें कोई व्यक्ति या देश दूसरे व्यक्ति या देशकी अच्छाईको देखकर उसे ग्रहण करनेकेलिये उसका अनुकरण करता है । जापानने योरुप के देशोंका अनुकरण किया, इसलिये किया क्योंकि जापान उन-जैसा उन्नत होना चाहता था ।

'संकेत' तथा 'अनुकरण' के सम्बन्धमें बेजहौट (Bagehot) तथा टार्ड (Tarde) का सिद्धान्त प्रसिद्ध है । इस सिद्धान्तको 'समाजका संकेत-अनुकरणका सिद्धान्त' (Suggestion-Imitation Theory of Society) कहा जाता है । समाजके व्यवहारको समझनेकेलिये इस सिद्धान्तको समझ लेनेसे मदद मिलती है, इसलिये 'संकेत' तथा 'अनुकरण' के विषयमें लिखतेहुए इसपर भी कुछ प्रकाश डाल देना असंगत नहीं है ।

३. बेजहौट तथा टार्डका 'अनुकरण'-संबंधी सिद्धान्त

बेजहौटका 'संकेत-अनुकरण-संबंधी' सिद्धान्त—

बेजहौटका कथन है कि प्राथमिक-समाजमें 'अनुकरण' का बड़ा भारी स्थान है । प्राणी जो-कुछ बनता है, 'अनुकरण' द्वारा ही बनता है । प्राथमिक क्या,

वर्तमान-समाजके विकासमें भी इसका स्थान कम नहीं है । समाजम अकस्मात्, अचानक कोई नई चीज़ होजाती है । इस नई चीज़ का अत्यन्त प्रवल आकर्षण होता है । सब लोग इसका 'अनुकरण' करने लगते हैं। इस नई चीजका अकस्मात् होना एक ऐसा 'संकेत' (Suggestion) है, जिसको सब एकदम पकड़ लेते हैं, और 'अनुकरण' (Imitation) करने लगते हैं। क्योंकि इस प्रक्रिया में 'संकेत' और 'अनुकरण' दोनों काम करते हैं, इसीलिये इसे 'संकेत-अनुकरण' (Suggestion-Imitation) कहा जाता है । 'अनुकरण' इस नई बातको स्थिर रखनेका काम देता है। सब लोग नकल करने लगते हैं, इसलिये जिस बातका 'अनुकरण' किया जाता है, वह अपने-आप जड़ पकड़ लेती है। परन्तु, फिर, समाजमें केवल स्थिरता ही दीखनी चाहिये, नवीनता नहीं होनी चाहिये ? इसका उत्तर देते हुए बेजहोटका कहना है कि स्थिरताके रहतेहुए भी समाजमें परिवर्तन इसलिये होता है क्योंकि समाज हर बातपर बहस किया करता है। 'बहस' के परिणाम-स्वरूप नई बात निकल आती है, वह फिर 'अनुकरण' से टिक जाती, स्थिर होजाती है।

टार्डेका 'संकेत-अनुकरण-संबंधी' सिद्धान्त—

टार्डेका कहना है कि जो भी 'प्रक्रिया' (Process) होती है, उसका स्वरूप 'अन्तःक्रिया' (Inter-action) है । जब दो पदार्थ मिलेंगे, तो उनकी आपसकी क्रिया होगी, यही 'अन्तःक्रिया' (Inter-action) है । इस 'अन्तः क्रिया' के, अर्थात् एक-दूसरेके सम्पर्कमें आनेके तीन रूप हैं—'पुनरावृत्ति' (Repetition), 'विरोध' (Opposition) तथा 'अनुकूलन' (Adaptation) । हरेक वस्तुका विरोधी गुण उसकेसाथ रहता है, उन दोनोंके मेलसे एक तीसरा गुण पैदा होजाता है। उदाहरणार्थ, 'प्रेम' का विरोधी गुण 'द्वेष' है, परन्तु प्रेम-द्वेष के मेलसे 'सहिष्णुता' पैदा होती है। प्रत्येक सामाजिक-सम्बन्धमें दो विरोधी-भाव होते हैं, जिनसे उनके 'अनुकूलन' द्वारा एक तीसरा तत्व पैदा होता है । जब मनुष्य 'अधिकार-प्रदर्शन' (Assertion) करने लगता है, तो इसका विरोधी गुण 'अधिकार-निरोध' (Resistance) पैदा होजाता है। पहला गुण 'पुनरावृत्ति' (Repetition) से पैदा होता है, बार-बार अधिकार जतलानेसे 'अधिकार-प्रदर्शन' पैदा होता है, सिर्फ़ एक बार 'अधिकार-प्रदर्शन' किया जाय, तो उसे 'अधिकार-प्रदर्शन' कोई नहीं कहता; दूसरा गुण, अर्थात् 'अधिकार-निरोध' पुनरावृत्तिका 'विरोध' (Opposition) करनेसे पैदा होता है। इसके बाद एक तीसरी नवीन चीज़ पैदा होती है । यह तीसरी चीज़ 'पुनरावृत्ति' तथा 'विरोध' का समन्वय है, दोनोंका एक तीसरे नवीन-तत्वमें 'अनुकूलन' (Adaptation) है, जिसमें इनका

आपसका विरोध नहीं रहता। इसके बाद इस तीसरे तत्वकी फिर 'पुनरावृत्ति' से उसका 'विरोधी' तत्व उत्पन्न होजाता है। फिर इन दोनोंके समन्वयसे 'अनुकूलन' द्वारा एक तीसरा तत्व उत्पन्न होता है। यह प्रक्रिया लगातार आगे-आगे चलती चली जाती है। 'पुनरावृत्ति'-'विरोध'-'अनुकूलन'—फिर उस अनुकूलनसे पैदा हुए तत्वकी 'पुनरावृत्ति'-'विरोध'-'अनुकूलन', और इसीप्रकार आगे-आगे यह प्रक्रिया चलती चली जाती है, चलती चली जाती है।

टार्डेने 'पुनरावृत्ति' को 'जड़', 'चेतन' तथा 'समाज'—इन तीनोंमें घटाया है। 'पुनरावृत्ति' का एक रूप भौतिक जड़-जगत्‌में दीख पड़ता है। शब्द, प्रकाश आदिकी 'लहरें' (Undulations or Waves) एक-के-बाद-एक चलती चली जारही हैं, उनकी पुनरावृत्ति होती है, इसीसे शब्द सुनाई पड़ता है, वस्तु दिखाई पड़ती है। भौतिक-जगत्‌में लहरोंकी 'पुनरावृत्ति' न हो, तो वस्तुकी सत्ता ही नहीं होसकती। प्राणि-जगत्‌में एक प्राणी अपने-जैसे दूसरे प्राणीको उत्पन्न करता है। यह सन्तति-से-सन्तति का होना 'वंशानुसंक्रम' कहाता है। 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) प्राणि-जगत्‌में 'पुनरावृत्ति' के नियमका ही दूसरा नाम है। प्राणि-जगत्‌के बाद सामाजिक-जगत्‌में भी 'पुनरावृत्ति' का नियम काम कर रहा है। सामाजिक-जगत्‌में 'पुनरावृत्ति' के नियमको ही 'अनुकरण' (Imitation) कहा जाता है। समाजमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्यसे 'अनुकरण' द्वारा ही सीखता है। जैसे 'पुनरावृत्ति' जड़-जगत्, प्राणि-जगत् तथा सामाजिक-जगत्‌में पायी जाती है, वैसे 'विरोध' भी इन जड़-जगत्, प्राणि-जगत् तथा सामाजिक-जगत्‌में पाया जाता है। मनुष्य-जगत्‌में विरोधकी प्रक्रियाको लड़ाई, झगड़ा, संघर्ष, युद्ध आदि शब्दोंसे पुकारा जाता है। संसारके कामकी असली प्रक्रिया तो 'पुनरावृत्ति' तथा 'अनुकूलन' ये दो ही हैं, 'विरोध' का काम तो सिर्फ़ 'अनुकूलन' को उत्पन्न करना है। जब दो बातोंमें 'विरोध' होता है, तभी उनका समन्वय होनेके बाद 'अनुकूलन' होता है। 'पुनरावृत्ति' का काम तो एक ही वस्तुको उसी रूपमें स्थिर बनाये रखना है, 'विरोध' का काम इस स्थिरताको भंगकर, 'अनुकूलन' द्वारा, एक नवीन-तत्व, नवीन-'आविष्कार' को जन्म देना है। इसीप्रकार उन्नति होती है। जब 'पुनरावृत्ति' तथा 'विरोध' का 'अनुकूलन' होनेसे एक तीसरे नवीन-तत्वका, नवीन-आविष्कारका जन्म होजाता है, तब फिर 'पुनरावृत्ति'-'विरोध'-'अनुकूलन' की प्रक्रिया जारी होजाती है, और इसप्रकार नये-नये आविष्कार होते चले जाते हैं, और समाजकी उन्नतिका यह चक्र आगे-आगे बढ़ता चला जाता है।

नवीन-आविष्कारके बाद 'पुनरावृत्ति'-'विरोध' तथा 'अनुकूलन' की प्रक्रिया फिर भी आगे-आगे चलेगी, या नहीं चलेगी—इसका निश्चय इस बातसे होता है कि

वह नवीन-आविष्कार 'तर्क-संगत' (Logical) है, या 'तर्क-विरुद्ध' (Illogical) है। अगर वह 'तर्क-संगत' होता है, जिसे टार्डेने 'तर्कातिरेक-युक्त' (Extra-logical) कहा है, तो प्रक्रिया आगे चलती है, 'तर्क-संगत' नहीं होता, तो प्रक्रिया आगे नहीं चलती। उदाहरणार्थ, अगर कोई नवीन-आविष्कार विकासके सिद्धान्तके प्रतिकूल है, तो उसके आगे उक्त प्रक्रिया नहीं चलेगी, क्योंकि जो बात विकासके सिद्धांतके प्रतिकूल है वह तर्क-संगत नहीं है। अगर आविष्कार 'तर्क-संगत' है, अर्थात् तर्क-विरुद्ध नहीं है, तो आगेउसके तीन प्रकार होसकते हैं। 'तर्क-संगत 'का मतलब है कि नया आविष्कार, अर्थात् 'अनुकूलन' की प्रक्रियाद्वारा उत्पन्न होनेवाला नवीन-तत्त्व, तर्क-विरोधी नहीं है, और उसकी आगे 'अनुकरण' (Imitation) द्वारा 'पुनरावृत्ति'-'विरोध'-'अनुकूलन' की प्रक्रिया चल सकती है। ऐसीहालतमें, अर्थात् ऐसीहालतमें जब कोई नई बात तर्कके विरुद्ध नहीं है, 'अनुकरण' तीन प्रकारका होगा। पहला प्रकार यह होगा कि 'अनुकरण' भीतरसे बाहरको जायगा। उदाहरणार्थ, जब कोई देश किसी दूसरे देशका 'अनुकरण' करने लगता है, तब पहले उसके विचारोंका 'अनुकरण' करता है, विचार जो भीतरकी चीज़ है, फिर दूसरे देशके रीति-रिवाज़का, बाहरकी चीज़का 'अनुकरण' करता है। 'अनुकरण' में दूसरी चीज़ रौब है। जो रौबमें बड़ा होता है, उसका दूसरे लोग 'अनुकरण' करते हैं। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'—जो बड़े आदमी करते हैं वही छोटे करने लगते हैं। 'अनुकरण' में तीसरी चीज़ 'प्राचीनता' है। जो चीज़ पुरानी है, उसकेप्रति लोगोंकी विशेष श्रद्धा-भक्ति होती है। पुराने रीति-रिवाज, कायदे-कानूनका खासतौरपर 'अनुकरण' किया जाता है। संक्षेपमें, टार्डेकी 'अनुकरण' के संबंधमें यही विचार-धारा है। इसे 'संकेत-अनुकरण' (Suggestion-Imitation) इसलिये कहा है क्योंकि 'अनुकूलन' (Adaptation) द्वारा जो नवीन-तत्त्व उत्पन्न होता है, वह एक 'नवीन-संकेत' (New Suggestion) का द्योतक है, और 'अनुकरण' (Imitation) तो इस विचार-धाराकी जान है ही, इसलिये 'संकेत' तथा 'अनुकरण' के मिल जानेसे इस प्रक्रिया को 'संकेत-अनुकरण' (Suggestion-Imitation) कहा जाता है।

४. सहानुभूति (SYMPATHY)

जब कोई हंस रहा होता है, तो उसे देखकर हम हंसने लगते हैं, रो रहा होता है, तो उसे देखकर हमारी आंखोंमें भी आंसू आजाते हैं। इसप्रकार दूसरेकी 'अनुभूति' (Feeling) के साथ 'अनुभूति' करनेको 'सहानुभूति' कहते हैं। मैग्डूगलने 'अनुभूति' के संबंधमें एक नियमका प्रतिपादन किया है। इसे 'उद्वेगके आगमनका नियम' (Law of Sympathetic Induction of Emotion)

कहते हैं। 'उद्वेग' और 'अनुभूति' एक ही बात है। मैग्डूगलका कथन है कि जब किसी प्राणीमें कोई 'उद्वेग' होता है, तो दूसरे प्राणीकेलिये यह 'उद्दीपक' (Stimulus) का काम करता है, और इस 'उद्दीपक' को देखकर, इस दूसरे प्राणी में 'प्रतिक्रिया' (Response) होती है। इस 'प्रतिक्रिया' का रूप इस दूसरे प्राणीमें उसी 'उद्वेग' का उत्पन्न होजाना है। कामको देखकर काम, क्रोधको देखकर क्रोध, लोभको देखकर लोभ, मोहको देखकर मोह उत्पन्न होता है। 'समूह में रहनेवाले प्राणियोंमें तो यह नियम विशेष रूपसे काम करता है। इसका काम अनेकतामें एकता, विषमतामें समता स्थापित करना है। व्याख्याता इसीके सहारे जनताको किधर-का-किधर लेजाता है, अध्यापक इसीके सहारे विद्यार्थियोंको जैसा चाहे बना देता है।

मैग्डूगलके आलोचकोंका कहना है कि यह नियम अटूट नहीं है। बच्चेको डराहुआ देखकर हममें डर नहीं पैदा होता, उसपर दया आती है। जहां हम कहते हैं कि एक-दूसरेको देखकर लोग डर रहे हैं, वहां भी देख-भाल की जाय, तो पता चलेगा कि कई बार लोग एक-दूसरेको देखकर नहीं डर रहे होते, अपितु एक ही वस्तुको देखकर कुछ लोग डर रहे होते हैं, कुछ लोग जिज्ञासा कर रहे होते हैं, ई उस वस्तुसे बिल्कुल भी नहीं डर रहे होते। जिन-जिनका जैसा पिछला नुभव होता है, वे वैसी प्रतिक्रिया कर रहे होते हैं।

५. परिणाम

हम इन पिछले तीन अध्यायोंमें सामाजिक-व्यवहारके कारणकी तलाशमें गे रहे हैं। हमारा प्रश्न यह था कि सामाजिक-व्यवहार का आधार क्या ? हमने देखा कि एडम-स्मिथ तथा कार्ल-मार्क्स सिर्फ़ धन-दौलतको, प्रर्थ'को, 'धन-संग्रह' (Acquisition) को सम्पूर्ण व्यवहारका आधार मानते , फ्रॉयड 'काम-भावना' (Sex) को, मैग्डूगल 'सहज-प्रवृत्तियों' Instincts) को, ट्रौटर 'सामूहिक-भावना' (Gregariousness) को, जहोट तथा टार्डे 'संकेत' तथा 'अनुकरण' (Suggestion and Imitation) सामाजिक-व्यवहारका आधार मानते थे। यह भी हमने देखा कि मेंसे कोई एक सामाजिक-व्यवहारका आधार नहीं है, ये सब मिलकर ही हारको बनाते हैं। जब हम किसी एक बातको लेकर सामाजिक-व्यवहारका लेषण करने लगते हैं, तो दूसरी बातें स्वयं सामने आखड़ी होती हैं, उनको ाना जाय तो सिर्फ़ अर्थ, काम-भावना, सहज-प्रवृत्ति, सामान्य-प्रवृत्ति, सामू- -भावना, संकेत, अनुकरण या सहानुभूतिसे सब सामाजिक-व्यवहारोंका धान नहीं होसकता, अतः इन सबके मेलसे ही सामाजिक-व्यवहार बनता है।

प्रश्न

१. 'संकेत' (Suggestions) किसे कहते हैं, इसका सामाजिक-व्यवहारके निर्माणमें क्या हाथ है, इसके कितने प्रकार हैं ?
२. 'अनुकरण' (Imitation) के विषयमें मैग्डूगल, बेजहोट तथा टार्डके विचार क्या हैं ?
३. 'संकेत-अनुकरण-सिद्धान्त' (Suggestion-Imitation theory) क्या है ? टार्ड की विचार-धाराका विस्तारसे वर्णन कीजिये और बतलाइये कि भौतिक-जगत्, प्राणि-जगत् और सामाजिक-जगत् में 'पुनरावृत्ति' (Repetition) क्या-क्या रूप धारण कर लेती है ?
४. मैग्डूगलका 'उद्वेगके आगमनका नियम' (Law of Sympathetic Induction of Emotion) क्या है ? इसकी आलोचना कीजिए।
५. अर्थ, काम-भावना, सहज-प्रवृत्ति, सामान्य-प्रवृत्ति, सामूहिक प्रवृत्ति, संकेत, अनुकरण, सहानुभूतिमेंसे सामाजिक-व्यवहारको कौन बनाता है ?

[३५]

भीड़के विशेष-गुण तथा भीड़का व्यवहार

(CHARACTERISTICS AND BEHAVIOR OF THE CROWD)

१. भीड़का वर्गीकरण

सत्रहवें अध्यायमें हम 'समूह' पर लिख आये हैं। 'सामाजिक-समूह' को दो हिस्सोंमें बांटा जासकता है--'संगठित-समूह' (Organised group) तथा 'असंगठित-समूह' (Unorganised group)। 'संगठित' में परिवार, स्कूल, राजनैतिक, आर्थिक, साहित्यिक आदि समूह आजाते हैं; 'असंगठित' में रेवड़, भीड़, जनता आदि आजाते हैं। 'असंगठित-समूह' के फिर दो हिस्से हैं--'शारीरिक निकटतावाला' असंगठित-समूह, तथा 'विना शारीरिक निकटता-वाला' असंगठित-समूह। जब किसी असंगठित-समूहमें शारीरिक-निकटता नहीं रहती, तब वह 'भीड़' नहीं कहाता, शारीरिक-निकटता होनेपर ही कोई असंगठित-समूह 'भीड़' कहाता है। शारीरिक-निकटता न होनेपर भी जो असंगठित-समूह होता है, उसे 'भीड़' न कहकर, 'जनता' या 'पब्लिक' कहते हैं। दिल्ली, कलकत्ता, बम्बईमें जो लोग रहते हैं, उनकी असंगठित-अवस्थामें उन्हें 'जनता' या 'पब्लिक' कहा जाता है। शारीरिक-निकटतावाले असंगठित-समूह, अर्थात् भीड़की, किसी विषयमें दो प्रकारकी दिलचस्पी होसकती है। एक दिलचस्पी 'एक-सी-रुचि' (Like interests) की है, दूसरी दिलचस्पी 'एक-ही-रुचि' (Common interests) की है। एक जगह आग लग गई, कोई मकानसे गिर पड़ा, लोग खड़े तमाशा देख रहे हैं। सबकी 'एक-सी' दिलचस्पी है, परन्तु 'एक-ही' नहीं है, अगर वही लोग आग बुझाने लगें, तो 'एक-सी' का स्थान 'एक-ही' दिलचस्पी लेलेती है—ये दोनों समूह 'भीड़' कहाते हैं। यह आग बुझानेका काम अगर भीड़के स्थानमें फायर ब्रिगेड करने लगे, तो 'असंगठित-समूह' के स्थानमें 'संगठित-समूह' काम करने लगता है, जो भीड़ नहीं है। 'एक-सी' तथा 'एक-ही' रुचिवाले असंगठित-समूहोंमें, जिन्हें हमने 'भीड़' का नाम दिया है, 'रुचि' या तो किसी एक विषयपर 'केन्द्रित' (Focussed) होती है, या किसी एक विषय-

ध्यान केन्द्रित नहीं है। सब सैर-सपाटेकेलिये निकले हैं, सबकी 'एक-सी' रुचि है, परन्तु सबका मिलकर कोई 'एक-ही' लक्ष्य नहीं है। इसीप्रकार छुट्टीका दिन है, सैकड़ों-हज़ारों आदमी बाज़ारमें आ-जारहे हैं, इनके ध्यानका केन्द्र कोई विशेष वस्तु नहीं है, न ही सब मिलकर एक उद्देश्यके पीछे जारहे हैं। हज़ारों आदमी बाज़ारमें दिखाई दे रहे हैं, इतनेमें एक मकानसे गोली छूटी, यह भीड़ जो नदीके प्रवाहकीतरह बह रही थी, खड़ी होजाती है, सबका ध्यान किसी एक तरफ़ चला जाता है, यह भीड़ जिसका ध्यान 'अकेन्द्रित' था, उसका ध्यान एकदम 'केन्द्रित' होजाता है। यह भीड़, इस दूसरी श्रेणीसे, पहली श्रेणीका रूप धारण कर लेती है, और 'अकेन्द्रित' (Unfocussed) से 'केन्द्रित' (Focussed), एक-सी रुचिवाली भीड़ होजाती है।

(३) 'केन्द्रित तथा एक-ही रुचिवाली भीड़' (Focussed and Common-interest Crowd)--समाज-शास्त्रकी दृष्टिसे 'एक-सी' रुचिवाली भीड़ (Like-interest crowd) की अपेक्षा 'एक-ही' रुचिवाली भीड़ (Common-interest crowd) का अधिक महत्व है। 'एक-सी' (Like) रुचिमें भीड़का हरेक आदमी अपनी तरफ़ ही देखता है, इसलिये भीड़ कुछ कर नहीं पाती; 'एक-ही' (Common) रुचिमें भीड़का हरेक आदमी अपनेको विशाल समुदाय का अंग समझता है, इसलिये 'एक-ही' रुचिवाली भीड़ कुछ कर जाती है। 'एक-ही' रुचिवाली भीड़का ध्यान जब किसी एक बात पर केंद्रित होजाता है, तब अच्छे या बुरे बड़े-बड़े काम कर डालती है। राजनैतिक भीड़ प्रायः 'एक-ही' रुचिवाली भीड़ होती है, जिसका ध्यान किसी एक बात पर केंद्रित होजाता है। जब किसी मिलके मज़दूर हड़ताल कर देते हैं, और बिना किसीके भड़काये ऐसा कर देते हैं, तब उन सब असंगठित मज़दूरों का 'एक-ही' उद्देश्य होता है, और एक ही बातपर उनका ध्यान केन्द्रित होता है। स्कूलों-कालेजोंमें विद्यार्थियोंके कई आन्दोलन उठ खड़े होते हैं, उनमें भी सबका 'एक-ही' स्वार्थ होता है, और एक ही बात की तरफ़ सबका ध्यान लगा होता है। अमरीकाका लिंचिंग भी इसीप्रकारकी भीड़ोंद्वारा होता है। ऐसी भीड़ें अचानक उठखड़ी होती हैं। देशमें दुर्भिक्ष पड़ गया, लोग भूखे मरने लगे, भीड़ने अन्नके गोदाम लूट लिये। यह लूट पहलेसे किये किसी निश्चय के कारण नहीं होती। महात्मा गान्धीकी एक ब्राह्मण कहानेवाले मूर्खने हत्या कर दी, पूना में ब्राह्मणोंके घर जला दिये गये। इन भीड़ों का कोई संगठन नहीं करता, ये आप-से-आप बन जाती हैं, घटनाओंका धक्का इन भीड़ोंका निर्माण कर देता है। अन्य प्रकारकी भीड़ें उतने महत्वकी नहीं हैं जितने महत्वकी ये तीसरे प्रकारकी भीड़ें हैं, क्योंकि ये अच्छा या बुरा कुछ काम तो कर डालती हैं। इन भीड़ोंमें कानून को ताकमें

रख दिया जाता है, प्रचलित सामाजिक-व्यवहारकी भी पर्वाह नहीं की जाती। कभी-कभी प्रचलित कानूनकेप्रति भीड़ इतने क्रोधमें उठ खड़ी होती है कि सब कानूनोंके चीथड़े उड़ातीहुई आगे बढ़ जाती है। मनुष्यकी कानूनके बन्धनसे मुक्त होनेकी भावना इस अवसरका लाभ उठाकर अपना नंगा नाच खेलने लगती है।

(४) 'अकेन्द्रित तथा एक-ही रुचिवाली भीड़' (Unfocussed and Common-interest Crowd)—दिवालीके उत्सवमें सब-लोग बाज़ारमें रोशनी देखनेकेलिये जाते हैं, अगर किसी ख़ास रोशनीको देखने जांय तब तो वह केन्द्रित-रुचि वाली भीड़ कहायेगी, परन्तु अगर सिर्फ़ रोशनी देखने जांय, तो रुचि तो एक ही है, दिवाली देखना ही सबका लक्ष्य है, परन्तु रुचि किसी एक चीज़ पर 'केन्द्रित' न होकर 'अकेन्द्रित' है। इसीप्रकार १५ अगस्तके स्वतंत्रता महोत्सवको देखनेकेलिये दिल्ली के लाल किले पर उमड़ रही भीड़की रुचि तो 'एक-ही' है, परन्तु ध्यान 'केन्द्रित' न होकर 'अकेन्द्रित' है। दिवाली देखने वाली भीड़ अगर आर्य-समाज मन्दिरमें जाकर व्याख्यान सुनने लगे, तो उसका ध्यान 'अकेन्द्रित' न रहकर 'केन्द्रित' होजायगा, इसी-प्रकार स्वतंत्रताका महोत्सव देखनेवाली भीड़ अगर पं० जवाहरलाल जी का भाषण सुननेलगे, तो वह भी 'अकेन्द्रित' से 'केन्द्रित' होजायगी।

२. भीड़का लक्षण

ऊपरके वर्गीकरणसे भीड़का लक्षण बहुत-कुछ स्पष्ट होगया होगा। भीड़ मनुष्योंके उस समूहका नाम है जिसमें 'शारीरिक-निकटता' हो, जिसमें कुछ देरकेलिये लोग 'असंगठित' तौरपर, एक-दूसरेके सम्पर्क में आये हों। भीड़ झटसे पैदा हो सकती है, और झट-से ही समाप्त होसकती है। संसारके संगठित-संगठनोंमें भीड़ सबसे बड़ा असंगठित-संगठन है। चलते-फिरते मित्रोंका मिल जाना, गली-कूचेमें पांच-सातका खड़े होकर बातें करने लगना भीड़ में शामिल नहीं है। भीड़केलिये संख्याका अधिक होना आवश्यक है। अगर पहलेसे सूचना देकर किसी जगह हजारोंकी तादाद में व्याख्यान सुननेकेलिये लोग इकट्ठे हों, तो वह भी भीड़ नहीं है। भीड़ में पहले से सूचना नहीं दी जाती। व्याख्यान सुननेवाले तो 'जनता' हैं; इधर-उधर आकर खड़े होजानेवाले 'भीड़' हैं। भीड़में लोग अचानक इकट्ठे होजाते हैं। इन अचानक आकर इकट्ठे होजानेवालोंमें जो लोग सुननेकेलिये नहीं तमाशेकेलिये इकट्ठे होजाते हैं, वे 'भीड़' हैं, जो सबकेसाथ आकर व्याख्यान सुननेकेलिये बैठ जाते हैं, वे 'भीड़' से निकलकर 'जनता' में शामिल होते जाते हैं, जो आते तो तमाशा देखनेकेलिये हैं, परंतु आकर सबकेसाथ बैठते तो नहीं, खड़े-खड़े व्याख्यान सुनने लगते हैं, वे 'भीड़' और 'जनता' की बीचकी श्रेणीमें हैं। भीड़में कोई नियत काम नहीं कर रहा होता, कन्धेसे-कन्धा भिड़ा कर सब एक-दूसरेसे आगे निकलनेका यत्न करते हैं। किसी

उत्सवको देखनेकेलिये हजारोंकी संख्यामें लोग इकट्ठे होते हैं, इनमें शारीरिक-निकटता है, पहलेसे किसीके किसीको मिलनेकी कोई सूचना नहीं, कोई संगठन नहीं, कोई नियम या व्यवस्था नहीं, इनकी संख्या भी वहुत अधिक है—मनुष्योंका यह जमघट भीड़ कहायेगा, परन्तु अगर यही मिलकर एक जुलूस वनाकर निकलने लगे, तो यह भीड़ नहीं रहेगी। इस जुलूसके देखनेवाले भीड़ कहायेंगे, जुलूसमेंसे निकलकर जो देखनेवालोंमें शामिल होता जायगा वह भीड़का, और भीड़से निकलकर जो जुलूस में शामिल होता जायगा वह जुलूसका अंग वनता जायगा। व्याख्यान सुननेवाली जनतामें गोली छूट पड़ने पर उस जमघट में भगदड़ पड़ जायगी, और यह सारी-की-सारी संगठित 'जनता' एकदम 'भीड़' वन जायगी।

३. भीड़के विशेष-गुण

मनोवैज्ञानिकोंने भीड़के कुछ 'विशेष-गुण' (Characteristics) देखे हैं, जो भीड़को कुछ महत्व देते हैं। ये गुण मानसिक हैं, और निम्न हैं:—

(१) विचारका ह्रास—भीड़का अंग होजानेके वाद हरेक व्यक्तिकी विचार-शक्ति कुछ कम होजाती है। भीड़से वाहर रहकर वह जिस स्पष्टतासे हरेक विपयपर सोच सकता है, भीड़में शामिल होनेके वाद वह वैसा स्पष्ट नहीं सोचता। रस्किनने ठीक कहा है—'भीड़ किसी भी वातको ठीक मान सकती है। जैसे जुकाम एकसे दूसरेको लगता है, वैसे भीड़में विचार भी मानो छूत की वीमारीकी तरह फैलता है। भीड़का अंग होकर तिलको ताड़ वनते और भीड़के छंट जानेपर ताड़को तिल वनते देर नहीं लगती।' भीड़की विचार-शक्ति कम क्यों होजाती है, इसके विद्वानों ने पांच कारण कहे हैं:—

(क) भीड़में सवतरहके व्यक्ति होते हैं, परन्तु अधिक संख्या ऐसे लोगोंकी होती है जिनकी विचार-शक्ति कम होती है। व्याख्याता भी वड़ी-वड़ी युक्तियोंसे काम नहीं लेता, कम विचार-शक्तिकी जनताको सामने देखकर उनकी समझके अनुरूप युक्तियोंसे काम लेता है। भीड़का अंग होकर व्यक्तिकी विचार-शक्ति भी कुछ देरकेलिये वैसी ही निम्न-स्तरकी वन जाती है।

(ख) भीड़का अंग होते ही मनुष्य वहस नहीं कर सकता। दूसरा जो कहे वही उसे सुनना होता है। भीड़का नेता ही वोलता है, दूसरोंको चुप कर जाना होता है। वाद-विवाद न होनेसे विचार-शक्ति काम ही नहीं करती।

(ग) भीड़में 'वुद्धि' से नहीं, 'उद्वेग' (Emotion) से काम लिया जाता है। भीड़ या तो प्रेम से मस्त होरही है, या क्रोध से पागल होरही है। 'उद्वेग' के विषयमें हम पहले लिख आये हैं कि यह एकसे दूसरेमें आगकीतरह फैलता है। सत्संगोंमें भक्तिके गीत सुनकर नास्तिक-से-नास्तिकका भी सिर झूमने लगता है,

लड़कोंके स्ट्राइक करनेपर शहरके लोग सरकारी बसोंको जलाने लगते हैं। 'बुद्धि'से काम लें, तो भीड़ भीड़ न रहे, और वे ऐसे काम न करें।

(घ) 'उद्वेग' का काम मनुष्यको अन्धा बना देना है। प्रेम तथा क्रोध से लोग अन्धे होजाते हैं, दूसरेके दृष्टि-कोणको देख ही नहीं सकते। भीड़को जिस 'उद्वेग' ने पकड़ रखा है, उससे विरोधी भावनाको भीड़ सुन ही नहीं सकती, उस 'उद्वेग' के अनुकूल जो बात होगी, उसे भीड़ झट ग्रहण कर लेगी। जितना 'उद्वेग' बढ़ेगा, उतना 'बुद्धि' लकवा खाजायगी। यही कारण है कि भीड़में आदमी अन्धा होकर ऐसे काम कर बैठता है जिनकेलिये पीछे पछताता है।

(ङ) भीड़में 'संकेत-ग्रहण योग्यता' (Suggestibility) तथा 'अनुकरण' (Imitation) बहुत बढ़ जाता है। लोग हंस रहे हैं, तो हम हंसने लगते हैं, रो रहे हों, तो हमारे भी आंसू निकल आते हैं, डरके मारे भाग रहे हों, तो हम भी भागने लगते हैं, लूट रहे हों, तो बहुत-से भलेमानस भी लूटमें शामिल होजाते हैं।

(२) उद्वेगकी वृद्धि—भीड़का पहला गुण 'विचार-शक्ति' (Intelligence) का कम होजाना है, तो दूसरा गुण 'उद्वेग-शक्ति' (Emotionalism) का बढ़ जाना है। 'उद्वेग' की अवस्था में मनुष्यकी सब भावनाएं उबलकर बाहर निकलती हैं, इसलिये भीड़में लोग बोलते नहीं चिल्लाते हैं, एक-दूसरेके पास ही खड़े नहीं होते, एक-दूसरे को घसीटते हैं, शोर हो-हुल्ला मचाते हैं, तालियां पीटते हैं, कोई टीम जीत जाय, तो कैप्टन को कन्धे पर चढ़ा लेते हैं। कहने का मतलब यह कि भीड़में 'उद्वेग-शक्ति' इतनी बढ़ जाती है कि भीड़का व्यवहार साधारण तथा शान्त नहीं रहता, असाधारण हो जाता है। जब साधारण दुनियाका भी मनुष्यकी इन्द्रियों पर जबर्दस्त प्रभाव पड़ता है, तब इतने जबर्दस्त प्रदर्शनका उसपर बहुत ही गहरा असर क्यों नहीं पड़ेगा? इसीका परिणाम होता है कि मनुष्य भीड़में मिलकर भीड़ का होजाता है, और उसकी दबीहुई भावनाएं भीड़में खुल जाती हैं।

(३) शक्तिकी भावना—भीड़में मनुष्योंकी संख्या बहुत अधिक होती है। इतनी भीड़का अंग होने पर मनुष्य अपने में भीड़की शक्ति अनुभव करने लगता है, और समझने लगता है कि अब मेरा मुकाबिला कौन कर सकता है? भीड़ अपनेको सर्व-शक्तिमान् समझती है। राजाओंके महलों को इकला आदमी नहीं जला सकता, परन्तु भीड़का अंग होने पर, वही आदमी जो इकला भाग खड़ा होता, पुलिसके सामने महलोंको दियासलाई लगाकर फूंक देता है। नेता लोग भीड़को देखकर जो बातें कह जाते हैं, वे भीड़की शक्ति न होने पर नहीं कह सकते, वे अपनेमें भीड़की शक्ति देखने लगते हैं, इसीलिए अपनेको सर्व-शक्तिमान् समझने लगते हैं।

(४) उत्तर-दायित्व-हीनता—भीड़में हरेक जानता है कि भीड़ जो-कुछ

करेगी उसका उत्तरदायित्व किसी एक व्यक्तिपर नहीं आयेगा, हर बातकी जिम्मेवारी सैंकड़ों-हजारों लोगों में बंट जायगी। इसके अतिरिक्त भीड़में कोई किसी को जानता नहीं, इसलिये भी किसीको किसी बातका डर नहीं रहता। जिन व्यक्तियों में नैतिक-भावना बहुत अधिक बढ़ी होती है, वे ही भीड़में आकर भी अपना सन्तुलन नहीं खो देते, दूसरे लोग नैतिकताका चोला उतारकर परे फेंक देते हैं। जिस देश या जातिके व्यक्तियोंमें जितनी अधिक नैतिक-भावना होती है, जितनी अधिक उत्तर-दायित्वकी भावना होती है, वहां लोग भीड़में रहतेहुए भी उतना ही अपनेपर काबू रखते हैं। भारतमें भीड़ बाग-बगीचेको नष्ट कर देती है, इंग्लैंडमें सम्राट् जार्ज की रजत-जयंती के अवसर पर राज-महलके सामने बड़ा भारी समारोह हुआ, परन्तु बगीचे के एक फूलको भी किसीने हाथ नहीं लगाया।

(५) सहज-विश्वास—क्योंकि भीड़ किसी भी 'संकेत' को झट ग्रहण कर लेती है, इसलिये इसकी 'विश्वास-योग्यता' (Creduality) बढ़ जाती है। भीड़में जो अफवाह फैला दी जाती है, वह आगकी तेजीकी तरह सारी भीड़को व्याप लेती है। भीड़में लोग निराधार बातोंको सच्ची मानकर उत्पात मचाने लगते हैं।

(६) अस्थिरता—व्यवहारमें 'अस्थिरता' (Instability) भीड़का विशेष गुण है। अभी जिसे भीड़ सिरपर चढ़ा रही है, अगले ही क्षण उसका खून भी बहा सकती है। आक्रमण के लिये आती हुई भीड़पर गोली चल जाय, तो सब पांव सिरपर रखकर भाग खड़े होते हैं। भीड़के कांटेको इधर-से-उधर फेरनेमें देर नहीं लगती। भीड़ जिस आदमीको लूटनेकेलिये उमड़ पड़ी हो, वही आदमी अपने एक शब्दसे उस पर ऐसा जादू डाल सकता है कि भीड़ उसका जुलूस निकालने लगे।

(७) आवेगात्मकता—भीड़ 'आवेग' (Impulse) के पीछे चलती है। न यह अच्छी होती है, न बुरी, इसे जैसा बनाया जाय, बन जाती है। व्याख्याता भीड़ को लूट-मारकेलिये भी प्रेरित कर सकता है, लूट-मार करतीहुई भीड़को इन बातोंसे रोक भी सकता है। भीड़पर सामूहिक-निर्देशका असर होता है। यह कहना गलत है कि भीड़ सदा अनैतिकको तरफ ही जाती है। भीड़ तो एक तय्यार मसाला है, इससे अच्छी-बुरी दोनोंप्रकारकी रचना की जासकती है।

(८) सामाजिक-सौकर्य—जब भीड़में अनेक आदमी इकट्ठे होते हैं, तब हरेक व्यक्तिकी काम करनेकी शक्ति बढ़ जाती है, वह कठिन कामको भी आसानी से करसकता है। इस प्रक्रियाको समाज-शास्त्री 'सामाजिक-सौकर्य' (Social facilitation) कहते हैं। भीड़में कन्धे-से-कन्धा भिड़ता है, लोग गर्दनें लम्बी करके, आंखें फाड़ कर, कानों पर जोर डालकर हर बातको जानने, देखने और सुनने

का यत्न करते हैं, इसलिये भीड़में हरेक इन्द्रिय की कार्य-शक्ति बढ़ जाती है, 'सामाजिक-सौकर्य' का यही कारण है, हर इन्द्रियकी कार्य-शक्ति जो उससमय बढ़ी हुई होती है।

(९) नेता का रोब--भीड़का एक नेता होता है, भीड़के कारण नेताकी शक्ति होती है, वह भीड़का आदर्श, भीड़का हीरो होता है। भीड़का प्रत्येक व्यक्ति नेता के साथ अपनी 'अभिन्नता' (Identification) स्थापित कर लेता है, अतः नेता की शक्ति भीड़का प्रत्येक व्यक्ति अपने में देखने लगता है। नेता भी भीड़के प्रत्येक व्यक्तिमें अपना 'विस्तार' (Projection) देखने लगता है, इसलिये सबकी मिली हुई शक्तिको अपनी शक्ति देखने लगता है। ये दोनों प्रक्रियाएं 'अभिन्नता' (Identification) तथा 'विस्तार' (Projection) नेताके रौबके कारण होती हैं। नेताका रोब 'प्रभाव-संकेत' (Prestige suggestion) द्वारा भीड़को जिधर चाहता है, मोड़ देता है।

(१०) एक-दूसरे से वेग ग्रहण करना--भीड़में हरेक व्यक्ति दूसरेको वेग देता है। जैसे ध्वनि-विस्तारक-यन्त्रद्वारा ध्वनि फैल जाती है, वैसे भीड़में एक-दूसरेके सम्पर्कसे हर बातमें तेजी आजाती है। संकीर्तनोंमें ताल देने और सामूहिक भजनों से वेग बढ़ जाता है। वेग को बढ़ानेकेलिये ही बाजे, ढोल, घंटे बजाये जाते हैं, नारे लगाये जाते हैं, जय-घोष किये जाते हैं। जब कहींसे कोई भीड़ नारे लगाती हुई आगे बढ़ती है, तब सोते उठ बैठते हैं, बैठे हुए भाग कर सड़कपर आखड़े होते हैं, जो नारे लगा रहे हैं, उनके जोशका तो कहना ही क्या है ? धार्मिक तथा राजनैतिक नेता संकीर्तनों, जुलूसों तथा नारोंका महत्व खूब जानते हैं।

४. भीड़का व्यवहार

भीड़के वर्गीकरणमें हम देख चुके हैं कि भीड़ चार किस्मकी होती है। 'एक-सी' तथा 'एक-ही' रुचिके 'केन्द्रित' तथा 'अकेन्द्रित' होनेके कारण भीड़ के चार प्रकार हैं। जिस भीड़का ध्यान या रुचि 'अकेन्द्रित' है, उसका मनोवैज्ञानिक या सामाजिक महत्व कुछ नहीं है। उदाहरणार्थ, गली-कूचे में, छुट्टीके समय, दिवाली मनानेके लिये या अन्य कोई जातीय-महोत्सव मनानेकेलिये फिर रही भीड़का ध्यान किसी विशेष बात पर केन्द्रित नहीं होता। ऐसी भीड़का कोई सामूहिक-व्यवहार नहीं होता। हमारे अध्ययनकेलिये आवश्यक वह भीड़ है जिसका ध्यान या जिसकी रुचि किसी विशेष बात पर केन्द्रित होती है। ऐसी भीड़ दो ही होसकती हैं—'केन्द्रित तथा एक-सी रुचिवाली भीड़' (Focussed and Like-interest Crowd) और 'केन्द्रित तथा एक-ही रुचिवाली भीड़' (Focussed and Common-interest Crowd)। इन दोनोंमें 'केन्द्रित'—शब्द तो दोनोंमें समान है, भेद सिर्फ़

'एक-सी' (Like) और 'एक-ही' (Common) में है । इसका यह मतलब हुआ कि भीड़का व्यवहार तभी होसकता है जब उसका ध्यान या रुचि किसी बात पर 'केन्द्रित' हो जाय, अगर ध्यान या रुचि 'अकेन्द्रित' होगई, तो भीड़का कोई व्यवहार नहीं होसकता। ध्यान 'केन्द्रित' होनेपर भी 'एक-सी' और 'एक-ही' का भेद ध्यान देने योग्य है । जब किसी भीड़की 'एक-सी' रुचि होती है, तब सबका व्यवहार अलग-अलग होता है, एक समान व्यवहारकेलिये 'एक-सी' के स्थानमें 'एक-ही' रुचिका होना आवश्यक है । भीड़के व्यवहारकेलिये 'एक-सी' की जगह 'एक-ही' रुचिका महत्व है । बाज़ारमें इधर-उधर फिर रही भीड़की रुचिका कोई केन्द्र नहीं है, इतने में कोई विशेष घटना होजाती है, कहीं आग लग जाती है, सबका ध्यान केन्द्रित हो जाता है, परन्तु सबकी अपनी-अपनी जिज्ञासा है, 'एक-सी' जिज्ञासा तो है, 'एक-ही' जिज्ञासा नहीं है । आगकी लपटें बढ़ने लगती हैं, इतनेमें पता चलता है कि घरमें एक छोटा-सा बच्चा आगमें घिरगया है । भीड़में कुछ उत्साही युवक हैं, वे सब मकान में घुस पड़ते हैं, बच्चेको बचानेका यत्न करते हैं, इन सबका यत्न 'एक-सा' न रहकर 'एक-ही' हो जाता है । जब किसी भीड़का 'एक-ही' उद्देश्य हो जाता है तब, उसकी शक्ति अपरिमित होजाती है । 'एक-सी' इच्छावाली भीड़में दूसरोंकी मौजूदगी हरव्यक्तिकी इच्छाके पूर्ण होनेमें रुकावटका काम करती है, 'एक-ही' इच्छावाली भीड़में दूसरोंकी मौजूदगी हरव्यक्तिकी इच्छाकी पूर्तिमें सहायकका काम करती है । रेलगाड़ीपर चढ़नेकी सब मुसाफ़िरोंकी 'एक-सी' इच्छा है, परन्तु हरेक चाहता है दूसरा न होता तो अच्छा था ताकि वह स्वयं आसानी से चढ़ सकता, परन्तु उसी रेलगाड़ी पर चढ़नेवाले एक ही बरातके आदमी यह चाहते हैं कि जितने बराती हों उतना ही अच्छा है ताकि सब एक-दूसरेको गाड़ी पर चढ़नेमें मदद करें, वे मदद इसलिये करते हैं क्योंकि उन सबकी 'एक-ही' इच्छा है । 'एक-ही' इच्छा-वाली भीड़में कोई उद्देश्य होता है जो सबको एक-दूसरेकेसाथ बांधे रखता है, वे सब अपने को 'मैं' न कहकर 'हम' कहते हैं। 'हम' की भावनाको लेकर जब भीड़ उठ खड़ी होती है, तब बड़े-बड़े राजाओं के सिंहासन डोल जाते हैं, उस समय जनता वास्तव में जनता-जनार्दनका रूप धारण कर लेती है, इसीको 'आवाज़ए खलक नक्कारये खुदा' (Vox Populi Vox Dei) कहते हैं। भीड़के व्यवहारमें ये सब नियम काम करते हैं, जिनका हम भीड़के 'विशेष-गुणों' में वर्णन कर आये हैं। भीड़में बुद्धिसे काम नहीं होता, भावना से, उद्वेग से काम होता है, भावना आगकी लपटोंकीतरह फैलती है, हरेक आदमीकी भावना दूसरेकी मौजूदगी से तीव्र होजाती है, और जब 'भीड़' (Crowd) किसी कामको कर गुज़रनेपर आमादा होजाती है, तब उसीको 'भीब' (Mob) कहा जाता है ।

५. भीड़के व्यवहारका आधार

भीड़में मनुष्य असाधारण-व्यवहार करने लगता है। भीड़के इस असाधारण-व्यवहार को समझनेकेलिये विद्वानोंने भिन्न-भिन्न कल्पनाएं की हैं। उनमेंसे कुछ कल्पनाएं निम्न हैं:—

(१) 'समूह-मानस' की कल्पना (Group-mind Thesis)—ले बॉन (Le Bon) तथा मैग्डूगल (Mac Dougall) आदि मनोवैज्ञानिकों का विचार था कि समूह का व्यक्तिसे अतिरिक्त एक अलग मन होता है। 'समूह' में व्यक्ति अपने व्यक्तित्वकी पृथक्-सत्ताको खो देता है, उसे खोकर एक सामूहिक-चेतना उत्पन्न होजाती है, हर व्यक्तिका अलग-अलग मानस दूसरे व्यक्तिके मानसकेसाथ घुल-मिल जाता है, इनके मिलनेसे जो मानस उत्पन्न होता है, वह समूह का शासन करता है। 'समूह' का मानस और 'भीड़' का मानस एक ही बात है, 'समूह' संगठित वस्तु है, 'भीड़' संगठित नहीं है। प्रत्येक 'समूह' में, प्रत्येक 'भीड़' में झट-से समूहका मानस उत्पन्न होजाता है, वह व्यक्तिके मानससे भिन्न होता है, और क्योंकि वह व्यक्तियोंके मानसके मिलनेसे बनता है, इसलिये उसमें समूहका-सा अपरिमित बल होता है। २७ वें अध्यायमें 'समाज तथा व्यक्ति' पर लिखते हुए हम दर्शा आये हैं कि व्यक्तियोंसे अलग समाजकी कोई पृथक् सत्ता नहीं है, व्यक्ति ही समाज या समूह बनाते हैं, इसलिये 'समूह-मानस की कल्पना' ठीक कल्पना नहीं है।

(२) 'निरुद्ध-प्रेरणाओं' की कल्पना (Repressed Drives Thesis)—फ्रॉयड (Freud) तथा उसके अनुयायियोंका कहना है कि भीड़के व्यवहारमें व्यक्तियोंकी निरुद्ध-इच्छाओंके ऊपर पड़ा हुआ प्रतिबन्ध हट जाता है, इसलिये भीड़ में व्यक्तियोंकी सब दबी हुई इच्छाएं प्रकट हो जाती हैं। मनुष्य समाजमें पला है। समाजमें कुछ बातें ठीक, और कुछ बुरी मानी जाती हैं। जिन बातोंको समाज बुरा मानता है, उन्हें व्यक्ति दबा देता है। परन्तु अन्दर दबकर भी वे दबती नहीं, निकलनेका मौका देखती रहती हैं। इन इच्छाओंको दबानेवाला एक पहरेदार हर समय मनपर बैठा रहता है। इसे 'प्रतिबन्धक' (Censor) कहते हैं। सोते समय मनुष्य विचार नहीं कर सकता, उस समय 'प्रतिबन्धक' (Censor) मानो हट जाता है, इसीलिये जिन इच्छाओंको मनुष्य जागते में समाजके भयसे पूरा नहीं करता उन्हें स्वप्नों में पूरा करता है। जैसे, स्वप्न में, मनुष्यकी निरुद्ध-प्रेरणाएं (Repressed desires) पूरी होती हैं, वैसे भीड़में भी किसीका डर नहीं रहता, सामाजिक-प्रतिबन्ध हट जाता है, समाज ही मानो व्यक्तिको खुलकर खेल लेने की छुट्टी दे देता है, इसलिये भीड़में व्यक्तिका व्यवहार असाधारण हो जाता है। कभी-कभी पुलिसके आदमी भी जनता पर खुलकर गोलियोंकी बौछार करते हैं।

वे भी तो मनुष्य हैं, उनकी भी 'निरुद्ध-प्रेरणाएँ' हैं, कहनेको वे कहते हैं उन्होंने अपनी रक्षाके लिये गोली चलाई, परन्तु पुलिसका उत्पात भीड़के उत्पातका-सा होता है, और क्योंकि उसके हाथ में शस्त्र होता है, अतः वह उत्पात भीड़के उत्पात को मात कर देता है।

(३) 'सांस्कृतिक-परिस्थिति' की कल्पना (Cultural-conditions Thesis)—एक कल्पना यह है कि किसी देश या समूहकी संस्कृति भीड़के व्यवहारपर बहुत भारी प्रभाव डालती है। प्राथमिक-जातियोंमें कई ऐसे समूह हैं, जो समय-समय पर जो जी में आये वह सब कर लेनेकी छूट देते हैं, कई ऐसे समूह हैं, जो किसीप्रकारकी छूट नहीं देते। अगर कोई समाज ऐसा है जिसमें व्यक्तिकी अन्तरात्मा तक यह बात प्रवेश पागई है कि बड़ोंका अनादर ठीक नहीं, तो वह क्रोधमें भी और सब-कुछ कर जायगा, बड़ोंका अनादर नहीं करेगा। १९३८में एच. जी. वेल्सके एक उपन्यासके आधार पर मार्स नक्षत्रसे आक्रमण को आधार बना कर रेडियोसे एक कथानकका विस्तार किया गया। लोग सचमुच समझने लगे कि मार्स-नक्षत्रसे आक्रमण होने वाला है, घबड़ा गये, परेशान होगये। ऐसा व्यवहार उन्होंने क्यों किया? इसलिये, क्योंकि उन दिनों योरुपमें लड़ाईके बादल मंडरा रहे थे, अपने समय की सामाजिक या सांस्कृतिक परिस्थितिके परिणाम-स्वरूप उनका ऐसा व्यवहार होसकना संभव हुआ। अगर लड़ाईके बादल चारोंतरफ़ न छाये होते, तब ऐसा थोड़े ही होसकता। १९३४ में फ्रांसमें राजनैतिक दंगे हुए, सम्पत्तिका महानाश हुआ, परन्तु जान एककी भी न गई, इसलिये न गई क्योंकि फ्रांसके कैथोलिक लोगों की रग-रग में हत्या करना भारी पाप था। जिन देशोंकी सभ्यता, संस्कृति में ऐसी भावना नहीं होती, उनमें राजनैतिक दंगा हुआ नहीं कि खून की नदियां बही नहीं।

(४) 'भाव-संचार' की कल्पना (Mimesis Thesis)—समूह अथवा भीड़के असाधारण व्यवहार की अन्तिम कल्पना यह है कि समूहमें नेताके 'ज्ञान', 'इच्छा' तथा 'क्रिया' का भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंमें 'भाव-संचार' (Mimesis) होजाता है। यह भाव-संचार निम्न प्रकार होता है :—

(क) 'समूह' में पहुंचकर हम अपने 'ज्ञान' (Knowing) को मानो खो-सा देते हैं, 'समूह' के विचारों में ही मानो बहने लगते हैं। व्याख्याता जो विचार हमें देता जाता है उन्हें हम प्यासेकीतरह पीते जाते हैं, उनका हममें 'संचार' होता चला जाता है। इसप्रकार 'समूह' या 'भीड़' में नेताके विचारोंको लेते चले जाना 'निर्देशों' (Suggestions) द्वारा होता है। 'निर्देश' के विषयमें हम ३४वें अध्यायमें विस्तार-पूर्वक लिख आये हैं।

(ख) जिस प्रकार 'समूह'में हम अपने विचारों को खो-देते हैं, इसीप्रकार 'समूह' में हम अपनी 'इच्छा' (Feeling) को खोकर दूसरेकी 'इच्छा' में लीन कर देते हैं। कोई दुःखी होरहा है, तो हम दुःखी होने लगते हैं, कोई सुखी है, तो हम सुखी होते हैं, दूसरोंकी 'इच्छा' का हममें 'संचार' हो जाता है। इसप्रकार 'समूह' या 'भीड़' में नेता के भावों, उसकी इच्छाओं, उसकी उमंगोंको लेते चले जाना 'सहानुभूति' (Sympathy) के द्वारा होता है। 'सहानुभूति' के विषय में हम ३४ वें अध्याय में विस्तार-पूर्वक लिख आये हैं।

(ग) 'विचार' तथा 'इच्छा के लिषय में जो-कुछ कहा गया, वही 'क्रिया' (Action) के विषयमें समझ लेना चाहिये। 'समूह' में पहुँचकर हम वैसा ही करने लगते हैं, जैसा 'समूह' के दूसरे लोग करते हैं, दूसरोंकी 'क्रिया' का हममें 'संचार' होजाता है। इसप्रकार 'समूह' या 'भीड़' में नेता के पीछे चलकर जैसा वह करता है वैसा करते चले जाना 'अनुकरण' (Imitation) के द्वारा होता है। 'अनुकरण के विषय में भी हम ३४ वें अध्याय में विस्तार-पूर्वक लिख आये हैं।

'निर्देश' (Suggestion), 'सहानुभूति' (Sympathy) तथा 'अनुकरण' (Imitation) ये तीनों 'भाव-संचार' (Mimesis) की प्रक्रिया-द्वारा समूह या भीड़के व्यवहार को बनाते हैं।

प्रश्न

१. भीड़का वर्गीकरण कीजिये और इस वर्गीकरण में चारों प्रकारकी भीड़के रूपको स्पष्ट तौरपर समझाइये।
२. भीड़के कौन-कौन-से 'विशेष-गुण' (Characteristics) होते हैं?
३. भीड़के व्यवहारके विषयमें आप क्या जानते हैं?
४. भीड़के व्यवहारके आधारके विषयमें क्या-क्या कल्पनाएं हैं?

GLOSSARY AND WORD-INDEX

(शब्द-सूची तथा शब्दानुक्रमणिका)

शब्द-सूची तथा शब्दानुक्रमणिका

नामानुक्रमणिका
(NAME INDEX)

सहायक-ग्रन्थ-सूची

जो विद्यार्थी इस विषयका विस्तृत तथा गहराईसे अध्ययन करना चाहें उनके लिये यहां उन पुस्तकों की सूची दी जा रही है जो 'समाज-शास्त्र' के अध्ययनमें सहायक हो सकती हैं :—

1. GENERAL BOOKS ON SOCIOLOGY

Bernard, L.L. : Introduction to Sociology
Bugardus: Sociology
Cuber, John F.: Sociology
Davies and Barnes: Sociology
Ellwood, Charles A.: Social Psychology
Fairchild, H.P.: Dictionary of Sociology
Gurvitch and Moore: 20th Century Sociology
Gillin and Gillin : Cultural Sociology
Ginsberg M. : Sociology
Groves and Moore: An Introduction to Sociology
Hankins, F.H.: Introduction to the Study of Society
Hayes: Sociology
Hiller: Principles of Sociology
Howard W. Odhum: Understanding Society
La Piere, Richard T.: Sociology
Leopold and Becker: Systematic Sociology
Lundberg, G.A.: Foundations of Sociology
Maciver, R.M.: Society
Ogburn and Nimkoff: Handbook of Sociology
Park and Purgess: Introduction to the Science of Sociology
Rivers: Social Organisation
Ross, Edward A.: New Age Sociology
Sumner and Keller: Science of Society
Saligman and Johnson: Encyclopaedia of Social Sciences
Sutherland and Woodward: Introductory Sociology
Wallis and Willey: Readings in Sociology
Young, Kimball: Sociology

2. PRIMARY CONCEPTS

Barnes, H. E. : An Introduction to the History of Sociology
Barnes, H.E., Becker, H.: Social Thought from Lore to Science
Eubank, E.E.: The Concepts of Sociology
Eubank, E.E.: Contemporary Social Theory
Gurvitch and Moore: 20th Century Sociology
Panunzio, C.: Major Social Institutions

Saligman and Johnson: Encyclopaedia of Social Sciences
Sumner, W.G.: Folkways
Sumner and Keller : Science of Society
Thomas, W.I.: Primitive Behavior

3. GEOGRAPHY AND SOCIETY

Huntington, E.: Civilization and Climate
—World Power and Evolution
—Main springs of Civilization
Mills, C.A.: Climate Makes the Man
Semple, E.C.: Influence of Geographic Environment
Taylor, G.: Environment and Race
Vidal De La Blache P.: Principles of Human Geography
Wright , J. K.: The Geographical Basis of European History

4. URBAN AND RURAL LIFE AND ECOLOGY

Alihan, Milla A.: Social Ecology
Altekar, A. S.: History of Village Communities in India
Bews, J. W.: Human Ecology
Chase Stuart : Democracy Under Pressure
Gillette, J. M.: Rural Sociology
Gist, Noel P. and L. A. Halbert: Urban Society
Kolb , J. H., and E, De S. Brunner : A study of Rural Sociology
Morgan, A.: The Small Community
Mulford, H.: Country Planning
Mumford, Lewis: The Culture of Cities
Muntz, E.E.: Urban Sociology
Sanderson, D. L.: The Rural Community
Sims, Newell L.: Elements of Rural Sociology
Taylor, C. C.: Rural Sociology
Zimmerman, C. C. : The Changing Community

5. HEREDITY AND ENVIRONMENT

Dunn and Dobzhansky: Heredity, Race and Society
Hogbern L.: Nature and Nurture
Holmes, S. J.: Human Genetics and its Social Import
Jennings, H. S.: The Biological Basis of Human Nature
Klineberg, O.: Social Psychology
Newman, H., Twins: A Study of Heredity and Environment
Pearson, K.: Eugenics: Laboratory Lecture Series
Scheinfeld, A.: You and Heredity
Schwesinger. G. C.: Heredity and Enviornment
Woodworth, R. S.: Heredity and Environment
Young K.: Personality and Problems of Adjustment

6. PRIMITIVE LIFE AND RACES

Bawden, Arthur T.: Man's Physical Universe
Guha, B. S.: Racial Elements in Population
Hooton, E. A.: Up from the Ape

Howells, William : Mankind So Far
Montagu, M. F. Ashley: Introduction to Physical Anthropology
MacCurdy, G. C.: Editor, Early Man
Majumdar, D. N.: The Matrix of Indian Culture
Majumdar, D. N.: Races and Culture of India
Snider, Luther C.: Earth History

7. BIOLOGICAL FACTORS OF SOCIAL CHANGE

Boas, F.: The Mind of Primitive Man
Carr-Saunders, A.M.: The Biological Basis of Human Nature
Carr-Saunders, : World Population
Darwin, C.: The Origin of Species
Hankins, F. H.: The Racial Basis of Civilization
Hogben, L.: Nature and Nurture
Huxley, J.: Essays of a Biologist
Huxley, T. H.: Evolution and Ethics
Jennings, H. S.: The Biological Basis of Human Nature
Morgan, C. L.: Habit and Instinct
Morgan, T. H.: The Scientific Basis of Evolution

8. TECHNOLOGICAL FACTORS OF SOCIAL CHANGE

Beard, W.: Government and Technology
Chase , S.: Men and Machines
Giedon. S.: Mechanization Takes Command
Gilfillan, S. C.: The Sociology of Invention
Marx and Engels : The Communist Manifesto
McKee and Rosen : Technology and Society
Mumford, L.: Technics and Civilization
Ogburn , W. F.: Social Change
Ogburn and Nimkoff : Sociology
Usher, A. P.: A History of Mechanical Inventions

9. CULTURAL FACTORS OF SOCIAL CHANGE

Barnes, H. E.: Society in Transition
Benedict, R.: Patterns of Culture
Chapin, F. S.: Cultural Change
McIver, R. M. : Social Causation
Northrop, F. S. C.: The Meeting of East and West
Ogburn, W. F.: Social Change
Schneider, J.: "Cultural lag, What Is It" in American Sociological Review (1954), 786-791
Sorokin, P. A.: Social and Cultural Dynamics
Toynbee, A. J.: Civilization on Trial
Weber, M.: The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism

10. SOCIAL CHANGE

Cooley, C. H.: Sociological Theory and Social Research (Chap. ix)
Ellwood, C. A.: Methods in Sociology
Lundberg, G. A. : Foundations of Sociology

Lundberg, G. A. : Can Science Save Us
McIver, R. M.: Social Causation
Sorokin, P. A.: Social and Cultural Dynamics (Vol. I, Chap. I and Vol. iv, Chap.)

11. SOCIAL PROGRESS

Becker, C. : "Progress" (Encyclo. of Social Sciences)
Bury, J. B.: The Idea of Progress
Folsom, J. K.: Culture and Social Progress
Huxley, J.: Essays of a Biologist
Morgan, C. L.: Emergent Evolution
Sims, N. L. R.: The Problem of Social Change
Todd, A. J.: Theories of Social Progress

12. SOCIAL EVOLUTION

Lowie, R. H.: The Origin of the State
Mc Iver, R. M. : Social Causation
Tozzer, A. M. : Social Origins and Social Continuities

13. FAMILY

Baber, Ray E.: Marriage and the Family
Briffault, R.: The Mothers
Burgess and Locke : The Family
Elmer, M. C. : The Sociology of the Family
Folsom, J. K. : The Family and Democratic Society
Foster, Robert G.: Marriage and Family Relationships
Goodsell, W.: A History of Marriage and Family
Howard, G. E.: History of Matrimonial Institutions
Lichtenberger, J. P. : Divorce
Waller, W. W.: The family
Westermarch, E. A. : Future of Marriage in Western Civilization
Zimmerman, Carle C. : Family and Civilazation

14 GROUPS

Bernard , L. L.: Social Control
Cooley, C. H.: Social Organisation
Cooley, C. H. : Human Nature and the Social Order
Ginsberg, M. : The Psychology of Society
Ginsberg, M.: Sociology
McIver, R. M. : Society
McIver, R. M. : Community
Shaler, N. S. : The Neighbour
Sumner, W. G. : Folkways
Sumner and Keller : The Science of Society

15. POLITICAL ASSOCIATIONS (OR INSTITUTIONS)

Collingwood, R. G. : The New Leviathan
Commons, J. R. : A Sociological View of Sovereignty
Fowler, W.W.: The City State of the Greeks and Romans

Laski, H. J.: A Grammar of Politics
Laski, H. J.: The State in Theory and Practice
Lasswell, H. D.: Politics : Who gets What, When, How
Lindsay, A. D.: The Modern Democratic State
Lowie, R. H. : The Origin of the State
McIver, R. M.: The Modern State
Marriott, Sir J. A. R.: Dictatorship and Democracy
Michels, R. : Political Parties
Maxwell, Bertram W. : The Soviet State

16. ECONOMIC ASSOCIATIONS (OR INSTITUTIONS)

Arnold, Thurman W.: Cartels or Free Enterprise
Beaglehole, E.: Property, A study in Social Psychology
Bowman, D. O.: Public Control of Labour Relations
Burns, C. D.: Industry and Civilization
Commons, J. R.: The Legal Foundations of Capitalism
Green, William : Labour and Democracy
Hicks, J. R. : The Social Framework
Hobson, T. A.: Property and Improperty
Lauterbach, Albert. : Economic Security and Individual Freedom
Lokanathan, P. S. : Industrialization
Mehta, Asoka : Socialism and Peasantry
Mehta, Asoka : Democratic Socialism
Mukerjee, R. K.: Indian Working Class
Neugroschel, A.: The Control of Industrial Combinations
Patterson, S. H. : Social Aspects of Industry
Schumpeter. J.: Socialism, Capitalism and Democracy
Thurnwald, R. : Economics in Primitive Community
Veblen, T.: The Theory of Business Enterprise
Vijayaraghvachari Sir T. : Land and its Problem
Williams, G. : The Price of Social Security

17. RELIGIOUS ASSOCIATIONS (OR INSTITUTIONS)

Durkheim, E.: Elementary Forms of Religious Life
Eddy, Sherwood : Religion and Social Justice
Freud, S.: The Future of an Illusion
Hough, Horace T.: What Religion Is and Does
Lowie, R. H. : Primitive Religion
Radin, P. : Primitive Religion
Taylor, Graham : Religion in Social Action
Wach, Joachim : Sociology of Religion
Yinger, J. Milton : Religion in the Struggle for Power

18. CULTURAL ASSOCIATIONS (OR INSTITUTIONS)

Calverton, V. F. : The Making of Man
Chapin, F. Stuart : Cultural Change
Ellwood, Charles A. : Cultural Evolution
Folsom, G. K. : Culture and Social Progress

Kroeber, A. L. : Configurations of Culture Growth
Linton, Ralph C.: The Cultural Background of Personality
Lowie, Robert H. : Are We Civilized ?
Mookerji, D. P. : Modern Indian Culture
Malinowski, B. M. : The Dynamics of Culture Change
Natarajan, S.: Social Problems
Rodin Paul : Social Anthropology
Reuter, E. B. Editor : Race and Culture Contacts
Smith, G. Elliott, and others : Culture

19. SOCIAL DISORGANISATION

Barnes, Harry and Teeters : New Horizons in Criminology
Bossard, J. H. S. : Social Change and Social Problems
Brown, L. G. : Social Pathology
Carr-Saunders, Manuheim, and Rhodes : Young Offenders
Coyle, Grace. : Group Experience and Social Values
Elliott, Mabel and Francis Merrill : Social Disorganisation
Faris, Robert E. L. : Social Disorganisation
Frank, Lawrence K.: Society as the Patient
Gillin, John M. : Social Pathology
Hall, J.: Theft, Law and Society
Mowrer, E. R. : Disorganisation, Personal and Social
Mannheim, K. : Man and Society in an Age of Reconstruction
Malinowski, B. : Crime and Custom in Savage Society
Queen Bodenhafer and Harper : Social Organisation and Disorganisation
Queen and Gruener : Social Pathology
Slavson, S. R. : An Introduction to Group Therapy
Von Hentig, Hans : Crime, Causes and Conditions

20. COLLECTIVE BEHAVIOR

Bogardus, Emory S. : Fundamentals of Social Psychology
Cooley, C. H. : Social Organisation
Dewey, J. : Human Nature and Conduct
Doob, L. W. : Propaganda
Ginsberg, M. : The Psychology of Society
Jennings, Helen H. : Leadership and Isolation
La Piere, R. T. : Collective Behaviour
Lasswell, H. D.: Propaganda Technique in the World War
Lazarsfeld, P. F. : Radio and the Printed Page
Le Bon G. : The Crowd—A Study of the Popular Mind
Lippmann, W. : Public Opinion
Ross, E. A. : Social Control
Sorokin, P. : Social Mobility
Tead. Ordway : The Art of Leadership
Young K. : Sourcebook of Social Psychology

९६६